

श्री आचाराङ्ग सूत्रम्

● श्री राजेन्द्र सुबोधनी

“आहोरी” हिन्दी टीका ●



२

“आहोरी” टीका लेखक

ज्योतिषाचार्य मालवरत्न

मुनिराज श्री जयप्रभ विजयजी “श्रमण”

सम्पादक :- पं. रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया

व्याकरण ● काव्य ● न्याय ● साहित्यतीर्थ

ॐ



ॐ

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन पुष्प-२

...श्री आचाराङ्गसूत्रम्...

श्री शीलाङ्काचार्य विरचित वृत्ति की

श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका

श्रुतस्कंध-१ अध्ययन-२, ३, ४, ५

भाग-२

आहोरी टीका लेखक

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति जैनाचार्य
श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज

के शिष्यरत्न

ज्योतिषाचार्य, मालवरत्न

शासनदीपक, ज्योतिषसम्राट्शिरोमणी

मुनिराज श्री जयप्रभविजयजी महाराज "श्रमण"

: सम्पादक :

पण्डितवर्य श्री रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया

व्याकरण, काव्य, न्याय, साहित्याचार्य

अहमदाबाद.

-: ग्रंथ :-

श्री आचाराङ्गसूत्र

राजेन्द्र सुबोधनी 'आहोरी' हिन्दी टीका

-: आहोरी टीका लेखक :-

ज्योतिषाचार्य मालवरत्न

मुनिराज श्री जयप्रभविजयजी "श्रमण"

-: सम्पादक :-

पण्डितवर्य श्री रमेशचन्द्र लीलाधर हरिया

-: सहयोगी सम्पादक :-

मालवकेशरी

मुनिराज श्री हितेशचन्द्रविजयजी "श्रेयस"

मुनिराज श्री दिव्यचन्द्रविजयजी "सुमन"

-: प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान :-

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

- (१) श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
मंत्री शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा, देरासर सेरी,
पो. आहोर, जि. जालोर (राज.)
फोन : ०२९७८-२२२८६६
- (२) राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय
पो.ओ. मोहनखेडा तीर्थ, वाया राजगढ,
जि. धार, (मध्यप्रदेश) फोन : ०७२९६-२३२२२५
- (३) पं. रमेशचंद्र लीलाधर हरिया
३/९९, वीतराज सोसायटी, पी. टी. कोलेज रोड,
पालडी, अमदावाद-३८०००७. फोन : २६६०२९७६

मूल्य : अमूल्य पंचाचार उपासना

-: मुद्रक :-

दीप ओफसेट

पाटण (उ.गु.)

फोन : ०२७६६ - २२४७६६



-: कम्प्युटर :-

मून कम्प्युटर

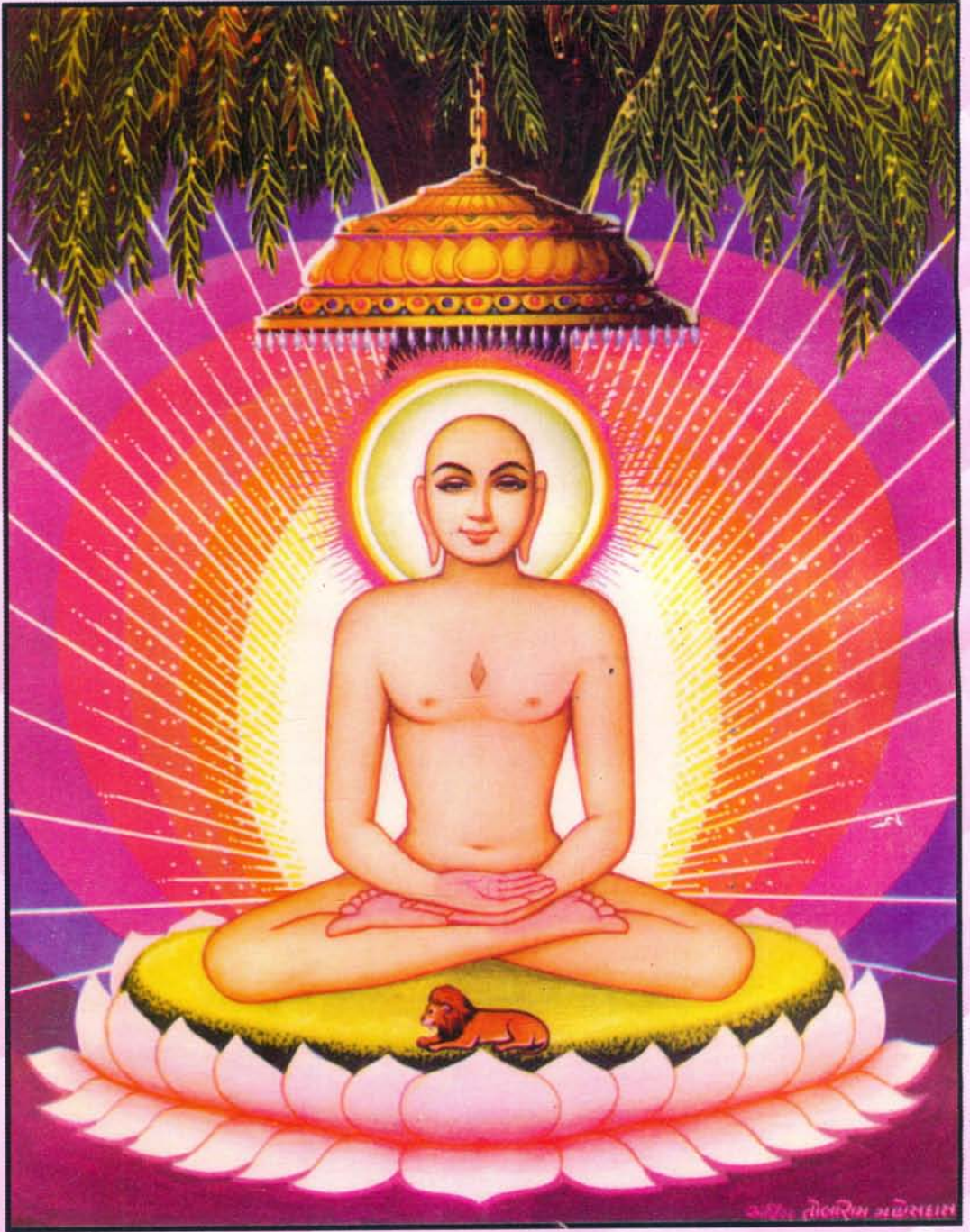
पाटण (उ.गु.)

फोन : ९८२५९ २३००८

श्री गोडी पार्वनाथ भगवान



“आहोर” बावन जिनालय मन्दिरजी के मूलनायकजी



चरम तीर्थङ्कर श्री महावीर

श्री गोडी पार्थनाथजी, आहोद



श्री धनचन्द्र सूरीश्वरजी



उपा. श्री मोहनविजयजी म.



दादा गुरु श्री राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. सा.



श्री भूपेन्द्र सूरीजी म.



श्री यतीन्द्र सूरीजी म.



उपा. श्री गुलाबविजयजी म.



श्री हर्ष विजयजी



श्री विद्याचन्द्र सूरीजी म.



श्री हमेन्द्र सूरीजी म.



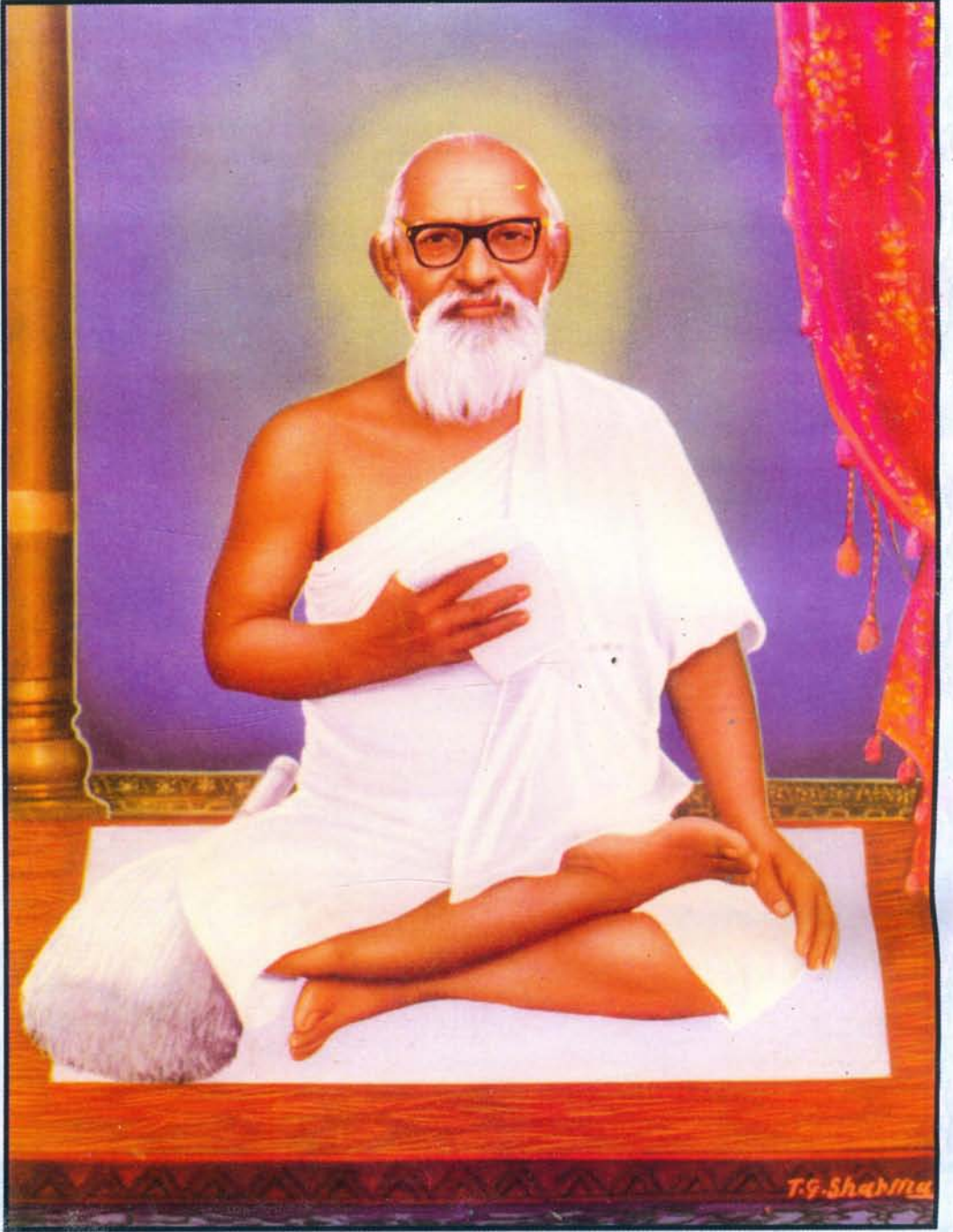
श्री जयप्रभवविजयजी म. "श्रमण"



श्री दिव्यचन्द्र विजयजी म. "शैयम"



श्री दिव्यचन्द्र विजयजी म. "सुमन"



श्रीमद् विजय यतीन्द्र सूरीश्वर पट्ट प्रभावक कविरत्न
श्रीमद् विजय विद्याचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्र कोष के सम्पादक
आगम भास्कर पिताम्बर विजेता
श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के शिष्य रत्न

ज्योतिषाचार्य शासन दीपक

पूज्य श्रीजयप्रभविजयजी “श्रमण” महाराज

जन्म

वि.सं. १९९३
पोष वदि १०
स्थल - जावरा

ज्योतिषाचार्य

पद प्रदान
वाराणसी में
काशी पण्डित
सभा द्वारा
दि. ५-११-८९
को
मानद् उपाधी
से
विभूषित किये
वि.सं. २०४६
कार्तिक सुदी ५



दीक्षा

वि.सं. २०१०
माघ सुदी ४
स्थल -
सियाणा

शासन दीपक

पद प्रदान
मनावर
श्री संघ द्वारा
कार्तिक सुदि ११
दि. २४-११-९३

मालवरत्न

पद प्रदान
श्री संघ
जावरा द्वारा
दि. १८-२-००

विनय शील स्वाध्याय सुधाकरः प्रति भारत सद्धर्म धुरिण ।
जप तप संयम व्रत परिपालक गुरु चरणाश्रित सेवा लीन ॥
धर्म प्रचारक “श्रमण” सुधारक सुविचारक सुहृदय गुणवान ।
जयतु जयतु विजय श्री भूषित जयप्रभविजय महामतिमान् ॥

परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति
आचार्यदेव श्री मद्दिजय यतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज
शिष्य रत्न



संयमवयस्थिविर

मुनिराजश्री सौभाग्यविजयजी महाराज

ज्योतिषाचार्य मालव रत्न
मुनिराजश्री जयप्रभविजयजी श्रमण
के



शिष्य रत्न
मालव केशरी

मुनिश्री हितेशचन्द्रविजयजी "श्रेयस"

ज्योतिषाचार्य मालव रत्न
मुनिराजश्री जयप्रभविजयजी श्रमण
के



शिष्य रत्न

मुनिश्री दिव्यचन्द्रविजयजी "सुमन"



नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं
'एसो पंचनमुक्कारो,
सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलं'



प्रस्तावना

अनन्त उपकारी चरम तीर्थकर श्रमण भगवान महावीरस्वामीजीने जब घातीकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान की दिव्य ज्योती को प्राप्त की तब देवविरचित समवसरण में गणधरों के प्रश्नोत्तर में परमात्मा ने त्रिपदी का दान दिया... उत्पाद, व्यय एवं ध्रुव...

श्री हितेशचंद्रविजयजी म.

आचारांगसूत्र की रचना गणधरो ने की एवं शीलांकाचार्यजी

ने संस्कृत टीका (व्याख्या) लिखी। किन्तु वर्तमानकालीन मुमुक्षु साधु-साध्वी भगवंतो को यह गहनबंध दुर्गम होने से पठन पाठनादि में हड़ अल्पता को देखते हुए पूज्य गुरुदेव श्री जयप्रभविजयजी म.सा. "श्रमण" के अंतःकरण में चिंतन चला कि- यदि जिनागमों को मातृभाषा में अनुवादित किया जाए तो मुमुक्षु आत्माओ को शास्त्राज्ञा समझने में एवं पंचाचार की परिपालना में सुगमता रहेगी।

अंतःकरण की भावना को साकार रूप में परिवर्तित करने के लिए वर्तमानाचार्य गच्छाधिपति श्रीमद् विजय हेम्रेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. से बात-विचारणा वार्तालाप के द्वारा अनुमति प्राप्त करके विक्रम संवत् २०५६ आसो सुदी-१० (विजयादशमी) के शुभ दिन शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थ की पावनकारी पूज्य भूमि में देवगुरु की असीम कृपा से राष्ट्रभाषा हिन्दी में सटीक आचारांगसूत्र के भावानुवाद का लेखनकार्य प्रारंभ किया।

भावानुवाद का लेखनकार्य निर्विघ्नता से चलता रहा। यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री का स्वास्थ्य प्रतिकूल रहता था तो भी भावानुवाद का लेखनकार्य अविरत क्रमशः चलता रहा। पूज्य दादा गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा. कि पावन कृपासे सत्ताईश (२७) महिने में सटीक आचारांगसूत्र का भावानुवाद स्वरूप लेखनकार्य परिपूर्ण हुआ।

पूज्य गुरुदेव श्री जयप्रभविजयजी म.सा. दृढ संकल्पी थे। जो समुचित कार्य एकबार सोच लेते वह कार्य परिपूर्ण करके ही विश्राम लेते थे। उस कार्य में चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ आ जाए प्रत्येक कठिनाइयों का सहर्ष स्वागत करते थे एवं देवगुरु की कृपा से विघ्नों का उन्मूलन करके उस कार्य को पूर्ण करके ही रहते थे।

सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद का लेखनकार्य जब पूर्ण हुआ तब प्रकाशन के लिए विचार विमर्ष प्रारंभ हुआ। पूज्यश्री ने गंभीरता से विचारकर अपने निकटवर्ती परम गुरु उपासक आहोर (राज.) निवासी श्री शांतिलालजी वक्तावरमलजी मुथा को पत्रव्यवहार द्वारा अपनी आंतरिक भावना अवगत कराई।

श्री शांतिलालजी ने भी इस आगमशास्त्र संबंधित श्रेष्ठ कार्य की अनुमोदना करते हुए

प्रकाशन हेतु आहोर नगर के श्रमणोंपासको से बातचीत कर ग्रंथ प्रकाशन के कार्य की अनुमति प्रदान करने की विनंती की। आहोर नगर के निवासीओं के आर्थिक सहयोग से यह कार्य परिपूर्ण हो सका है अतः सर्व संमति से इस भावानुवाद टीकाग्रंथ का "आहोरी" हिन्दी टीका नाम निर्धारित किया गया।

ग्रंथमुद्रण का कार्य तत्काल प्रारंभ हुआ। करिबन अहारहसौ (१८००) पृष्ठ के विशालकाय आहोरी टीकायुक्त आचारांग सूत्र को तीन भाग में विभक्त करके प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन स्वरूप प्रथम भाग का संपादन कार्य परिपूर्ण होने पर ग्रंथ का विमोचन आहोर नगर में वि.सं. २०५९ में पूज्य गुरुदेव श्री जयप्रभविजयजी म.सा. की निश्रा में कु. निर्मला के दिक्षा महोत्सव के पावन प्रसंग में किया गया।

प्रथम श्रुतस्कंध के शेष भाग को द्वितीय विभाग में संपादित करने की विचारणा चल रही थी किन्तु अचानक दिनांक ३१ दिसम्बर, २००२ के दिन पूज्य गुरुदेव श्री के शरीर में अस्वस्थताने भीषण रूप ले लिया। पूज्य गुरुदेव श्री अपने आयुष्य की अंतिम क्षण तक समाधि भावमें रहते हुए नश्वर देह का परित्याग करके स्वर्गलोक पधार गए।

इस विषम परिस्थिति में ग्रंथ प्रकाशन के कार्य में थोड़ा विलंब हुआ किन्तु शेष कार्य को पूर्ण करने के लिए परम पूज्य उपाध्याय श्री सौभाग्य विजयजी म.सा. की पावनकमरी प्रेरणा ने हमारे उत्साह की अभिवृद्धि की। ग्रंथ प्रकाशन कार्य को गतिप्रदान करने के लिए श्री शांतिलालजी मुथा का सहयोग व मार्गदर्शन प्रशंसनीय है तथा श्री आदिनाथ राजेन्द्र जैन श्वेतांबर पेढी (ट्रस्ट) श्री मोहनखेडा तीर्थ का सहयोग भी अनुमोदनीय रहा एवं इस महाग्रंथ को मूर्त रूप प्रदान करने में विद्वद्दर्श आगमज्ञ पंडितवर्य श्री रमेशचंद्र लीलाधर हरिया का सहयोग अनुमोदनीय रहा। उन्हीं के अथक् प्रयास से यह कार्य परिपूर्ण हो पाया है।

इस द्वितीय विभाग में यद्यपि प्रथम श्रुतस्कंध के द्वितीय से लेकर नवम अध्ययन तक का संपादन करना था किन्तु ८०० पृष्ठ का यह ग्रंथ पढने में एवं संभालने में असुविधायुक्त लग रहा था अतः इस द्वितीय विभाग में प्रथम श्रुतस्कंध के २,३,४,५ अध्ययन का संपादन किया गया है, शेष ६,(७),८,९ अध्ययन का संपादन तृतीय विभाग में किया जायेगा।

इस ग्रंथ ग्रंथ संपादन कार्य में सावधानी रखी गई है तो भी यदि कोई क्षति रह गई हो तब सुझाव वाचकवर्ग सुधार ले एवं हमें निवेदित करें... सुझोषु किं बहुना ?



ज्योतिषाचार्य श्री
जयप्रभविजयजी म. "श्रमण"

अपनी और से...

आगमो के प्राण तीर्थकर है। ओर शब्दों में वर्णन कर्ता गणधर भगवान होते हैं। श्रमण भगवान महावीर ने देशना में जो कुछ उद्घोषित किया उसे गणधर भगवन्तोंने स्मरण रखा। गणधर भगवन्तों से श्रवण कर के स्थविर भगवन्त उन आगमों की परिपाटी चलाने में योगदान देते हैं...

गणधर कृत आगम अंग प्रविष्ट एवं स्थविर कृत आगम अनंग प्रविष्ट अर्थात् अंग बाह्य... भगवान के मुख्य शिष्य गणधर होते हैं एवं चतुर्दश पूर्वी या दश पूर्वधर स्थविर होते हैं। किन्तु गणधर कृत भाषित और स्थविर घोषित आगमों का मूल आधार तो तीर्थकर परमात्मा ही है।

आगमों की वाचना पांच बार हुई है।

प्रथम वाचना :

श्रमण भगवान महावीर स्वामीजी के १६० वर्ष पश्चात हुई।

द्वितीय वाचना :

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के निर्वाण के ३०० वर्ष बाद उड़ीसा प्रान्तः याने अंगदेश में तत्कालीन देश के कुमारी पर्वत पर सम्राट खरवेल के समय हुई।

तृतीय वाचना :

श्री वीर निर्वाण के ८२७ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईशा की तीसरी शताब्दी में मथुरा में हुई। इसका नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने किया।

चतुर्थ वाचना :

तृतीय वाचना के समकालिन आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में हुई है।

पंचम वाचना :

श्री वीर निर्वाण के १८० वर्ष बाद याने आचार्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आचार्य नागार्जुन की वाचना के १५० वर्ष बाद में देवर्धिगाणि क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में पुनः वाचना हुई।

इस प्रकार आगम शास्त्र के इतिहास का अध्ययन करने पर पांच बार आगम

वाचनाओं का आधार मिलता है।

४५ आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

आगम	
अंग	उपांग
१- आचार	१- औपपातिक
२- सूत्रकृत	२- राजप्रश्नीय
३- स्थान	३- जीवाभिगम
४- समवाय	४- प्रज्ञापना
५- भगवती	५- सूर्य प्रज्ञप्ति
६- ज्ञातधर्मकथा	६- चंद्र प्रज्ञप्ति
७- उपासक दशा	७- जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति
८- अन्तकृत दशा	८- कल्पिका
९- अनुत्तरोपपातिक दशा	९- कल्पावतंसिका
१०- प्रश्न व्याकरण	१०- पुष्पिका
११- विपाक	११- पुष्प चुलिका
१२- कृष्टिवाद : वितुम :	१२- वृष्णि दशा
मूल	छेद
१- दशवैकालिक	१- निशित्थ
२- उत्तराध्ययन	२- महानिशित्थ
३- आवश्यक	३- बृहत्कल्प
४- पिण्ड निर्युक्ति अथवा ओघ निर्युक्ति	४- व्यवहार
	५- दशाश्रुतस्कंध
	६- पंचकल्प

प्रकीर्णक

१- चतुःशरण	६- चन्द्र वैध्य
२- आतुर प्रत्याख्यान	७- देवेन्द्र स्तव

3-	भक्त परिज्ञा	८-	गणि विद्या
४-	संस्तारक	९-	महा प्रत्याख्यान
५-	तन्दुल वैचारिक	१०-	वीर स्तव

पुस्तिका

१-	नन्दीसूत्र	२-	अनुयोगद्वार सूत्र
----	------------	----	-------------------

इस प्रकार जावरा में भगवती सूत्र का स्वाध्याय करते हुए मन में विचार आया कि:-
क्यों न इनका : ऐसे ज्ञान गर्भित सूत्रों का : राष्ट्र भाषा हिन्दी में अनुवाद किया जावे।

विचारों को पूर्ण साकार रूप देने के पूर्व गंभीर चिन्तन किया। क्योंकि- आगमों का अध्ययन सुलभ नहीं है। और योग क्रिया पूर्व वाचने का अधिकार भी नहीं है। किन्तु चिन्तन इस निर्णय पर रहा है कि-

अभी तपागच्छीय मुनिराज द्वारा गुजराती में ४५ आगम निकाले गये हैं। स्थानक वासी के ३२ आगम हिन्दी अंग्रेजी और सचित्र छप गये हैं तैरापंथी समाज के भी ३२ आगम हिन्दी में छप गये हैं और अंग्रेजी में छप जाने से पाश्चात्य विद्वान भी उदाहरण दे रहे हैं तो क्यों न हिन्दी में भी अनुवाद हो ? कुछ आगम के ज्ञाता आचार्य क्यों से विचार किया, विचारों का सार यही रहा कि- विवादित गुढ़ रहस्य ग्रन्थ को न छूकर अन्य उपयोगी ग्रन्थों का ही विचार करें।

विचार भावना को कार्य रूप में परिणत करने के विचार से मुंबई में अध्यापन कार्यरत पंडितवर्य श्री रमेशभाइ हरिया से संपर्क किया, पंडितजी मेरे विचारों की अनुमोदना करते हुए सभी प्रकार से पूर्ण सहयोग देने का विश्वास दिलाया एवं संपादन कार्य करने की स्वीकृति प्रदान की।

आगम की द्वादशांगी के प्रथम अंगसूत्र आचारांग सूत्र है एतदर्थ सर्व प्रथम आचारांग सूत्र की श्री शीलाकाचार्य विरचित वृत्ति का कार्य प्रारंभ किया जावे।

इस आचारांग सूत्र का सर्व प्रथम महत्त्व यह है कि-दशवैकालिकसूत्र की रचना होने के पूर्वकाल में नवदीक्षित साधु एवं साध्वीजी म. को आचारांग सूत्र का प्रथम अध्ययन, सूत्र-अर्थ एवं तदुभय (आचरणा) से देकर हि उपस्थापना याने बड़ी दीक्षा दी जाती थी... किंतु श्री शय्यंभवसूरिजी ने मनक मुनी का अल्पायु जानकर, अल्पकाल में आत्महित कैसे हो ? इस प्रश्न की विचारणा में दशवैकालिक सूत्रकी संकलना की अर्थात् रचना की, तब से नवदीक्षित मुनि एवं साध्वीजी म. को दशवै. सूत्र के चार अध्ययन सूत्र-अर्थ एवं तदुभय से देने के बाद बड़ी दीक्षा होती है...

लेखन कार्य श्रम पूर्ण होने पर प्रकाशन कार्य भी कम श्रम पूर्ण नहीं है। इसके लिये सर्व प्रथम गुणानुरागी श्रुतोपासक श्रेष्ठिवर्य श्री शांतिलालजी मुथाजी, कि- जो भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति के मंत्री हैं। उन्हीं से पत्राचार प्रारंभ हुआ पत्राचारों से विचार उद्भव हुए कि- हिन्दी टीका में आहोर का नाम जुड़ जावे तो यह प्रकाशन कार्य सुलभ हो जावे। अतः श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन और राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका नामकरण किया गया। आचारांग सूत्र तीन भाग में प्रकाशित हो रहा है। तीनों भागों का प्रकाशन व्यय आहोर के निवासी गुरु भक्त श्री शांतिलालजी मुथा के प्रयत्न से आहोर निवासी श्रुतोपासक श्रेष्ठिवर्य गुरु भक्त वहन कर रहे हैं। अतः आहोर के श्रुत दाता गुरुभक्त साधुवाद के पात्र है। भविष्य में इसी प्रकार ज्ञानोपासना के कार्य में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग करके श्रुत भक्ति का परिचय देते रहे यही मंगल कामना।

बंबई निवासी डा. रमणभाई सी. शाह ने अपना अमूल्य समय निकालकर अनुवाद को आद्यंत पढ़कर श्रुत आराधना का लाभ लिया, एतदर्थ धन्यवाद एवं आशा करते हैं कि- भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग कर हमारी ज्ञान उपासना में अभिवृद्धि करते रहेंगे। यही मंगल कामना।

शिष्यद्वय मुनि श्री हितेशचन्द्रविजय एवं मुनि श्री दिव्यचन्द्रविजयजी ने भी श्रुत भक्ति का सहयोग पूर्ण परिचय दिया यह श्रुत भक्ति शिष्यद्वय के जीवन में सदा बनी रहे यही आर्शीवाद सह शुभकामना।

सौधर्मबृहत्पोगच्छीय वयोवृद्ध शुद्ध साधवाचार पालक गच्छ शिरोमणी शासन दीपिका प्रवर्तिनी मुदितश्रीजी की समय - समय पर श्रुतोपासना की प्रेरणा मिलती रहती है एवं प्रत्येक गच्छीय उन्नति के कार्यों में पूर्ण सहयोग रहता है यह मेरे लिये गौरव पूर्ण बात है इन्हीं प्रेरणाओं से प्रेरित होकर के श्रुतोपासना की भावना बनी रहती है एवं भविष्य में भी मेरे श्रेष्ठकार्यों में इनकी प्रेरणा प्राप्त होती रहे इसी विश्वास के साथ।

अंत में संपादन कार्य करते हुए पंडितवर्य श्री रमेशभाइ एल. हरिया ने प्रेस मेटर व प्रुफ संशोधन में पूर्णतः श्रम किया है एवं पाटण निवासी 'दीप' आफसेट के मालिक श्री हितेशभाई, व मुन कम्प्युटर के स्वामी श्री मनोजभाई का श्रम भी नहीं भुलाया जा सकता है।

इस प्रकार आचारांगसूत्र की 'आहोरी' हिंदी टीका स्वरूप इस ग्रंथ-प्रकाशन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग कर्ता सभी धन्यवाद के पात्र है।

श्रीमोहनसोडातीर्थ

वि.सं. २०५८

माघ शुक्ल ४ शनिवार

दीक्षा के ४९ वें वर्ष प्रवेश स्मृति

ज्योतिषाचार्य

जयप्रभविजय 'श्रमण'

मुथा शान्तिलालजी वक्तावरमलजी
आहोर (राजस्थान)



: जन्म : सं. १९९० कार्तिक वदि ८ दिनांक १२-१०-१९३३

: फर्म : सेठ शान्तिलाल एण्ड कम्पनी
तनकू (आन्ध्र प्रदेश)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

मुथा जसरुपजी जितमलजी के वंशज ऐसे आप अपने जीवन में ज्ञानभक्ति साधर्मिक भक्ति एवं मुनि मण्डल व साध्वी मण्डल के सभी प्रकार की सेवा भक्ति में अग्रगण्य रहते हुए लाभ प्राप्त करते रहते है श्री मोहनखेडा तीर्थ जिर्णोद्धार की सपूर्ण देखरेख करते हुए जिन मन्दिर के खात मुहूर्त का लाभ प्राप्त किया एवं जालोर जिल्ला जैन संमेलन १९५६ में हुआ था उसमें व कलिकुंड तीर्थ से छरिपालक संघ में एवं परमपूज्य आचार्य श्रीमद् विजय हेमन्द्रसूरीश्वरजी म. के आचार्यपद प्रदान महोत्सव में आदि उपरोक्त सभी समारोह में एवं नवकारशी करने का लाभ लेकर भक्ति का परिचय दिया ।

गुरुदेव आपश्रीको दीर्घ आयु प्रदान करे व आप इसी प्रकार चतुर्विध संघ की सेवा भक्ति करते यशस्वी जीवन जिए यही मंगल कामना ।

बारह ब्रतधारी तपस्वी रत्ना



श्रीमती सुवेरीबाई शांतिलाल मुथा
आहोर (राजस्थान)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

आपने अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य देव गुरु धर्मकी उपासना आराधना अर्चना का रखते हुवे जीवन को ब्रत- नियम में रखने के निर्णय से बारह ब्रत धारण करके उत्कृष्ट तपस्या में लगाने के उद्देश्य से १२ वर्षीतप, मासक्षमण, श्रेणीतप, सिद्धि तप तीनो उपधान महातप, ५०० आयम्बिल, अट्टाई, अट्टम, छट्ट उपवास आदि विविध तपो से आत्म भाव निर्मल करती हुई जीवन चर्या धर्माराधना मे ही व्यतीत करना लक्ष रहा है आपके तीनो पुत्र महावीर, धरणेन्द्र व यतीन्द्र पुत्री अ. सौ. विद्यादेवी व पुत्र वधुए मधुबाला, मैना, सुशीला, एवं पौत्र श्रेयांस, अजित, श्रेणिक, पक्षाल, अनंत, एवं पौत्री हेमलता, हीना, अनीला, प्रीती आदी धर्माराधना मे सहभागी बनी रहती है ।

आपका जीवन दीर्घजीवी होकर देव गुरु की सेवा भक्ति सह तपस्या निर्विघ्नता से होती रहे यही शुभाकांक्षा ।

स्तम्भ

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ सौधर्म
बृहत्पागच्छ नायक अभिधान राजेन्द्रकोष
लेखक भट्टारक प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी
महाराज की परमोपासिका



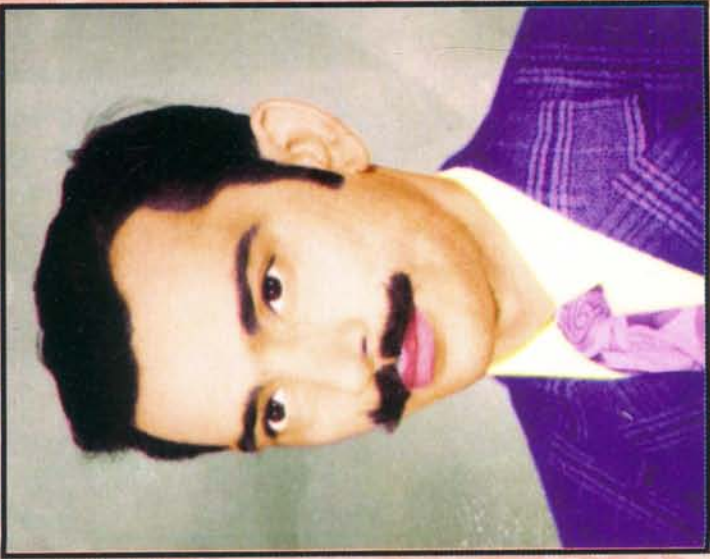
श्रीमती ओटीबाई फुलचंदजी
आहोर

आप आहोर: राज. निवासी श्री फुलचन्दजी की धर्मपत्नी है। आपके ऊपर वैधव्य योग आने पर आपने धर्मारोधना में अधिक समय व द्रव्य खर्च करने में बिताया, आपने अपने गुरुणीजी श्री मानश्रीजी की शिष्या सरल स्वभावी त्यागी तपस्वी श्री हेतश्रीजी महाराज व परम विदुषी गुरुणीजी प्रवर्तिनीजी श्री मुक्तिश्रीजी आदि की प्रेरणा से संघ यात्राएं एवं धर्मारोधना में समय - समय पर लक्ष्मी का सदुपयोग करती रहती है। आपने अपने पति के नाम से श्री फुलचन्द्र मेमोरियल ट्रस्ट बनाकर आहोर में एक विशाल भूखण्ड पर श्री विद्या विहार के नाम से श्री (सहस्रफणा) पार्श्वनाथ भगवान का भव्य जिन मन्दिर एवं जैनाचार्य सौधर्मबृहत्पागच्छ नायक कलिकाल सर्वज्ञ अभिधान राजेन्द्र कोष के लेखक स्वर्णगिरि, कोरटा, तालनपुर, तीर्थोद्वारक एवं श्री मोहनखेडातीर्थ संस्थापक भट्टारक प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की मूर्ति विराजित की। अपने धर्मारोधना की प्रेरणा दात्री गुरुणीजी श्री हेतश्रीजी महाराज की दर्शनीय मूर्ति विराजित की।

आहोर से जेसलमेर संघ बसो द्वारा यात्रा करवाई, आहोर से स्वर्णगिरि संघ निकालकर स्वर्णगिरि तीर्थ : (जालोर) : पर परम पूज्य आगम ज्ञाता प्रसिद्ध वक्ता मुनिराज श्री देवेन्द्रविजयजी महाराज से संघ माला विधि सह धारण की। समय - समय पर संघ भक्ति करने का भी लाभ लिया। श्री मोहनखेडा तीर्थाधिराज का द्वितीय जिर्णोद्वार परम पूज्य शासन प्रभावक कविरत्न श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने सं० २०३५ माघ सुदि १३ को भव्य प्रतिष्ठोत्सव किया था। उस समय श्रीसंघ की स्वामिभक्ति रूप नौकारसी की थी एवं सं० २०५० में परम पूज्य राष्ट्र संत - शिरोमणिगच्छाधिपतिश्री हेमेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के समाधि मन्दिर व २५० जिनेन्द्र भगवान की प्राण प्रतिष्ठोत्सव पर संघ भक्ति में नौकारसी का लाभ लिया। तपस्या विशस्थानक तप की ओलीजी की आराधना श्री सिद्धितप, वर्षितप, श्रेणितप, वर्द्धमानतप की ओली, अट्टाई, विविध तपस्या करके इनके उद्यापन भी करवाये।

यात्राएं - श्री सम्मैतशिखरजी, पालीतणा, गिरनार, आबू, जिरावला पार्श्वनाथ, शंखेश्वर पार्श्वनाथ, नागेश्वर, नाकोडा लक्ष्मणी तालनपुर माण्डवगढ, मोहनखेडा, गोड़वाड़ पंचतीर्थी, करेड़ा पार्श्वनाथ, केसरियाजी आदि तीर्थों की तीर्थयात्रा कर कर्म निर्जरा की। इस प्रकार अनेक धर्मकार्यों में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया। मुहूर्तराज ज्योतिष की पुस्तक के द्वितीय संस्करण में अपनी लक्ष्मी का दानकर पुण्योपार्जन किया। आपकी धर्म पुत्री अ. सौ. प्यारीबाई भी उन्हीं के मार्ग पर चलकर तपस्या एवं दान वृत्ति अच्छी तरह से करती रहती है।

ः स्तम्भः



श्री ठाकुर पृथ्वीसिंहजी नरपतसिंहजी चौपावत
आहोर (राजस्थान)

जन्म : इ.सं. १९४९ स्वर्गवास : इ.सं. ५-५-१९८१

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

आपके पूर्वज श्री यशवत्ससिंहजी हुए जिन्होंने सं. १९२३ वैशाख सुदि ५ के रोज परम पूज्य कलिकाल सर्वज्ञ कल्प भद्रारक श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी का श्रीपूज्य पदवीका महोत्सव करके छोड़ी चामर भेट कर आहोर ठिकाने से श्रीपूज्यपद का महत्त्व दिया, जिन्हो के आत्मज श्री लालसिंहजी हुए इनके आत्मज श्री भवानीसिंहजी हुए जिनके शासनकाल में वि. सं. १९५५ फागण वद ५ गुरुवार को राजस्थान में सर्व प्रथम भव्य अंजनशलाका महोत्सव के आयोजक बाफना गोत्रीय जसरूपजी जितमलजी मुथा की और से ९५१ जिनबिंबोकी अंजनशलाका हुई, एवं श्री गोडी पार्श्वनाथ के परिसरमें बावन (५२) जिनालय में जिनबिंबो की प्रतिष्ठा सानंद संपन्न हुई, आपके सुपुत्र श्री ठाकुर रावतसिंहजी हुए, जिन्होंने परम पूज्य व्याख्यान आगमज्ञाता आचार्यदेव श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. को सं. १९९५ वैशाख सुदि १० को आचार्यपद प्रदान किया गया उस मे सभी प्रकार से पूर्ण सहयोग श्री संघ आहोर को दिया। इन्हो के पुत्र श्री नरपतसिंहजी व श्री मानसिंहजी हुवे श्री नरपतसिंहजी के दत्तकपुत्र श्री पृथ्वीसिंहजी हुवे जिन का अल्प आयु में स्वर्गवास हो गया, इनके सुपुत्र श्री महिपालसिंहजी एवं श्री मानसिंहजी ने परम पूज्य आचार्य श्रीमद्विजय हेमेश्वरजी म. के सं. २०४० माघ सु. ९ को आचार्यपद प्रदान महोत्सव में आपके पूर्वजों के अनुरूप सम्पूर्ण सहयोग श्रीसंघ को दिया, श्रीपृथ्वीसिंहजी की धर्मपत्नी श्री प्रफुल्लकुंवरजी साहिब जो वर्तमान में आहोरनगर में ग्राम पंचायत की "सरपंच" है। जिन्होको धर्म तत्त्व जानने की बहुत ही जिज्ञासा रहती है। आपके पुत्र श्री महिपालसिंहजी दीर्घ आयु होकर समाज व नगर की सेवा करते हुवे आत्मोन्नति कर यशस्वी बने यही मंगल कामना।

प्रस्तुति

शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा
श्री भूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
आहोर (राजस्थान)

: स्तम्भ :



श्री स्व. गौतमचन्द पुखराजजी वागरेचा

: जन्म :

: स्वर्गवास :

वि.सं. २०२० श्रावण सुदि १५

वि.सं. २०५८ आश्विन सुदि ८

महान उत्तम सोच विचारो में समय व्यतीत कर्ता आत्मा स्व. गौतमचन्दकी स्मृति में पिता पुखराज, माता शान्तिदेवी, बहिन शोभादेवी, सुमीत्रादेवी, ज्येष्ठ भ्राता फूटरमल, भाभी वसन्ती देवी, पत्नी त्रिशला देवी, पुत्र सेन्की कुमार, सुमीतकुमार, लघुभ्राता महावीरचन्द, श्रीमती विद्यादेवी, भतीज मनीषकुमार, मितेशकुमार, राहुलकुमार, भतिजी रंजना, प्रियन्का, रिंजल... आहोर...

कलिकुंड से सम्मेशिखरजी का पेदल यात्री संघ निकला, उस में आपकी ओर से २०५६ पोष सुदि ३ को नवकारशी संखावली चौराहे पर की गई थी ।



शाह शान्तिलाल लक्ष्मणचन्दजी
आहोर

शाह शान्तिलाल मांगीलाल, अशोककुमार, ललितकुमार, राजेन्द्रकुमार, दिनेशकुमार, विक्रमकुमार, निखीलकुमार, अंकितकुमार, राहुलकुमार, आशिषकुमार, अक्षयकुमार, यक्षकुमार, आयुषकुमार बेटा पोता लक्ष्मणचन्दजी श्री श्री श्री श्री माल, विजयगोता... आहोर...

आपके परिवार द्वारा श्री गौडी पार्श्वनाथजी के मन्दिर में नूतन त्रिशिखरी सीमन्धरस्वामीजी का मंदिर बनवाकर भव्य महोत्सव सह अंजनशलाका प्रतिष्ठा कराई गई ।

: स्तम्भ :



वागरेचा कुंदणमलजी मिश्रीमलजी
आहोर (राजस्थान)

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)
प्रथम आगम सूत्र आचारांग के द्वितीय भाग के
सुकृत में द्रव्य सहयोगी

शाह वागरेचा मुथा कुंदणमल मिश्रीमलजी
धर्मपत्नी फेन्सीबाई, सुपुत्र सुरेशकुमार,
जगदीशकुमार, पुत्रियां प्रवीणा, संगीता,
प्रियंका, ममता, सोमा, पूर्णा... आहोर...



शाह पारसमलजी रिखवचंदजी
पोरवाल आहोर

श्री नथमलजी लालचंदजी परम पूज्य व्याख्यान
वाचस्पति जै नाचार्य श्रीमद्विजय
यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के परम भक्त थे
एवं आपने गुरुदेव के आदेश से शासन के अनेक
कार्य किये है...

वर्तमान में श्री पारसमलजी प्रवासी आहोर
संघ के अध्यक्ष है ।

: स्तम्भ :



कोठारी छगनराजजी प्रेमचंदजी
आहोर (राजस्थान)

कोठारी छगनराजजी प्रेमचंदजी, पुत्र पौत्र
गुलाबचन्द, राजेन्द्रकुमार व स्व. वस्तिमलजी के पुत्र
शान्तिलाल, अशोककुमार, रमेशकुमार,
महावीरचन्द, विनोदकुमार... आहोर...

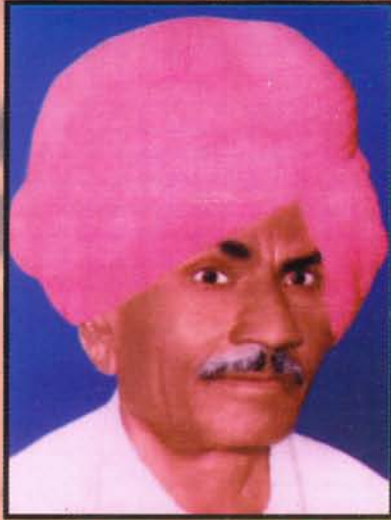


स्व. शाह प्रतापचन्दजी गुलाबचंदजी
नेणावत आहोर

स्व. मातृश्री बदामबाई की स्मृति में पुत्र शाह
भवरलाल, कीर्तिकुमार, किशोरकुमार,
विनोदकुमार... आहोर...

फर्म : **आराधना पेपर मार्ट**
कोयम्बतुर (तमिलनाडु)

: स्तम्भ :



स्व. मूथा मिश्रीमलजी सूरजमलजी बाफना
आहोर

परम पूज्य कलिकालसर्वज्ञकल्प भट्टारक गुरुदेव प्रभुश्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज द्वारा वि.सं. १९५५ फागण वद ५ गुरुवार को ९५१ जिनबिम्बो की अंजनशलाका करवाने वाले बाफना मूथा जसराजजी जीतमलजी के वंशज मूथा मिश्रीमलजी, पुत्र डॉ. चम्पालाल, मदनलाल, पुत्रवधु लीलादेवी, शान्तिदेवी, पौत्र आनन्द, राज, सुशीलकुमार, विजयकुमार, विशालकुमार, प्रपौत्र राहुलकुमार, रोशनकुमार... आहोर...

आप जीवन पर्यन्त श्री पार्श्वनाथ जैन नवयुवक मण्डल आहोर के कोषाध्यक्ष पद पर रहे ।



संघवी भगवानचंदजी थानमलजी

कटारिया संघवी स्वर्गस्थ भगवानचंदजी थानमलजी धर्मपत्नी श्रीमती मोतीबाई, पुत्र पौत्र जयन्तीलाल, किशोरकुमार, प्रवीणकुमार... आहोर...

आपके मात-पिताजी ने वि.सं. १९९५ वैशाख सुदि १ को भव्य महोत्सव सह परम पूज्य व्याख्यान वाचस्पति श्री आचार्यदेव श्रीमद्विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के आचार्यपद प्रदान में बडी नवकारशी करके साधर्मिक भक्ति का लाभ प्राप्त किया था ।

: जन्म :

वि.सं. १९९५ भाद्रवा सुदी १

: स्वर्गवास :

वि.सं. २०३५ फागण सुदी १५

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन

(श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका)

श्री जिन वाणी आगम हिन्दी टीका प्रकाशन में
सर्वोच्च ब्रह्म सहयोगी महानुभावो की स्वर्णिम नामावली

-: महास्तम्भ :-

- १ ठाकुर श्री महिपालसिंहजी पृथ्वीसिंहजी चौपावत
ह : श्रीमती प्रफूलाकुंवर धर्मपत्नी पृथ्वीसिंहजी, आहोर
सरपंच महोदया ग्राम पंचायत, आहोर
- २ स्व. श्रीमती ओटीबाई फूलचन्दजी हणवन्त गौत्रीय, आहोर
ह : सुपुत्री प्यारीबाई लालचन्दजी वागरेचा, आहोर

: स्तम्भ :

- १ मुथा अमीचन्दजी की स्मृति में पुस्तराज जावन्तराज भंवरलाल किरणराज नेत्रचन्द फूटरमल रमेशकुमार गौतमचन्द बाबुलाल जयन्तीलाल कैलाशकुमार महावीरचन्द बेटा पोता जुहारमल भूराजी बागरेचा परिवार, आहोर...
- २ मुथा भीमराजजी बाबुलाल प्रकाशचन्द्र महेन्द्रकुमार राजेशकुमार अंकीतकुमार आशान्तकुमार बेटा पोता केसरीमलजी बागरेचा, ह: श्रीमती पानीबाई बागरेचा, आहोर...
- ३ स्व. श्रीमति भागवतीबाई की स्मृति में शाह पारसमल भंवरलाल जयन्तीलाल विनोदकुमार राजेन्द्रकुमार उत्तमकुमार प्रवीणकुमार महावीरकुमार बेटा पोता रिखबचन्दजी नथमलजी, आहोर...
- ४ श्रीमति सुमटीबाई धर्मपत्नी घेवरचन्दजी बाफना पुत्र विमलकुमार कीर्तिकुमार रोहितकुमार बेटा पोता मुथा घेवरचन्दजी जेठमलजी, आहोर...
- ५ बाफना मुथा रमेशकुमार दीपककुमार हरेशकुमार अमनकुमार कृष्णकुमार बेटा पोता सुमेरमलजी सुरभराजजी, ह: श्रीमती भागवन्ती बाई, आहोर...
- ६ बाफना मुथा हरितमल मदनराज रमेशकुमार राजेन्द्रकुमार जितेन्द्रकुमार भरतकुमार अभिषेककुमार ऋषभकुमार सुशीलकुमार बेटा पोता भबुतमल कुसलराजजी, ह: श्रीमती मोहनबाई, आहोर...
- ७ बाफना मुथा जयन्तीलाल गौतमकुमार हरिशकुमार राजेन्द्रकुमार आकाशकुमार अक्षयकुमार अमरकुमार जीकिंकुमार बेटा पोता पुष्परजजी वनराजजी, श्रीमती फेन्सी बाई स्मृति में, आहोर...

- ८ शाह रिख्रबचन्दजी ताराचन्दजी वाणिगोता, श्रीमती शान्तिदेवी वाणीगोता, आहोर...
- ९ बाफना मुथा डा. चम्पालाल मदनलाल संजयकुमार आनन्दकुमार सुशीलकुमार विजयकुमार विशालकुमार गौतमकुमार बेटा पोता मिश्रीमलजी सूरजमलजी, हः श्रीमती लीलादेवी शान्तिदेवी, आहोर...
- १० फोलामुथा हिराचन्द नथमल प्रकाशचन्द नरेशकुमार बेटा पोता भगवानजी गुलाबचन्दजी, हः मोहनीदेवी, आहोर...
- ११ वजावत स्व. मुकन्नचन्दजी एवं घेवरचन्दजी के स्मृति में पारसमल कानराज रमेशकुमार अशोककुमार मनोजकुमार राजेन्द्रकुमार रविकुमार विजयकुमार धर्गेन्द्रकुमार यतीन्द्रकुमार, हः श्रीमती गटुबाई वजावत, आहोर...
- १२ कटारिया संघवी जयन्तीलाल किशोरकुमार प्रवीणकुमार बेटा पोता भगवानजी धानमलजी, हः मोहनीबाई, आहोर...
- १३ नागोरी मूलचन्दजी की स्मृति में शान्तिलाल बाबुलाल मोहनलाल अशोककुमार संजयकुमार विजयकुमार अजयकुमार मितेशकुमार मनीशकुमार जयकुमार कीर्तिकुमार अंकितकुमार अक्षयकुमार बेटा पोता सुमेरमलजी चुनिलालजी, हः हंजाबाई, आहोर...
- १४ नागोरी भेरुलाल मयंककुमार भुवनकुमार बेटा पोता भंवरलालजी मिश्रीलालजी, हः पानीबाई, आहोर...
- १५ दांतेवाडीया मुथा कानराज सूरजमल जयन्तीलाल भंवरलाल शान्तिलाल नेमिचन्द नरपतराज विनोदकुमार विक्रमकुमार मनोजकुमार चेतनकुमार सन्दीपकुमार श्रीपालकुमार भादेशकुमार निलेशकुमार जवेरचन्द विरलकुमार विजयकुमार राजेन्द्रकुमार बेटा पोता तेजराजजी हिराचन्दजी, हः श्रीमती बदामीबाई, आहोर...
- १६ मातुश्री बदामबाई की स्मृति में पुत्र नेणावत भवरलाल कीर्तिकुमार किशोरकुमार विनोदकुमार बेटा पोता प्रतापचन्दजी गुलाबचन्दजी, आहोर...
- १७ कंकु चोपडा मुन्विलाल चम्पालाल जुगराज बाबुलाल भीकमचन्द जयन्तीलाल कान्तिलाल अमृतकुमार विनोदकुमार महेन्द्रकुमार नेमिचन्द रमणकुमार अशोककुमार फूटरमल बेटा पोता पुखराजजी केसरीमलजी चौपडा, आहोर...
- १८ शाह शान्तिलाल मांगीलाल अशोककुमार ललितकुमार राजेन्द्रकुमार दिनेशकुमार विक्रमकुमार निखिलकुमार अंकितकुमार राहूलकुमार आशीषकुमार अक्षयकुमार यक्षकुमार आयुषकुमार बेटा पोता लक्ष्मणराजजी श्रीश्रीमाल विजलगोता, आहोर...
- १९ स्व. नेणमलजी की स्मृति में सुमेरमल शेषमल रमेशकुमार किशोरकुमार मनीशकुमार संजयकुमार राजकुमार अमनकुमार बेटा पोता फूलचन्दजी कपुरचन्दजी नेणावत पोरवाल, हः सोहनीबाई, आहोर...
- २० कोठारी वस्तिमलजी की स्मृति में गुलाबचन्द शान्तिलाल अशोककुमार रमेशकुमार

- महावीरकुमार विनोदकुमार राजेन्द्रकुमार बेटा पोता छगनराजजी हः मोहनीदेवी, आहोर...
- २१ बागरेचा कुन्दनमल सुरेशकुमार जगदीशकुमार बेटा पोता मिश्रीमलजी जुहारमलजी, हः फेन्सीदेवी बागरेचा, आहोर...
- २२ शाह भेरुलाल नरपतराज राकेशकुमार मनीशकुमार जीतेन्द्रकुमार सुमयकुमार बेटा पोता फतेहचन्दजी छोगाजी श्रीश्रीमाल, हः हिराबाई, आहोर...
- २३ मातुश्री जडावीबाई के विविध तपाराधना के उपलक्षमें उद्यापन की स्मृति में पुत्र डा. रणजीतमल कान्तिलाल किरणराज अशोककुमार किशोरकुमार महावीरकुमार बेटा पोता छगनराजजी नगराजजी वजावत, आहोर...
- २४ शाह निहालचन्द शीवलाल घेवरचन्द झुमरलाल मोतीचन्द बेटा पोता छगनराजजी ताराचन्दजी छाजेड परिवार, आहोर...
- २५ स्व. गौतमचन्द बागरेचा की स्मृति में पिता पुस्तराज मातुश्री शान्तिदेवी, बहिन शोभा, सुमित्रा, पतिन त्रिशला, सुपुत्र चेन्की, सुमित, पुत्री स्वेता, बडे भाता फुटरमलजी, भाभी वसन्तीदेवी, भतिज मनीष, मितेष... भतिजी रंजना, प्रियंका, लघुभाता महावीरचन्द, धर्मपत्नी विद्यादेवी, पुत्र राहुल, पुत्री रिंजल, आहोर...

: संरक्षक महोदय :

- १ श्री त्रिस्तुतिक ज्ञान खाते से ह : महिला मण्डल, आहोर...
- २ स्व. भबुतमलजी जावन्तराजजी की धर्मपत्नी जडावीबाई व पुत्र पौत्र सुमेरमल महेन्द्रकुमार जितेन्द्रकुमार सम्यककुमार एवं अशोककुमार जीतपाल, सैनककुमार पुत्र पौत्र हिराचन्दजी पोरवाल, आहोर...
- ३ मातुश्री श्रीमती धापुबाई की स्मृति में, शाह कुशलराज सन्दीपकुमार शीवलाल बेटा पोता मियाचन्दजी कातरगोता-बोहरा, आहोर...
- ४ वजावत फतेचंद, रूपराज भंवरलाल विमलचंद शान्तिलाल कान्तिलाल जयंतिलाल कमलचंद्र कीर्तिकुमार, आहोर. गुरु द्रव्यसे

-: सुकृत सहयोगी :-

- १ नागोरी प्रभुलाल भरतकुमार नरेशकुमार सुभाषकुमार बेटा पोता जेठमलजी, आहोर...
- २ मुथा शेषमल अशोककुमार कुशलराज राठौड बेटा पोता मगनाजी, आहोर...
- ३ शाह पारसमल विनोदकुमार कमलेशकुमार भरतकुमार वाणिगोता बेटा पोता अचलराजजी, आहोर...
- ४ मुथा पारसमल सरदारमल रमणलाल बेटा पोता मुथा चन्दनमलजी वनराजजी, आहोर...
- ५ श्रीमति गुलाबीदेवी धर्मपत्नी शाह चम्पालालजी वाणिगोता, आहोर...
- ६ स्व. रेखा बहिन सांकलचन्दजी डट्टा, आहोर...

अनुक्रमणिका

सूत्र क्रमांक		पत्रांक
द्वितीय अध्ययन प्रारंभ	लोकविजय	१
प्रथम उद्देशक प्रारंभ	स्वजनपरिज्ञा	४२
श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र- सूत्रांक		
१ - २ - १ - १ - (६३)		४२
१ - २ - १ - २ - (६४)		५३
१ - २ - १ - ३ - (६५)		६०
१ - २ - १ - ४ - (६६)		६५
१ - २ - १ - ५ - (६७)		६८
१ - २ - १ - ६ - (६८)		७१
१ - २ - १ - ७ - (६९)		७३
१ - २ - १ - ८ - (७०)		७४
१ - २ - १ - ९ - (७१)		७५
१ - २ - १ - १० - (७२)		७९
द्वितीय उद्देशक प्रारंभ	दृढत्वम्	८२
१ - २ - २ - १ - (७३)		८२
१ - २ - २ - २ - (७४)		८७
१ - २ - २ - ३ - (७५)		९०
१ - २ - २ - ४ - (७६)		९२
१ - २ - २ - ५ - (७७)		९७
तृतीय उद्देशक प्रारंभ	मदत्यागः	१००
१ - २ - ३ - १ - (७८)		१००
१ - २ - ३ - २ - (७९)		१०७
१ - २ - ३ - ३ - (८०)		१११
१ - २ - ३ - ४/५ - (८१/८२)		११४
१ - २ - ३ - ६ - (८३)		१२२
चतुर्थ उद्देशक प्रारंभ	भोगासक्तित्यागः	१२५
१ - २ - ४ - १ - (८४)		१२५
१ - २ - ४ - २ - (८५)		१२८
१ - २ - ४ - ३ - (८६)		१३०
१ - २ - ४ - ४ - (८७)		१३४
पंचम उद्देशक प्रारंभ	लोकनिश्चा	१३८
१ - २ - ५ - १ - (८८)		१३८
१ - २ - ५ - २ - (८९)		१४१
१ - २ - ५ - ३ - (९०)		१४४
१ - २ - ५ - ४ - (९१)		१४८
१ - २ - ५ - ५ - (९२)		१५१
१ - २ - ५ - ६ - (९३)		१५४

श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र- सूत्रांक	पत्रांक	
१ - २ - ५ - ७ - (१४)	१५६	
१ - २ - ५ - ८ - (१५)	१५९	
१ - २ - ५ - ९ - (१६)	१६४	
१ - २ - ५ - १० - (१७)	१६८	
षष्ठ उद्देशक प्रारंभ	अममत्वम्	१७२
१ - २ - ६ - १ - (१८)		१७२
१ - २ - ६ - २ - (१९)		१७३
१ - २ - ६ - ३/४ - (१०१/१०१)		१७९
१ - २ - ६ - ५/६ - (१०२/१०३)		१८२
१ - २ - ६ - ७ - (१०४)		१८६
१ - २ - ६ - ८ - (१०५)		१८८
१ - २ - ६ - ९ - (१०६)		१९२
१ - २ - ६ - १० - (१०७)		१९९
१ - २ - ६ - ११ - (१०८)		२००
तृतीय अध्ययन प्रारंभ	शीतोष्णीय	२०३
प्रथम उद्देशक प्रारंभ	भावसुप्तः	२०९
१ - ३ - १ - १ - (१०९)		२०९
१ - ३ - १ - २ - (११०)		२१४
१ - ३ - १ - ३ - (१११)		२१७
१ - ३ - १ - ४ - (११२)		२२०
१ - ३ - १ - ५ - (११३)		२२४
१ - ३ - १ - ६ - (११४)		२३२
द्वितीय उद्देशक प्रारंभ	दुःस्वानुभवः	२३५
१ - ३ - २ - १ - (११५)		२३५
१ - ३ - २ - २ - (११६)		२३८
१ - ३ - २ - ३ - (११७)		२३९
१ - ३ - २ - ४ - (११८)		२४१
१ - ३ - २ - ५ - (११९)		२४३
१ - ३ - २ - ६ - (१२०)		२४९
१ - ३ - २ - ७ - (१२१)		२५०
१ - ३ - २ - ८ - (१२२)		२५१
१ - ३ - २ - ९/१० - (१२३/१२४)		२५४
तृतीय उद्देशक प्रारंभ	संयमानुष्ठानम्	२५७
१ - ३ - ३ - १ - (१२५)		२५७
१ - ३ - ३ - २/३ - (१२६/१२७)		२६१
१ - ३ - ३ - ४/५ - (१२८/१२९)		२६६
१ - ३ - ३ - ६ - (१३०)		२६९
१ - ३ - ३ - ७ - (१३१)		२७३
१ - ३ - ३ - ८ - (१३२)		२७५
१ - ३ - ३ - ९ - (१३३)		२७६

श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र- सूत्रांक		पत्रांक
चतुर्थ उद्देशक प्रारंभ	कषायवमनम्	२७९
१ - ३ - ४ - १ - (१३४)		२७९
१ - ३ - ४ - २ - (१३५)		२८३
१ - ३ - ४ - ३ - (१३६)		२८४
१ - ३ - ४ - ४ - (१३७)		२९०
१ - ३ - ४ - ५ - (१३८)		२९२
चतुर्थ अध्ययन प्रारंभ	सम्यक्त्व	२९६
प्रथम उद्देशक प्रारंभ	सम्यग्दर्शनम्	३०३
१ - ४ - १ - १ - (१३९)		३०३
१ - ४ - १ - २ - (१४०)		३०९
१ - ४ - १ - ३ - (१४१)		३१०
१ - ४ - १ - ४ - (१४२)		३१२
द्वितीय उद्देशक प्रारंभ	सम्यग्ज्ञानम्	३१५
१ - ४ - २ - १ - (१४३)		३१५
१ - ४ - २ - २ - (१४४)		३२२
१ - ४ - २ - ३ - (१४५)		३२४
१ - ४ - २ - ४ - (१४६)		३२९
तृतीय उद्देशक प्रारंभ	तपश्चर्या	३३८
१ - ४ - ३ - १ - (१४७)		३३८
१ - ४ - ३ - २ - (१४८)		३४३
१ - ४ - ३ - ३ - (१४९)		३४६
चतुर्थ उद्देशक प्रारंभ	सम्यक्चारित्र्यम्	३४९
१ - ४ - ४ - १ - (१५०)		३४९
१ - ४ - ४ - २ - (१५१)		३५२
१ - ४ - ४ - ३ - (१५२)		३५४
१ - ४ - ४ - ४ - (१५३)		३५८
पंचम अध्ययन प्रारंभ	लोकसार	३६१
प्रथम उद्देशक प्रारंभ	एक-चर्या	३६६
१ - ५ - १ - १ - (१५४)		३६६
१ - ५ - १ - २ - (१५५)		३६९
१ - ५ - १ - ३ - (१५६)		३७१
१ - ५ - १ - ४ - (१५७)		३७३
१ - ५ - १ - ५ - (१५८)		३७५
द्वितीय उद्देशक प्रारंभ	विरचमुनिः	३८३
१ - ५ - २ - १ - (१५९)		३८३
१ - ५ - २ - २ - (१६०)		३८७
१ - ५ - २ - ३ - (१६१)		३९०
१ - ५ - २ - ४ - (१६२)		३९२
१ - ५ - २ - ५ - (१६३)		३९४

श्रुत.-अध्य.-उद्दे.-सूत्र- सूत्रांक	पत्रांक
तृतीय उद्देशक प्रारंभ	अपरिग्रहः ३९८
१ - ५ - ३ - १ - (१६४)	३९८
१ - ५ - ३ - २ - (१६५)	४०९
१ - ५ - ३ - ३ - (१६६)	४०४
१ - ५ - ३ - ४ - (१६७)	४०७
१ - ५ - ३ - ५ - (१६८)	४१२
चतुर्थ उद्देशक प्रारंभ	अव्यक्तः ४१६
१ - ५ - ४ - १ - (१६९)	४१६
१ - ५ - ४ - २ - (१७०)	४२९
१ - ५ - ४ - ३ - (१७१)	४२५
१ - ५ - ४ - ४ - (१७२)	४२७
पंचम उद्देशक प्रारंभ	हृदोपमः ४३४
१ - ५ - ५ - १ - (१७३)	४३४
१ - ५ - ५ - २ - (१७४)	४३९
१ - ५ - ५ - ३ - (१७५)	४४३
१ - ५ - ५ - ४ - (१७६)	४४४
१ - ५ - ५ - ५ - (१७७)	४५०
१ - ५ - ५ - ६ - (१७८)	४५३
षष्ठ उद्देशक प्रारंभ	कुमारगत्यागः ४५८
१ - ५ - ६ - १ - (१७९)	४५८
१ - ५ - ६ - २ - (१८०)	४६०
१ - ५ - ६ - ३ - (१८१)	४६४
१ - ५ - ६ - ४ - (१८२)	४६६
१ - ५ - ६ - ५ - (१८३)	४६७
१ - ५ - ६ - ६ - (१८४)	४६९
१ - ५ - ६ - ७ - (१८५)	४७४
नियुपतयः	
नियुक्ति अध्ययन-२	४७८
नियुक्ति अध्ययन-३	४८०
नियुक्ति अध्ययन-४	४८२
नियुक्ति अध्ययन-५	४८४-४८६

ॐ नमः श्री जिनप्रवचनाय

ॐ णमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

ॐ सरस्वत्यै नमः स्वाहा

संक्षिप्त विषयानुक्रम

अध्ययन-उद्देशक	विषय	पत्रांक
द्वितीय अध्ययन	लोकविजयः	१
प्रथम उद्देशक	स्वजनपरिहा	४२
द्वितीय उद्देशक	वृद्धत्वम्	८२
तृतीय उद्देशक	मदत्यागः	१००
चतुर्थ उद्देशक	भोगासक्ति - त्यागः	१२५
पंचम उद्देशक	लोकनिश्चा	१३८
षष्ठ उद्देशक	अममत्त्वम्	१७२
तृतीय अध्ययन	शीतोष्णीयः	२०३
प्रथम उद्देशक	भावसुप्तः	२०९
द्वितीय उद्देशक	दुस्वानुभवः	२३५
तृतीय उद्देशक	संयमानुष्ठानम्	२५७
चतुर्थ उद्देशक	कषायदमनम्	२७९
चतुर्थ अध्ययन	सम्यक्त्वम्	२९६
प्रथम उद्देशक	सम्यक्दर्शनम्	३०३
द्वितीय उद्देशक	सम्यग्ज्ञानम्	३१५
तृतीय उद्देशक	तपश्चर्या	३३८
चतुर्थ उद्देशक	सम्यक्चारित्र्यम्	३४९
पंचम अध्ययन	लोकसारः	३६१
प्रथम उद्देशक	एकचर्या	३६६
द्वितीय उद्देशक	दिरतमुनिः	३८३
तृतीय उद्देशक	अपरिग्रहः	३९८
चतुर्थ उद्देशक	अव्यक्तः	४१६
पंचम उद्देशक	हृदोपमः	४३४
षष्ठ उद्देशक	कुमारगत्यागः	४५८

नियुक्तयः

अध्ययन-२ नियुक्ति	४७८
अध्ययन-३ नियुक्ति	४८०
अध्ययन-४ नियुक्ति	४८२
अध्ययन-५ नियुक्ति	४८४-४८६

सम्पादनवेलायाम्...



पं. श्री लीलाधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया

अयि ! शृण्वन्तु हंहो ! तत्रभवन्तः भवन्तः प्रेक्षावन्तः भोः भोः सज्जनाः । अनादिनिधनस्थितिकेऽस्मिन् संसारसागरे नैके असुमन्तः प्राणिनः स्वस्वकृतकर्म-परवशीभूय निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वन्तः विद्यमानाः सन्ति ।

सदैव सर्वेषां जीवानां एकैव आकाङ्क्षा अस्ति, यत्-सकल दुःखानां परिहारेण सर्वथा सुखीभवामः, किन्तु संसारस्थजीवानां यादृशी आकाङ्क्षा अस्ति, तदनुरूपः पुरुषार्थस्तु नास्ति...

यतः साध्यानुरूपो हि पुरुषार्थः साध्यसिद्धिं प्रति समर्थीभवति । जीवानां साध्यं अस्ति निराबाधं अक्षयं अनन्तं आत्मसुखम्, किन्तु तैः तदनुरूपः पुरुषार्थस्तु न अङ्गीकृतः...

निराबाधसुखस्य साधनं अस्ति सम्यक्चारित्र्यम्... तत् च सर्वसावधानिवृत्तिस्वरूपं पञ्चचारात्मकं चरणं, सावधं नाम पापाचरणम्... पापाचरणं नाम जगज्जन्तूनां त्रिविध-त्रिविधपीडोद्भावनम्... अतः पापाचरणस्य परिहारः हि निराबाधसुखस्य असाधारण-हेतुः अस्ति इति अवगन्तव्यम् ।

परहितकरणेनैव स्वहितं स्यात्, नाऽन्यथा । परपीडा-विधानेन तु आत्मपीडैव सम्भवेत् इति वार्ता निश्चितं विज्ञेया ।

यः कोऽपि परेभ्यः यत् यत् कामयते, तत् तत् परेभ्यः प्रथमं दातव्यं भवति... यथा आम्रबीजवपनेन एव आम्रफलं लभ्यते, नाऽन्यथा इति तु जानीते आबालगोपालः ।

वर्तमानसमये ये ये जीवाः दुःखिनः सन्ति, तैः पूर्वस्मिन् काले परेभ्यः दुःखं दत्तं स्यात्, अन्यथा ते कदापि दुःखिनः न स्युः इति मन्ये । ये केऽपि प्रेक्षावन्तः सज्जनाः चेद् गम्भीरीभूय ते चिन्तयेयुः तदा जगज्जीवानां दुःखनिदानं किं अस्ति, तत् सम्यग् जानीयुः ।

यद्यपि कोऽपि जीवः कस्मैचिदपि दुःखं दातुं नेच्छति, तथापि आहारसंज्ञादिहेतुतः मिथ्यामोहान्धचित्तत्वेन कर्मपरवशीभूय जीवः तथा तथा प्रवृत्तिं करोति यथा नैके पृथ्वीकायादि जीवाः दुस्सहं कष्टं प्राप्नुवन्ति, इति एवं प्रकारेण अविरतः जीवः संसारस्थैः अनन्तैः जीवैः सह वैरानुबन्धभावं वर्धयति । फलतः सः अविरतः जीवः अपारसंसारसागरे पुनः पुनः जन्ममरणात्मकं निमज्जनोन्मज्जनं कुर्वन् संसारे वर्तते, इतीयं वार्ता मिथ्या न, किन्तु सत्या एव । यदि केषाञ्चित् चेतसि अत्र सन्देहः स्यात् तर्हि पृच्छन्तु ते प्रेक्षावद्भ्यः सज्जनेभ्यः, श्रूयतां च तैः दत्तं

सम्यग् उत्तरम् ।

केवलज्ञानालोके विश्वविश्वं करामलकवद् अधिगच्छन्ति जिनेश्वराः । चातुर्गतिकजीवानां भवभ्रमणकारणं सनिदानं ज्ञातमस्ति परोपकारिभिः तैः सर्वज्ञैः जिनेश्वरैः तैः दृष्टं यत्-विषयकषायाभिभूताः हि कर्मबहुलाः चातुर्गतिकाः जीवाः उदयागतकर्मविपाकानुसारेणैव भवभ्रमणं कुर्वन्ति । यथा कण्डरीकादयः सागरश्रेष्ठ्यादयश्च, ते हि विषयकषायानुभावतः एव भवे भ्रान्ताः भ्रमन्ति भ्रमिष्यन्ति च ।

तथा च ये गजसुकुमालादयः पुण्डरीकादयश्च लघुकर्माणः जीवाः, ये विषयकषायेभ्यः विरम्य आत्मगुणाभिमुखाः सज्जाताः, सावधारम्भ-परिव्रहतश्च विरताः सन्ति, ते एव निराबाधं आत्मसुखं सम्प्राप्ताः सन्ति, प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति च, नाऽत्र सन्देहः ।

अतः एव अतीतकालीनाः वर्तमानकालीनाः अनागतकालीनाश्च विश्वविश्वोपकारिणः विगत राग-द्वेषमोहाः जितेन्द्रियाः पञ्चाचारमयाः पञ्चसमितिभिः समिताः त्रिगुणितभिः गुप्ताः विनष्टकर्मवलेषाः केवलिनः सर्वज्ञाः जिनेश्वराः देवदिरचित-समवसरणे द्वादशविधपर्षदि एवं भाषितवन्तः भाषन्ते भाषिष्यन्ते च, यत्-विश्वविश्वेऽस्मिन् संसारे ये केऽपि जीवाः सन्ति, ते कैश्चिदपि मुमुक्षुभिः न हन्तव्याः न पीडनीयाः न परितापनीयाः न उपद्रवितव्याः इति. एतद्-भावप्रकाशकं सूत्रं (सूत्राङ्क-१३९) सकलद्वादशाङ्ग्याः सारभूतेऽस्मिन् प्रथमे आचाराङ्गाभिधे अन्धे प्रथमश्रुतस्वकन्धस्य चतुर्थाध्ययने गणधरैः उल्लिखितं अस्ति...

चतुर्दशपूर्वगर्भितेयं द्वादशाङ्गी अर्थतः उपदिष्टाऽस्ति जिनेश्वरैः, सूत्रतश्च त्रयिताऽस्ति गणधरैः । सर्वेऽपि जिनेश्वराः क्षायिकभावात्मक-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमयाः सन्ति, गणधराश्च निर्मल क्षायोपशमिकभावात्मकसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्पन्नाः सन्ति । तेषां समेषां दृष्टिः लक्ष्यबिन्दुः वा एकस्मिन्नेव शुद्धात्मनि अस्ति... आत्मविशुद्ध्यर्थमेव तेषां समेषां सर्वथा पुरुषार्थः अस्ति, तथा च आत्मना मनसा वचसा वपुषा वा ते सर्वेऽपि तथाविधं उद्यमं स्वयं कुर्वन्ति, अन्यैः कारयन्ति तथा च तथाविधं उद्यमं कुवाणान् अन्यान् प्रशंसन्ते च, यथा आत्मविशुद्धिः भवेत् ।

विश्वविश्वेऽस्मिन् ये केऽपि जन्तवः सन्ति, ते सर्वेऽपि जीवात्मानः असङ्ख्य-प्रदेशिनः सन्ति, तथा चाऽत्र प्रतिप्रदेशे अनन्तज्ञानादिगुणाः सहजाः एव... सर्वेऽपि जीवाः अक्षयाः अजराः अमराः निराबाधसुखमयाश्च सन्ति, किन्तु चातुर्गतिकेऽस्मिन् संसारे ये केऽपि जीवाः परिभ्रम्यमाणाः नैकविधसातासातादिजन्यसुखदुःखाभितप्ताश्च दरीदृश्यन्ते तत्र एकमेव पापाचरणं कारणमस्ति...

मिथ्यात्वादिबन्धहेतुभिः सेविताष्टादशपापस्थानकाः समेऽपि संसारिणः जीवाः यद्यपि जन्म नेच्छन्ति तथाऽपि बद्धाष्टविधकर्मविपाकोदयेन जन्म लभन्ते, पीडां नेच्छन्ति तथाऽपि पीडां प्राप्नुवन्ति, वार्द्धक्यं नेच्छन्ति तथाऽपि वृद्धभावमनुभवन्ति... मरणं नेच्छन्ति तथाऽपि म्रियन्ते च ।

अतः एव परमकरुणातुभिः जगज्जन्तुजननीकल्पैः जिनेश्वरैः परमवात्सल्यभावेन सकलजीवेभ्यः निराबाधात्मसुखानुभवं प्रकटयितुं पञ्चाचारमयः मोक्षभागः प्रदर्शितः अस्ति... गणधरैश्च अयं पञ्चाचारः आचाराङ्गाभिधे आगमग्रन्थे उल्लिखितः अस्ति.

१. कालादिभेदभिन्नाष्टविधज्ञानाचारः
२. निःशङ्कतादिभेदभिन्नाष्टविधदर्शनाचारः
३. ईर्यासमित्यादिभेदभिन्नाष्टविधचारित्राचारः
४. अनशनादिभेदभिन्नद्वादशविधतपआचारः
५. यथाविधित्रियोगपराक्रमभेदभिन्नवीर्याचारः

ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपो-वीर्याचारात्मकः अयं पञ्चाचारः सर्वेषां जीवानां आत्मविशुद्ध्यर्थं असाधारणं हेतुः अस्ति... यतः तदेव साधनं साधनं स्यात्, यत् साध्यं अवश्यमेव साध्यति... अद्य-यावत् ये केऽपि जीवाः मोक्षं प्राप्ताः सन्ति, ते सर्वेऽपि पञ्चाचारेणैव, नाऽन्यथा... यैः यैः पञ्चाचारः आराधितः ते सर्वेऽपि मोक्षगतिं प्राप्ताः सन्ति, तथा यैः जीवैः अयं पञ्चाचारः न आदृतः, आदृतो वा न आराधितः, ते सर्वे जीवाः चातुर्गतिकेऽस्मिन् संसारे परिभ्रमन्ति...

यत्र यत्र साधनं तत्र तत्र साध्यम् इति अन्वयः ।

यत्र यत्र साध्याभावः तत्र तत्र साधनाभावः इति व्यतिरेकः ।

अर्थात् यत्र यत्र पञ्चाचारः तत्र तत्र मोक्षः । इति अन्वयः

तथा यत्र यत्र मोक्षाभावः तत्र तत्र पञ्चाचाराभावः । इति व्यतिरेकः

अतः एव सज्जनशिरोमणिभिः सुधर्मस्वाम्यादि-सूरिपुरन्दरैः पुनः पुनः निवेद्यते, यत् - हे भव्याः ! सावधानीभूय सेव्यतामयं पञ्चाचारः, अनुभूयतां च निराबाधात्मसुखम् ।

आचाराङ्गाभिधमिदं आगमशास्त्रं गणधरैः अर्धभागधीप्राकृतभाषायां निबद्धमस्ति... चतुर्दशपूर्वधरश्रीभद्रबाहुस्वामिभिः प्राकृतभाषायां नियुक्तिः निबद्धा अस्ति... तथा वृत्तिकारश्रीमत् शीलाङ्काचार्यैः संस्कृतभाषायां वृत्ति-व्याख्या विहिता अस्ति... किन्तु वर्तमानकालीनमन्दमतिमुमुक्षुभिः इदं आचाराङ्गसूत्रम्, इयं नियुक्तिः, वृत्ति-व्याख्या च दुरधिगम्या, अतः एतादृशी परिस्थितिः सज्जाताः यत् प्रभूततराः साधवः साध्यश्च विहितयोगविधयः अपि, आचाराङ्गसूत्रार्थस्य जिज्ञासवः अपि न श्रवणं लभन्ते, न च पठितुं शक्नुवन्ति, ततः यत् तत् किमपि पठनं श्रवणं च कुर्वन्तः सन्तः आर्तध्यानात्मात-चेतसध्य ते दुर्लभं नरजन्मक्षणं मुधा गमयन्ति,

अतः एवम्भूतानां मन्दमतीनां मुमुक्षूणां हितकाम्यया इयं राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका-व्याख्या विहिता, अभिधान-राजेन्द्र-कोषकार-श्रीमद्-विजय राजेन्द्रसूरीशराणामन्तेवासि शिष्यरत्न व्याख्यान्वाचस्पति दिद्वद्वरेण्य श्रीमद् यतीन्द्रसूरीशराणां

विनेय शिष्यरत्नज्योतिषाचार्य-श्रीमद् जयप्रभविजयैः गुरुबन्धुश्री सौभाग्यविजयादीनां सत्प्रेरणया तथा च विनेय शिष्यरत्न हितेशचन्द्रविजयदिव्यचन्द्रविजयादीनां नमननिवेदनेन...

ग्रन्थसम्पादनकर्म तु प्रचुरश्रमसाध्यं अस्ति, अतः आचाराङ्गाभिधस्याऽस्य ग्रन्थस्य सम्पादनकर्मणि मालवकेशरी व्याख्यानकार मुनिपुंगव श्री हितेशचन्द्रविजयजित् "श्रेयस" तथा मुनिराज श्री दिव्यचन्द्रविजयजित् "सुमन" इत्यादिभिः एभिः मुनिवर्यैः आत्मीयभावेन प्रचुरमात्रायां सहयोगः प्रदत्तः अस्ति, अतः तेषां श्रुतज्ञानभक्तिः अनुमोदनीया अस्ति...

राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीकाऽन्वितस्य अस्य आचाराङ्गग्रन्थस्य प्रभूततराणि पत्राणि सज्जातानि, अतः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमाध्ययनानां यानि पत्राणि सन्ति तेषां सङ्ग्रहः द्वितीय-भागेऽस्मिन् पुस्तके कृतः, अस्ति...

प्रथम-श्रुतस्कन्धस्य शेषाणि अध्ययनानि तृतीयभागे लप्स्यन्ते तथा च द्वितीयश्रुतस्कन्धात्मकः चतुर्थभागः भविष्यति... एवं सम्पूर्णः आचाराङ्ग-ग्रन्थः अस्माभिः पुस्तकचतुष्टये सम्पादितोऽस्ति ।

ग्रन्थमुद्रणविधौ तु अणहिलपुर-पाटण-नगरस्थ दीप ओफ़सेट स्वामी श्री हितेशभाइ परीख एवं मूव कम्प्युटर स्वामी श्री मनोजभाइ ठक्कर इत्यादि सज्जनानां सहयोगः अविस्मरणीयः अस्ति ।

ग्रन्थसम्पादनकर्मणि प्रेसमेटर एवं प्रुफ आदि संशोधनकर्मणि विदुषी साधनादेवी, निमेष-ऋषभ-अभयम् इत्यादि सर्वेषां असाधारणसहयोगः प्रशंसनीयः अस्ति । अन्येऽपि ये केऽपि सज्जनाः अस्मिन् ग्रन्थसम्पादनकर्मणि उपकृतवन्तः तेषां समेषां सहकारं कृतज्ञभावेन स्मरामि इति...

--: निवेदयति :-

लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया...

संस्कृत-प्राकृत व्याकरण काव्य न्याय साहित्याचार्य.

--: अध्यापक :-

वि.सं.२०६९ ज्येष्ठ-शुक्ला दशमी

दिनांक : २९-५-२००४

मोहनखेडा तीर्थ (म.प्र.)

गुरू राजेन्द्र विद्या शोध संस्थान

मोहनखेडा तीर्थ (राजगढ़)

जि. धार, मध्यप्रदेश

फोन : ०७२९६-२३२२२९



प्रासंगिकम्

पं. श्री लीलाधरात्मजः रमेशचन्द्रः हरिया

सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद लेखनकला के शिल्पी हैं अभिधान राजेन्द्र कोश महाग्रंथ के निर्माता भट्टारक परम पूज्य आचार्य देव श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न दिद्वद्वरेण्य व्याख्यानवाचस्पति पू. आ. देव श्रीमद् विजयतीन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के शिष्यरत्न आगममर्मज्ञ मालवरत्न ज्योतिषाचार्य श्रीमद् जयप्रभवविजयजी म. सा. "श्रमण"।

इस महान ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है वयः संयमस्थविर श्री सौभाग्यविजयजी म. सा. प्रवचनकार श्री हितेशचंद्र विजयजी म. सा. श्री दिव्यचंद्र विजयजी म. सा. तथा प्रवर्तिनी पू. गुरुणीजी श्री मुक्तिश्रीजी म. सा. पू. साध्वीजी जयंतश्रीजी म. पू. साध्वीश्री संघवणश्रीजी म. पू. साध्वीश्री मणिप्रभाश्रीजी म. पू. साध्वीश्री तत्त्वलोचनाश्रीजी म. तथा हमारे बेन मा'राज साध्वीश्री सूर्योदयाश्रीजी म. सा. के शिष्या पू. साध्वीश्री रत्नज्योतिश्रीजी म. श्री मोक्षज्योतिश्रीजी म. श्री अक्षयज्योतिश्री म. श्री धर्मज्योतिश्रीजी म. आदि...

इस ग्रंथ में (१) अर्ध मागधी-प्राकृत भाषामें मूलसूत्र... (२) मूलसूत्र की संस्कृत छाया... (३) मूलसूत्र के भावार्थ... (४) श्री शीलांकाचार्यजीकी टीका का भावानुवाद... तथा (५) सूत्रसार का संकलन किया गया है...

इस ग्रंथ के प्रत्येक पेड़ के उपर की ओर १-१-१-१ ऐसा जो क्रमांक लिखा गया है, उसका तात्पर्य -

- १ याने प्रथम श्रुतस्कंध...
- १ याने प्रथम अध्ययन...
- १ याने प्रथम उद्देशक...
- १ याने पहला सूत्र...

इस ग्रंथ के भावानुवाद के लिये मुख्य आधार ग्रंथ मुनिराज श्री दीपरत्नसागरजी म. सा. के द्वारा प्रकाशित सटीक ४५ आगम ग्रंथ का प्रथम भाग श्री आचारांग सूत्र... सटीक... इस प्रकाशनमें दीये गये सूत्र क्रमांक १ से ५५२ पर्यंत संपूर्ण... यह हि क्रमांक इस प्रस्तुत प्रकाशन में लिये गये है... अतः प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययनके द्वितीय उद्देशक आदिके सूत्र क्रमांक में हमने उद्देशकके सूत्र क्रमांक के साथ साथ सलग सूत्र क्रमांक भी दीये है... जैसे कि- जहां १-१-२-३ (१६) लिखा गया है

- वहां प्रथम का १ अंक प्रथम श्रुतस्कंध का सूचक है...
- द्वितीय स्थानमें १ अंक प्रथम अध्ययन का सूचक है...

तृतीय स्थानमें २ अंक द्वितीय उद्देशकका सूचक है, एवं
चतुर्थ स्थानमें ३ अंक द्वितीय उद्देशक के तृतीय सूत्र का सूचक है...
तथा (१६) अंक सूत्र का अविभक्त सलग क्रमांक है...

इस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में सात उद्देशक है... सातवे उद्देशक का अंतिम सूत्र क्रमांक ६२ है... किंतु सातवे उद्देशकमें वह सातवां सूत्र है अतः हमने १-१-७-७ (६२) लिखा है...

प्रत्येक पेइज के उपर लिखे गये १-१-२-३ (१६) इत्यादि क्रमांक को देखने से यह पता चलेगा कि- यह टीकानुवाद या सूत्रसार कौन से श्रुतस्कंध के कौन से अध्ययन के किस उद्देशक के कौन से सूत्र का प्रस्तुत है...

इस आहोसी हिंदी टीका ग्रंथ का सही सही उपयोग इस प्रकार देखा गया है, कि- जो साधु या साध्वीजी म. सटीक आचारांग ग्रंथ पढना चाहते हैं... और उन्हें अध्ययन में कठीनाइयां आती है इस परिस्थिति में यह अनुवाद ग्रंथ उन्हें उपयुक्त सहायक बनेगा ऐसा हमारा मानना है... अतः हमारा नम्र निवेदन है कि- आप इस ग्रंथ का सहयोग लेकर सटीक आचारांग ग्रंथ का हि अध्ययन करें...

गणधर विरचित मूलसूत्र में एवं शीलाकाचार्य विरचित संस्कृत टीका में जो भाव-रहस्य है वह भावरहस्य अनुवाद में कहां ? जैसे कि- गोरस दुध में जो रस है वह छस में कहां ? तो भी असक्त मनुष्य को मंद पाचन शक्ति की परिस्थिति में दूध की जगह छस हि उपकारक होती है क्योंकि- दोनों गोरस तो है हि... ठीक इसी प्रकार मंद मेधावाले मुमुक्षु साधु-साध्वीजीओं को यह भावानुवाद-ग्रंथ अवश्य उपकारक होगा हि...

गणधर विरचित श्री आचारांग सूत्र का अध्ययन आत्म विशुद्धि के लिये हि होना चाहिये... आत्म प्रदेशों में क्षीरनीरवत् मीले हुए कर्मदल का पृथक्करण करके आत्म प्रदेशों को सुविशुद्ध करना, यह हि इस महान् ग्रंथ के अध्ययन का सारभूत रहस्य है, अतः इस महान् ग्रंथ के प्रत्येक पद-पदार्थ को आत्मसात् करना अनिवार्य है... कथाग्रंथ की तरह एक साथ पांच दश पेइज पढने के बजाय प्रत्येक पेइज के प्रत्येक पेरोग्राफ (फकरे) को चबाते चबाते चर्चण पद्धति से पढना चाहिये... अर्थात् चिन्तन-मनन अनुपेक्षा के द्वारा आत्मप्रदेशों से संबंध बनाना चाहिये...

आत्म प्रदेशों में निहित ज्ञानादि गुण-धन का भंडार अखुट अनंत अमेय एवं अविनाशी है... कि- जो गुणधन कभी भी क्षीण नहि होता... और न कोई चोर लुट सकता... और न कभी शोक-संताप का हेतु बनता, किंतु सदैव सर्वथा आत्महितकर हि होता है... अतः ज्ञान-धन हि आत्मा का सच्चा धन-ऐश्वर्य है...

श्री आचारांग सूत्र के अध्ययन से उपलब्ध हुआ पंचाचार स्वरूप गुण-धन निश्चित हि प्रज्वलित दीपक की तरह अनेक बुझे हुए दीपकों को प्रज्वलित करता है... अर्थात् अनेक भव्य जीवों में पंचाचार-गुण-धन के प्रदान के द्वारा अनंतानंत जीवों को अव्याबाध अविचल आत्मिक सुख का हेतु बनता है...

इस ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन में अतीव सावधानी रखी गई है, तो भी जहां कहीं अपूर्णता प्रतीत हो वहां क्षमाशील सज्जन साधु-संत परिपूर्णता करें यह हि हमारी नम्र प्रार्थना है... क्योंकि- सज्जन लोग सदा गुणग्राही होते हैं एवं शुभ पुरुषार्थ के प्रशंसक होते हैं...

इस ग्रंथ का मुद्रण कार्य उत्तर गुजरात के पाटण नगरमें दीप ओफसेट के मालिक परीख हितेशभाइ ने पूर्ण सावधानी से किया है... एवं कम्प्यूटर लिपि मून कम्प्यूटर के मालिक मनोजभाइ ठक्कर ने बहोत हि परिश्रम के साथ प्रस्तुत की है... अतः हम उन दोनों महानुभावों के श्रम को नहि भूल पाएंगे...

इस ग्रंथ के निर्माण एवं संपादन कार्य में पाटण खेतखसी श्री भुवनचंद्रसूरि ज्ञानमंदिर के व्यवस्थापक ट्रस्टी श्री विनोदभाइ झावेरी एवं पं. श्री रमणीकभाइ ने उपयुक्त पुस्तक प्रत इत्यादि सहर्ष प्रदान कर अपूर्व सहयोग दिया है...

इस महान् ग्रंथ के संपादन कार्य में अनेक सज्जनों का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनमें से भी प्रेस मेटर एवं पुफ संशोधनादि कार्यों में विदुषी साधनादेवी आर. हरिया तथा चि. पुत्र निमेष, ऋषभ एवं अभयम् का सहयोग सराहनीय है...

अंत में श्री श्रमण संघ से करबद्ध नम्र निवेदन है कि- इस महान ग्रंथरत्न का आत्म विशुद्धि के लिये उपयोग करें एवं संपूर्ण विश्व के सकल जीव पंचाचार की सुवास को प्राप्त करें ऐसा मंगलमय आशीर्वाद देने की कृपा करें...

-: निवेदक :-

लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया...

संस्कृत-प्राकृत व्याकरण काव्य न्याय साहित्याचार्य.

3/१२, वीतराग सोसायटी, पी. टी. कोलेज रोड,

पालडी, अमदावाद-३८०००७

फोन : (०७९) २६६०२९७६

। श्री सौधर्म बृहत्तापगच्छीय पट्टावली ।

शासनपति - त्रिशलानंदन श्री महावीरस्वामीजी

- | | | |
|-----------------------------|----------------------------|--|
| (१) श्री सुधर्मस्वामीजी | (२७) श्री मानदेवसूरिजी | (५३) श्री लक्ष्मीसागरसूरिजी |
| (२) श्री जम्बू स्वामीजी | (२८) श्री विबुधप्रभसूरिजी | (५४) श्री सुमतिसाधुसूरिजी |
| (३) श्री प्रभवस्वामीजी | (२९) श्री जयानन्दसूरिजी | (५५) श्री हेमविमलसूरिजी |
| (४) श्री शय्यंभवसूरिजी | (३०) श्री रविप्रभसूरिजी | (५६) श्री आनंदविमलसूरिजी |
| (५) श्री यशोभद्रसूरिजी | (३१) श्री यशोदेवसूरिजी | (५७) श्री विजयदानसूरिजी |
| (६) श्री संभूतिविजयजी | (३२) श्री प्रद्युम्नसूरिजी | (५८) श्री विजयहीरसूरिजी |
| श्री भद्रबाहुस्वामीजी | (३३) श्री मानदेवसूरिजी | (५९) श्री विजयसेनसूरिजी |
| (७) श्री स्थूलभद्रसूरिजी | (३४) श्री विमलचन्द्रसूरिजी | (६०) विजयदेवसूरिजी |
| (८) श्री आर्य महागिरिजी | (३५) श्री उद्योतनसूरिजी | श्री विजयसिंहसूरिजी |
| श्री आर्यसुहस्तिस्तिस्तिजी | (३६) श्री सर्वदेवसूरिजी | (६१) श्री विजयप्रभसूरिजी |
| (९) श्री सुस्थितसूरिजी | (३७) श्री देवसूरिजी | (६२) श्री विजयरत्नसूरिजी |
| श्री सुप्रतिबद्धसूरिजी | (३८) श्री सर्वदेवसूरिजी | (६३) श्री वृद्धक्षमासूरिजी |
| (१०) श्री इन्द्रदिन्नसूरिजी | (३९) श्री यशोभद्रसूरिजी | (६४) श्री विजयदेवेन्द्रसूरिजी |
| (११) श्री दिन्नसूरिजी | श्री नेमिचन्द्रसूरिजी | (६५) श्री विजयकल्याणसूरिजी |
| (१२) श्री सिंहगिरिसूरिजी | (४०) श्री मुनिचन्द्रसूरिजी | (६६) श्री विजयप्रमोदसूरिजी |
| (१३) श्री वज्रस्वामीजी | (४१) श्री अजितदेवसूरिजी | (६७) श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी म. |
| (१४) श्री वज्रसेनसूरिजी | (४२) श्री विजयसिंह सूरिजी | (६८) श्री धनचन्द्रसूरिजी |
| (१५) श्री चन्द्रसूरिजी | (४३) श्री सोमप्रभसूरिजी | (६९) श्री भूपेन्द्रसूरिजी |
| (१६) श्री समन्तभद्रसूरिजी | श्री मणिरत्नसूरिजी | (७०) श्री यतीन्द्रसूरिजी |
| (१७) श्री वृद्धदेवसूरिजी | (४४) श्री जगच्चन्द्रसूरिजी | (७१) श्री विद्याचन्द्रसूरिजी |
| (१८) श्री प्रद्योतनसूरिजी | (४५) श्री देवेन्द्रसूरिजी | (७२) श्री हेमेन्द्रसूरिजी |
| (१९) श्री मानदेवसूरिजी | श्री विद्यानन्दसूरिजी | इत्यादि अनेक स्थविर आचार्यों के |
| (२०) श्री मानतुंगसूरिजी | (४६) श्री धर्मघोषसूरिजी | द्वारा जिनागम-प्रवचन की पवित्र |
| (२१) श्री वीरसूरिजी | (४७) श्री सोमप्रभसूरिजी | परिपाटी आज हमें उपलब्ध हो रही |
| (२२) श्री जयदेवसूरिजी | (४८) श्री सोमतिलकसूरिजी | है... गुरुपर्वक्रम से उपलब्ध यह |
| (२३) श्री देवानन्दसूरिजी | (४९) श्री देवसुन्दरसूरिजी | सूत्र-अर्थ-तदुभयात्मक जिनागम- |
| (२४) श्री विक्रमसूरिजी | (५०) श्री सोमसुंदरसूरिजी | शास्त्र श्री पावनकारी परिपाटी हि |
| (२५) श्री नरसिंहसूरिजी | (५१) श्री मुनिसुन्दरसूरिजी | लवणसमुद्र तुल्य इस विषम |
| (२६) श्री समुद्रसूरिजी | (५२) श्री रत्नशेखरसूरिजी | दुःषमकाल (पांचवे आरे) में भी |
| | | मधुरजल की सरणी के समान होने |
| | | से भव्य जीवों के आत्महित के लिये |
| | | पर्याप्त है... -मुनि दिव्यचंद्रविजय... |

॥ भारत-वर्ष के हृदयस्थल स्वरूप मालवभूमि - मध्यप्रदेश में
 शत्रुञ्जयावतार मोहनखेडा तीर्थाधिपति श्री आदिनाथ-जिनेश्वराय नमो नमः ॥
 ॥ परमपूज्य, विश्ववन्द्य, अभिधानराजेन्द्रकोष-निर्माता, भट्टारक, सरस्वतीपुत्र,
कलिकालसर्वज्ञकल्प, स्वर्णगिरी-कोरटा-तालनपुरादितीर्थोद्धारक, क्रियोद्धारक,
प्रभुश्रीमद् विजयराजेन्द्रसुरीश्वर पट्टप्रभावक आचार्यश्रीमद् विजयधनचन्द्रसुरीश्वर
पट्टभूषण आचार्य श्रीमद् विजयभूपेन्द्रसुरीश्वर पट्टदिवाकर आचार्य श्रीमद्
विजययतीन्द्रसुरीश्वर पट्टालङ्कार आचार्य श्रीमद् विजयविद्याचन्द्रसुरीश्वरादि
सद्गुरु चरणेभ्यो नमो नमः ॥

ॐ नमः श्री जिन प्रवचनाय ॐ

ॐ

ॐ ॐ ॐ

ॐ

श्री आचाराङ्ग-सूत्रम्

विभागः

(अध्ययन-२-३-४-५)

द्वितीयः

तत्र

श्री शीलाङ्काचार्यविरचितवृत्ति की

राष्ट्रभाषा "हिन्दी" में

राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका...

"मूल-सूत्र ॐ संस्कृत-छाया ॐ सूत्रार्थ ॐ टीका-अनुवाद ॐ सूत्रसार..."

तत्र प्रथम-श्रुतस्कन्धे द्वितीयमध्ययनम्

"लोकविजय"

मङ्गलाचरणम्

श्रीमद् ऋषभदेवादि - वर्धमानान्तिमान् जिनान् ।

नमस्कृत्य नमस्कुर्वे सुधर्मादि - गणधरान् ॥ १ ॥

श्रीमद् विजय राजेन्द्र-सूरीश्वरान् नमाम्यहम्	
ॐ अभिधानराजेन्द्र - कोषः व्यरचि हर्षतः	॥ २ ॥
भवाब्धितारकान् वन्दे श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरान्	
तथा च कविगुणाद्धान् विद्याचन्द्रसूरीश्वरान्	॥ ३ ॥
गच्छाधिनाथकान् नौमि श्रीहेमेन्द्रसूरीश्वरान्	
येषां शुभाशिषा कार्यं सुगमं सुन्दरं भवेत्	॥ ४ ॥
गुरुबन्धु श्री सौभाग्य-विजयादि-सुयोगतः	
हितेश-दिव्यचन्द्राणां शिष्याणां सहयोगतः	॥ ५ ॥
जयप्रभाऽभिधः सोऽहं श्रीराजेन्द्रसुबोधिनीम्	
आहोरीत्यभिधां कुर्वे टीकां बालावबोधिनीम्	॥ ६ ॥ युग्मम्
शीलांकाचार्य वृत्ति	
नमः श्री वर्धमानाय वर्धमानाय पर्ययै :	
उक्ताचार प्रपञ्चाय निष्प्रपञ्चाय तायिने	॥ १ ॥

पर्ययै: वर्धमानाय	=	नये नये ज्ञान पर्यायों से बढ़ते हुए...
उक्ताचारप्रपञ्चाय	=	आचार का विस्तृत वर्णन करने वाले
निष्प्रपञ्चाय	=	प्रपंच = कपट रहित
तायिने	=	धर्मोपदेश के द्वारा जीवों की रक्षा करनेवाले
श्री वर्धमानाय नमः	=	श्री वर्धमान स्वामीजी को नमस्कार हो...
शस्त्रपरिज्ञा - विवरणमतिगहनमितीव किल वृत्तं पूज्यैः।		
श्री गन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम्		॥ २ ॥

पू. आचार्य श्री गंधहस्ति सूरीजी ने शस्त्रपरिज्ञा का अतिगहन विवरण किया है... अब जो अवशिष्ट है, वह सुगम टीका में (शीलांकाचार्य) लिखता हूं... अर्थात् सुगम विवरण लिखता हूं...

“आहोरी” हिन्दी टीका

प्रथम अध्ययन पूर्ण हुआ, अब द्वितीय अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... इनमें परस्पर यह संबंध है... इस संपूर्ण विश्व में मिथ्यात्व मोह के उपशम क्षय या क्षयोपशम से प्राप्त सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान के कार्य स्वरूप, सदा काल एकान्त रूप से अनाबाध परमानंद स्वतत्त्व का सुख एवं निर्मल ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले मोक्ष के कारण स्वरूप, आश्रव के निरोध के साथ निर्जरा स्वरूप, मूलगुण एवं उत्तरगुण भेद स्वरूप एवं अन्य सभी व्रत-नियमो को सफल होने के लिये मूलकारण स्वरूप तथा सकल प्राणीओं को संघट्टन, परित्तापन, एवं अपद्रावण (वध) की निवृत्ति स्वरूप सम्यकचारित्र है...

इसं सम्यक्चारित्र की संसिद्धि के लिये मरणाभाव धर्म वाले पृथ्वी आदि पांच भूत से भिन्न मरणधर्मवाला सदेही आत्मा है, एवं ज्ञानादि गुण आत्मा के धर्म है, इत्यादि उपलब्धि के द्वारा सामान्य से जीव का अस्तित्व कहकर नास्तिक-चार्वाक मत का निरास किया, तथा बौद्ध आदि मतांतरो के निरास के लिये जीव के विशेष स्वरूप पृथ्वीकायादि जीवों का भी निरूपण प्रथम अध्ययन में कहा गया है...

अब द्वितीय लोकविजय नाम का अध्ययन कहते हैं...

पृथ्वीकायादि जीवों की सचित्तता संक्षेप से इस प्रकार...

१. पृथ्वीकाय - समान जातिवाले पत्थर-लतादि के उद्भेद के दर्शन से, अर्श-मांसांकुर की तरह... पृथ्वी सचित्त है...
२. अप्काय (जल) - अविकृत भूमि के खनन से मेंढक की तरह जल की प्राप्ति होती है... अतः जल सजीव है...
३. अग्निकाय - बालक के शरीर की तरह विशिष्ट आहार से पुष्टि एवं आहार के अभाव में दुर्बल होनेवाले अग्निकाय जीवों के शरीर की स्थिति देखने में आती है... अतः अग्नि सजीव है...
अग्नि को अपना काष्ठादि आहार मिलने से वृद्धि एवं तृणादि आहार नहीं मिलने से अग्नि का क्षय-विनाश देखा जाता है...
४. वायुकाय - गाय अश्व आदि पशुओं की तरह अन्य की प्रेरणा से अनियत तिरछी गति से वायु का गमन देखा जाता है...अतः वायु सचित्त है...
५. वनस्पतिकाय - अलता लगाये हुए पैर में नूपुर (झांझर-पायजेब) आभूषण पहनी हुई कामिनी स्त्री के चरणों से ताडित होने पर बकुल-अशोक आदि वृक्षों में कामी पुरुष की तरह विकार पाया जाता है... अतः वनस्पति भी सजीव है...

इत्यादि प्रयोग से पृथ्वी आदि सचेतन है... उनके सूक्ष्म एवं बादर भेद है, तथा बेइंद्रिय तेइंद्रिय चउरिंद्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रिय तथा संज्ञी पंचेंद्रिय... उन सभी के पुनः अपर्याप्त एवं पर्याप्त ऐसे दो दो भेद पाये जाते हैं और उनके शस्त्र स्वकायशस्त्र परकायशस्त्र एवं उभयकायशस्त्र

है इन शस्त्र से पृथ्वीकाय आदि के वध से कर्मबंध तथा पृथ्वीकाय आदि का वध न करने स्वरूप विरति=चारित्र से संवर एवं निर्जरा...इत्यादि प्रतिपादन करने के बाद, अब... यह चारित्र संपूर्ण यथाख्यात कैसे प्राप्त हो ? यह बात अब इस द्वितीय अध्ययन में कही जाएगी...

वह इस प्रकार- शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन के सूत्र एवं अर्थ को जाननेवाले, पृथ्वीकाय आदि ऐकेंद्रिय जीवों की श्रद्धावाले और उनकी रक्षा के परिणामवाले तथा सभी प्रकार के (१८०००) शीलांग -विकल्प से विशुद्ध और साधु-पद के योग्य होने से पांच महाव्रत का स्वीकार करनेवाले साधु हि राग आदि कषायलोक अथवा शब्द आदि विषयलोक के ऊपर विजय पा सकता है, यह बात इस अध्ययन में कही जाएगी...

तथा निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामीजी अध्ययनपद का अर्थाधिकार शस्त्रपरिज्ञा-अध्ययन में कह चुके हैं... जैसे कि "लोक जिस प्रकार बद्ध होता है तथा जिस प्रकार मुक्त होता है" इत्यादि वाक्य के संबंध से आये हुए इस दुसरे अध्ययन के चार अनुयोग-द्वार होते हैं, उनमें सूत्र का अर्थकथन हि अनुयोग है... उसके द्वार = उपाय अर्थात् सूत्र की व्याख्या के अंग चार है... और वे उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय....

वहां उपक्रम के दो भेद है... १. शास्त्र को अनुसरने वाला शास्त्रीय... २. लोक को अनुसरनेवाला लौकिक... तथा निक्षेप भी तीन प्रकार के हैं १. ओघनिष्पन्न... २. नाम निष्पन्न... ३. सूत्रालापकनिष्पन्न-निक्षेप... अनुगम के दो प्रकार है... १. सूत्रानुगम... २. निर्युक्तिकार-अनुगम... तथा नैगम आदि नय सात हैं...

इन उपक्रमादि चार अनुयोग द्वार में शास्त्रीय उपक्रम के अंतर्गत अर्थाधिकार आता है... और उसके दो भेद है... १. अध्ययनार्थाधिकार... २. उद्देशार्थाधिकार... उनमें अध्ययन अर्थाधिकार शस्त्रपरिज्ञा-अध्ययन में पहले हि कह चुके हैं, और उद्देश अर्थाधिकार अब निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामीजी स्वयं हि यहां कहते हैं...

नि. १६३

- १- प्रथम-उद्देशार्थाधिकार में कहते हैं कि- मात-पितादि स्वजन में अनुराग न करें...॥१॥
- २- द्वितीय-उद्देशक में-संयम में दृढता रखें... अर्थात् विषय और कषाय आदि में आदर न रखें इत्यादि...॥२॥
- ३- तृतीय-उद्देशक में- उत्तम जाति एवं उत्तम कुल आदि में उत्पन्न हुआ साधु, कर्मों की विविधता को जानकर मद के सभी स्थानों में मद न करें... और इस उद्देशक में अर्थ याने धन की असारता भी कही जाएगी...॥३॥
- ४- चतुर्थ उद्देशक में- भोग-सुख में राग न करें... तथा इस उद्देशक में काम-सुख के भोगीओं को होनेवाले अपाय-संकट भी कहे जाएंगे...॥४॥

- ५- पाँचवे उद्देशक में- स्वजन, धन, सन्मान, एवं भोग सुख के त्यागी साधु संयम एवं शरीर का पालन-रक्षण के लिये, अपने लिये आरंभ-समारंभ में प्रवृत्त गृहस्थ लोक की निश्रा में विचरें... अर्थात् गृहस्थों ने दीये हुए निर्दोष आहारादि से अपने संयम जीवन का निवाह करें...॥५॥
- ६- छठे उद्देशक में- लोकनिश्रा में विचरनेवाले साधु इस लोक में पूर्व एवं पश्चात् परिचित या अपरिचित जीवों के उपर रागादि ममत्व न करें... किंतु जलकमल की तरह निर्लेप रहें इत्यादि...

नाम-निष्पन्न निक्षेप में - लोक-विजय ऐसे दो पद हैं अतः लोक तथा विजय इन दोनों पदों के निक्षेप करें... और सूत्रालापक निष्पन्न निक्षेप में-निक्षेप योग्य सूत्र में जितने भी पद हैं, उन सभी पदों का निक्षेप करें... सूत्र में कहे गये “मूल” शब्द का अर्थ “कषाय” कहा गया है, अतः कषाय पद का निक्षेप करें... इत्यादि नामनिष्पन्न निक्षेप तथा भविष्य में आनेवाले सूत्रालापक-निष्पन्न निक्षेप का संक्षिप्त स्वरूप कहा,

अब कहने योग्य निक्षेप के पद निर्युक्तिकार स्वयं हि गाथा से कहते हैं...

नि. १६४

लोक, विजय, गुण, मूल और स्थान इन पदों का निक्षेप करें क्योंकि- संसार का मूल कषाय है... वह इस प्रकार- संसार-वृक्ष के नरक-तिर्यंच मनुष्य एवं देव यह चार गति स्कंध=थड है, गर्भनिषेक, कलल, अर्बुद, मांसपेशी आदि तथा जन्म जरा एवं मरण स्वरूप शाखा=डालीयां हैं... तथा दरिद्रता आदि अनेक संकट स्वरूप पत्तों की गहनता = गीचता है, और प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, धननाश, एवं अनेक व्याधि-रोग-चिंता स्वरूप सेंकडो पुष्प हैं, शारीरिक, मानसिक आदि अति तीव्र दुःखों के समूह हि फल है।

ऐसे संसार-वृक्ष का प्रथम कारण कषाय हैं... कष = संसार और आय याने लाभ = कषाय याने संसार की प्राप्ति- इस प्रकार यहां जितने नामनिष्पन्न निक्षेप में तथा जितने भी सूत्रालापक-निष्पन्न निक्षेप में निक्षेप करने योग्य पद हैं वे सभी निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामीजी मित्र की तरह सहयोगी बनकर विवेक से क्रमशः कहते हैं...

नि. १६५

लोक, विजय, अध्ययन यह नामनिष्पन्न निक्षेप के पद है, और गुण, मूल, स्थान यह सूत्रालापक निष्पन्न निक्षेप के पद हैं... उद्देश के अनुसार निर्देश करना चाहिये इस न्याय से लोक एवं विजय के निक्षेप कहते हैं...

नि. १६६

लोक पद के आठ निक्षेप होते हैं, और विजय पद के छह (६) निक्षेप होते हैं... और यहां भाव निक्षेप लोक में कषायलोक का विजय करें... यह मुख्य अधिकार है...

लोक याने धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय युक्त और सभी द्रव्यों का आधार ऐसा वैशाखस्थानस्थ कटि प्रवेश पे रखे हुए हाथवाले पुरुष के आकारवाला आकाश खंड (१४ राजलोक) स्वरूप लोक, अथवा धर्म अधर्म आकाश, जीव एवं पुद्गलास्तिकाय स्वरूप पंचास्तिकाय स्वरूप लोक है...

इस लोक के आठ निक्षेप होते हैं... १. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. काल, ६. भव, ७. भाव, ८. पर्यव... तथा विजय याने अभिभव, पराभव, पराजय... यह सभी विजय पद के पर्यायवाचक पद हैं... विजय पद के छह (६) निक्षेप होते हैं...

अब आठ प्रकार के लोक के निक्षेप में से यहां भावलोक का अधिकार है... और वह भावलोक के औदयिक आदि छह (६) प्रकार हैं, उनमें भी यहां औदयिक-कषाय भावलोक का अधिकार है... क्योंकि- संसार का मूल कारण कषाय हि है...

प्रश्न- यदि ऐसा है तो आप क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर- यहां औदयिक भाव स्वरूप कषाय लोक पर विजय प्राप्त करें... यह मुख्य बात है... प्रस्तुत लोक पद के आठ निक्षेप पहले हि कह चुके हैं,

अब विजय पद के (६) छह निक्षेप कहते हैं...

नि. १६७

लोक का स्वरूप यहां कह चुके हैं अब विजय के निक्षेप कहते हैं... नाम - स्थापना - द्रव्य - क्षेत्र-काल और भाव विजय यह विजय के छह (६) निक्षेप होते हैं... उनमें भव-लोक और भाव-विजय का यहां अधिकार है क्योंकि- यहां आठ प्रकार के कर्मों से जीव संसार में घुमता है... चतुर्विंशति स्तव (लोगस्स० सूत्र) में लोक का स्वरूप विस्तार से कहा गया है...

प्रश्न- चतुर्विंशति स्तवमें लोक की व्याख्या कही है, तो यहां प्रश्न होता है कि- ऐसा क्यों ? वहां क्यों कही ? और यहां क्यों नहि कहते ?

क्योंकि- इस विश्व में अपूर्वकरण (आठवा) गुणस्थानक आदि क्रम से क्षपकश्रेणी में चढकर शुक्ल ध्यान स्वरूप अग्नि से घातिकर्म स्वरूप इंधन का विनाश हो जाने से प्रगट हुए निरावरण (केवलज्ञान) ज्ञानवाले तथा तीर्थंकर नामकर्म के विपाकोदय से प्रगट हुए चौतीस (३४) अतिशयवाले श्री वर्धमान स्वामीजी ने हेय एवं उपादेय का स्वरूप प्रगट करने के लिये

देव एवं मनुष्यों की बारह (१२) वर्षदा में आचार-पंचाचार का स्वरूप कहा, और अचिंत्य मेधा-शक्तिवाले बुद्धिशाली गौतमस्वामीजी आदि गणधरों ने सर्व जीवों के उपकार के लिये प्रभुजी से कहे गये प्रवचन-देशना में से आचार संबंधित बातों के संग्रह स्वरूप आचारांग सूत्र बनाया है, जब कि- चतुर्विंशतिस्तव तो आवश्यक सूत्र के अंतर्गत है, और निकट (समीप-दूर) के काल में होनेवाले भद्रबाहुस्वामजी ने बनाया है, अतः पूर्वकाल में होनेवाले आचारांग सूत्र की व्याख्या में बाद में होनेवाले चतुर्विंशति-स्तव का अतिदेश (भलामण) करना अयोग्य है... ऐसा यहां कोई मंदमतिवाले शिष्य को प्रश्न हो सकता है, इत्यादि...

उत्तर- ना, यहां कोई दोष नहि है, क्योंकि- यह अतिदेश (भलामण) भद्रबाहुस्वामजी ने कही है, और उसका कारण यह है कि- उन्होंने ने पहले आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति बनाइ है, और बादमें आचारांग सूत्र की निर्युक्ति बनाइ है... उन्होंने ने कहा भी है कि- हमने पहले आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति रची है, बादमें दशवैकालिक सूत्र की, उत्तराध्ययन सूत्र की एवं आचारांग सूत्र की... इत्यादि निर्युक्तियां क्रमशः रची है, अतः यहां कोई दोष नहि है...

अब विजयपद के निक्षेप का स्वरूप कहते हैं, उनमें नाम विजय और स्थापना विजय सुगम होने से छोड़कर अब द्रव्य विजय कहते हैं... नो आगम से तद्व्यतिरिक्त द्रव्यविजय याने द्रव्य के द्वारा, द्रव्य से और द्रव्य में विजय... जैसे कि- कडवे तीखे एवं कषायले रस से श्लेष्म आदि का नाश होता है, अर्थात् श्लेष्म से विजय पाते हैं, अथवा राजा और मल्ल आदि प्रतिपक्ष के ऊपर युद्ध में विजय पाते हैं...

क्षेत्रविजय = छह (६) खंडवाले भरत आदि क्षेत्रों की व्याख्या जहां (जिस क्षेत्र में) कही जाय, वह... क्षेत्र... क्षेत्रविजय... कालविजय याने काल के द्वारा विजय... जैसे कि- भरत चक्रवर्ती ने साठ (६०) हजार वर्षों में भरत क्षेत्र को जीता, यहां काल की प्रधानता है... अथवा सेवा के कार्य में इस सेवक ने एक महिना जिता याने एक महिना सेवा की... अथवा जिस काल में विजय की व्याख्या की जाय वह काल... काल विजय... भाव-विजय याने औदयिक आदि भाव का औपशमिक आदि भाव से विजय... वह भाव-विजय...

इस प्रकार लोक एवं विजय का स्वरूप विस्तार से कहकर अब यहां उनमें से कौन सा निक्षेप उपयोगी है वह कहते हैं... यहां भव-लोक कहने से भावलोक हि समझीयेगा... तथा छंदभंग के भय से भाव का ह्रस्व भव शब्द का ग्रहण किया है... और कहा भी है कि- भावनिक्षेप में कषायलोक के विजय का अधिकार है... अर्थात् औदयिक भाव स्वरूप कषाय लोक का औपशमिक आदि भावलोक से विजय हि यहां प्रस्तुत है... यहां यह सारांश है कि- यहां पूर्व में कहे गये आठ प्रकार के लोक एवं छह प्रकार के विजय में से भावलोक

तथा भावविजय का यहां उपयोग है... अर्थात् जिस प्रकार आठों कर्मों से प्राणीगण संसार के बंधन में आते हैं और जिस प्रकार संवर-निर्जरा से प्राणी संसार से मुक्त होते हैं यह बात इस दूसरे अध्ययन में कही जाएगी...

भावलोक के विजय से क्या फल होता है ? यह बात अब कहते हैं...

नि. १६८

औदयिक भाव स्वरूप कषाय लोक के उपर विजय पाने से आत्मा संसार से मुक्त होता है, इसीलिये कषाय से निवृत्ति हि कल्याणकारक है... इच्छा एवं कामवासना से निवृत्त मतिवाला हि तत्काल संसार से मुक्त होता है... नामनिष्पन्न निक्षेप पूर्ण हुआ,

अब सूत्रालापक-निष्पन्न निक्षेप का अवसर है, और वह तो सूत्र के होने में हि होता है अतः सूत्रानुगम में अस्खलितादि गुण युक्त सूत्र पढना चाहिये... और वह सूत्र- जे गुणे से मूलङ्गाणे... इत्यादि आगे कहा जाएगा... निक्षेप निर्युक्ति अनुगम के द्वारा प्रत्येक पद का निक्षेप कीये जाते हैं, उनमें "गुण" पद के पंद्रह (१५) निक्षेप कहते हैं...

नि. १६९

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, फल, पर्यव, गणन, करण, अभ्यास, गुणगुण, अगुणगुण, भव, शीलगुण, भावगुण = १५... यह पंद्रह (१५) गुण पद के निक्षेप हैं...

इस प्रकार सूत्रानुगम से सूत्र का पाठ करने से एवं निक्षेपनिर्युक्ति-अनुगम से सूत्र के अवयवों के निक्षेप करने पर अब उपोद्घात-निर्युक्ति का अवसर है... और वह उद्देशे इत्यादि द्वार गाथा दो (२) से समझीयेगा... अब सूत्रस्पर्शिक निर्युक्ति का अवसर है...

गुण-पद के पंद्रह निक्षेप में से (१) नाम एवं (२) स्थापना निक्षेप सुगम है, अब द्रव्य निक्षेप कहते हैं...

नि. १७०

(३) द्रव्यगुण = गुणों का जहां संभव हो ऐसा द्रव्य... और वह सचित्त अचित्त एवं मिश्र भेद से तीन प्रकार का द्रव्यगुण है...

प्रश्न- गुण गुणी में तादात्म्य (तदाकार) भाव से रहता है इसलिये द्रव्यगुण द्रव्य हि है...

उत्तर- द्रव्य और गुण के लक्षण में भेद हैं अतः दोनो भिन्न हि तो हैं... वह इस प्रकार- द्रव्य का लक्षण = गुण एवं पर्यायवाला द्रव्य है... विधान = प्रकार, और वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय एवं पुद्गलास्तिकाय आदि हैं... तथा गुण का लक्षण = द्रव्य में रहे हुए, द्रव्य के साथ सदा रहनेवाले,

एवं स्वयं के अन्य गुण न हो वह हि गुण है... उनके विधान = प्रकार भी ज्ञान इच्छा द्वेष रूप रस गंध स्पर्श आदि हैं... और उन ज्ञानादि के भी भेद-प्रभेद होते हैं... अतः द्रव्य एवं गुण अभिन्न होते हुए भी भिन्न है, इसमें कोई दोष नहि है... जैसे कि- सचित्त अचित्त एवं मिश्र भेदवाले द्रव्य में सचित्ततादि गुण तदाकार रूप से रहे हुए है...

अचित्त द्रव्य के दो प्रकार है... १. अरूपी २. रूपी. उनमें भी अरूपी द्रव्य के तीन प्रकार है... १. धर्म... २. अधर्म... ३. आकाश... धर्मास्तिकाय का लक्षण है गति-सहायकता, अधर्मास्तिकाय का लक्षण है स्थिति-सहायकता, आकाशास्तिकाय का लक्षण है अवकाश दान... इन अरूपी द्रव्य में गुण भी अरूपी लक्षणवाला अगुरुलघुपर्याय स्वरूप है... धर्मास्तिकायादि में भी अपना अरूपी स्वरूप अपने अपने स्वरूप से उनमें रहा हुआ है, और अगुरुलघुपर्याय भी उनका पर्याय होने से वह भी अरूपी हि है... जैसे मिट्टी द्रव्य के मृत्पिंड, स्थासक कोश कुशूल पर्याय हैं...

तथा रूपी द्रव्य भी स्कंध, देश, प्रदेश एवं परमाणु स्वरूप है, और रूप आदि गुण उनमें अभेद रूप से रहे हुए है... भेद से नहि, क्योंकि- अपने स्वरूप की तरह संयोग एवं विभाग गुणों में नहि होते हैं... तथा सचेतन-जीवद्रव्य भी उपयोग लक्षणवाला है, और जीवद्रव्य के ज्ञान आदि गुण जीवद्रव्य से भिन्न नहीं है,

यदि ज्ञान आदि गुण जीवद्रव्य से भिन्न माना जाय तब जीव अचेतन हो जायेगा... यदि आप कहोगे कि- भिन्न ऐसे ज्ञानादि गुण के योग से जीव सचेतन हो सकता है न ? तब कहते हैं कि- ऐसा आपका मानना यह कुबुद्धि का लक्षण है, गुरुचरणों की उपासना का अभाव हि स्पष्ट प्रतीत होता है... क्योंकि- खुद में जो शक्ति नहि है, वह कार्य अन्य से कभी नहि हो सकता... जैसे कि- अंध मनुष्य सेंकडों दीपक जलाने पर भी रूप को देखने में समर्थ नहि होता... सचित्त एवं अचित्त द्रव्य की तरह मिश्र द्रव्य में भी गुण की अभिन्नता अपनी बुद्धि से स्वयं कर लें...

इस प्रकार द्रव्य एवं गुण में अभिन्नता का प्रतिपादन करने पर शिष्य कहता है कि- तो अब ऐसा कहो कि- द्रव्य से गुण अभेद हि है... तब गुरुजी कहते हैं कि- ऐसा भी नहि है, क्योंकि- एकांत अभेद माना जाय तब एक इंद्रिय से जब अन्य गुण का ज्ञान होता है तब अन्य इंद्रियों की निष्फलता होगी, जैसे कि- आम्रफल के रूप आदि आंख आदि से प्राप्त होने पर रूप आदि से अभिन्न ऐसे आम-द्रव्य में रसनेंद्रियादि से रस आदि की भी प्राप्ति, रूप आदि के स्वरूप की तरह होती है... इस प्रकार हि अभेद हो सकता है, किंतु हां यदि रूप आदि की प्राप्ति होने पर अन्य रस आदि भी प्राप्त हो... अन्यथा = यदि ऐसा न हो

तब विरुद्ध धर्मवाले घट-पट आदि की तरह भेद हो...

इस प्रकार भेद और अभेद की बातों से व्याकुल मतिवाला शिष्य प्रश्न करता है कि- दोनों प्रकार से भी दोष दिखता है तो कैसे स्वीकारें ? तब गुरुजी कहते हैं कि- इसीलिये तो हम कहते हैं कि- भेदाभेद हि योग्य है, वह इस प्रकार- अभेद पक्ष में द्रव्य हि गुणमय है, और भेद पक्ष में द्रव्य में गुण रहता है... जैसे कि- गुण और गुणी, पर्याय और पर्यायवाला, सामान्य और विशेष, अवयव और अवयवी में भेदाभेद की व्यवस्था से हि आत्म-भाव का सद्भाव होता है... कहा भी है कि- पर्याय से भिन्न द्रव्य और द्रव्य से भिन्न पर्याय हो हि नहीं सकता, इसीलिये उत्पाद व्यय स्थिति के भंग = विकल्प हि द्रव्य का लक्षण है... अन्यत्र भी कहा है कि- हे प्रभु ! आपने कहे हुए नय स्यात् पद से युक्त है जैसे कि- सुवर्णरस से आविद्ध-युक्त लोह-धातु हि सुवर्ण रूप अभिप्रेत = इच्छित फल देनेवाला होता है, ऐसी यह बात हितैषी बुद्धिशाली आर्य-पुरुष कहते हैं...

जिनमतवाले स्थविर-आचार्यों ने इस विषय में बहोत कुछ कहा है, इसलिये यहां विस्तार से नहि कहते हैं... किंतु संक्षेप में निर्युक्तिकार इतना कहते हैं कि- सभी द्रव्यों में मुख्य जो जीव द्रव्य है, उसमें भी इसी ही प्रकार से भेद एवं अभेद की विवक्षा से हि गुण रहे हुए है...

नि. १७१

संकोच और विकाश यह जीव का अपना गुण है... और बहुप्रदेशत्व गुण से संपूर्ण लोक में फैल जाता है... तथा सहयोगी-वीर्यवाला जीवद्रव्य अपने प्रदेशों के संकोच एवं विकाश के द्वारा आधार-क्षेत्र में दीपक के प्रकाश की तरह संकोच एवं विकाश को पाता है, और यह संकोच एवं विकास आत्मा का अपना सहज गुण है... भेद न हो वहां भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है... जैसे कि- राहु का मस्तक, यह शीलापुत्रक का शरीर है... अथवा शरीर में उत्पन्न हुआ यह मस्तक है... तथा समुद्घात के कारण से जीव के प्रदेश संकुचित एवं विकसित होते हैं... समुद्घात याने प्रबलता से आत्म-प्रदेशों को यहां वहां चारों और फेंकना... और वह कषाय, वेदना, मरण, वैक्रिय, तैजस, आहारक एवं केवली समुद्घात के भेद से सात प्रकार से समुद्घात होते हैं...

उनमें कषाय समुद्घात के समय आत्मा अनंतानुबंधि क्रोधादि कषायों के परवश होकर आत्मप्रदेशों को यहां वहां चारों और फेंकता है इसी प्रकार अतिशय वेदना-पीडा के कारण से आत्मा को वेदना समुद्घात होता है... तथा मरण समुद्घात के समय प्राणी मरण पाकर जहां उत्पन्न होना है वहां लोक के कोईभी स्थान पर्यंत आत्मप्रदेशों को बार बार प्रक्षेप (विकास) और संहार (संकोच) करता है... वैक्रिय समुद्घात में वैक्रिय लब्धिवाला जीव वैक्रिय

शरीर बनाने के लिये आत्मप्रदेशों को बहार फेंकता है... और तेजोलेख्या लब्धिवाला जीव तैजस समुद्घात में तेजोलेख्याके प्रयोग के समय आत्मप्रदेशों को बहार फेंकता है... तथा आहारक लब्धिवाले चौद पूर्वधर साधु वस्तु-पदार्थ के स्वरूप संबंधित संदेह को दूर करने के लिये अथवा तीर्थकर परमात्मा को समवसरणादि ऋद्धि देखने के लिये आहारक समुद्घात के द्वारा आहारक शरीर बनाने के लिये आत्मप्रदेशों को बहार फेंकता है... और केवली समुद्घात में आत्मा आयुष्य कर्म का अल्प होना और वेदनीय नाम एवं गोत्र कर्म की अधिकता होने की स्थिति में चौदह राजलोक प्रमाण आकाशखंड में अपने आत्म प्रदेशों को दंड-कपाट मंथान आदि क्रम से समस्त लोक में विकास एवं संकोच के द्वारा आठ समय-काल में संपूर्ण लोक में फैलकर अपने शरीर में समाते हैं...

द्रव्यगुण का स्वरूप पूर्ण हुआ, अब क्षेत्र गुण आदि निक्षेप के स्वरूप कहते हैं...

नि. १७२

(४)	क्षेत्रगुण	-	देवकुरु आदि...
(५)	कालगुण	-	सुषमसुषम आदि...
(६)	फलगुण	-	सिद्धि... मोक्षप्राप्ति...
(७)	पर्यवगुण	-	निर्भजना = निश्चित भाग-पर्याय...
(८)	गणना-गुण	-	द्विक त्रिक आदि...
(९)	करणगुण	-	कला-कौशल्य...
(१०)	अभ्यासगुण	-	भोजन आदि...
(११)	गुण-गुण	-	ऋजुता आदि...
(१२)	अगुण-गुण	-	वक्रता आदि...
(१३)	भव-गुण	-	नरक-तिर्यच-मनुष्य-देव गति आदि...
(१४)	शील-गुण	-	ज्ञान-आदि-क्षमा आदि...
(१५)	भाव-गुण	-	चेतनता आदि... (जीव) तथा रूप रस आदि... (अजीव)

इस प्रकार संक्षेप से गुण के १५ निक्षेप कहकर अब विस्तार से कहते हैं...

(४) क्षेत्रगुण : देवकुरु, उत्तरकुरु, हरिवर्ष, रम्यक्, हैमवत, हैरण्यवत तथा ५६ अंतरद्वीप स्वरूप अकर्मभूमी का यह गुण है कि- वहां के मनुष्य युगलिक होते हैं, देवकुमार जैसे सदा स्थिर यौवनवाले, निरुपक्रम (अखंड) आयुष्यवाले, मनोज्ञ (सुंदर) शब्दादि विषय सुखवाले, स्वभाव से हि नम्र, सरल, और प्रकृति से भद्रकगुणवाले और देवलोक में हि जानेवाले होते हैं...

(५) कालगुण : भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में एकान्त सुषमादि तीन आरे के काल में युगलिक

मनुष्य सदा अवस्थित (स्थिर) यौवनादि गुणवाले होते हैं...

- (६) फलगुण : क्रिया का फल, इस जन्म एवं जन्मांतर के हित के लिये सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्र की क्रियाएं मोक्ष फल दायक होनी चाहिये... यदि ऐसा न हो तब फलगुण निष्फल हि है... जबकि- सम्यग्दर्शन- ज्ञान एवं चारित्र की क्रिया से संपूर्ण एवं निश्चित निराबाध सुख स्वरूप सिद्धि-मोक्ष फलगुण प्राप्त होता है... कहा भी है कि- सम्यग् दर्शनादि क्रियाएं सिद्धिफल से हि गुणवती है... शेष सभी क्रियाएं संसार में साता एवं असाता दायक सुख दुःख स्वरूप फल के आभास वाली हि है... संसार में सुख का मात्र आरोप = आभास हि है, वास्तविक सुख संसार में नहि है... शेष सभी क्रियाएं निष्फल याने संसार में परिभ्रमण स्वरूप फल दायक हि मानी गइ है...
- (७) पर्यायगुण : द्रव्य की अवस्था विशेष स्वरूप हि पर्याय है... पर्याय स्वरूप जो गुण वह पर्यायगुण... गुण और पर्याय में नयवाद विशेष से अभेद हि माना गया है... और वह निर्भजना याने निश्चित भाग-द्रव्य के अंश स्वरूप हि है... वह इस प्रकार- पुद्गल स्कंध-द्रव्य देश, प्रदेश के भाग से विभक्त होता हुआ परमाणु पर्यंत भेद प्राप्त करता है... और परमाणु के भी एकगुण काला, द्विगुणकाला इत्यादि अनंत भेद प्राप्त होते हैं...
- (८) गणना-गुण : दो तीन चार आदि... इससे बडे से बडी संख्या संख्यात-असंख्यात एवं अनंत संख्या की गणना-मर्यादा जान शकते हैं...
- (९) करण-गुण : कला में कुशलता... वह इस प्रकार- जल आदि में तैरने की कला की चतुराइ प्राप्त करने के लिये अंगोपांग- हाथ-पाउं का उत्क्षेपण क्रिया होती है...
- (१०) अभ्यास-गुण : भोजन आदि संबंधित अभ्यास... वह इस प्रकार- आज का जन्म पाया हुआ जीव-मनुष्य भवांतर के भोजन के अभ्यास से हि मुख से स्तनपान करते हैं, रोना बंध करते हैं, अथवा तो गाढ अंधकार में भी कवल मुख में हि लेते हैं और व्याकुल चित्त होने पर भी जहां खाज आवे, वहीं मनुष्य खजवालता है, अन्यत्र नहिं...
- (११) गुण-गुण : नम्रता-सरलता आदि...

किंतु- गुण भी किसी को अगुण बन जाता है, जैसे कि- सरल मनुष्य की सरलता मायावी मनुष्य में अगुण याने कष्टदायक हो शकती है... कहा भी है कि- दुर्जन लोग लज्जालु में रही हुई सरलता को कपट मानते हैं... और व्रत की रुचि में सरलता को दंभ, पवित्रता में सरलता को कपट, शूरी में निर्दयता और ऋजु

में मुखता तथा मधुर बोलनेवाले में दीनता, तेजस्वी = पराक्रमी में अभिमान, वक्ता में वाचालता, सहनशील में दुर्बलता... इस प्रकार कौन सा ऐसा गुण है जो दुर्जनों ने दोषारोपण से लांछित - दोषित न किया हो ?

- (१२) अगुण-गुण : अगुण (दुर्गुण) भी वक्र-जीव में कहीं कहीं गुण माना गया है... जैसे कि- गलि-बैल को स्कंध-खुंध में किण (दोष) होने से हि वह गाय-बैलों के बिच में सुख-शांति से बैठ सकता है... कहा भी है कि- दुर्जनता में अग्रेसर जीव कभी कभी अनुकूलतादि गुणों में अग्रेसरता पाता है... जैसे कि- बैलगाडी में न जोतने के कारण से किण = सुखा धाव, डंख के अभाव में गलि-बैल सुख से रहता है...
- (१३) भव-गुण : जहां जीव नारक आदि रूप से जन्म लेता है वह नारक आदि भव... उसमें जो गुण वह भव-गुणः, यह भवगुण जीव में घटित होता है... जैसे कि- नारकजीव... नरक भव के कारण से हि अवधिज्ञानवाले होते हैं, तीव्रतर वेदना-पीडा सहन करते हैं और तिल जितने छोटे छोटे शरीर के टुकड़े होने पर भी संधान याने शरीर पुनः अखंड बन जाता है... तिर्यच याने पशु-पक्षी अच्छे बुरे के विवेक से रहित होते हैं तो भी पक्षीओं को आकाश में गमन की लब्धि होती है, और गाय-बैल आदि को तृण आदि का भोजन भी दुध-बल आदि शुभ-प्रभाववाला होता है... और धर्म पुरुषार्थ के द्वारा मनुष्य सभी कर्मों का क्षय कर सकते हैं तथा देवों को सभी शुभ मनोज्ञ अनुभाव देवभव के कारण से हि होता है...
- (१४) शीलगुण = अन्य जीव याने मनुष्य आक्रोश-ताडन करे तो भी शील-सदाचार गुण से संपन्न मनुष्य क्रोधित नहीं होता है, अथवा जब शब्द आदि पौद्गलिक विषय अच्छे या बुरे होते हैं तब यह पुद्गल का स्वभाव है ऐसा जानकर साधु मध्यस्थता को धारण करते हैं...
- (१५) भावगुण = औदयिक आदि भावों के गुण = भावगुण... जीव और अजीव में यह भावगुण होते हैं... संसारी जीव में औदयिक आदि छह (६) भाव गुण होते हैं...
१. औदयिक गुण के दो भेद. प्रशस्त और अप्रशस्त. तीर्थकर नामकर्म, आहारक शरीर आदि प्रशस्त औदयिक भावगुण... और अप्रशस्त भावगुण - शब्दादि विषयों के उपभोग, तथा हास्य, रति अरति आदि...
 २. औपशमिक भावगुण - उपशम श्रेणी में आयुष्यकर्म के क्षय से अनुत्तर विमान में उत्पत्ति और अशुभ कर्मों के उदय का अभाव...
 ३. क्षायिक- क्षायिकभावगुण के चार प्रकार है,

१. दर्शन सप्तक के क्षय से मिथ्यात्व का अभाव...
 २. चारित्रमोह के क्षय से शेष घातिकर्मों का क्षय...
 ३. घातिकर्मों के क्षय से केवलज्ञान एवं केवलदर्शन का प्रगट होना...
 ४. सभी कर्मों के क्षय से संसार में जन्म का अभाव और संपूर्ण तथा निश्चित निराबाध परमानंद स्वरूप मोक्षसुख की प्राप्ति...
४. क्षायोपशमिक- क्षायोपशमिक भाव स्वरूप ज्ञान-दर्शनादि गुणों की प्राप्ति...
५. पारिणामिक- भव्यत्व, जीवत्व आदि...
६. सान्निपातिक- मनुष्यगति में औदयिकादि पांच भावों का मिश्रण...
- वह इस प्रकार- मनुष्यगतिकर्म के उदय से - औदयिक भावगुण
- | | | |
|------------------------------|---|-----------------|
| पंचेंद्रियत्व से मतिज्ञानादि | - | क्षायोपशमिक भाव |
| दर्शनसप्तक के क्षय से | - | क्षायिक भाव |
| चारित्र मोहनीय के उपशम से | - | औपशमिक भाव |
| भव्यत्व से | - | पारिणामिक भाव |

इस प्रकार जीव के भावगुण कहे, अब अजीव के भावगुण-उनके दो प्रकार है, औदयिक और पारिणामिक- शेष अन्य भावगुण अजीव में नहि होते हैं... उदय में होनेवाला भावगुण = औदयिक भावगुण और वह अजीव में इस प्रकार से समझीयेगा - कितनीक कर्म प्रकृतियां पुद्गलविपाकी होती है, और वे इस प्रकार- औदारिक आदि पांच शरीर, छह (६) संस्थान, तीन अंगोपांग, ६ संहनन, पांच वर्ण, दो गंध, पांच रस, आठ स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उद्योत, आतप, निर्माण, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, यह सभी पुद्गलविपाकी कर्म है... यह सभी जीव के संबंधित होते हुए भी इनका पुद्गल विपाकी पना माना गया है... तथा पारिणामिक अजीवगुण के दो भेद है... १. अनादि पारिणामिक २. सादि पारिणामिक... उनमें अनादि पारिणामिक भाव धर्मास्तिकाय में गति सहायकता स्वरूप, अधर्मास्तिकाय में स्थिति सहायकता स्वरूप, और आकाशास्तिकाय में अवगाहन दान स्वरूप है, जब कि- सादि पारिणामिक भाव- पुद्गल स्कंध स्वरूप बादल, इंद्रधनुष आदि में तथा पुद्गल परमाणु में वर्णादि के गुणांतर की प्राप्ति...

गुण का स्वरूप पूर्ण हुआ अब “मूल” शब्दके निक्षेप कहते हैं...

नि. १७३

मूल शब्द के ६ निक्षेप होते हैं, नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव... उनमें १. नाम एवं २. स्थापना सुगम है... ३. द्रव्यमूल के तीन प्रकार है... १. ज्ञ शरीर, २.

भव्यशरीर; ३. तद्व्यतिरिक्त... उनमें तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद होते हैं... १. औदयिकमूल, २. उपदेशमूल, ३. आदिमूल.

१. वृक्ष आदि के मूल स्वरूप परिणाम पाये हुए द्रव्य को औदयिक द्रव्यमूल कहते हैं...
२. वैद्य रोग के विनाश के लिये रोगी को पिप्पलीमूल आदि का उपदेश-कथन करते हैं... उसे उपदेशमूल कहते हैं...
३. वृक्ष आदि के मूल के उत्पत्ति के प्रथम कारण को आदि-मूल कहते हैं, वे इस प्रकार- स्थावर नामगोत्र कर्म प्रकृति के कारण से और मूल के निर्वर्तन की हेतुभूत उत्तर प्रकृति के कारण से मूल उत्पन्न होता है... सारांश यह है कि- वृक्ष के औदयिक शरीर में मूल को बनानेवाले उदय में आये हुए कर्म पुद्गलों के आद्य कारण कार्मण शरीर है...
४. क्षेत्रमूल- जिस क्षेत्र में मूल उत्पन्न हो, अथवा जहां मूल की व्याख्या की जाय वह क्षेत्रमूल...
५. कालमूल- जितना समय मूल स्थिर रहे, अथवा जिस समय में मूल की व्याख्या की जाय... वह कालमूल...
६. भावमूल- के तीन प्रकार है वे इस प्रकार...

नि. १७४

१. औदयिक भावमूल, २. उपदेशक भावमूल और ३. आदि भावमूल... उनमें नाम-गोत्र कर्मों के उदय से वनस्पतिकाय का मूल बना हुआ जीव हि औदयिक भावमूल है... आचार्य, उपदेशक हि उपदेशक मूल है, जैसे कि- कर्मों के उदय से हि जीव वृक्ष के मूल जड़ के स्वरूप उत्पन्न होते हैं, मोक्ष और संसार का जो आदि मूलभाव है, उनका तीर्थकर उपदेशक है... वह इस प्रकार- जैसे की- मोक्ष का आदिमूल ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और औपचारिकविनय स्वरूप पांच प्रकार का विनय है... क्योंकि- मोक्ष की प्राप्ति का मूल विनय हि है... कहा भी है कि- विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र और चारित्र से हि मोक्ष होता है... तथा मोक्ष में हि अव्याबाध सुख है... अन्यत्र भी कहा है कि- विनय का फल गुरुसेवा, गुरुसेवा का फल श्रुतज्ञान, ज्ञानका फल विरति, विरति का फल आश्रव का निरोध याने संवर, संवर का फल तपश्चया, तप से कर्मों की निर्जरा, कर्मों की निर्जरा से क्रियाओं से निवृत्ति, क्रियाओं के अभाव में अयोगी-पना अर्थात् योग का अभाव, मन-वचन-काया के योग के अभाव में भव याने जन्मों की परंपरा का नाश और जन्म की परंपरा के विनाश से हि आत्मा का अक्षय-अविचल स्वरूप मोक्ष होता है इसीलिये कहा है कि- सभी कल्याण-सुख का कारण विनय हि है... तथा संसार का आदिमूल विषय-कषाय हि है... क्योंकि- विषय और कषाय से हि भव-वृक्ष फलता-फूलता है...

मूल का स्वरूप कहने के बाद अब “स्थान” पद के पंद्रह (१५) निक्षेप कहते हैं...

नि. १७५

१. नाम, २. स्थापना, ३. द्रव्य, ४. क्षेत्र, ५. काल, ६. ऊर्ध्व, ७. उपरति (विरति), ८. वसति, ९. संयम, १०. प्रग्रह (नायक), ११. योध, १२. अचल, १३. गणना, १४. संधान, और १५. भावस्थान...

१. नाम स्थान एवं २. स्थापना स्थान सुगम है...

३. द्रव्यस्थान- १. ज्ञ शरीर, २. भव्य शरीर, ३. तदव्यतिरिक्त.
उनमें तदव्यतिरिक्त के तीन भेद-सचित द्रव्य, अचित द्रव्य और मिश्रद्रव्यस्थान...

४. क्षेत्रस्थान- भरतक्षेत्र आदि अथवा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तिर्यग्लोक... अथवा तो जिस क्षेत्र में स्थान पद की व्याख्या करें...

५. अद्धा याने कालस्थान- उसके दो प्रकार है...

१. कायस्थितिस्थान, २. भवस्थितिस्थान...

उनमें कायस्थिति = पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुकाय की असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल, और वनस्पतिकाय की अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकाल... तथा विकलेंद्रिय (बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय) की संख्यात हजार वर्ष, और पंचेंद्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य की स्वकायस्थिति सात या आठ भव है... अब भवस्थिति स्थान कहते हैं- वायुकाय को तीन हजार वर्ष, अपकाय (जल) को सात हजार वर्ष, वनस्पतिकाय को दश हजार वर्ष, और पृथ्वीकाय को बाइस (२२) हजार वर्ष का आयुष्य (भवस्थिति) होता है... अग्निकाय को मात्र तीन अहोरात्र (२४ प्रहर) शंख आदि बेइंद्रिय को बारह वर्ष, कीडी आदि तेइंद्रिय को ४९ दिवस, भ्रमर-मखी आदि चउरिंद्रिय को ६ महिने का आयुष्य होता है... पंचेंद्रिय तिर्यंच एवं मनुष्य का आयुष्य तीन पल्योपम, तथा देव और नारकों का आयुष्य (भवस्थिति) और कायस्थिति ३३ सागरोपम हि है, क्योंकि- उनकी अन्य भिन्न कायस्थिति नहि है... अतः यह उनकी उत्कृष्ट भवस्थिति स्थान है... और उत्कृष्ट कायस्थिति स्थान भी है... अब जघन्य स्थितिस्थान कहते हैं... सभी जीवों का जघन्य स्थितिस्थान अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण है... किंतु- देव और नारक को जघन्य स्थितिस्थान दश हजार वर्ष है... अथवा अद्धास्थान- समय, आवलिका, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गलपरावर्त, अतीत (भूतकाल), अनागत (भविष्यत् काल) और सर्वकाल...

६. ऊर्ध्वस्थान- कायोत्सर्ग (काउस्सग्ग) आदि... उपलक्षण से बैठा हुआ पद्मासन आदि...
७. उपरति- विरति - देशविरति-श्रावकों के व्रत... सर्वविरति-साधुओं के महाव्रत...
८. वसति-स्थान- गांव, नगर के घरों में जहां निवास किया जाय (उपाश्रय-पौषधशाला)
९. संयमस्थान- सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात संयम... इन पांचों के भी असंख्य असंख्य संयमस्थान हैं... असंख्य याने कितने ? यह बात अतीन्द्रिय है, अतः साक्षात् तो कह नहीं सकते तो भी आगम सूत्र के माध्यम से उपमा द्वारा कहते हैं... वह इस प्रकार- इस विश्व में एक समय में असंख्य लोकाकाश के प्रदेश राशि-संख्या प्रमाण अग्निकाय के जीव उत्पन्न होते हैं और उससे असंख्य गुण अधिक अग्निकाय के (जीवन्त) जीव होते हैं, और उससे भी उनकी स्वकायस्थिति असंख्य गुण अधिक हैं, और उससे अनुभाग (रस) बंध के अध्यवसाय स्थान असंख्यगुण अधिक हैं... संयमस्थान भी उतने ही सामान्य से कहे गये हैं, अब विशेष से संयमस्थान कहते हैं- सामायिक छेदोपस्थापनीय एवं परिहारविशुद्धि संयम के प्रत्येक के संयमस्थान असंख्य लोकाकाश के प्रदेश राशि=संख्या प्रमाण है... जब कि- सूक्ष्म संपराय चारित्र अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण है अतः अंतर्मुहूर्त के समय की संख्या प्रमाण असंख्य संयमस्थान है और यथाख्यात चारित्र के तो जघन्य से लेकर उत्कृष्ट तक एक ही संयमस्थान है... अथवा संयम श्रेणी के अंतर्गत संयमस्थान ग्रहण करें... और वह संयम श्रेणी अनुक्रम से होती है, वह इस प्रकार- अनंत चारित्र के पर्याय से निष्पादित (उत्पन्न) एक संयमस्थान है, और ऐसे असंख्य संयमस्थान से एक कंडक होता है और ऐसे असंख्य कंडक से एक षट्स्थानक होता है, और ऐसे असंख्य षट्स्थानकों की एक श्रेणी होती है...
१०. प्रग्रहस्थान- अच्छी तरह से जिनका वचन ग्रहण करने योग्य हो वह प्रग्रहवाक्य=नायक... प्रग्रह स्थान के दो भेद हैं... १. लौकिक, २. लोकोत्तर...
१. लौकिक के पांच भेद : १. राजा, २. युवराज, ३. महत्तर, ४. अमात्य, ५. कुमार...
२. लोकोत्तर के भी पांच भेद : १. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर, ५. गणावच्छेदक...
११. योधस्थान के पांच प्रकार : १. आलीढ, २. प्रत्यालीढ, ३. वैशाख, ४. मंडल, ५. समपाद...

१२. अचलस्थानके चार भेद : १. सादि सपर्यवसान, २. सादि अपर्यवसान, ३. अनादि सपर्यवसान, ४. अनादि अपर्यवसान... वे इस प्रकार-

१. सादि सपर्यवसान- परमाणु आदि द्रव्य का एक प्रदेशादि में रहना, वह जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से असंख्यकाल...
२. सादि अपर्यवसान- सिद्ध परमात्माओं का भविष्यत्काल...
३. अनादि सपर्यवसान- भूतकाल में घटित होता है, और शैलेशीकरण के अंतिम समय में तैजस-कार्मण शरीर और भव्यत्व में यह भंग घटित होता है...
४. अनादि अपर्यवसान- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में यह भंग घटित होता है...

१३. गणना-स्थान : एक दो से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक-

१४. संधान-स्थान के दो भेद हैं- १. द्रव्य २. भाव...

पुनः एक एक के दो दो भेद हैं- १. छिन्न, २. अच्छिन्न...

उनमें १. द्रव्य-छिन्न-संधान = कंचुक आदि...

२. द्रव्य अछिन्न संधान = तंतु आदि के उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्म पक्ष्म-रुवाटें...

१५. भावसंधान के दो भेद = १. प्रशस्त, २. अप्रशस्त...

१. प्रशस्त अछिन्न संधान- उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी में आरोहण करनेवाले जीव के अपूर्व संयमस्थान अछिन्न होते हैं, अथवा श्रेणी के अभाव में भी प्रवर्धमान कंडक के संयमस्थान अछिन्न होते हैं...

२. छिन्न प्रशस्त भाव संधान- औपशमिक आदि भाव से औदयिक आदि भाव में गये हुए जीव का पुनः शुद्ध परिणाम से वहीं औपशमिकादि भाव में जाना...

३. अप्रशस्त अछिन्न भाव संधान- उपशम श्रेणी से पतन को पाते हुए अविशुद्धयमान परिणामवाले जीव को अनंतानुबंधि तथा मिथ्यात्व के उदय पर्यंत अथवा उपशम श्रेणी के अभाव में भी कषाय के कारण से कर्मबंध के अध्यवसाय स्थानों को उत्तरोत्तर अवगाहन (स्पर्शना) करनेवाले को होता है...

४. अप्रशस्त छिन्न भाव संधान- औदयिक भाव से औपशमिकादि भाव में संक्रमित होकर पुनः औदयिक भाव में जाना... यहां दो द्वार एक साथ कहे गये हैं... वहां संधान स्थान द्रव्य संबंधित है वह संधानस्थान और इतर-शेष जो है वह भाव संबंधित है... अथवा कषाय का जो स्थान है वह

भावस्थान समझीयेगा... और उन कषायों पे विजय पाना यह यहां प्रस्तुत ग्रंथ में अधिकार है,

प्रश्न- अब उन कषायों का कोन सा स्थान है ? कि- जिस आधार में वे कषाय उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर - यह कषाय शब्दादि विषयों के आश्रय से होते हैं अतः उन शब्दादि विषयों का स्वरूप निर्युक्ति गाथा से कहते हैं...

नि. १७६

शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध यह पांच कामगुण है, अतः इन कामगुण-विषयों से जीव में कषाय होते हैं, अतः यह कषाय हि इस संसार का मूलस्थान है...

इच्छा, अंग स्वरूप काम है, विषयों के गुण जिसके आधार से होते हैं, वह काम चित्तमे विकारों को प्रगट करता है, वे विषय शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध है यह पांच समस्त (सभी) या व्यस्त (कोइ भी दो-तीन) विषयों में विषयसुख के इच्छुक, मिथ्यादृष्टि, संसार के अनुरागी, राग-एवं द्वेष स्वरूप तिमिर = अंधकार से नष्ट दृष्टिवाले जीव को अच्छे या बुरे विषयों की प्राप्ति में कषाय की उत्पत्ति होती है और कषाय से हि संसार-वृक्ष उत्पन्न होता है, इसीलिये शब्दादि विषयों से उत्पन्न हुए कषाय हि संसार का मूलस्थान है... सारांश यह है कि- रागादि से विनष्ट चित्तवाला तथा परमार्थ को नहि जाननेवाला जीव सुख के कारण न होते हुए भी विषयों को सुख का कारण मानता है, अतः ऐसा जीव अंधे से भी अतिशय अंध ऐसा यह कामी जीव शब्दादि विषयों में खुश होता है... इसीलिये तो कहा है कि- अंध मनुष्य उसे कहते हैं कि- जगत में सामने रही हुई वस्तु को जो मनुष्य नहि देखता है... किंतु रागान्ध मनुष्य तो ऐसा है कि- जो सामने रही हुई वस्तु में जो है उसे नहि देखता किंतु उसमें जो नहि है उसे देखता है... इसीलिये तो कहते हैं कि- कामी मनुष्य अशुचि (मल-मुत्र-लोही-मांस आदि) के भंडार ऐसी स्त्री के शरीर में कुंद (चमेली के फुल का एक प्रकार-डोलर) कमल, पूर्ण चंद्रमा, कलश, एवं समृद्ध लता-पल्लवों का आरोप करके खुश होता है... अथवा तो कठोर कर्कश शब्द आदि में द्वेष-रोष धारण करता है, इसीलिये तो कहते हैं कि- शुभ एवं अशुभ शब्दादि विषय हि कषायों का मूलस्थान है... अतः शब्दादि विषय हि संसार का मूलस्थान है... यह इस गाथा का सारांश है...

प्रश्न- शब्दादि विषय से कषाय होता है, ऐसा तो मान लिया, किंतु उनसे संसार कैसे हो ?

उत्तर- कर्मों की स्थिति का मूल कषाय हि है, और संसार का मूल कर्मों की स्थिति है, तथा संसारी जीवों को कषाय अवश्य होते हि है... यह बात अब कहते हैं...

नि. १७७

जिस प्रकार- सभी वृक्षों के मूल भूमि में रहे हुए हैं, इसी प्रकार सभी कर्मों के कषाय स्वरूप मूल संसार में रहे हुए हैं...

प्रश्न- ऐसा कैसे मानें कि- कषाय ही कर्म का मूल है ?

उत्तर- कर्मबंध के कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग कहे गये हैं... आगम सूत्रों में भी कहा है कि- हे भगवन् ! ज्ञानावरणीय कर्मबंध के कितने स्थान हैं ? हे गौतम ! दो स्थान हैं राग और द्वेष... राग के दो प्रकार हैं माया और लोभ तथा द्वेष के भी दो प्रकार हैं क्रोध और मान... वीर्य-योग युक्त जीवों को इन चार स्थानों से ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है... इसी प्रकार आठों कर्मों के बंध स्थान स्वयं समझ लें... और मोहनीय कर्म के अंतर्गत रहे हुए वे कषाय ही आठों कर्मों के कारण हैं, और कामगुण के भी मूल कारण मोहनीय कर्म ही हैं... यह बात अब कहते हैं...

नि. १७८

आठ प्रकार के कर्मवृक्ष के मूल कषाय स्वरूप मोहनीय कर्म हैं, और कामगुण के मूल भी मोहनीयकर्म ही हैं... क्योंकि- स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से काम-विकार होता है... और यह तीन वेद मोहनीय के अंतर्गत हैं, इसीलिये संसार का प्रथम मूल कारण मोहनीय कर्म है...

इस प्रकार परंपरा से भी संसार, कषाय और कामविकारों के मुख्य कारण मोहनीयकर्म ही हैं, और इस मोहनीयकर्म के क्षय से सभी कर्मों का क्षय निश्चित ही है... अन्यत्र भी कहा है कि- जिस प्रकार मस्तक सूची (सोड़) के क्षय से तालवृक्ष निश्चित विनष्ट होता है, इसी प्रकार मोहनीयकर्म के क्षय से सभी कर्मवृक्ष निश्चित ही विनाश होते हैं और इस मोहनीयकर्म के दो भेद हैं... १. दर्शन मोहनीय, २. चारित्र मोहनीय... यह बात निर्युक्ति की गाथा से कहते हैं...

नि. १७९

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं... १. दर्शनमोह, २. चारित्रमोह... कामविकार चारित्रमोह ही है, अतः यहां इस आचारांग सूत्र में इस चारित्रमोह का ही अधिकार है...

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं, १. दर्शन मोहनीय, २. चारित्र मोहनीय... क्योंकि- कर्मबंध के मुख्य कारण दो ही हैं... वे इस प्रकार- अरिहंत, सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, साधु और संघ के प्रति प्रत्यनीकता (द्वेष) से दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है, और इस कर्म के कारण से यह जीव अनंत संसार समुद्र में परिभ्रमण करता रहता है... तथा तीव्र कषाय और अतिशय राग-द्वेष से यह जीव देशविरति एवं सर्वविरति के विनाशक ऐसे चारित्र-मोहनीय कर्म का बंध

करता है... उनमें दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं... १. मिथ्यात्वमोहनीय, २. मिश्रमोहनीय, ३. सम्यक्त्वमोहनीय... तथा चारित्र मोहनीय के २५ भेद है... १६ कषाय और नव (९) नोकषाय... उनमें शब्दादि पांच कामगुण चारित्रमोह है, और इस चारित्रमोह का हि इस सूत्र में अधिकार है... क्योंकि- यहां कषायों का स्थान प्रस्तुत है, और वह शब्दादि पांच कामगुण स्वरूप है... यह गाथार्थ है...

चारित्र मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, और लोभ के आश्रित कामगुण के आधार में कषाय रहते हैं... और संसार का तथा कर्म का मुख्य कारण भी कषाय हि है यह बात अब कहते हैं...

नि. १८०

संसार का मूल कर्म है, और उसका भी मूल कषाय है यह कषाय आत्मा में स्वजन, कुटुंब, चाकर आदि कारणों से उत्पन्न होते हैं...

नारक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देवगति स्वरूप संसार का मूल कारण आठ प्रकार के कर्म है, और उन कर्मों का कारण क्रोध आदि कषाय हैं, और उन क्रोधादि कषायों का कारण शब्दादि विषय हैं, अब इन शब्दादि विषयों के भी अनेक स्थान हैं, अतः उनका प्रतिपादन - कथन करते हैं... मात-पितादि तथा सासु-श्वसुरादि स्वजन-कुटुंब, चाकर सेवक आदि एवं धन, धान्य, कुप्य, वास्तु (मकान), एवं रत्न, सुवर्ण आदि तथा आदि पद से मित्र आदि परिचित लोगों के कारण से प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरह, आत्मा में कषाय रहे हुए है... इसी प्रकार एकेंद्रिय जीवों में भी कषाय रहे हुए हैं... यह गाथार्थ है...

इस प्रकार कषाय-स्थान कहने के द्वारा सूत्र के पदों में कहे गये स्थान पद को कहकर, अब मूलसूत्र के पदों में ग्रहण कीये हुए, जेतव्य याने जितने योग्य ऐसे उन अधिकृत कषायों के निक्षेप कहते हैं...

नि. १८१

वे इस प्रकार कषाय-पद के आठ निक्षेप होते हैं...

नाम, स्थापना, उत्पत्ति, प्रत्यय, आदेश, रस और भावकषाय = आठ निक्षेप...

१. नाम कषाय = इच्छा-मात्र से रखा हुआ, अर्थ से निरपेक्ष अभिधान मात्र हो वह नाम-कषाय निक्षेप...
२. स्थापना कषाय = सद्भाव और असद्भाव स्वरूप प्रतिमा-छबी एवं पाषाण अक्ष आदि... स्थापना निक्षेप है... वह प्रतिमा-चित्र इस प्रकार हो- भयानक भूकुटी, उत्कट ललाट (कपाल) में त्रिशूल, लाल मुख और आंखे, थरथरते हुए होठ पे दांत भीसे

- हुए, पुरे शरीर में पसीना (प्रस्वेद) हो ऐसा चित्र, प्रतिमा आदि कषाय की संद्भाव स्थापना और अक्ष, बराटक में असद्भाव स्थापना...
३. द्रव्य-कषाय- ज्ञ शरीर, भव्य शरीर तद्रव्यतिरिक्त, तद्रव्यतिरिक्त द्रव्य कषाय के दो भेद = १. कर्मद्रव्यकषाय, २. नोकर्मद्रव्यकषाय... उनमें ग्रहण योजना, ग्रहण कीये हुए, उदय में नहीं आये हुए और उदय में आये हुए पुद्गल द्रव्य की अप्रधानता से कर्मद्रव्य कषाय, और बिभीतका (बहेडा-आंवला) आदि नोकर्मद्रव्य कषाय,
४. शरीर, उपधि, क्षेत्र, वास्तु (मकान) स्थाणु आदि उत्पत्तिकषाय है, क्योंकि- उनके आधार से कषायों की उत्पत्ति होती है... कहा भी है कि- इससे अधिक कष्ट और क्या है ? कि- मूर्ख मनुष्य स्थाणु-ठुंठे-खीले से टकराकर स्थाणु पे गुस्सा करता है, वह अपने अनुपयोग-प्रमाद पे गुस्सा नहीं करता...
५. प्रत्यय कषाय = कषायों के बंध का जो कारण हैं वह प्रत्यय... और वे हैं शुभ या अशुभ शब्दादि विषय... इसलिये उत्पत्ति यह कार्य है और प्रत्यय यह कारण है...
६. आदेश कषाय = अन्य के हुकम से कीया गया भ्रुकुटी आदि मुख विकार...
७. रस कषाय = कटु, तिक्त, कषायरस आदि रस पंचक के अंतर्गत...
८. भाव कषाय = शरीर उपधि क्षेत्र वास्तु (घर) स्वजन, चाकर, अर्चा आदि निमित्तों से प्रगट हुआ, शब्द आदि कामगुणो के कारण से कार्य स्वरूप कषाय मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का परिणाम विशेष हि क्रोध, मान, माया, लोभ स्वरूप भावकषाय है... और उन एक एक के अनंतानुबंधि, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन भेद से सोलह (१६) होते हैं $४ \times ४ = १६$... इन कषायों के स्वरूप अनुबंध और फल तीन गाथा से कहते हैं...

कषाय	स्वरूप
अनंतानुबंधि क्रोध	पर्वत की तिराड याने फाट के समान है...
अप्रत्याख्यानीय क्रोध	पृथ्वी की फाट के समान है...
प्रत्याख्यानीय क्रोध	रज-रेती में लकीर के समान है...
संज्वलन क्रोध	जल-पानी में लकीर के समान है...
अनंतानुबंधी मान	पत्थर के थंभे के समान है...
अप्रत्याख्यानीय मान	हड्डी के थंभे के समान है...
प्रत्याख्यानीय मान	लकड़ी के थंभे के समान है...
संज्वलन मान	नेतर की सोटी के समान है...
अनंतानुबंधि माया	घन वंश के मूल के समान है...

अप्रत्याख्यानीय माया भेड के शिंग के समान है...
 प्रत्याख्यानीय माया गोमुत्र के समान है
 संज्वलन माया लकड़ी की छोल के समान है...

अनंतानुबंधि लोभ किरमजी (गहरा-पक्के लाल रंग) के समान है...
 अप्रत्याख्यानीय लोभ काजल के समान है
 प्रत्याख्यानीय लोभ कादव-कीचड के समान है...
 संज्वलन लोभ हलदी के रंग के समान है...

१. अनंतानुबंधि क्रोध मान माया लोभ...
जीवन पर्यंत रहते हैं और नरक गति देते हैं...
२. अप्रत्याख्यानीय क्रोध मान माया लोभ...
एक वर्ष तक रहते हैं और तिर्यच गति देते हैं...
३. प्रत्याख्यानीय क्रोध मान माया और लोभ...
चार महिने तक रहते हैं और मनुष्य गति देते हैं...
४. संज्वलन क्रोध मान माया और लोभ...
पक्ष (१५ दिवस) तक रहते हैं, और देवगति देते हैं...

इस प्रकार नाम आदि आठ निक्षेपवाले कषायों में से कौनसा नय किसको चाहता है? यह बात अब कहते हैं...

१. नैगम नय = सामान्य एवं विशेष दोनों को ग्रहण करनेवाले इस नैगमनय में, कोई एक गम (विकल्प-भंग) न होने से नैगमनय के अभिप्राय से कषाय के नाम आदि सभी निक्षेप सत्य है...
- २-३. संग्रह एवं व्यवहार नय = कषायों के संबंध के अभाव में आदेश और उत्पत्ति निक्षेप नहीं चाहते...
४. ऋजुसूत्र नय = वर्तमान परिस्थिति को चाहनेवाला यह नय आदेश, उत्पत्ति और स्थापना को नहि चाहता...
- ५-६-७. शब्द-समभिरूढ और एवंभूतनय = कषाय-कथंचित् नाम एवं भाव के अंतर्गत होने से नाम एवं भाव निक्षेप चाहते हैं...

इस प्रकार कषाय हि कर्मों के कारण है और कर्म संसार का कारण है... अब संसार के प्रकार-भेद स्वरूप निक्षेप कहते हैं...

संसार-पद के पांच निक्षेप होते हैं... द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावसंसार... अर्थात् - जहां जीव भव-भवांतर में संसरण = परिभ्रमण करते हैं ऐसे उस संसार-पद के पांच निक्षेप होते हैं...

१. द्रव्य संसार = विभिन्न जीव आदि द्रव्यों के संसरण स्वरूप...
२. क्षेत्र संसार = जिस क्षेत्र में जीव आदि द्रव्यों का संसरण हो वह...
३. कालसंसार = जिस काल में जीव आदि द्रव्यों का संसरण हो वह काल...
४. भव संसार = नारक, तिर्यच, मनुष्य एवं देवगति के नाम से चार प्रकार की आनुपूर्वी के उदय से भव-भवांतर में जीवों के संक्रमण को भवसंसार कहते हैं...
५. भाव संसार = चारगति स्वरूप संसार के स्वभाववाले गति-कषाय-लिंग आदि २१ औदयिकभाव के परिणाम स्वरूप भावसंसार... अर्थात्- प्रकृति स्थिति अनुभाग (रस) एवं प्रदेशबंध के प्रदेशों के विपाक (फल) का अनुभव... इस प्रकार द्रव्यादि भेद से संसार के पांच निक्षेप-प्रकार है...

अथवा प्रकारांतर से द्रव्यादि भेद से संसार चार प्रकार का है...

यहां संसार का अर्थ है संसरण याने परिवर्तन...

१. द्रव्य परिवर्तन = अश्व को छोड़कर हाथी को ग्रहण करना...
२. क्षेत्र परिवर्तन = गांव को छोड़कर नगर की ओर जाना...
३. काल परिवर्तन = वसंत ऋतु पूर्ण होने के बाद ग्रीष्म ऋतु का आना...
४. भाव परिवर्तन = औदयिकभाव का त्याग करके औपशामिकादि भावों को धारण करना...

इस संसारमें कर्मों के परवश होकर जीव संसरण = परिभ्रमण करते हैं, अतः अब कर्म का स्वरूप कहते हैं...

नि. १८३-१८४

कर्म-पद के दश निक्षेप होते हैं...

१. नाम कर्म, २. स्थापना कर्म, ३. द्रव्य कर्म, ४. प्रयोग कर्म, ५. समुदान कर्म, ६. ईर्यापथिक कर्म, ७. आधा-कर्म, ८. तपःकर्म, ९. कृतिकर्म, और १०. भावकर्म...

१. नामकर्म = कर्मों के अर्थ से शून्य ऐसे नाम मात्र को नामकर्म कहते हैं...
२. स्थापना कर्म = मिट्टी का शिल्पकार्य और कागज-पत्ते आदि में कीये हुए चित्र, प्रतिमा, आकृति स्वरूप कर्मवर्गणाओं की सद्भाव या असद्भाव स्वरूप स्थापना...
३. द्रव्यकर्म = तद्रव्यतिरिक्त के दो भेद...
 १. द्रव्य कर्म
 २. नोद्रव्य कर्म...

१. द्रव्य कर्म - कर्मवर्गणा के अंतर्गत रहे हुए पुद्गल, बंधयोम्य, बंधन में आते हुए, बंधे हुए और उदय में नहि आये हुए... कर्मदल...
२. नोद्रव्यकर्म कृषीवल (किसान) आदि के कर्म...

यहां कर्मवर्गणा के अंतर्गत जो पुद्गल हैं, वे द्रव्यकर्म कहे गये हैं तो अब यहां यह प्रश्न होता है कि- वे वर्गणा क्या है ? उत्तर- वर्गणा सामान्य से चार प्रकार से है, द्रव्य क्षेत्र काल और भाव... उनमें द्रव्य से वर्गणा = एक दो तीन आदि संख्यात, असंख्यात और अनंत प्रदेशवाली वर्गणा होती है... क्षेत्र से वर्गणा = अवगाहित द्रव्य एक, दो, तीन आदि संख्यात असंख्यात प्रदेशों में जो अवगाहना करता है, वह क्षेत्रवर्गणा है... काल से वर्गणा = एक दो तीन आदि संख्यात, असंख्यात समय स्थितिवाली जो कर्मवर्गणा, वह कालवर्गणा... भावसे वर्गणा = रूप, रस गंध स्पर्श से विभिन्न भेदवाली जो कर्मवर्गणा, वह भाववर्गणा है...

अब विशेष रूप से द्रव्यकर्म-वर्गणा का स्वरूप कहते हैं... इस विश्व में एक एक परमाणु जितने भी हैं, उनकी एक वर्गणा... दो दो परमाणुवाले जितने भी स्कंध हैं, उनकी दो प्रदेशवाली एक वर्गणा... इसी प्रकार तीन प्रदेशवाले पुद्गल स्कंधों की एक वर्गणा... चार प्रदेशवाले पुद्गल स्कंधो की एक वर्गणा... इसी प्रकार पांच, छह, सात यावत् संख्यात प्रदेशवाले स्कंधों की संख्यात वर्गणा... असंख्य प्रदेशवाले पुद्गल स्कंधों की असंख्य वर्गणा... यह सभी वर्गणा औदारिक आदि परिणाम के ग्रहण-अयोग्य है... अनंत प्रदेशवाली अनंतवर्गणा भी ग्रहण-अयोग्य है... उनसे आगे औदारिक ग्रहण योग्य अनंतानंत प्रदेशवाली अनंत वर्गणा है... वे इस प्रकार औदारिक के अयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक प्रदेश की वृद्धि होने से औदारिक शरीर ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है... पुनः एक एक परमाणु-प्रदेश की वृद्धि से बढ़ते हुए औदारिक शरीर योग्य उत्कृष्ट वर्गणा पर्यंत अनंत वर्गणा है...

अब प्रश्न यह होता है कि- जघन्य और उत्कृष्ट में क्या विशेष = अंतर है ? उत्तर = जघन्य से उत्कृष्ट विशेषाधिक है... यहां विशेषाधिक याने औदारिक जघन्य वर्गणा के प्रदेशों का अनंतवा भाग अधिक... औदारिक जघन्य वर्गणा अनंत प्रदेशवाली है, अब एक एक प्रदेश अधिक अधिक होने से औदारिक शरीर योग्य वर्गणा के जघन्य एवं उत्कृष्ट के बिच में मध्यम वर्गणा भी अनंत हि है...

अब औदारिक योग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु अधिक होने से औदारिक या वैक्रिय के लिये अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है, और वे भी एक एक प्रदेश-परमाणु की वृद्धि से उत्कृष्ट पर्यंत अनंत वर्गणा हैं... यहां जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यगुण अधिक हैं... यह सभी वर्गणाएं बहोत प्रदेशवाली और सूक्ष्म परिणामवाली होने से औदारिक शरीर के ग्रहण योग्य नहि है, और वैक्रिय शरीर योग्य वर्गणा की अपेक्षा से अल्प प्रदेशवाली एवं बादर परिणामवाली

यह वर्गणा वैक्रिय को भी ग्रहण योग्य नहि होती है... यहां जैसे जैसे प्रदेशों का उपचय (अधिकता) होता है वैसे वैसे विस्त्रसा परिणाम के कारण से वर्गणाओं की सूक्ष्मतरता होती है... अर्थात् उत्तरोत्तर वर्गणाएं अतिसूक्ष्म होती हैं...

अब इन अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु का प्रक्षेप होने से वैक्रिय शरीर के लिये ग्रहण योग्य वर्गणा होती है... अब यहां भी औदारिक योग्य जघन्य वर्गणा से जिस प्रकार उत्कृष्ट वर्गणा होती है उसी हि प्रकार वैक्रिय योग्य जघन्य वर्गणा में एक एक प्रदेश-परमाणु की वृद्धि तब तक करें कि- जब वैक्रिय योग्य उत्कृष्ट वर्गणा बनें... यहां भी वैक्रिय योग्य जघन्य एवं उत्कृष्ट के बिच में मध्यम वर्गणा अनंत है...

तथा वैक्रिय योग्य और आहारक शरीर योग्य वर्गणा के बिच में अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट असंख्येय गुण अधिक है और वे अग्रहण योग्य वर्गणा भी अनंत हि है... अब वैक्रिय एवं आहारक के अयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु का प्रक्षेप हो तब वह आहारक शरीर योग्य जघन्य वर्गणा बनती है, और वे एक एक प्रदेश की वृद्धि से बढ़ते हुए उत्कृष्ट पर्यंत अनंत वर्गणा होती है... अब यहां जघन्य से उत्कृष्ट विशेषाधिक है... विशेषाधिक याने जघन्य वर्गणा का अनंतवा भाग... तो भी आहारक शरीर योग्य एक एक प्रदेश की वृद्धिवाली वे वर्गणा अनंत है...

अब आहारक योग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु का प्रक्षेप (अधिक) हो तब वह आहारक शरीर को अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है... उसके बाद एक एक प्रदेश-परमाणु की वृद्धि से बढ़ती हुई उत्कृष्ट पर्यंत अनंत वर्गणा आहारक शरीर को अग्रहण योग्य हैं... क्योंकि- अब वे बहोत प्रदेशवाली होने से सूक्ष्म परिणामवाली वर्गणा है अतः आहारक शरीर के लिये भी अयोग्य है... अब एक एक प्रदेश की वृद्धि से बढ़ती हुई उत्कृष्ट पर्यंत अनंत वर्गणा आहारक के लिये अयोग्य है क्योंकि- बहोत प्रदेशवाली और सूक्ष्म है, जब कि- तैजस शरीर के लिये भी अयोग्य है क्योंकि- तैजस योग्य वर्गणा की अपेक्षा से अल्प प्रदेशवाली और बादर है... अब इस अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अनंतगुण है और वह अनंत अभव्य से अनंतगुण और सिद्ध के अनंतवे भाग प्रमाण अनंत कहा गया है...

अब इस ग्रहण अयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक प्रदेश-परमाणु का प्रक्षेप हो तब वह तैजस शरीर को ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है, और वह एक एक प्रदेश की वृद्धि से बढ़ते बढ़ते उत्कृष्ट हो तब तक में अनंत वर्गणा होती है... यहां जघन्य और उत्कृष्ट में जो अंतर है वह कहते हैं- ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा विशेषाधिक है, और वह जघन्य वर्गणा के अनंतवे भाग प्रमाण... किंतु यह मध्यम वर्गणा भी अनंत है...

अब तैजस शरीर योग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु अधिक हो तब अग्रहण वर्गणा होती है... इस प्रकार एक दो आदि परमाणु की वृद्धि, उत्कृष्ट पर्यंत हो, तब तक में अनंत वर्गणा होती है, किंतु वे बहुप्रदेशी एवं सूक्ष्म परिणामी है, अतः तैजस शरीर के अयोग्य है एवं भाषा-द्रव्य के लिये भी अयोग्य है क्योंकि- भाषा के लिये जैसी वर्गणा चाहिये उससे यह वर्गणा अल्प प्रदेशवाली है और बादर है... तैजस शरीर योग्य जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट वर्गणा अनंतगुण है, और वह अनंत संख्या अभव्य से अनंतगुण एवं सिद्ध से अनंतवे भाग प्रमाण होती है अर्थात् अनंत वर्गणा है...

अब तैजस शरीर को ग्रहण अयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु का प्रक्षेप हो तब भाषा ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है... उसमें एक एक प्रदेश की वृद्धि से उत्कृष्ट वर्गणा पर्यंत में बीच में अनंत वर्गणा होती है... यहां भी अनंत परमाणुवाली भाषा वर्गणा की जघन्य वर्गणा के अनंतवां भाग अधिक परमाणु-प्रदेश की वृद्धि हो तब उत्कृष्ट वर्गणा होती है, अतः मध्यम वर्गणा अनंत हैं... अब यहां से आगे एक एक परमाणु की वृद्धि के क्रम से होनेवाली वर्गणा भाषा के लिये अग्रहण योग्य होती है, और उनमें क्रम से जब अभव्य से अनंतगुण एवं सिद्ध के अनंतवे भाग के परमाणु-प्रदेश की वृद्धि हो तब उत्कृष्ट वर्गणा होती है... यह सभी वर्गणाएं पूर्व कहे गये कारणों से भाषा के लिये और श्वासोच्छ्वास के लिये अग्रहण योग्य हैं...

अब अग्रहण योग्य इस उत्कृष्ट वर्गणा में एक प्रदेश परमाणु का प्रक्षेप हो तब श्वासोच्छ्वास के लिये ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है... अब एक एक प्रदेश-परमाणु की वृद्धि से बढ़ते हुए उत्कृष्ट वर्गणा पर्यंत में अनंत वर्गणा होती हैं और वह उत्कृष्ट वर्गणा जघन्य ग्रहण योग्य वर्गणा के अनंतवे भाग प्रमाण अधिक परमाणुवाली है... अब इसके आगे एक परमाणु की वृद्धि हो तब श्वासोच्छ्वास के लिये भी अग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है, और वे एक एक प्रदेश की वृद्धि से अभव्य से अनंतगुण एवं सिद्ध के अनंतवे भाग के परमाणु की वृद्धि हो तब तक में अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है...

अब इस अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु का प्रक्षेप हो तब मनोद्रव्य के ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा होती है और आगे एक एक प्रदेश की वृद्धि के अनुक्रम से जघन्य वर्गणा के अनंतवा भाग अधिक परमाणुवाली वर्गणा हो तब मनोद्रव्य के ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा बनती है... अब यहां से आगे भी एक एक प्रदेश की वृद्धि के अनुक्रम से अग्रहण योग्य वर्गणाएं भी अभव्य से अनंतगुण एवं सिद्ध से अनंतवे भाग प्रदेश प्रमाण अधिक वाली यह सभी वर्गणाएं जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यंत अग्रहण योग्य है, क्योंकि- यह सभी मनोद्रव्य की अपेक्षा से बहुप्रदेशवाली एवं अति सूक्ष्म हैं अतः मनोद्रव्य के लिये अग्रहण योग्य हैं एवं कार्मण की अपेक्षा से अल्प प्रदेश एवं बादर होने से कार्मण के लिये भी अग्रहण योग्य हैं...

अब आगे एक परमाणु अधिक होने से कार्मण शरीर के लिये ग्रहण योग्य जघन्य वर्गणा बनती है और अधिक एक-दो यावत् जघन्य वर्गणा के अनंतवे भाग प्रमाण परमाणु की वृद्धि हो तब कार्मण शरीर योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है और वे अनंत हैं... अब प्रश्न यहां यह है कि- जघन्य और उत्कृष्ट में अंतर क्या है ? उत्तर- कार्मण योग्य जघन्य वर्गणा के अनंतवे भाग अधिक परमाणुवाली कार्मण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा है, और वह अनंतवा भाग अनंतानंत-परमाणु स्वरूप है, इसीलिये अनंत भेदवाली कार्मण शरीर योग्य वर्गणाएं हैं... और इन कार्मण वर्गणाओं का यहां इस आचारांग सूत्र में प्रयोजन (अधिकार) है, क्योंकि- यहां द्रव्यकर्म की व्याख्या की जा रही है, क्रम से आइ हुई शेष सभी वर्गणाएं शिष्यजनों के आनुषंगिक बोध के लिये कही गई है...

अब आगे भी कार्मण शरीर योग्य उत्कृष्ट वर्गणा में एक परमाणु का प्रक्षेप हो तब जघन्य ध्रुव वर्गणा होती है और अधिक एक-दो यावत् सभी जीवों से अनंतगुण अधिक परमाणु का प्रक्षेप हो तब उत्कृष्ट ध्रुववर्गणा होती है... उसके बाद उत्कृष्ट ध्रुव वर्गणा में एक परमाणु का प्रक्षेप हो तब जघन्य अध्रुव वर्गणा होती है, और अधिक एक-दो यावत् अनंत परमाणु अधिकवाली वर्गणा हो तब उत्कृष्ट अध्रुव वर्गणा होती है... अध्रुव याने कभी कोई वर्गणा हो, और कोई वर्गणा न हो, इस अध्रुव याने अनिश्चितता के कारण से इन्हे अध्रुव वर्गणा कहते हैं, यहां जघन्य से उत्कृष्ट पर्यंत के विकल्प ध्रुव वर्गणा के समान हि है...

यहां से आगे एक-दो आदि प्रदेश परमाणु की वृद्धि से जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यंत अनंत शून्य वर्गणा हैं यह अनंत संख्या भी ध्रुव वर्गणा के समान हि है.. यह वर्गणा इस संसार में कभी भी नहीं होती है, इसीलिये इसे शून्य वर्गणा कहते हैं... सारांश यह है कि- अध्रुव वर्गणा के बाद एक-दो प्रदेश आदि से लेकर अनंत प्रदेश-परमाणु पर्यंत की वृद्धिवाली वर्गणा नहि होती है... यह पहली शून्य वर्गणा है...

अब यहां से आगे एक आदि अनंत प्रदेश-परमाणु की वृद्धि से जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यंत प्रत्येक शरीर वर्गणा होती है, और वे जघन्य वर्गणा से क्षेत्र पत्योपम के असंख्येय भाग के प्रदेशगुण अधिक परमाणुवाली उत्कृष्ट वर्गणा होती है... यहां से आगे एक आदि परमाणु की वृद्धि से जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यंत अनंतवर्गणाएं है, वे द्वितीय शून्य वर्गणा कहलाती है... यहां भी जघन्य वर्गणा से असंख्य लोकाकाश के प्रदेश-गुण अधिक परमाणुवाली वर्गणा उत्कृष्ट कही गई है यह द्वितीय शून्य वर्गणा हुई...

यहां से आगे एक आदि परमाणु की वृद्धि से जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यंत अनंत वर्गणा बादर निगोद शरीर योग्य हैं और वे जघन्य वर्गणा से क्षेत्र पत्योपम के असंख्यातवे भाग प्रदेश गुण अधिक परमाणुवाली वर्गणा बादर निगोदशरीर योग्य उत्कृष्ट वर्गणा कही गई

है... अब यहां से आगे एक आदि परमाणु की वृद्धि से जघन्य से लेकर उत्कृष्ट पर्यंत की अनंतवर्गणाओं को तृतीय शून्य वर्गणा कहते हैं... और उनमें उत्कृष्ट वर्गणा जघन्य वर्गणा से असंख्यगुण अधिक परमाणुवाली हैं... वह असंख्यगुण का स्वरूप इस प्रकार है- अंगुल के असंख्येय भाग में रहे हुए प्रदेश राशि को आवलिका के असंख्येय भाग के समय की संख्या से बार बार कीये गये वर्गमूल का असंख्येय भाग के प्रदेश प्रमाण है... उसके बाद एक आदि प्रदेश की वृद्धिवाली जघन्य वर्गणा से लेकर उत्कृष्ट वर्गणा पर्यंत की अनंत वर्गणाएं चतुर्थ शून्य वर्गणा कहलाती है... यहां जघन्य से उत्कृष्ट वर्गणा में जो अंतर है वह कहते हैं- घनीकृत लोक की असंख्य श्रेणियां, और वे प्रतर के असंख्येय भाग प्रमाण है...

उनसे आगे एक परमाणु की वृद्धि से जघन्य महास्कंध वर्गणा होती है पुनः एक आदि परमाणु की वृद्धि तब तक हो कि- उत्कृष्ट महास्कंध वर्गणा हो... और वे जघन्य वर्गणा से उत्कृष्ट महास्कंध वर्गणा क्षेत्रपत्योपम के असंख्येय गुण अथवा संख्येय गुण अधिक परमाणु से होती है... इस प्रकार संक्षेप से वर्गणाएं कही... विशेष से जानने की इच्छावाले जिज्ञासु "कर्मप्रकृति" ग्रंथ पढ़ें...

वर्गणा का संक्षेप में कोष्टक-

१. औदारिक अग्रहण योग्य	२. औदारिक ग्रहण योग्य
३. औदारिक और वैक्रिय अग्रहण योग्य	४. वैक्रियशरीर ग्रहण योग्य
५. वैक्रिय और आहारक शरीर अग्रहण योग्य	६. आहारकशरीर ग्रहण योग्य
७. आहारक और तैजस शरीर अग्रहण योग्य	८. तैजस शरीर ग्रहण योग्य
९. तैजस और श्वासोच्छ्वास अग्रहण योग्य	१०. श्वासोच्छ्वास ग्रहण योग्य
११. श्वासोच्छ्वास और भाषा अग्रहण योग्य	१२. भाषा ग्रहण योग्य
१३. भाषा और मनोयोग अग्रहण योग्य	१४. मनोयोग ग्रहण योग्य
१५. मनोयोग और कार्मणशरीर अग्रहण योग्य	१६. कार्मणशरीर ग्रहण योग्य
१७. ध्रुव वर्गणा	१८. अध्रुव वर्गणा
१९. प्रथमा शून्य वर्गणा	२०. प्रत्येक शरीर वर्गणा
२१. द्वितीया शून्य वर्गणा	२२. बादर निगोद शरीर वर्गणा
२३. तृतीया शून्य वर्गणा	२४. सूक्ष्म निगोद शरीर वर्गणा
२५. चतुर्थी शून्य वर्गणा	२६. अचित्त महास्कंध वर्गणा

अब प्रयोग-कर्म का स्वरूप कहते हैं... प्रयोग याने वीर्यातरायकर्म के क्षयोपशम से प्रगट हुए वीर्य = पराक्रमवाला आत्मा जो कुछ विशेष प्रयत्न करे उसे प्रयोग कहते हैं... और वह मन-वचन एवं काया के भेद-प्रभेद से पंद्रह (१५) प्रकार से है... इसे योग भी कहते हैं... वे इस प्रकार- मनोयोग के चार भेद... १. सत्यमनोयोग, २. असत्यमनोयोग, ३.

मिश्रमनोयोग और ४. अनुभय याने असत्यामृषा मनोयोग... वचन योग के भी मनोयोग की तरह चार भेद हैं और काययोग के सात भेद हैं... १. औदारिक शरीर, २. औदारिक मिश्र, ३. वैक्रिय, ४. वैक्रियमिश्र, ५. आहारक, ६. आहारकमिश्र, ७. तैजसकार्मणकाययोग...

अब यह चार प्रकार के मनोयोग मनःपर्याप्ति से पर्याप्त ऐसे मनुष्य आदि को होते हैं... वचनयोग बेइन्द्रिय आदि को और औदारिक काययोग मनुष्य एवं तिर्यच जीवों को शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद... और शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पहले औदारिकमिश्र काययोग होता है... तथा केवलज्ञानी को केवलिसमुद्घात में दुसरे छठे और सातवे समय में औदारिकमिश्र काययोग होता है... वैक्रिय काययोग देव, नरक और बादर पर्याप्त वायुकाय को होता है तथा वैक्रिय लब्धिवाले मनुष्य एवं तिर्यच पंचेन्द्रिय को भी वैक्रिय शरीर होता है, और वैक्रिय मिश्रकाययोग देव एवं नारकों को शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पहले तथा अन्य जीवों को वैक्रिय शरीर बनाते समय होता है... आहारक काययोग आहारक लब्धिवाले चौद पूर्वधर साधुको होता है, और आहारक शरीर बनाते समय आहारक मिश्र काययोग होता है... तथा कार्मण काययोग विग्रह (अपांतराल) गति में और केवलीसमुद्घात में तीसरे चौथे एवं पांचवे समयमें होता है...

अब यह पंद्रह (१५) प्रकार के योग में से अपने अपने योग्य योगों से प्रत्येक संसारी जीव नाभि के स्थान में रहे हुए आठ रुचक प्रदेशों को छोड़कर शेष सभी प्रदेशों से उन्ही अवगाहित आकाश प्रदेशों में रहे हुए कार्मण शरीर योग्य कर्मदलिकों को ग्रहण करते हैं... इसे प्रयोग-कर्म कहते हैं... आगमसूत्र में भी कहा है कि- “जब तक यह जीव सयोगी है, अर्थात् स्पंदित होता है तब तक आठ प्रकार के, सात प्रकार के, छह प्रकार के अथवा एक प्रकार के कर्म का बंध करता है... अर्थात् जब तक योग है तब तक कर्मबंध होता रहता है...”

५. **समुदान-कर्म**- “सम् + आ + दा” धातु “अन” प्रत्यय यहां यह शब्द पृषोदरादि गण अंतर्गत होने से आ का उ आदेश होने से समुदान शब्द बना है... समुदान याने प्रयोग कर्म के द्वारा एक स्वरूप से ग्रहण कीये कर्मवर्गणाओं का मूल एवं उत्तर प्रकृति, स्थिति रस तथा प्रदेश स्वरूप बंध के भेद से आत्मा में क्षीर-नीर न्याय से जुडना याने कर्मों का ज्ञानावरणीयादि स्वरूप बंध होना... वे मूल प्रकृति बंध ज्ञानावरणीयादि भेद से (८) आठ प्रकार से है और उत्तर प्रकृति बंध ९७ प्रकार से हैं... वे इस प्रकार-

१. ज्ञानावरणीय के पांच भेद हैं... १. मतिज्ञानावरणीय, २. श्रुतज्ञानावरणीय, ३. अवधिज्ञानावरणीय, ४. मनःपर्यवज्ञानावरणीय, ५. केवलज्ञानावरणीय... इन पांचों में केवलज्ञानावरणीय कर्म सर्वधाति है ओर बाकीके चार कर्म देशधाति है...

२. दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद है- उनमें पांच निद्रा- १. निद्रा, २. निद्रानिद्रा, ३. प्रचला, ४. प्रचलाप्रचला और ५. थीणद्धी... तथा चार दर्शनावरण - १. चक्षुर्दर्शनावरण, २. अचक्षुर्दर्शनावरण, ३. अवधिदर्शनावरण, ४. केवलदर्शनावरण... दर्शन लब्धि की प्राप्ति से चार दर्शन एवं प्राप्त दर्शन लब्धि के उपयोग का घात (विनाश) करनेवाली पांच निद्रा... इन नवमें केवलदर्शनावरण तथा पांच निद्रा सर्वघाति है शेष तीन दर्शनावरण, देशघाति कर्म है...
३. वेदनीय कर्म के दो भेद है साता और असाता...
४. मोहनीय कर्म के दो भेद है, दर्शनमोहनीय एवं चारित्र मोहनीयकर्म- अब दर्शन मोहनीय कर्म बंध की अपेक्षा से एक प्रकार मिथ्यात्व हि है, जब कि- उदय की अपेक्षा से तीन प्रकार है... १. मिथ्यात्वमोहनीय, २. मिश्र मोहनीय, ३. सम्यक्त्व मोहनीय... अब चारित्र मोहनीय कर्म, सोलह कषाय एवं नव नोकषाय भेद से २५ पच्चीस प्रकार से है... इनमें भी मिथ्यात्व एवं (संज्वलन छोडकर) बारह कषाय = १३ कर्म सर्वघाति है, शेष पंद्रह (१५) कर्म देशघाति है...
५. आयुष्य कर्म के नारक आदि भेद से चार प्रकार है...
६. नामकर्म के- गति आदि के भेद से ४२ प्रकार और उत्तर प्रकृति के भेद से ९३ प्रकार है... किंतु यहाँ प्रस्तुत व्याख्या में ४२ प्रकार कहे गये हैं...
- | | | | |
|-----|---------|---|---|
| १. | गति | - | नरकगति आदि चार |
| २. | जाति | - | एकेंद्रिय बेइंद्रिय आदि पांच |
| ३. | शरीर | - | औदारिक आदि पांच |
| ४. | उपांग | - | औदारिक वैक्रिय आहारक अंगोपांग-३ |
| ५. | निर्माण | - | शरीरके अवयवों की रचना-१ |
| ६. | बंधन | - | औदारिक आदि शरीर में औदारिकादि कर्मवर्गणा का एकमेक जुडना... वह पांच एवं पंद्रह प्रकार से है |
| ७. | संघातन | - | बंधन के योग्य औदारिक आदि कर्मवर्गणा की रचना विशेष स्थापना स्वरूप... संघातन पांच प्रकार से है... |
| ८. | संस्थान | - | समचतुरस्र आदि ६ प्रकार... |
| ९. | संहनन | - | वज्रऋषभनाराच आदि ६ संघयण |
| १०. | स्पर्श | - | शीत उष्ण आदि आठ |
| ११. | रस | - | मधुर अम्ल आदि पांच |
| १२. | गंध | - | सुगंध एवं दुर्गंध = २ भेद |

१३.	वर्ण	-	श्वेत - पीत आदि पांच
१४.	आनुपूर्वी	-	नरकानुपूर्वी आदि चार
१५.	विहायोगति	-	शुभ एवं अशुभ भेद से दो प्रकार...
१६.	अगुरुलघु	१७.	उपघात
१८.	पराघात	१९.	आतप
२०.	उद्योत	२१.	श्वासोच्छ्वास
२२.	प्रत्येक	२३.	साधारण
२४.	त्रस	२५.	स्थावर
२६.	शुभ	२७.	अशुभ
२८.	सुभग	२९.	दुर्भग
३०.	सुस्वर	३१.	दुःस्वर
३२.	सूक्ष्म	३३.	बादर
३४.	पर्याप्त	३५.	अपर्याप्त
३६.	स्थिर	३७.	अस्थिर
३८.	आदेय	३९.	अनादेय
४०.	यशःकीर्तिः	४१.	अयशःकीर्ति
४२.	तीर्थकरनामकर्म		

यह ४२ भेद नाम कर्म के हैं, और प्रकारांतर से ९३ भेद भी होते हैं...

७. गोत्रकर्म - उच्चगोत्र एवं नीच गोत्र = २ भेद

८. अंतरायकर्म = १. दानांतराय, २. लाभांतराय, ३. भोगांतराय, ४. उपभोगांतराय, ५. वीर्यांतराय...

इस प्रकार यहां आठ मूल कर्म प्रकृति के ९७ उत्तर प्रकृतिबंध का स्वरूप कहा... और प्रकारांतर से १४८ या १५८ भी होते हैं...

अब आठ कर्मों के बंधकारण कहते हैं...

१. ज्ञानावरणीय कर्म के बंधकारण ६ हैं

१. प्रयत्नीक = ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों के प्रति दुश्मनावट = शत्रुभाव रखना...

२. अंतराय = ज्ञान पढने, समझने में विघ्न करना...

३. उपघात = ज्ञान, ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों का उपघात = विनाश करना...

४. प्रद्वेष = ज्ञान ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों के प्रति द्वेष-भाव रखना

५. निह्व = सूत्र, अर्थ एवं ज्ञान पढानेवाले गुरुजी का अपलाप करना, छुपाना...
 ६. आशातना = ज्ञान ज्ञानी एवं ज्ञान के साधन प्रति बेदरकार रहना, अपमान करना, अशुभ शोचना एवं उचित विनय न करना इत्यादि...
२. दर्शनावरणीय कर्म के बंधकारण ६ है, और वे ज्ञानावरणीय कर्म के बंधकारणों के समान ही है, किंतु मात्र वहां ज्ञान ज्ञानी एवं ज्ञान के साधनों की जगह... दर्शन, दर्शनी एवं दर्शन के साधनों के प्रति प्रत्यनीकता, अंतराय, उपघात, प्रद्वेष, निह्व और आशातना करने से जीव दर्शनावरणीय कर्मबंध करता है...
३. वेदनीय कर्म में साता वेदनीयकर्म के बंधकारण ६ है...
१. भूतानुकंपा = भूत याने प्राणी-जीव... दुःखी जीवों के प्रति करुणा-दयाभाव...
 २. व्रत = पांच महाव्रत या १२ अणुव्रत का यथोचित आचरण...
 ३. योग = मन वचन काया के शुभ योग...
 ४. क्षमा = अपराधी को माफ करना, क्षमा करना...
 ५. दान = अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओं का दान...
 ६. गुरुभक्ति = मात-पिता आदि वृद्ध गुरुजनों की सेवा-भक्ति... इत्यादि...

असाता वेदनीय कर्म के बंधकारण भी ६ छह है... और वे साता वेदनीय के बंध के कारणों से विपरीत हैं...

१. जीवों को दुःख देना...
 २. व्रत-नियम न होना...
 ३. मन वचन काया का अशुभ योग...
 ४. अपराधी को क्षमा न करना... रोष-द्वेष रखना...
 ५. अन्न, वस्त्र आदि का दान न देना...
 ६. मात-पिता आदि वृद्ध गुरुजनों की सेवा-भक्ति न करना...
४. मोहनीय कर्म में दर्शन मोहनीय कर्म के बंधकारण आठ है
१. अरिहंत परमात्मा के प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...
 २. सिद्ध परमात्मा के प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...
 ३. चैत्य-जिनालय के प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...
 ४. तपश्चर्या के प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...
 ५. श्रुतज्ञान के प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...
 ६. गुरुजनों के प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...

७. साधु-संतो के प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...
८. श्रमण प्रधान चतुर्विध संघके प्रति शत्रुभाव = द्वेष करना...

इस प्रकार दर्शन मोहनीय कर्म बांधकर जीव अनंतसंसारी होता है अर्थात् अनंत जन्म मरण करता है...

चारित्र मोहनीय कर्म के बंधकारण चार (४) है...

१. तीव्र कषाय = अति उग्र क्रोधादि कषाय करना...
 २. अतिशय मोह = पुद्गल पदार्थों के प्रति अतिशय ममता = मोह करना...
 ३. राग-द्वेष युक्त = अतिशय राग एवं द्वेष के परिणाम रखना...
 ४. चारित्रगुणघात = महाव्रत एवं अणुव्रतो का खंडन करना, व्रत-भंग करना इत्यादि...
५. आयुष्य-कर्म- १. नरकगति आयुष्यकर्म बंध के सात कारण है...
१. मिथ्यादृष्टि = विपरीत मान्यता...
 २. महाआरंभ = बहोत बडा आरंभ-समारंभ करना...
 ३. महापरिग्रह = बहोत बडा परिग्रह रखना...
 ४. तीव्र लोभ = अतिशय तीव्र लोभ रखना...
 ५. निःशील = सदाचार का अभाव...
 ६. पापमति = पापाचरण की बुद्धिवाला
 ७. रौद्रपरिणाम = अति उग्र = रौद्र परिणामवाला...

२. तिर्यच आयुष्यकर्म बंध के छह (६) कारण हैं...

१. उन्मार्ग-देशना = मोक्षमार्ग से विपरीत कथन...
२. मार्ग-नाश = मोक्षमार्ग का विनाश करना...
३. गूढ हृदय = जो हृदय-याने सच्चाइ गुप्त रखे...
४. मायावी = माया-कपट करनेवाला...
५. शठ = लुच्चा - ठग पुरुष...
६. सशल्य = शल्यवाला...

इन कारणो से जीव तिर्यच का आयुष्य बांधता है...

३. मनुष्य-आयुष्य के बंधकारण चार हैं...

१. प्रकृति से अल्पकषाय = सहज भाव से हि अल्प कषाय याने मंद

कषायवाला...

२. दानरत = अन्न, वस्त्र आदि का दान देने में लीन, तत्पर...
३. शीलसंयमहीन = शील एवं संयम से रहित...
४. मध्यमगुण = न्यायसंपन्नता आदि मार्गानुसारी के पैतीस गुणवाला...
४. देव-आयुष्य कर्म के बंधकारण पांच हैं...
१. अणुव्रत = श्रावकों के बारह व्रत धारण करना...
२. महाव्रत = साधु के पांच महाव्रत का पालन...
३. बालतप = अज्ञानता के साथ तामली तापस की तरह काया को कष्ट देना...
४. अकाम निर्जरा = परवश होकर दुःख सहन करना...
५. संम्यक्दृष्टि = अच्छी-सत्य दृष्टिवाला...
६. नामकर्म के दो भेद, अशुभनाम एवं शुभनाम...
 १. अशुभनाम कर्म के बंधकारण पांच है...
 १. मन से वक्र = उलटा सुलटा बिचानेवाला...
 २. वचन से वक्र = उलट-पुलट बोलनेवाला...
 ३. काया से वक्र = उलटा टेढ़ा कार्य करना...
 ४. मायावी = माया कपट करनेवाला
 ५. गारव-प्रतिबद्ध = रस गारव, ऋद्धि गारव एवं सातागारव इन तीन गारव में आसक्त...
 २. शुभनाम कर्म के बंधकारण भी पांच है और वे अशुभनाम के बंधकारणों से विपरीत हैं... याने १. मन की सरलता, २. वचन की सरलता, ३. काया की सरलता, ४. कपट न करना, ५. तीन गारव न रखना...
७. उच्चगोत्र कर्म के बंधकारण चार हैं...
 १. अरिहंत आदि का भक्त = अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, स्थविर, उपाध्याय, साधु आदि का सेवक...
 २. सूत्ररुचि = आगम सूत्र के प्रति रुचि-इच्छा हो...
 ३. अल्पमान = नम्र-विनयी किंतु स्वाभिमानी...
 ४. गुणप्रेक्षी = गुणों को देखनेवाला... गुणानुरागी...

इन चार कारणों से उच्च गोत्र का बंध होता है... और नीचगोत्र का बंध इन चार कारणों से विपरीत चार कारणों से होता है... १. अरिहंत आदि की सेवा नहि करनेवाला, २. सूत्र के प्रति रुचि नहि रखनेवाला, ३. अभिमानी, ४. दोषों को देखनेवाला...

८. अंतराय कर्म के बंधकारण तीन है...
१. प्राणिवध आदि पाप कार्यो में आसक्त...
 २. जिनपूजा-भक्ति में विघ्न = अवरोध करनेवाला...
 ३. मोक्षमार्ग में विघ्न याने अंतराय करनेवाला...

इन अंतराय कर्म के कारण से जीव इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं कर सकता है...

अब इन आठों कर्मों की स्थितिबंध का स्वरूप कहते हैं... वहां मूल एवं उत्तर प्रकृतिओं का उत्कृष्ट स्थितिबंध एवं जघन्य स्थितिबंध का स्वरूप कहेंगे...

<u>मूल कर्म</u>	<u>उत्कृष्ट स्थिति</u>	<u>जघन्य स्थिति</u>
१ ज्ञानावरणीय	३० कोडाकोडी सागर	अंतर्मुहूर्त्त...
२ दर्शनावरणीय	३० कोडाकोडी सागर	अंतर्मुहूर्त्त...
३ वेदनीय	३० कोडाकोडी सागर	१२ मुहूर्त्त
४ मोहनीय	७० कोडाकोडी सागर	अंतर्मुहूर्त्त
५ आयुष्य	३३ सागरोपम	"
६ नाम	२० कोडाकोडी सागर	८ मुहूर्त्त
७ गोत्र	२० कोडाकोडी सागर	८ मुहूर्त्त
८ अंतराय	३३ कोडाकोडी सागर	अंतर्मुहूर्त्त...

जिस कर्म की बंधस्थिति जितने कोडाकोडी सागरोपम हो उतने ही सो वर्ष उन कर्मों की अबाधा स्थिति है... जैसे कि- ज्ञानावरणीय कर्म की बंधस्थिति ३० कोडाकोडी सागरोपम है तो उसकी अबाधाकाल ३००० वर्ष है... अबाधाकाल पूर्ण होने के बाद उस कर्म के उदय में जीव को कर्म (प्रदेश एवं विपाक) का अनुभव होता है... इसी प्रकार सभी कर्मों में स्वयं ही समझ लें... किंतु आयुष्यकर्म में उत्कृष्ट अबाधाकाल पूर्वकोटि वर्ष का तीसरा भाग है, और जघन्य अबाधा सर्वत्र अंतर्मुहूर्त्त ही है, क्योंकि- अंतर्मुहूर्त्त के असंख्य भेद हैं... आयुष्य कर्म जघन्य स्थितिबंध क्षुल्लक भव है... अर्थात् एक श्वासोच्छ्वास का सत्तरहवा भाग...

अब उत्तर कर्म प्रकृतिओं का उत्कृष्ट एवं जघन्य स्थितिबंध कहते हैं... उनमें प्रथम उत्कृष्ट स्थितिबंध कहते हैं... मति आदि पांच ज्ञानावरणीय... निद्रा आदि नव दर्शनावरणीय, असाता वेदनीय, दान आदि पांच अंतराय... इन २० उत्तर प्रकृतिओं का उत्कृष्ट स्थितिबंध ३० कोडाकोडी सागरोपम हैं... तथा स्त्रीवेद, साता वेदनीय, मनुष्यगति एवं मनुष्य आनुपूर्वी इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति १५ कोडाकोडी सागर है... मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोडाकोडी सागरोपम तथा सोलह कषाय की ४० कोडाकोडी, नपुंसकवेद, अरति,

शोक, भय, जुगुप्सा, नरक एवं तिर्यच गति, एकेंद्रिय एवं पंचेंद्रिय जाति, औदारिक एवं वैक्रिय शरीर तथा अंगोपांग द्वय... तैजस, कार्मण, हुंडक संस्थान, सेवार्त्त (छेवटुं) संघयण, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, नरक एवं तिर्यच आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, अशुभ विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण एवं नीचगोत्र इन ४३ उत्तर कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागरोपम...

तथा पुरुषवेद, हास्य, रति, देवगति एवं देव आनुपूर्वी दोनों, समचतुरस्र संस्थान, ब्रजऋषभनाराच संघयण, शुभ विहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, एवं उच्चगोत्र स्वरूप पंद्रह (१५) उत्तर कर्म प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति १० कोडाकोडी, तथा न्यग्रोध संस्थान तथा ऋषभ नाराच संघयण की १२ कोडाकोडी, तथा सादिसंस्थान, नाराच संघयण की १४ कोडाकोडी, तथा कुब्जसंस्थान, अर्धनाराचसंघयण की १६ कोडाकोडी, तथा वामन संस्थान, कीलिकासंघयण तथा विकलेंद्रिय याने बेइंद्रिय तेइंद्रिय और चउरिंद्रियजाति... सूक्ष्म, अपर्याप्त, और साधारण... इन आठ उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति १८ कोडाकोडी सागर...

आहारक शरीर और अंगोपांग तथा तीर्थकर नामकर्म, इन तीन कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति अंतःकोडाकोडी सागर एवं अबाधाकाल अंतर्मुहूर्त काल है... देव एवं नरक आयुष्य की स्थिति ३३ सागरोपम और मनुष्य तथा तिर्यच आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्योपम और अबाधाकाल पूर्वक्रोडवर्ष का तीसरा भाग... इस प्रकार यहां उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थितिबंध कही,

अब उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थितिबंध कहते हैं... मति आदि पांच ज्ञानावरण, चक्षु आदि चार दर्शनावरण, संज्वलन लोभ तथा दानादि पांच अंतरायकर्म, इन पंद्रह (१५) कर्मों की जघन्य स्थितिबंध अंतर्मुहूर्त है और अबाधाकाल भी अंतर्मुहूर्त है... पांच निद्रा, असाता वेदनीय, इन छह (६) कर्मों की जघन्य स्थितिबंध- पल्योपम के असंख्येय भाग न्यून ३/७ सागरोपम... साता वेदनीय के बारह (१२) मुहूर्त एवं अबाधा अंतर्मुहूर्त... मिथ्यात्व मोहनीय की जघन्य स्थिति पल्योपम के संख्येयभाग न्यून एक सागरोपम... अनंतानुबंधि अप्रत्याख्यानीय एवं प्रत्याख्यानीय क्रोधादि बारह (१२) कषाय की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्येय भाग न्यून ४/७ सागरोपम... तथा संज्वलन क्रोध की दो महिने, संज्वलन मान की एक महिना, संज्वलन माया की आधा महिना (एक पक्ष) तथा पुरुषवेद की आठ वर्ष, और इन सभी कर्मों की अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्तकाल है...

अब शेष नोकषाय (पुरुषवेद के बिना आठ) तथा मनुष्य एवं तिर्यच गति, पंचेंद्रिय जाति, औदारिक शरीर एवं अंगोपांग, तैजस, कार्मणशरीर, ६ संस्थान तथा ६ संघयण, वर्ण,

गंध, रस, स्पर्श, तिर्यच एवं मनुष्य आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभ एवं अशुभ विहायोगति, यशःकीर्ति के बिना त्रस दशक याने त्रसादि नव प्रकृतियां, स्थावर दशक, निर्माण, नीचगोत्र, देवगति एवं आनुपूर्वी, नरकगति एवं आनुपूर्वी, वैक्रिय शरीर एवं अंगोपांग स्वरूप अडसठ (६८) उत्तर प्रकृतियों की जघन्य स्थितिबंध पत्योपम के असंख्येय भाग न्यून २/७ सागरोपम तथा अबाधाकाल अंतर्मुहूर्त है...

आहारक शरीर एवं अंगोपांग तथा तीर्थकर नामकर्म की जघन्य स्थितिबंध अंतःकोडाकोडी सागरोपम है, और अबाधाकाल अंतर्मुहूर्त है... वैक्रिय षट्क याने नरकत्रिक देवत्रिक तथा वैक्रिय द्विक इन आठ कर्मों की जघन्य स्थिति भी पत्योपम के असंख्येयभाग न्यून २/७ सागरोपम है तथा अबाधाकाल अंतर्मुहूर्त है... यहां प्रश्न यह होता है कि- इन तीनों कर्मों की उत्कृष्ट स्थितिबंध भी अंतःकोडाकोडी सागरोपम कही है, तो अब इन उत्कृष्ट एवं जघन्य में क्या अंतर है ? उत्तर- उत्कृष्ट अंतः कोडाकोडी से जघन्य अंतः कोडाकोडी संख्येयगुण हीन है...

अब यशःकीर्ति एवं उच्चगोत्र की जघन्य स्थितिबंध आठ मुहूर्त हैं और अबाधाकाल अंतर्मुहूर्तकाल है... देव तथा नरक के आयुष्य की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष है और अबाधाकाल अंतर्मुहूर्त है... तिर्यच एवं मनुष्य के आयुष्य की जघन्य स्थिति क्षुल्लक भव (२५६ आवलिका) है, और अबाधाकाल अंतर्मुहूर्त है... पांच बंधन एवं पांच संघातन तो औदारिकादि पांच शरीर के सहचारी है अतः उनकी जघन्य एवं उत्कृष्ट स्थिति बंध औदारिकादि शरीर के समान ही जानीयेगा...

यहां यह स्थितिबंध का स्वरूप पूर्ण हुआ...

अब अनुभाव = रसबंध कहते हैं... वह इस प्रकार है... शुभ एवं अशुभ योग से ग्रहण कीये हुए, प्रकृति स्थिति एवं प्रदेश स्वरूप शुभ एवं अशुभ कर्म प्रकृतियों का तीव्र या मंद अनुभाव = रस से जो अनुभव करना उसे अनुभाव = रसबंध कहते हैं... और वह रसबंध एकस्थानीय दो स्थानीय तीन स्थानीय और चार स्थानीय भेद से है... उनमें अशुभ कर्म प्रकृतिओं का कोशातकी = पटोल नाम की वेल-लता वनस्पति अथवा अघाडो नाम की वनस्पति के रस समान जो रस वह एकस्थानीय रस है.. उकालने के बाद आधा रहे तब वह दो स्थानीय रस है... और १/३ (तीसरा भाग) रहे तब तीन स्थानीय रस है... तथा चौथा भाग (१/४) रहे तब वह चार स्थानीय रस कहलाता है... इस प्रकार क्रम से तीव्र तीव्रतर एवं तीव्रतम रस जानीयेगा... और मंद अनुभाव = रस इस प्रकार है- कोशातकी के रस में एकगुण, द्विगुण और चार गुण जल मीलाने से होनेवाले स्वाद के समान जानीयेगा... तथा शुभ कर्म प्रकृतियों का रस क्षीर याने दुध अथवा इक्षु = शेलडी के रस के दृष्टांत से पूर्व की

तरह जानीयेगा... यद्यपि यहां कोशातकी और इक्षुरस आदि में जल के प्रक्षेप से या उबालने से अनंत-अनंत भेद होते हैं... तो भी संक्षेप से चार प्रकार कहे गये हैं...

इन कर्मप्रकृतियों में चार आयुष्य कर्म भवविपाकी है, चार आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी है, शरीर, संस्थान, अंगोपांग, संघातन, संहनन, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उद्योत, आतप, निर्माण, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ एवं अशुभ स्वरूप कर्म प्रकृतियां पुद्गलविपाकी है, तथा शेष ज्ञानावरणीयादि कर्म प्रकृतियां जीव विपाकी है... इस प्रकार यहां अनुभाव = रसबंध पूर्ण हुआ...

अब प्रदेशबंध का स्वरूप कहते हैं... और वे एकविध आदि अपेक्षावाला है... उनमें जब एकविध कर्मबंध होता है तब योग के कारण से एक समय स्थितिवाले कर्मपुद्गल सातावेदनीय स्वरूप से परिणाम पाते हैं... तथा षड्विधबंधक को आयुष्य एवं मोहनीय को छोड़कर शेष छह (६) कर्मबंध होते हैं... और सप्तविधबंधक को आयुष्य के बिना सात प्रकार के कर्मों का बंध होता है, और अष्टविधबंधक को आठों कर्मों का बंध होता है... उनमें प्रथम समय में ग्रहण कीये हुए कर्म पुद्गलों के समुदान से द्वितीयादि समयों में बहु एवं बहुतर प्रदेश रूप से ग्रहण होता है... और उस क्रम से व्यवस्था-विभाग करते हैं कि- उनमें आयुष्य में थोड़े पुद्गल, उससे विशेषाधिक पुद्गल नामकर्म एवं गोत्रकर्म में, किंतु परस्पर तुल्य... और उससे भी विशेषाधिक कर्म पुद्गल ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, और अंतरायकर्म में, किंतु यहां भी परस्पर तुल्य... और उनसे भी विशेषाधिक मोहनीय कर्म में...

प्रश्न- यहां पंचमी विभक्ति का प्रयोग क्यों किया है ? षष्ठी या सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिये था...

उत्तर- जहां विभाग बताना हो वहां षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति होती है, किंतु जहां अवधि बताना हो वहां पंचमी विभक्ति का ही प्रयोग उचित है...

अब आगे कहते हैं कि- मोहनीयकर्म से विशेषाधिक अर्थात् सर्वाधिक कर्म पुद्गल वेदनीय कर्म में होते हैं... इस प्रकार यहां प्रदेशबंध का स्वरूप पूर्ण हुआ और साथ साथ समुदानकर्म का स्वरूप भी पूर्ण हुआ...

अब ईर्यापथिक कर्म कहते हैं, ईर्या याने गति, पंथा याने मार्ग = ईर्यापथ याने गति का मार्ग... उसमें जो कर्म हो उसे ईर्यापथिक कर्म कहते हैं... जिस कारण से ईर्या होती वह ईर्या... इस व्युत्पत्ति के कारण से खड़े रहे हुए जीव को भी ईर्यापथिक कर्म होता है... उपशांतमोह, क्षीणमोह, और सयोगिकेवलीओं को यह ईर्यापथिक कर्म होता है... सयोगिकेवली परमात्मा स्थिर रहे हुए हो तो भी गात्र = शरीर में सूक्ष्म संचार होता है...

आगम सूत्र में कहा भी है कि- हे भगवन् ! इस प्रकार अतिसूक्ष्म गात्र = शरीर के संचार स्वरूप योग से केवली को जो कर्मबंध होता है उसे ईर्यापथिक कर्म कहते हैं और वह दो समय की स्थितिवाला होता है... एक समय में बंध होता है और दुसरे समय में वेदन, और तीसरे समय में निर्जरा... तो यह ऐसा कैसे ? उत्तर- क्योंकि- प्रकृतिसे हि इस सातावेदनीय कर्मबंध में कषाय न होने के कारण से स्थिति का अभाव हि है, इसीलिये बंधन में आया हुआ वह कर्म तुरंत निर्जरित (विनष्ट) होता है... और अनुभाव = रस की अपेक्षा से तो यह सातावेदनीयकर्म अनुत्तर विमान के देवों से भी अधिक साता-सुखवाले हैं और प्रदेश से स्थूल, रुक्ष, शुक्ल आदि बहुप्रदेश स्वरूप है... कहा भी है कि- स्थिति का अभाव होने से अल्प स्थितिवाला, परिणाम से बादर, और अनुभाव = रस से मृदु... बहुप्रदेशों से बहु और स्पर्श से रूक्ष... वर्ण से शुक्ल = श्वेत और लेप से मंद... स्थूल चूर्णवाली मुट्टी भीत-दिवार पर फेंकने से होनेवाले लेप की तरह एक समय में हि सभी कर्मों का अपगम = विनाश होने से महाव्ययवाले और अनुत्तर विमान के देवों के सुख से भी अधिक साता-सुखवाले इस सातावेदनीय कर्म का बंध ११-१२-१३ गुणस्थानवाले यथाख्यात चारित्रवालों को हि होता है... इस प्रकार ईर्यापथिक कर्म का स्वरूप पूर्ण हुआ...

अब आधाकर्म का स्वरूप कहते हैं... जिस साधु को निमित्त स्वरूप आधार लेकर पूर्व कहे गये आठों प्रकार के कर्मों का बंध होता है वह आधाकर्म... और वह आधाकर्म शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध आदि स्वरूप है... वह इस प्रकार- शब्दादि कामगुण-विषयों में आसक्त, विषयसुख को चाहनेवाला, मोह के कारण से विनष्ट शुभ चित्तवाला साधु, परमार्थ से शब्दादि में सुख न होते हुए भी सुख का आरोप करता है... अन्यत्र कहा भी है कि- दुःख स्वरूप शब्दादि विषयों में सुख माननेवाला तथा सुख के कारण ऐसे व्रत-नियम आदि में दुःख माननेवाला अज्ञानी जीव दर्पण में विपरीत प्रतिबिंबित हुए वर्ण पद एवं पंक्तियां की तरह अन्यरूपता में समानता की भ्रान्ति से भ्रमित होता है... यहां सारांश यह है कि- कर्मबंध के कारण स्वरूप शुभ एवं अशुभ शब्द आदि विषय हि आधाकर्म है...

अब तपःकर्म का स्वरूप कहते हैं... वह इस प्रकार- बद्ध, स्पृष्ट, निधत्त एवं निकाचित स्वरूपवाले इन आठों कर्मों के निर्जरा के कारण स्वरूप छह (६) बाह्य एवं छह (६) अभ्यंतर भेद से बारह (१२) प्रकार का तपःकर्म है...

कृतिकर्म = इन आठों कर्मों को आत्मा में से दूर करनेवाला, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय आदि को नमन स्वरूप यह कृतिकर्म है...

भावकर्म = अबाधाकाल पूर्ण होने के बाद उदीरणा-करण के द्वारा उदय में आये हुए क्रम पुद्गलों को प्रदेश एवं विपाक के द्वारा भव, क्षेत्र, पुद्गल एवं जीव में अनुभाव देनेवाले कर्म को भावकर्म कहते हैं...

इस प्रकार नाम स्थापना आदि निक्षेप से कर्म के दश प्रकार कहे हैं, यहां इस आचारांग सूत्र में समुदानकर्म के ग्रहण से आठ प्रकार के कर्मों का अधिकार है...

इस प्रकार सूत्रानुगम से सूत्र का उच्चारण करने पर, निक्षेप निर्युक्ति-अनुगम से एक एक पद का निक्षेप करने पर, और नाम आदि निक्षेपों की व्याख्या पूर्ण होने के बाद अब सूत्र का विवरण करते हैं...

इति द्वितीयाध्यने उपक्रम एवं निक्षेप...



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - २ उद्देशक - १

ॐ स्वजनपरिज्ञा ॐ

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ६३ ॥ १-२-१-१

जे गुणे से मूलद्वारे, जे मूलद्वारे से गुणे। इति से गुणद्वी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते - माया मे, पिया मे, धुया मे, ण्हुसा मे, सहि - सयण - संगंथ संथुआ मे, विविक्तुवगरण - परिवट्टण - भोयणच्छायणं मे, इच्चत्थं गट्टिए लोए अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकाल समुद्दाई संजोगद्वी अट्टालोभी आलुंप्पे सहसाकारे विणिविट्टचित्ते (चिट्ठे), एत्थ सत्थे पुणो पुणो, अप्पं च खलु चाउयं इहमेगेसिं माणवाणं तं जहा ॥

II संस्कृत-छाया :

यः गुणः सः मूलस्थानम्, यः मूलस्थानं सः गुणः। इति सः गुणार्थी महता परितापेन पुनः पुनः वसेत् प्रमत्तः, माता मम, पिता मम, दृहिता मम, स्नुषा मम, सखि-स्वजनसङ्ग्रन्थ-संस्तुताः मम, विविक्त-उपकरण-परिवर्त्तन-भोजन-आच्छादनं मम, इत्यर्थं गृह्यः लोकः अहः च रात्रिं च परितप्यमानः कालाकाल-संमुत्थायी संयोगार्थी अर्थालोभी आलुम्पः सहसाकारः विनिविष्टचित्तः (चेष्टः), एतस्मिन् शस्त्रं पुनः पुनः, अल्पं च खलु आयुष्कं, इह एकेषां मानवानां, तद्-यथा ॥६३॥

III सूत्रार्थ :

जो गुण है वह मूलस्थान है, और जो मूलस्थान है वह गुण है... इस प्रकार वह गुणार्थी प्रमत्तः साधु बहोत परिताप से बार बार संसार में निवास करता है... मेरी मां, मेरे पिताजी, मेरी पुत्री, मेरी पुत्रवधू, मेरे मित्र, स्वजन, परिचितलोग हैं... अच्छे उपकरण, परिवर्त्तन, भोजन, अच्छादन (वस्त्र) आदि मेरे है... इत्यादि में आसक्त लोक दिन और रात परिताप पाता हुआ, काल और अकाल में उठनेवाला संयोगार्थी अर्थलोभी आलुम्पक, सहसाकारी विनष्ट चित्तवाला... इन मात-पितादि के लिये पृथ्वीकायादि के शस्त्रारंभ में प्रवृत्त होता है... किंतु यहां कितनेक मनुष्यों का आयुष्य अल्प होता है... वह इस प्रकार...

IV टीका-अनुवाद :

यहां पूर्व के सूत्रों के साथ इस सूत्र का परस्पर यह संबंध है कि- जिस मुनि ने यह

गुण एवं मूल आदि को जाना है वह हि परिज्ञातकर्मा मुनि है... और यह बात वह मुनि, तीर्थकर के उपदेश से या आचार्य आदि से सुनकर जानता है... यह बात पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामीजी अपने विनीत शिष्य जंबूस्वामीजी को कहते हैं कि- श्रमण परमात्मा महावीर प्रभु से सुनकर मैं तुम्हें कहता हूँ... इस प्रकार यहां पूर्व के सूत्रों के साथ यहां इस सूत्र में संबंध है...

जो शब्द रूप रस गंध स्पर्श आदि गुण है, वह हि नारक-तिर्थच-मनुष्य एवं देवगति स्वरूप संसार के मूल कारण कषायों के स्थान है... (स्थान = जिस में रहा जाय वह स्थान) = (गुण = जिससे द्रव्य में विशेषता हो वह गुण...) क्योंकि- शुभ या अशुभ शब्दादि विषयों की प्राप्ति में जीव को कषाय का उदय होता है, और उन कषायों के उदय से जीव को संसार में परिभ्रमणा होती है... अथवा- मूल याने कारण... और वह आठ प्रकार के कर्म है, और उन कर्मों का आश्रय कामगुण-विषय है...

अथवा- मूल याने मोहनीय कर्म अथवा कामविकार, और उनका स्थान शब्दादि विषयगुण है... अथवा- मूल याने शब्दादि विषयगुण, उनका स्थान अर्थात् इष्ट एवं अनिष्ट विषयगुणभेद से रहा हुआ गुण स्वरूप संसार, अथवा शब्दादि के उपयोग करनेवाला आत्मा हि गुण है... अथवा- मूल याने संसार उसके स्थान शब्दादि है, अथवा कषाय है... शब्दादि गुण है, अथवा कषाय में परिणाम पाया हुआ आत्मा... अथवा शब्दादि-कषाय में परिणत हुआ आत्मा हि संसार का मूल है और उसका स्थान शब्दादि है, और गुण भी वह हि है... इस प्रकार सर्व प्रकार से जो गुण है वह हि मूलस्थान है...

प्रश्न- वर्तन = प्रवृत्ति याने क्रियापद का तो सूत्र में उल्लेख हि नहीं है, तो यहां क्रियापद का ग्रहण क्यों करते हो ?

उत्तर- जहां कोइ विशेष क्रिया न कही हो वहां सामान्य क्रिया अस्ति, भवति, विद्यते, वर्तते, इत्यादि ग्रहण करके वाक्य की समाप्ति की जाती है... ऐसी बात अन्य स्थानों में भी जानीयेगा... अथवा मूल याने प्रथम अथवा प्रधान-मुख्य और स्थान याने कारण... मूल ऐसा जो कारण (कर्मधारय-समास) अर्थात् जो शब्दादि गुण है वह हि संसार का प्रथम अथवा मुख्य कारण है...

अब इन दोनों गुण एवं मूलस्थान में नियम्य और नियामक भाव बताते हुए, और उन से प्राप्त विषय-कषायों का बीजांकुर न्याय से परस्पर कार्यकारण भाव सूत्र से हि कहते हैं... संसार के मूल अथवा कर्म के मूल कषायों के स्थान शब्दादि गुण है... अथवा कषायों के मूल शब्द आदि का स्थान कर्म है, अथवा संसार है... उन स्वभाव की प्राप्ति से गुण भी स्थान हि है... अथवा शब्दादिकषाय के परिणाम मूलक संसार का अथवा

कर्म का स्थान मोहनीय कर्म है अथवा शब्दादि कषाय से परिणत आत्मा है, उस गुण की प्राप्ति से गुण भी वह आत्मा हि है... अथवा संसार स्वरूप कषाय के मूल आत्मा का स्थान विषयों का अनुराग है... और वह शब्दादि विषय स्वरूप होने से विषय हि गुण है...

यहां विषय के ग्रहण से विषयी का भी ग्रहण होता है... जो गुण में या गुणों में होता है वह मूलस्थान या मूलस्थानों में होता है... और जो जीव मूलस्थानादि में रहता है वह हि गुणादि में रहता है... जो जंतु पूर्व वर्णन किये गये स्वरूपवाले शब्दादि गुण में रहता है वह हि संसार के मूल कषायादि स्थानों में रहता है... यह बात अन्य सूत्र की अपेक्षा से विपरीत रूप से पूर्व की तरह स्वयं समझ लें... क्योंकि- सूत्र अनंत गम एवं पर्यायवाला होता है... जो गुण है वह हि मूल भी है और स्थान भी है, और जो मूल है वह हि गुण है और स्थान भी है और जो स्थान है वह हि गुण है, और मूल भी वह हि है... इत्यादि अन्य विकल्पों में भी स्वयं समझ लें... विषय के निर्देश में विषयी का भी ग्रहण होता है... जो गुण में होता है वह मूल में और स्थान में होता है... इसी प्रकार सर्वत्र याने सभी जगह देखीयेगा...

यह जिनशासन सर्वज्ञ प्रणीत है, अतः सूत्र के अनंत अर्थ होते हैं... वह इस प्रकार- मूल यहां कषायों को कहा है और वे कषाय क्रोधादि भेद से चार है, और वे क्रोध आदि भी अनंतानुबंधि आदि भेद से चार चार प्रकार के हैं... और अनंतानुबंधि आदि क्रोध आदि के बंध के अध्यवसाय स्थान, असंख्य लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण असंख्य है और उनके पर्याय अनंत है... अतः उन सभी के स्थान और गुण के निरूपण = कथन के द्वारा हि सूत्र अनंत अर्थवाला होता है... अतः छद्मस्थ व्यक्ति संपूर्ण आयुष्य-जीवन में भी विषय-अधिकार न होने के कारण से अथवा अनंत-अर्थ होने के कारण से एक सूत्र का संपूर्ण अर्थ कह नहि सकता... तो भी यहां कुछ दिग्-दर्शन किया है... इस प्रकार इस कही गइ पद्धति के द्वारा कुशाग्र बुद्धि से गुण, मूल और स्थान का परस्पर कार्य-कारणभाव की संयोजना स्वयं करें...

इस प्रकार जो गुण है वह हि मूलस्थान है और जो मूलस्थान है वह हि गुण है... ऐसा सूत्र में कहा है... तो अब प्रश्न यह होता है कि- इसका तात्पर्य क्या है ? उत्तर- इसका तात्पर्य यह है कि- शब्दादि गुणों में परिणत आत्मा हि कषाय स्वरूप मूलस्थान में रहता है... सभी संसारी जीव गुणार्थी है अर्थात् शब्दादि गुण के अनुरागी हैं, शब्दादि गुण के प्रयोजनवाले हैं... अब वे शब्दादि गुण प्राप्त न होने से अथवा प्राप्त शब्दादि गुणों के नाश से आकांक्षा = चाहना और शोक से वह प्राणी अपरिमित शारीरिक एवं मानसिक परिताप = संताप-से पराभव पाता हुआ बार बार उन शब्दादि स्थानों में रहता है, अथवा तो इस जगत् के विभिन्न स्थानों में जन्म लेता रहता है...

तथा वह प्राणी प्रमादी है... प्रमाद वास्तव में राग एवं द्वेष स्वरूप है, और द्वेष भी राग के बिना नहि हो सकता, और राग भी अनादि भव के अभ्यास से जन्म से लेकर मात-पितादि संबंधित होता है... उनमें माता संबंधि राग संसार के स्वभाव से उपकार करने के कारण से होता है, और राग होने पर, मेरी मां को भुख-तरस आदि पीडा न हो, इस समझ से वह जीव जीवों की हिंसा स्वरूप कृषि-व्यापार-सेवा आदि क्रियाएं करता है... अथवा तो उस क्रिया में विरोध-अंतराय करनेवाले के उपर द्वेष करता है... या तो उस कृषि आदि क्रिया में सफलता प्राप्त न होने पर वह प्राणी द्वेष करता है... वह इस प्रकार- अनंतवीर्य राजा में आसक्त मां रेणुका के प्रति परशुराम को द्वेष हुआ... इसी प्रकार- यह मेरे पिताजी हैं... यहां भी पिता के कारण से राग और द्वेष होता है... जैसे कि- परशुराम... पिता के उपर राग होने के कारण से, उनके वध करनेवालों के उपर द्वेष होने से परशुराम ने पृथ्वी के क्षत्रियों का सात बार विनाश किया... सुभूम चक्रवर्ती ने भी इक्कीस (२१) बार ब्राह्मणों का विनाश किया...

यह जीव अपनी बहिन (भगिनी) के कारण से भी क्लेश-कष्ट का अनुभव करता है... तथा पत्नी के कारण से भी राग और द्वेष होता है... वह इस प्रकार- अपनी बहिन और जीजाजी आदि से अवज्ञा पाइ हुई पत्नी की प्रेरणा से चाणक्य नंद राजा के पास धन के लिये गया, किंतु वहां नंदराजा से अपमानित चाणक्य ने कोप से पुरे नंद-कुल का विनाश किया... तथा "मेरे पुत्र जीवित नहि रहते हैं" ऐसा सोचकर जीववध के आरंभ में प्रवृत्त होते हैं... इसी प्रकार "मेरी पुत्री दुःखी है" ऐसा सोचकर राग-द्वेष के कारण से विनष्ट चित्तवाला तथा परमार्थ को नहि जाननेवाला जीव ऐसा कुछ पाप करता है, कि- जिस से इस जन्म में एवं जन्मांतर में अनेक संकट-दुःखों को प्राप्त करते हैं... वह इस प्रकार- जरासंध राजा, जामाता कंस के मरण होने पर अपने सेना-बल के अभिमान से वह प्रतिवासुदेव युद्ध में वासुदेव के द्वारा बल = सेना एवं वाहन के साथ विनष्ट हुआ...

"मेरी पुत्रवधु जीवित नहि रहती" ऐसा सोचकर मनुष्य आरंभादि में प्रवृत्त होते हैं तथा सखा = मित्र, स्वजन, याने चाचा आदि और उनके भी पुत्र आदि... भतीजा, साला... इत्यादि... उनको बार बार देखने से परिचित... अथवा पूर्व परिचित मात-पितादि तथा पश्चात् परिचित सासु-श्वसुर-शाला आदि... यह सभी मेरे संबंधि लोक दुःखी हैं, ऐसा सोचकर संताप करता है... तथा विविक्त याने अच्छे या बहोतसारे हाथी, घोडे, रथ, आसन, मांचडे आदि उपकरण और वे द्विगुण, त्रिगुण इत्यादि भेदवाले उपकरणों का परिवर्तन... तथा लड्डु आदि भोजन एवं वस्त्र आदि मेरे होंगे अथवा नष्ट हुए हैं ऐसा सोचकर अतिशय आसक्त लोक शोक करते हैं...

तथा धन, पुत्र, पत्नी एवं मात-पितादि के प्रति रागादि के कारणों से मरण पर्यंत प्रमादवाला यह जीव ऐसा सोचता रहता है कि- यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ, पोषक हूँ... इत्यादि प्रकार से मूढमनवाला यह जीव संसार में रहता है... कहा भी है कि- मेरे पुत्र, मेरे भाइ, मेरे स्वजन, मेरा घर, मेरी पत्नी इत्यादि पशु की तरह मैं में करते हुए मनुष्य को मृत्यु हरण कर ले जाता है... पुत्र, स्त्री और वस्त्र, धन, मकान इत्यादि परिग्रह के प्रति ममत्व के दोष से मनुष्य कोश बनानेवाले कृमिक (कोसेटा) कीड़े की तरह विनाश को पाता है और परिग्रह के पाप से दुःख को पाता है...

अब इस संसार के दुःखों के विच्छेद के लिये निर्युक्तिकार स्वयं दो गाथा कहतें हैं...

नि. १८५

संसार के छेद की इच्छावाला मनुष्य मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का विनाश करता है, और कर्मों के विनाश के लिये कषायों का त्याग करना चाहिये, और कषायों के त्याग के लिये स्वजन आदि के मोह का त्याग करना चाहिये...

नि. १८६

तथा मेरी मां, मेरे पिताजी, मेरी बहिन, मेरे भाई, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र इत्यादि तथा धन में आसक्त मनुष्य जन्म-मरण को पाता है...

नरक-तिर्यच-मनुष्य-देवगति स्वरूप संसार अथवा मात-पिता-पत्नी आदि के स्नेह-राग स्वरूप संसार के विनाश को चाहनेवाला मनुष्य आठ प्रकार के कर्मों का नाश करे... और कर्मों के विनाश के लिये कर्मों के कारण स्वरूप कषायों का नाश करे, तथा कषायों के विनाश के लिये मात-पितादि में रहे हुए स्नेह-राग को छोड़े... क्योंकि- मात-पितादि के संयोग के अभिलाषी प्राणी = मनुष्य धन, रत्न, अलंकार, वस्त्र, बरतन आदि में आसक्त होकर जन्म, रोग, शोक, वृद्धावस्था एवं मरण के अनंत दुःखों को प्राप्त करता है...

इस प्रकार कषाय एवं इंद्रिय के विषयों में प्रमादी, मात-पितादि के लिये धन प्राप्ति में और संरक्षण में तत्पर यह जीव मात्र दुःखों को ही प्राप्त करता है... वह इस प्रकार- दिन और रात तथा च शब्द से पक्ष, मास आदि काल पर्यंत यह जीव शुभ अध्यवसाय के अभाव में संताप-परिताप को प्राप्त करता हुआ संसार में रहता है... वह इस प्रकार- यह सार्थ कब जाएगा ? किराना (वस्तु) कितना है ? कहां कितनी भूमी है ? खरीद और बेचने का समय कौनसा है ? कौन किसके साथ कब कहां निकलता है ? इत्यादि प्रकार से परिताप-संताप प्राप्त करता हुआ, काल याने कार्य का समय, और अकाल याने कार्य न करने का समय... इत्यादि देखने में भ्रमित होता रहता है...

यहां यह पदार्थ हुआ, अब वाक्यार्थ कहते हैं... काल एवं अकाल में कार्य करनेवाला... यहां काल और अकाल पद की चतुर्भंगी होती है... इन चार विकल्पों में से तीन अशुभ विकल्प इस प्रकार हैं...

१. कार्य काल में कार्य नहीं करता, किंतु अकाल में कार्य करता है...
२. कार्य काल में कार्य करता है और अकाल में भी कार्य करता है...
३. कार्य काल में कार्य नहीं करता है और अकाल में कार्य भी नहीं करता...
४. कार्य काल में कार्य करें और अकाल में कार्य न करें...

यहां उचित तो यह चतुर्थ भंग ही है, किंतु कुविकल्पों से विनष्ट मनवाला वह मनुष्य काल एवं अकाल का विवेक नहीं रख सकता... जैसे कि- प्रद्योतन राजा ने मरण प्राप्त पतिवाली सती स्त्री मृगावती को ग्रहण काल छोड़कर उनके नगर को किल्ले से सुरक्षित करने के बाद ग्रहण करने की इच्छा की... इत्यादि यह कालाकालसमुत्थायी-पद का अर्थ हुआ... और जो सम्यक् कालोत्थायी है वह जीव कार्य के समय में परस्पर बाधा न हो वैसे सभी क्रियाएं करता है... कहा भी है कि- किसान आठ महिने ऐसा कार्य करे कि- चार महिने सुख से रह सके... और पहली उम्रमें मनुष्य ऐसा कार्य करे कि- अंतिम उम्रमें सुख से रह सके...

धर्माचरण के विषय में विशेष बात यह है कि- जिस प्रकार मृत्यु को कोई काल या अकाल नहीं है, वैसे ही धर्मानुष्ठान के लिये भी कोई काल या अकाल नहीं है...

अब प्रश्न होता है कि- मनुष्य कालाकालसमुत्थायी क्यों है ? उत्तर- मनुष्य संयोग का अर्थी है... संयोग याने धन, धान्य, सुवर्ण, दास-दासी आदि द्विपद, हाथी, घोड़े, बैल आदि चतुष्पद, राज्य और पत्नी आदि के संयोग की इच्छावाला-प्रयोजनवाला, अथवा अच्छे शब्दादि विषयों का संयोग मात-पितादि को हो ऐसी इच्छावाला यह जीव कालाकालसमुत्थायी होता है... तथा अर्थ याने धन-धान्य-रत्न-कुप्य आदि का लोभी यह जीव मम्मण श्रेष्ठी की तरह कालाकालसमुत्थायी होता है... वह इस प्रकार- धन कमाने में समर्थ ऐसी यौवन उम्र बीत जाने पर भी, जलमार्ग और भूमीमार्ग के द्वारा विभिन्न देशों में भेजे हुए जहाज एवं वाहन के द्वारा बहोत धन-समृद्धि प्राप्त हो जाने पर भी मम्मण-श्रेष्ठी बरसाद की ऋतु में (सात दिन-रात पर्यंत निरंतर मुशलधारा से हुए बरसाद से सभी प्राणी-मनुष्यों को आवागमन = संचरण की इच्छा मात्र भी न हो ऐसे बरसाद के दिनों में) महानदी के जलपूर में बहते आते हुए चंदन के काष्ठ = लकड़ीयां को ग्रहण करने की इच्छावाला मम्मणशेठ भोगोपभोग के समय में भी मात्र धन की प्राप्ति में लगे हुए थे...

कहा भी है कि- लोभी मनुष्य निधान भूमि में छुपाने के लिये भूमि खोदता

है, निधान भूमि में छुपानेके बाद रात में सुख से सो नहीं सकता, और दिन में भी शंकाशील रहता है... तथा उस निधानवाली भूमी को हमेशा देखता रहता है, पत्थर मिट्टी आदि से छुपाता है, और चिह्न को बदलते रहता है, थोडा सा भी भोजन सुख से खा नहि सकता, न तो किसी को खाने देता... और घर में थोडा भी विश्राम नहि लेता, निरंतर अधिक धन प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करता रहता है...

अब वह लोभी जीव लोभ के उपद्रव से विनष्ट-शुभचित्तवाला, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से रहित और एक मात्र धन कमाने की दृष्टिवाला होकर इस जन्म में और जन्मांतर में अशुभ फल देनेवाली क्रियाएं करता है... जैसे कि- निर्लाछन याने पशुओं के शरीर के किसी अवयवका छेदन, गलकर्त्तन, और चोरी आदि क्रियाएं करते रहता है... तथा सहसाकार याने पूर्वापर अर्थात् आगे पीछे के गुणदोषों को सोचे बिना यकायक अर्थात् तत्काल कार्य करनेवाला... वह इस प्रकार- लोभ रूप अंधकार से ढकी हुई दृष्टिवाला, केवल एक धनके हि विचारवाला तथा मांस की अभिलाषा से पक्षी, पशुओं की पीडा याने = दुःखों का विचार किये बिना उन पशु-पक्षीओं के अंगोपांग के छेदनादि से उनका वध करता है... क्योंकि- लोभ के परवश हुआ, धन की हि एक दृष्टिवाला, धनके हि मनवाला, ओर धन के लिये हि प्रयत्न करनेवाला होने से धन को हि देखता है, पापारंभ के दुःख-संकट को नहि देखता...

इसीलिये तो कहते हैं कि- विनिविष्टचित्त-अनेक प्रकार से धन प्राप्ति के लिये स्थापित चित्तवाला, अथवा मात-पितादि के अनुराग से शब्दादि विषयों के उपभोग में स्थापित चित्तवाला... पाठांतर-विनिविष्टचेष्टः याने धनकी प्राप्ति के लिये विविध प्रकार से मन-वचन एवं काया की परिस्पंदन स्वरूप चेष्टावाला... इस प्रकार मात-पितादिसंयोगार्थी, अर्थात् लोभी, आलुपक, सहसाकारी और विनिविष्टचित्त (विनिविष्टचेष्टा) वाला जीव क्या करता है ? वह अब कहते हैं...

मात-पितादि में अथवा शब्दादिविषयसंयोग में स्थापित चित्तवाला वह जीव पृथ्वीकायादि जीवों के विनाश करनेवाले शस्त्र स्वरूप आरंभ में पुनः पुनः = बार बार प्रवृत्त होता है... अर्थात् स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र और उभयकायशस्त्र के द्वारा पृथ्वीकाय आदि जीवों के वध में प्रवृत्त होता है... एवं अट्टारह पापस्थान कों का सेवन करता रहता है...

यदि जीवन अजर अमर हो तब अथवा दीर्घ आयुष्य हो तब वर्तमान काल के जीवों को यह कार्य उचित माना जाय, किंतु मनुष्य न तो अजर अमर है और न तो दीर्घ आयुष्यवाला है... यह बात अब सूत्र के पदों से कहते हैं- आयुष्य निश्चित हि अल्प है... -आयुष्य याने एक जीवन की स्थिति के लिये उपभोग में आनेवाले आयुष्यकर्म के पुद्गल... इस

संसार में कितनेक मनुष्यों को क्षुल्लकभव स्वरूप अंतर्मुहूर्तमात्र अति अल्प आयुष्य होता है, और कितनेक मनुष्यों को उत्तरोत्तर एक दो आदि समयादि की वृद्धि से तीन पत्योपम पर्यंत आयुष्य होता है...

अथवा तो संयम-जीवन अति अल्प है... वह इस प्रकार- अंतर्मुहूर्त से लेकर देशोन पूर्वक्रोड वर्ष पर्यंत का संयम-आयुष्य सागरोपम की दृष्टि से अति अल्प हि है... अथवा तो तीन पत्योपम की स्थिति प्रमाण आयुष्य भी अल्प हि है, क्योंकि- इस आयुष्य कर्म में अंतर्मुहूर्त को छोड़कर शेष सभी का अपवर्तन हो सकता है... कहा भी है कि- उत्कृष्ट योग में बंध के अध्ववसाय स्थान में आयुष्य का जो उत्कृष्ट बंधकाल है उस उत्कृष्ट आयुष्य को बांधकर देवकुरु आदि भोग भूमी में उत्पन्न होनेवाले कितनेक युगलिक मनुष्य एवं तिर्यचों के तत्काल हि अति अल्प आयुष्य को छोड़कर शेष सभी आयुष्य का अपवर्तन होता है... यह बात अपर्याप्त जीवों में अंतर्मुहूर्त के काल में हि जानीयेगा... पर्याप्त होने के बाद तो अपवर्तन नहीं होता है...

अथवा सामान्य से सोपक्रम आयुष्यवाले का आयुष्य सोपक्रम और निरूपक्रम आयुष्यवालों का आयुष्य निरूपक्रम है... जब प्राणी अपने आयुष्य के तीसरे भाग में अथवा तीसरे के भी तीसरे भाग में अथवा जघन्य से अंतर्मुहूर्त प्रमाण आयुष्य शेष रहे तब आत्मप्रदेश रचना की नाडि के अंदर होनेवाले आयुष्यकर्म वर्गणा के पुद्गलों को विशेष प्रयत्न से ग्रहण करते हैं तब निरूपक्रम आयुष्य होता है, अन्यदा अर्थात् अन्य समय में तो सोपक्रम आयुष्य होता है...

उपक्रम तो उपक्रम के कारणों से होता है... और वे कारण यह हैं... दंड, चाबुक, शस्त्र, दोरडी; अग्नि और जल में डूबना, विष (जहर), व्याल याने सर्प, शीत, गरमी, अरति, भय, भूख, तरस, रोग, मुत्रनिरोध, मलनिरोध, बार बार भोजन का अजीर्ण होना और वृद्ध होना... तथा रगडन, घर्षण, पीलन, इत्यादि से आयुष्य का उपक्रम होता है...

अपने आप से, अन्य से, यहां वहां चारों ओर से सन्मुख दौडती हुई आपदा याने संकटवाला जो कोइ मनुष्य क्षणमात्र भी जीवित रहता है वह उसकी निपुणता है... वह एक बडा आश्चर्य हि है... जैसे कि- अतिशय भूख से पीडित प्राणी के मुख में रखा हुआ सरस (अच्छा) छोटासा फल दांतों के बीच कितना समय बिना चबाया रह सकता है ? अर्थात् प्राणी उस फल को तत्काल खा जाता है...

उच्छ्वास की मर्यादावाले प्राण हैं, और वह उच्छ्वास वायु याने पवन है, तथा वायु से चंचल और कोइ नहीं है, अतः क्षणमात्र भी जो आयुष्य याने जीवन है वह निश्चित हि अद्भुत याने आश्चर्यकारी है...

दीर्घ आयुष्य स्थितिवाले जो लोग उपक्रम के कारणों के अभाव में पूर्ण आयुष्य की स्थिति का अनुभव करते हैं वे लोग भी वृद्धावस्था से जीर्ण देहवाले होने पर बुढ़ापे में मरण से भी अधिक बुरी अवस्था का अनुभव करते हैं... इत्यादि यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में सामान्यतः जीव के अस्तित्व का एवं आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है और पृथ्वी, जल आदि अव्यक्त चेतना वाले जीवों की सजीवता को स्पष्ट प्रमाणित करके यह बताया गया है कि- षट्काय का आरम्भ-समारम्भ करने से कर्म का बन्ध होता है और फलस्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख परम्परा का प्रवाह बढ़ता है। इस लिए इस बात पर बल दिया गया है कि- मुमुक्षु को आरम्भ-समारम्भ से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि- आरम्भ-समारम्भ से सर्वथा निवृत्त होने पर ही साधक मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। यदि थोड़े शब्द में कहें, तो प्रथम अध्ययन में मोक्ष साधना के मूलभूत अंग अहिंसा का सूक्ष्म, विस्तृत एवं यथार्थ विवेचन किया गया है।

आध्यात्मिक साधना में अहिंसा का महत्त्व पूर्ण स्थान है। अहिंसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है, और साधना का मूल केन्द्र है। सभी धार्मिक अनुष्ठान इसी अहिंसा से ही सजीवन हैं... इसी के आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होते हैं। अहिंसा के अभाव में कोई भी साधना जीवित नहीं रह सकती है... पञ्च महाव्रतों में अंतिम के चारों महाव्रत अहिंसा से संबद्ध हैं। जिस साधक के जीवन में अहिंसा, दया, अनुकम्पा, साम्यभाव का झरना नहीं बह रहा है, वहां सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का विकास होना भी असंभव है। अहिंसा के शीतल, सरस एवं मधुर जल से अभिसिंचित होकर ही मोक्ष साधना का वृक्ष हरा-भरा रह सकता है, एवं पल्लवित-पुष्पित हो सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि- अहिंसा ही साधना का प्राण है। सूत्रकार के शब्दों में स्पष्ट ध्वनित होता है कि- “जो षट्काय के आरम्भ से सर्वथा निवृत्त होता है, वही मुनि परिज्ञात कर्मा है, अन्य नहीं”।

अहिंसा की साधना के लिए जीवों का परिज्ञान होना जरूरी है। इस अपेक्षा से प्रथम अध्ययन में विभिन्न ८४ लाख योनियों में परिभ्रमणशील जीवोंके अस्तित्व का विवेचन किया गया है। इससे मुमुक्षु को यह जानने की सहज ही जिज्ञासा होती है कि- यह संसार क्या है ? और इस संसार पर विजय कैसे पाई जा सकती है ? इस प्रश्न का समाधान लोकविजय नामक द्वितीय अध्ययन में किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में लोक-शब्द का अर्थ है- कषाय या राग-द्वेष, जो भाव लोक कहा जाता है। उसके विपरीत द्रव्य, क्षेत्र आदि लोक भी माने गए हैं। परन्तु यहां इस ग्रंथ

में प्रमुखता भाव लोक की है। क्योंकि- द्रव्य लोक का अस्तित्व भाव लोक पर आधारित है। कारण स्पष्ट है कि- राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों से कर्मका बन्धन होता है और परिणाम स्वरूप आत्मा एक योनि से दूसरी योनि में परिभ्रमण करती रहती है। इसी परिभ्रमण का नाम संसार है और इस संसार का मूल बीज राग-द्वेष है। और राग-द्वेष ही भाव लोक हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि- द्रव्य लोक का मूल भाव लोक है। अतः भाव लोक पर विजय प्राप्त कर लेने पर द्रव्य लोक पर विजय सहज ही हो जाता है।

मूल का उन्मूलन कर देने पर शाखा-प्रशाखा; पत्र-पुष्प आदि का विनाश तो स्वयं ही हो जाता है। क्योंकि- वृक्षको सारा पोषण मूल से मिलता है। मूल के अभाव में उन्हें पोषण नहीं मिलेगा और पोषण के अभाव में वे वृक्ष जीवित नहीं रह सकते। मूल का नाश होते ही संसार स्वरूप वृक्ष का भी विनाश हो जाता है। इसलिए साधक को यह प्रेरणा दी गई कि- वह द्रव्य लोक पर विजय पाने की अपेक्षा भावलोक पर विजय पाने का प्रयत्न करे। भाव लोक याने राग-द्वेष का सर्वथा उन्मूलन करने का प्रयत्न करे। राग-द्वेष का उच्छेद कर दिया; तो फिर-द्रव्य लोक का उच्छेद तो स्वतः ही हो जायगा। अतः साधक को अपनी साधना की शक्ति राग-द्वेष एवं कषाय रूप भाव लोक पर विजय पाने में लगानी चाहिए। साधक का एक मात्र यह हि ध्येय एवं लक्ष्य होना चाहिए।

प्रथम अध्ययन में एक सूत्र आया है 'जे गुणे से आवट्टे.....' अर्थात् जो गुण है वह हि आवर्त्त है। इस सूत्र को प्रस्तुत सूत्र के -जो गुण है वह मूल स्थान है और जो मूल स्थान है, वह गुण है इन पदों से तुलना करते हैं; तब गुण को आवर्त्त याने संसार कहने का कारण स्पष्टतः समझ में आ जाता है। संसार का मूल कषाय है और कषाय का आश्रय ये गुण हैं, अतः एव गुण को संसार कहना उपयुक्त ही है। क्योंकि- गुणों में आसक्त व्यक्ति के मन में राग-द्वेष, कषाय एवं आसक्ति युक्त भावों होने से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार के प्रवाह को प्रगति मिलती है। शब्दादि विषयगुण भी संसार के कारण हैं, इसलिए उन शब्दादि गुणों को आवर्त्त कहा गया है और वास्तव में कषाय का आधार होने के कारण उन्हें आवर्त्त -संसार कहना उचित ही है।

यह बात स्पष्ट है कि- शब्दादि विषय गुणों के कारण हि आत्मा में तृष्णा, आसक्ति, कषाय एवं राग-द्वेष आदि का उद्भव होता है और आत्मा भौतिक भोगोपभोगों में मग्न रहता है, शब्दादि विषय-भोग में प्रवृत्त होता है। यों साधारणतः काम-भोग शब्द का प्रयोग विषय-वासना की प्रवृत्ति के लिए किया जाता है अतः कामभोग का एक दूसरे से भिन्न अर्थ न समझ कर उसे एकार्थक ही समझा जाता है, वैषयिक दृष्टि से काम-भोग का इन्द्रियों एवं उनके विषय से सीधा संबन्ध होने से काम-भोग शब्दादि विषय रूप होने से एकरूपता के बोधक भी हैं

परन्तु इन्द्रियों एवं उनके विभिन्नता के कारण काम-भोग भी अपना-अपना भिन्न एवं स्वतंत्र अर्थ रखते हैं । कुछ ऐसे विषय हैं जिनके आकर्षण से इन्द्रियों में स्पन्दन होता है, और आत्मा उनके द्वारा हर्ष एवं शोक का संवेदन भी करती है; इस प्रकार उक्त विषय से काम-वासना प्रगट होती है परन्तु वे इन्द्रियें उन विषय के साथ सीधा उपभोग नहीं करती । और कुछ इन्द्रियें अपने विषयों के साथ सीधा भोगोपभोग करके ही वासना में प्रवृत्त होती है ।

इसी विभिन्नता की अपेक्षा से आगम में श्रोत्र ओर चक्षु इन्द्रिय को कामी और शेष इन्द्रियों को भोगी कहा है । चक्षु एवं श्रोत्र इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने में इतनी पटु हैं कि- उसका स्पर्श किए बिना ही आत्मा को उसकी अनुभूति करा देती हैं, परन्तु शेष स्पर्शन रसन एवं नासिका यह तीनों इन्द्रियें अपने-अपने विषयों का अपने साथ सीधा संबन्ध होने पर ही अथवा यों कहिए उनका भोग-उपभोग करके ही उन्हें ग्रहण करती हैं । इस अपेक्षा से कामभोग भिन्न अर्थ बोधक दो विषय भी हैं ।

कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि- काम-भोग में होने वाली प्रवृत्ति राग-द्वेष जन्म होती है । इस कारण से विषय-वासना में आसक्ति बढ़ती है और उससे संसार संबन्ध प्रगाढ़ होता है और आत्मा की गति शब्दादि-विषयाभिमुख हो जाती है अतः वह मनुष्य शब्दादि-विषयों के भोगोपभोगों में इतना आसक्त बन जाता है कि- अपने एवं प्राणीजगत के हिताहित को भूल कर दुष्कर्म में प्रवृत्त होते ज़रा भी संकोच नहि करता । यहां इतिहास साक्षी है और हम स्वयं भी देखते हैं कि- व्यक्ति जब मोहमूढ होता है, तब कितना अनर्थ कर बैठता है ! आज विश्व में व्याप्त हिंसा चोरी एवं लूट आदि की घटनाएं तथा छल-कपट, धोखा और विश्वास घात इत्यादि विकृत मनोवृत्ति के ही परिणाम है । इसी बात को सूत्रकार ने “अट्टालोभी आलुपे, सहसाकारे विणिविदुः चित्ते....” पदों से स्पष्ट कर दिया है...

कामभोगों में निमग्न वह व्यक्ति सदा अपने परिवार में आसक्त रहता है और अपने व्यक्तिगत एवं परिवारगत वैषयिक भोगोपभोगों को पाने के लिए विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है । वह कहता है कि- यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है तथा यह मेरा भाई, बहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू या स्वजन-स्नेही है । इस प्रकार मनुष्य परिजनों में आसक्त होकर धन की प्राप्ति के लिये पापों में प्रवृत्त होता है, और उस पापों के परिणाम स्वरूप भविष्य में यदि मनुष्य जन्म पाता है, तब भी अल्प आयु में ही मर जाता है । यदि दीर्घ आयु भी प्राप्त कर ले, तो भी उस का जीवन दुःख-कष्ट से भरा-भरा होता है... उसका जीवन अन्य के लिए एवं स्वयं के लिए दुःखद हो जाता है । वह रात-दिन संकटों के झूले में झूलता रहता है ।

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ६४ ॥ १-२-१-२

सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, चक्षुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, घाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, रसणा-परिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं, फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिकंतं च खलु वयं, स पेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति॥ ६४ ॥

II संस्कृत-छाया :

श्रोत्रपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, चक्षुः परिज्ञानैः परिहीयमानैः, घ्राणपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, रसना-परिज्ञानैः परिहीयमानैः, स्पर्शपरिज्ञानैः परिहीयमानैः अभिक्रान्तं च खलु वयः, सः प्रेक्ष्य, ततः सः एकदा मूढभावं जनयन्ति (जनयति) ॥ ६४ ॥

III सूत्रार्थ :

क्षीण होते हुए श्रोत्र के ज्ञान से, क्षीण होते हुए आंखों के ज्ञान से, क्षीण होते हुए नासिका के ज्ञान से, क्षीण होते हुए जिह्वा (जीभ) के ज्ञान से, क्षीण होते हुए स्पर्श के ज्ञान से और उग्र मृत्यु के निकट पहुंची है ऐसा देखकर, वह प्राणी एक बार क्षणमात्र काल मूढभाव को प्राप्त करता है ॥ ६४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

भाषा में परिणत पदुगलों को जो सुनता है वह श्रोत्र... वह द्रव्य से कदंब पुष्प के आकार का है... और भाव से भाषा के द्रव्यों को ग्रहण करनेवाले लब्धि और उपयोग स्वभाव स्वरूप है... उस श्रोत्र से चारों ओर से होनेवाला घट-वस्त्रशब्दादि विषय संबंधि ज्ञान... उन श्रोत्र के परिज्ञान में वृद्धावस्था के द्वारा परिक्षीणता को पाने से वह प्राणी इंद्रियों की पटुता के अभाव में एकदा = वृद्धावस्था में अथवा रोगावस्था में मूढभाव = मूढता अर्थात् आत्मा के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की अज्ञता को प्राप्त करता है... अर्थात् हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार याने त्याग के विवेक से शून्य होता है... अथवा क्षीणता को प्राप्त श्रोत्र ज्ञान, आत्मा को सत् और असत् के विवेक से विकल बनाता है... यहां तृतीया विभक्ति प्रथमा विभक्ति से अर्थ में है... इसी प्रकार चक्षु आदि के विज्ञान में भी समझीयेगा... यहां इंद्रियां करण है, इसीलिये श्रोत्र से आत्मा को विज्ञान, चक्षु से आत्मा को विज्ञान इत्यादि... वाक्य रचना जानीयेगा...

प्रश्न- आंख आदि इंद्रियां हि क्यों नहि देखती ?

उत्तर- यहां इंद्रियों का स्वरूप जानना आवश्यक है, क्योंकि- आत्मा के अभाव में इंद्रियों से प्राप्त वस्तु के स्मरण का भी अभाव होता है, जब कि- इंद्रियों के विनाश में इंद्रियों से प्राप्त वस्तु का स्मरण होता है... वह इस प्रकार- महल, हवेली में रहे

हुए मनुष्य को पांच खिडकीयों से प्राप्त = जानी-देखी हुई वस्तु का स्मरण-ज्ञान कोइ भी एक-दो खिडकी बंध होने के बाद भी होता है... वह इस प्रकार- मैं अभी इस श्रोत्र (कान) से शब्द को बराबर स्पष्ट नहीं ग्रहण कर सकता हूं... जब कि- इन आंखों से स्पष्ट देख सकता हूं... क्योंकि- यहां आंख-कान आदि इंद्रियों का शब्द-रूप आदि ग्रहण करने में कारणत्व स्वरूप का बोध स्पष्ट ही होता है...

प्रश्न- यदि ऐसा है तब अन्य और भी करण है, तो उनका कथन क्यों नहीं किया ? जैसे कि- (१) वाक् = वचन, (२) हाथ, (३) पाउं (चरण, पैर) (४) गुदा (मल विसर्जन द्वार) (५) उपस्थ (पुरुष का लिंग तथा स्त्री की योनि) तथा (६) मन यह सभी अनुक्रम से बातचीत, दान, विचरण, मलविसर्जन, वैषयिक-आनंद और संकल्प-विकल्प कार्य करते हैं... इसीलिये यह सभी भी आत्मा को उपकारक होने से कार्य में कारणत्व कहे जायेंगे... और कारण होने से इन्हें भी इंद्रिया कही जायेगी... इस प्रकार ५ + ६ = ग्यारह (११) इंद्रियां होते हुए भी पांच का हि क्यों ग्रहण किया ?

उत्तर- आचार्य कहते हैं कि- यहां कोई दोष नहि है... किंतु यहां आत्मा को ज्ञान की उत्पत्ति में जो विशेष उपकारक है वे हि करण होने से उन्हें इंद्रिय कहते हैं... यह वाणी, हाथ आदि आत्मा को विशेष रूप से ज्ञान के कारणत्व स्वरूप व्यापार = क्रियाएं नहि करते... यदि जो कोई भी क्रिया को लेकर कारणत्व कहोगे, तब भ्रुकुटि, उदर (पेट) आदि में भी उत्क्षेपादि क्रियाएं होने से उन्हे भी करण कहना पडेगा... किंतु यह पांच इंद्रियां अपने अपने विषय-कार्य में नियत होने से अन्य इंद्रिय का कार्य अन्य इंद्रिय कर नहि सकती... वह इस प्रकार- जैसे कि- रूप को देखने के लिये आंखें हि समर्थ है, आंख के अभाव में श्रोत्र आदि नहि... और जो रसनेंद्रिय से रस आदि के ज्ञान के साथ साथ शीत, उष्ण स्पर्श का भी जो ज्ञान होता है, वह स्पर्शज्ञान स्पर्शेंद्रिय से होता है, क्योंकि- स्पर्शेंद्रिय शरीर में सभी जगह फैलकर रही हुई है, अतः यहां कोई कुशंका न करें... तथा हाथ का छेद होने पर भी ग्रहण स्वरूप हाथ का कार्य दांत आदि से भी होता है, किंतु यह सामान्य बात है... और मन तो सभी इंद्रियों को उपकारक है, अतः मन को अंतःकरण कहते हि हैं... क्योंकि- बाह्य इंद्रियों के ज्ञान के विनाश में मन कुछ भी जान नहि सकता, इसीलिये मन को स्वतंत्र इंद्रिय नहि कहा है... और यह मन एक एक इंद्रिय के द्वारा ग्रहण क्रम से होनेवाले ज्ञान के उपलक्षण के लिये है, जैसे कि- जिस किसी इंद्रिय के साथ मन जुडता है वह हि इंद्रिय अपने विषय-गुण को ग्रहण करने में प्रवृत्त होती है, अन्य इंद्रिया नहिं...

प्रश्न- किंतु दीर्घशङ्कुली याने जलेबी के भोजन आदि में पांचो इंद्रियों का ज्ञान एक साथ हि अनुभव में आता है न ?

उत्तर- एक इंद्रिय से यह संभव नहि है, क्योंकि- केवलज्ञानी को भी एक साथ दो उपयोग नहि होते... तो भी निकट = समीप भाग में दिखनेवाले होनेवाले पांच उपयोग भले हो... होने दो... यह बात हमने अन्य ग्रंथों में विस्तार से कही है, इसीलिये यहां नहि कहते... और जो एक साथ हि अनुभव का आभास होता है, वह मन की शीघ्र वृत्ति होने से हि होता है...

कहा भी है कि- आत्मा मन के साथ होता है, और मन इंद्रियों के साथ, और इंद्रियां अपने अपने विषय के साथ... यह क्रम अतिशीघ्रता से होता है... यह मन का योग अगम्य है, अर्थात् जहां मन है वहां यह आत्मा भी है...

इस विश्व में इंद्रियों की लब्धिवाला यह आत्मा ग्रहण कीये जा रहे जन्म के स्थान में एक समय में हि आहार पर्याप्ति को पूर्ण करता है, उसके बाद अंतर्मुहूर्त्त में शरीर पर्याप्ति और उसके बाद इंद्रिय पर्याप्ति भी अंतर्मुहूर्त्त प्रमाण काल में पूर्ण करता है... और वे स्पर्शन, रसन. घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इंद्रियां पांच है, और वे भी द्रव्य एवं भाव के भेद से एक एक के दो दो भेद है, और उन में भी द्रव्येन्द्रिय के भी निर्वृत्ति और उपकरण के भेद से दो प्रकार है, तथा निर्वृत्ति द्रव्य इंद्रिय भी अभ्यंतर और बाह्य भेद से दो प्रकार की है...

उत्सेधांगुल के असंख्येय भाग संख्या प्रमाण शुद्ध आत्म प्रदेशों का नियत स्थान में चक्षु आदि इंद्रिय संस्थान से रही हुइ जो वृत्ति यह अभ्यंतर निर्वृत्ति है... उन आत्मप्रदेशों में इंद्रिय संज्ञा को प्राप्त जो नियत आकार है वह पुद्गलविपाकी वार्द्धिकि के समान निर्माण नामकर्म ने बनाया है, और अंगोपांग नामकर्म ने कर्णशष्कुलि आदि बनाया है, वह बाह्यनिर्वृत्ति है...

इन दोनो प्रकार की निर्वृत्ति के उपर जो उपकार करता है वह उपकरण, और वह इंद्रिय के कार्य करने में समर्थ है... मसूर की आकृति के समान निर्वृत्ति विनष्ट न हो तो भी उपकरण के उपघात से जीव देख नहि सकता... यह उपकरण भी निर्वृत्ति की तरह बाह्य एवं अभ्यंतर भेद से दो प्रकार के हैं उनमें अभ्यंतर उपकरण आंख के अंदर के काले एवं सफेद मंडल है, तथा बाह्य उपकरण आंख के उपर के पांपण, बरीनी इत्यादि... इसी प्रकार अन्य इंद्रियों में भी जानीयेगा...

भाव इंद्रिय भी लब्धि एवं उपयोग के भेद से दो प्रकार की है... उनमें ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम स्वरूप लब्धि है, इस लब्धि के होने में हि आत्मा द्रव्येन्द्रिय की निर्वृत्ति का उपयोग करता है... इस निर्वृत्ति के द्वारा आत्मा मन के सहयोग से अर्थ याने वस्तु के बोध के लिये जो क्रिया करता है वह उपयोग है... सारांश यह रहा कि- लब्धि होने पर हि निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग सफल है, और निर्वृत्ति होने पर हि उपकरण और उपयोग तथा उपकरण होने पर हि उपयोग हो सकता है...

यह श्रोत्र आदि इंद्रियों का आकार = संस्थान अनुक्रम से १. कदंब पुष्प, २. मसुर, ३. कलंबु का पुष्प, ४. क्षुप्र = घांस खोदने का खुर्पा और ५. विविध आकार के है... तथा उनके विषय-बारह योजन से आये हुए शब्द को श्रोत्रेंद्रिय ग्रहण करती है, कुछ अधिक २१ लाख योजन दूर रहे हुए प्रकाशक एवं कुछ अधिक एक लाख योजन दूर रहे हुए प्रकाश्य रूप को चक्षुरिंद्रिय (आंखे) ग्रहण करती है... बाकी की शेष घ्राण, रसना एवं स्पर्शेंद्रिय तो नव योजन से आये हुए अपने विषय को ग्रहण करती है... तथा जघन्य से सभी इंद्रियां अंगुल के असंख्येय भाग क्षेत्र में रहे हुए अपने अपने विषयों को ग्रहण करती हैं...

यहां उत्पत्ति की अपेक्षा से विपरीत क्रम से इंद्रियों का कथन किया है, क्योंकि- यहां संज्ञी पंचेंद्रिय को हि उपदेश देना, “यह यहां अधिकार है...” और उपदेश श्रोत्रेंद्रिय का विषय है, और श्रोत्रेंद्रिय की पर्याप्ति में सभी इंद्रियां की पर्याप्ति सूचित होती है... तथा श्रोत्र आदि का ज्ञान भी बहोत सारी उम्र बीतने के बाद क्षीण होता है, अथवा श्रोत्र आदि के ज्ञान उम्र बढ़ने से वृद्धत्व में क्षीण होता है... प्राणीओं के शरीर की कालक्रमसे होनेवाली यौवनादि अवस्था = उम्र, वृद्धावस्था अथवा मृत्यु से आक्रांत होती है...

कहा भी है कि- उम्र के चार भेद है, कुमार, यौवन, मध्यम (प्रौढ) एवं वृद्धावस्था... अन्यत्र भी कहा है कि- पहली उम्र में यदि अभ्यास-अध्ययन न किया, दुसरी उम्र में धन प्राप्त न किया, तीसरी उम्र में तप नहि किया वह प्राणी चौथी उम्रमें क्या कर पाएगा ? उनमें प्रथम दो उम्र बीतने पर मनुष्य वृद्धावस्था के अभिमुख होता है, अथवा तो उम्र के तीन भेद करें... १. कुमार, २. यौवन और ३. स्थविर... कहा भी है कि- कुमार अवस्था में पिताजी रक्षण करते हैं, यौवन अवस्था में भर्ता = स्वामी-पति रक्षण करते हैं और स्थविर अवस्था में पुत्र रक्षण करते हैं... इस प्रकार स्त्रीओं को अपनी सुरक्षा में स्वतंत्रता की आवश्यकता नहीं है...

अन्य प्रकार से भी उम्रके तीन भेद हैं... बाल, मध्यम और वृद्धत्व... कहा भी है कि- जन्म से सोलह साल (वर्ष) पर्यंत बाल उम्र और सत्तरह (१७) से सित्तेर (७०) वर्ष पर्यंत मध्यम उम्र और उसके बाद वृद्ध उम्र कही गई है... इन सभी उम्र में जो उपचय (पुष्टि) वाली अवस्था तथा वह बाल उम्र है, तथा मध्यम उम्र बीत जाने पर श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेंद्रिय के ज्ञान सभी प्राणीओं के या कितनेक के अल्पांशे या सर्वांशे क्षीण होने से हि प्राणी मूढता को प्राप्त करता तथा मरण नजदीक में है ऐसा देखकर भी प्राणी मूढता को प्राप्त करता है... इस प्रकार इंद्रियों के ज्ञान की हानि से अथवा उम्र बीत जाने से प्राणी वृद्धावस्था में किंकर्तव्यमूढ होता है, अर्थात् उस प्राणी को क्षीण हुए श्रोत्र आदि के ज्ञान हि मूढभाव को उत्पन्न करते हैं...

कह प्राणी इस प्रकार वृद्धावस्था में मूढ़ता को पाने के कारण से प्रायः आसपास के लोग एवं ज्ञाति-कुटुंबीलों से भी अपमानित होता है यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रत्येक प्राणी का यह जीवन जन्म और मृत्यु का समन्वित रूप है। अपने कर्म के अनुसार जब से आत्मा जिस योनि में जन्म ग्रहण करती है, तब से काल याने यमराजा (मरण) उसके पीछे लग जाता है और प्रतिसमय वह प्राणी मृत्यु के निकट पहुंचता है, या यों कहना चाहिए कि- उसका भौतिक शरीर प्रतिक्षण पुराना होता रहता है। यह ठीक है कि- उस में होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनों को हम अपनी आंखों से स्पष्टतः देख नहीं पाते, कुछ स्थूल परिवर्तनों को ही देख पाते हैं और इसी अपेक्षा से हम जीवन को चार भागों में बांट कर चलते हैं- १-बाल्य काल, २-यौवन काल, ३-प्रौढ़ अवस्था और ४-वृद्धावस्था।

बाल्य काल जीवन का उदयकाल है। बाल्य काल में क्रमशः शारीरिक विकास होता है... प्रौढ़ अवस्था में शारीरिक विकासस्रोत रुक जाता है। धीरे-धीरे व्यक्ति इन्द्रियबल से निर्बल होने लगता है। यहां से वृद्धावस्था का प्रारंभ हो जाता है। यह जीवन का जीर्ण-शीर्ण रूप है, इस काल में स्वास्थ्य का, इन्द्रियों का, शरीर का अर्थात् यों कहिए कि- शारीरिक सभी अवयवों का हास होने लगता है। कान, आंख, नाक, जिह्वा और त्वचा की सामर्थ्य शक्ति कमजोर हो जाती है। इन इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में भी कठिनाई होने लगती है। वृद्ध मनुष्य को जीवन निर्वाह भी कठिन एवं बोझिल हो जाता है। वह अपने जीवन से तंग होकर दुःख एवं संक्लेश का अनुभव करने लगता है। वृद्धावस्था का वर्णन करते हुए भर्तृहरि ने यह श्लोक कहा है-

“गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताश्च नाशं गताः,
दृष्टिर्भ्रंश्यति रूपमेव हसते वक्त्रं च लालायते ।
वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते।
धिक्कष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥” ॥ १ ॥

अर्थात्- वृद्धत्व के आते ही शरीर में झुर्रिया पड़ जाती हैं, पैर लड़खड़ाने लगते हैं, दांत गिर जाते हैं, दृष्टि कमजोर पड़ जाती है या नष्ट हो जाती है, रूप-सौन्दर्य का स्थान कुरूपता ले लेती है, मुख से लार टपकने लगती है, स्वजन-स्नेही उसके आदेश का पालन नहीं करते, पत्नी सेवा-शुश्रूषा से जी चुराती है, पुत्र भी उसकी अवज्ञा करता है। कवि कहता है कि- ओह ! इस वृद्धत्व के कष्ट का कोई पार नहि है... धिक्कार हो कष्टमय इस जरा ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण वृद्धत्व को।

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने वृद्धावस्था के इसी चित्र को उपस्थित किया है। इस अवस्था में शारीरिक सामर्थ्य शक्ति एवं इन्द्रिय बल इतना क्षीण हो जाता है कि- व्यक्ति अपने एवं परिजनों के लिए बोझ रूप बन जाता है। और प्रायः इस अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मूलभाव को प्राप्त हो जाते हैं अथवा इसके प्रहारों से अत्यधिक प्रताड़ित होने के कारण उस में कर्तव्य-अकर्तव्य का भी विवेक नहीं रहता।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि- आत्मा ज्ञान स्वरूप है, फिर उसमें वृद्धावस्था के आने पर श्रोत्र आदि इन्द्रियों का ज्ञान मन्द क्यों हो जाता है ? क्या ज्ञान अवस्था के अधीन रहता है ? यदि ऐसा नहीं है, तो ज्ञान की बोधकता शिथिल क्यों हो जाती है ?

उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि- आत्मा ज्ञान स्वरूप है, आत्मा के ज्ञान का अवस्था के साथ नहीं, कर्म के साथ संबन्ध है। हम देखते हैं कि- कुछ बालकों में ज्ञान का इतना विकास होता है कि- युवक एवं प्रौढ़ व्यक्ति भी उनकी समानता नहीं कर सकते हैं। कुछ वृद्धों में जीवन के अंतिम क्षण तक ज्ञान की ज्योति जगमगती रहती है तथा कुछ युवक एवं प्रौढ़ व्यक्तियों में ज्ञान का विकास बहुत ही स्वल्प दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि- ज्ञान का विकास अवस्था के अधीन नहीं, किंतु ज्ञानावरणीय आदि घातिकर्म के क्षयोपशम पर आधारित है। चाहे बाल्यकाल हो, युवाकाल हो या वृद्धावस्था का अन्तिम चरण हो, जितना ज्ञानावरणीय कर्म का अधिक या कम क्षयोपशम होगा, उसी के अनुरूप आत्मा में ज्ञान का आविर्भाव होगा। अर्थात् ज्ञान की स्वल्पता या विशेषता में जो विचित्रता देखी जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की न्यूनता एवं अधिकता के आधार पर ही स्थित है।

दूसरा प्रश्न इन्द्रियों से संबद्ध है। इसमें इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि- ज्ञान आत्मा का गुण है, इन्द्रियों का नहीं। वह सदा आत्मा के साथ रहता है। इन्द्रियों के अभाव में भी ज्ञान का अस्तित्व बना रहता है। अतः ज्ञान का इन्द्रियों के साथ सीधा संबन्ध नहीं है। फिर भी आत्मा को इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ ज्ञान होता है, इसका कारण यह है कि- यह इन्द्रियां छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान के साधन हैं, निमित्त हैं। क्योंकि- छद्मस्थ अवस्था में आत्मा पर ज्ञानावरणीय कर्म का इतना आवरण छाया रहता है कि- वह बिना किसी साधन के किसी पदार्थ का बोध नहीं कर सकती। वह मति और श्रुतज्ञान के द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान करती है और उक्त दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मन की अपेक्षा रखते हैं। इसी कारण इन्हें आगम में परोक्ष ज्ञान कहा गया है। क्योंकि- यह मति एवं श्रुतज्ञान इन्द्रियों के आधार पर आधारित हैं। अतः छद्मस्थ अवस्था में जितना ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के साथ साथ इन्द्रियों का जितना सहयोग मिलता है, उतना ही आत्मा के ज्ञान का विकास होता है।

अवधि ज्ञान एवं मनः पर्यव ज्ञान युक्त व्यक्ति इन्द्रियों की सहायता के बिना ही मर्यादित क्षेत्र में स्थित रूपी पदार्थों एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनोगत भावों को जान-देख लेता है। जब व्यक्ति अपनी आत्मा पर आच्छादित ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय कर देता है, तो फिर वह संसार के समस्त पदार्थों को और उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों को अपने विशुद्ध आत्मज्ञान केवलज्ञान से स्पष्ट देखने-जानने लगता है। इन्द्रियों का अस्तित्व रहते हुए भी उसे उनके सहयोग की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। इससे स्पष्ट हो गया कि- इन्द्रियों का सहयोग मति और श्रुतज्ञान तक ही अपेक्षित है और ये इन्द्रिये वस्तु-पदार्थों को जानने के साधन मात्र हैं।

इन्द्रियें पांच मानी गई हैं- १-श्रोत्र, २-चक्षु, ३-घ्राण, ४-रसना और ५-स्पर्शन इन्द्रिय। द्रव्य और भाव इन्द्रिय की अपेक्षा से प्रत्येक इन्द्रिय के दो-दो भेद किए गए हैं। द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति और उपकरण रूप से है तथा भाव इन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप से है। इन्द्रियों के बाह्य आकार को द्रव्य इन्द्रिय कहते हैं और उसके अन्दर जो देखने, सुनने, सूंघने आदि की जो शक्ति है उसे भाव इन्द्रिय कहते हैं, वह लब्धि एवं उपयोग रूप में रहती है। उसके होने पर ही आत्मा इन द्रव्येन्द्रियों से पदार्थों का ज्ञान करती है। भाव इन्द्रिय के अभाव में द्रव्येन्द्रिय कोई कार्य नहीं कर सकती। आंख और कान का आकार तो बना हुआ रहता है, परन्तु जब उसके साथ भाव इन्द्रिय नहीं है अर्थात् लब्धि एवं उपयोग नहि है, तो उस आंख एवं कान के आकार से न देखा जा सकता है और न सुना जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि- इन्द्रियों की पटुता एवं मूढ़ता क्षयोपशम के आधार पर स्थित है।

यह स्पष्ट है कि- इन्द्रियें जड़ हैं। और जड़ होने के कारण शरीर के साथ-साथ इन में भी परिवर्तन आता है। वृद्धावस्था में शरीर के साथ यह द्रव्य-इन्द्रियां भी जीर्ण हो जाती हैं और चेतना के निकलने के बाद निष्प्राण शरीर की तरह इनका भी कोई मूल्य नहीं रहता है। अतः शरीर के साथ इनमें भी परिवर्तन आता है, परन्तु, इतना अवश्य है कि- यदि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अधिक है, तो उसकी इन्द्रियें जीर्ण होने पर भी पदार्थों का बोध करने में पटु ही रहेगी और ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम अल्प है तो युवा काल में भी उनकी ग्रहण शक्ति कमजोर दिखाई देगी। हम देखते हैं कि- बहुत से वृद्ध व्यक्ति बिना ऐनक (चश्मा) लगाए ही अच्छी तरह देख लेते हैं, उनकी सुनने, सूंघने आदि की शक्ति में भी कमी दिखाई नहीं देती है और कई युवक भी ऐसे देखे जाते हैं कि- वे बिना ऐनक के देख ही नहीं सकते। अतः द्रव्य इन्द्रियों के शिथिल होने पर भी उनमें अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति सामर्थ्य ज्ञानावरणीयकर्म के क्षयोपशम पर आधारित हैं।

यह हम पीछे के उद्देशकों में देख चुके हैं कि- हिंसा एवं आरम्भ-समारम्भ में आसक्त रहने से पाप कर्म का बन्ध होता है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आत्मा आवृत्त होती है अतः

वह व्यक्ति मूढ़ भाव को प्राप्त हो जाती है। हम यह स्वयं देखते हैं कि- जब मनुष्य की इन्द्रियें ठीक तरह काम नहीं करती है, तब उसे कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नहीं रहता है और यह सारी स्थिति कर्मोदय पर आधारित है। अतः जो व्यक्ति विषयों में आसक्त होकर परिजनों के व्यामोह में फंसता है, एवं परिजनों के लिए विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है, वह व्यक्ति पाप कर्म का बन्ध करता है और वृद्धावस्था में उसकी इन्द्रियें शिथिल हो जाने से वह मूढ़ता को प्राप्त होता है।

ऐसी वृद्ध अवस्था में वे परिजन उससे दूर होकर किस तरह उसकी निन्दा करने लगते हैं, यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ६५ ॥ १-२-१-३

जेहिं वा सद्धि संवसति, ते वि णं एगदा नियगा पुव्विं परिवयंति, सोऽवि ते नियए पच्छा परिवएजा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, से न हासाय, न किड्ढाए, न रतीए, न विभूसाए ॥ ६५ ॥

II संस्कृत-छाया :

यैः वा सार्द्धं संवसति, ते अपि एकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति, सः अपि तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत्, न अलं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वं अपि तेषां न अलं त्राणाय वा शरणाय वा, सः न हास्याय, न क्रीडायै, न रत्यै, न विभूषायै ॥ ६५ ॥

III सूत्रार्थ :

वह जिन्हों के साथ रहता है, वे आत्मीय लोग पहले ही उसका पराभव करते हैं, ओर वह भी अपने आत्मीय लोगों का बाद में पराभव करता है, वे लोग तुम्हारे रक्षण या शरण के लिये समर्थ नहीं हैं, और तुम भी उनके रक्षण या शरण के लिये समर्थ नहीं हो... वह प्राणी न तो हसने योग्य है, न तो खेलने योग्य है, न तो कामक्रीडा के लिये योग्य है और न तो विभूषा के लिये योग्य है ॥ ६५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

यहां “वा” शब्द विकल्प का सूचक है... अन्य लोक की बात तो दूर रहो, किंतु जिस पुत्र, पत्नी आदि के साथ रहता है, वे अपने आत्मीय पत्नी पुत्र आदि कि- जिसका पूर्वं समर्थ अवस्था में पोषण किया है, वे भी वृद्धावस्था आने पर बोलते हैं... कि- “यह वृद्ध मरता नहीं है, और मांचा = पलंग भी छोड़ता नहीं है...” अथवा तो इस वृद्ध से क्या ? ऐसा बोलकर पराभव = तिरस्कार करते हैं... केवल उनको ही क्लेश होता है, ऐसा नहीं

किंतु उसका खुदका आत्मा भी उस वृद्धावस्थामें अपमानित होता है... कहा भी है कि- चमडी (खाल) पे शिकन या झुरी आयी, शरीर में मात्र हड्डी शेष रही, और शरीरके स्नायु शिथिल हुए, ऐसे वृद्ध शरीर से खुद स्वयं उसका आत्मा भी उभगता (कंटालता) है, तो फिर परिवार के लोगों की तो बात हि क्या कहना ?

आबालगोपाल सभी लोगों को दृष्टांत के द्वारा कही हुई बात बुद्धि में स्थिर होती है, इसीलिये यहां एक कथानक कहते हैं- कौशांबी नगरी में धन से समृद्ध एवं बहोत पुत्रवाला धन नाम का सार्धवाह है, उसने विविध प्रकार के उपायों से धन-समृद्धि प्राप्त की है, और उसने वह धन-समृद्धि बंधुजन, स्वजन, मित्र, स्त्री, पुत्र आदि के उपयोग में दी... उसके बाद वह धन श्रेष्ठी काल के परिपाक से जब वृद्ध हुआ, तब उसने अच्छे प्रकार के लालन-पालन से पुष्ट कीये हुए एवं कला-चतुराइवाले पुत्रों को सभी घरबार एवं व्यवसाय की चिंता का भार सौंपा... उन्होंने भी सोचा कि- "पिताजी ने हमको इतनी अच्छी अवस्था तक पहुंचाया, सभी लोगों में अग्रेसर किया" इस प्रकार उपकृत ऐसे वे पुत्र कुलीन पुत्रों की तरह स्वयमेव पिताजी की सेवा करते हैं,

अब कोई बार विशेष, कार्यों की व्यस्तता से उन पुत्रों ने अपनी पत्नीओं को पिताजी की सेवा के लिये सावधान की, और वे भी वृद्ध पिताजी की सेवा उद्वर्तन, स्नान, भोजन आदि समय के अनुकूल निरंतर करती रही... अब दिन बितने पर बढ़ते हुए आयुष्य के साथ अतिशय वृद्धावस्था के कारण से आंख-कान आदि इंद्रियां शिथिल होने लगी संपूर्ण अंग-शरीर कांपनेलगा एवं मल-मूत्र आदि द्वार गलने लगते हैं... ऐसे उस वृद्ध पिताजी की परिस्थिति होने पर उन पुत्रवधुओं ने उचित सेवा में बेपरवाइ दीखाइ...

अब उचित सेवा में बेपरवाइ दिखने से एवं अपने चित्त के अभिमान से और अशुभ कर्मों के उदय से आर्त्तध्यानादि दुःख समुद्र में डूबे हुए वृद्ध पिताजी ने अपने पुत्रों से पुत्रवधुओं की बेपरवाइ कही... तब अपने पति से तिरस्कार एवं दुःख पाती हुई उन पुत्रवधुओं ने थोड़ी बहोत सेवा जो करती-होती थी, वह भी बंध कर दी... और सभी बहुओं ने एक साथ मीलकर बिचार करके अपने अपने पति से कहा कि- हम उचित सेवा करते हैं तो भी वृद्धावस्था के कारण से विपरीत बुद्धि होने से उचित-सेवा का अपलाप करते हैं, जुठ बोलते हैं... यदि आपको हम पे विश्वास नहि है, तो अन्य विश्वासु पुरुष से जांच करो... उन पुत्रों ने भी वैसा हि किया... अब वे पुत्रवधुएं भी सभी उचित सेवा समय समय पे करने लगी...

अब एकबार उन पुत्रों ने वृद्ध पिताजी से उचितसेवा बाबत पुछा तब पूर्व हुए संक्लेश के चित्तवाले वृद्ध पिताजी ने पुत्रवधुओं का अवर्णवाद किया... और कहा कि- वधुएं हमारी सेवा अच्छी तरह से नहिं करती है... अब उन पुत्रों ने यह परिस्थिति और बहुओं के विश्वसनीय

परीक्षा-वचनों से सत्य तत्त्व को जाना कि- पिताजी वृद्धावस्था के कारण से उचित सेवा होते हुए भी रोते हैं... उसके बाद पुत्रों ने भी वृद्ध पिताजी की उपेक्षा की = अवगणना की... और यथा समय सेवा करनेवाले अन्य लोगों को भी यह बात कही...

अब इस प्रकार पुत्रों से अवगणना पाये हुए एवं पुत्रवधुओं से पराभव पाये हुए तथा परिजनों से भी अपमानित हुए उस वृद्ध पिताजी के साथ कोई भी स्वजन अच्छी तरह से बात भी नहिं करते... इस प्रकार स्वजनों के बीच वह वृद्ध पिताजी अतिशय कष्टवाली शेष आयुष्य = जीवन अवस्था का अनुभव करता है... इसी प्रकार अन्य प्राणी भी वृद्धावस्था से जीर्ण देहवाला घास के तिनके को भी तोड़ने में असमर्थ होता हुआ, अपने अपने कार्य में निष्ठ = व्यग्रलोगों से पराभव = तिरस्कार को प्राप्त करते हैं...

कहा भी है कि- शरीर संकुचित हुआ, गति, चाल शिथिल हुई, दांत गिर गये, नजर नष्ट हुई, देहकांति क्षीण हुई और मुख से लार (राल) टपकती है, बंधुजन बात भी नहिं करते, पत्नी सेवा नहिं करती और पुत्र भी अवज्ञा = अपमान करते हैं, अतः वृद्धावस्था से पराभव पाये हुए पुरुष के कष्टों को धिक्कार हो...

इस प्रकार जरा = वृद्धावस्था से पराभव पाये हुए पुरुष की अपने स्वजन भी अवगणना करते हैं और वह वृद्ध पुरुष भी उनकी अवगणना से उनके प्रति विरक्त चित्तवाला होता है और उनके अवर्णवाद बोलता रहता है... यह बात सूत्रके “सो वा” पदसे स्पष्ट करते हैं, तथा “वा” शब्द पूर्व की अपेक्षा से पश्चांतर को भी बताता है... जैसे कि वे आत्मीय लोग उस वृद्ध की निंदा करते हैं, और वृद्धावस्था से जीर्णदेहवाला वह वृद्ध पुरुष भी अपने स्वजनों की अनेक प्रकार के दोषों को प्रगट करने के द्वारा निंदा करता है... अथवा खेद पाता हुआ वह वृद्ध पुरुष उन स्वजनों का पराभव करता है...

और जो स्वजन पूर्वकाल में कीये हुए उपकार-धर्म की कृतज्ञता से उस वृद्ध का पराभव तो नहिं करते, तो भी उस वृद्ध के दुःखों को दूर करने में भी समर्थ नहिं हो सकते... इसी लिये तो सूत्र में कहा है कि- वे पुत्र-पुत्री आदि स्वजन लोग भी, हे वृद्ध ! तुम्हारे त्राण एवं शरण के लिये समर्थ नहिं हैं... त्राण याने = आपदा-संकट से बचाने में जो समर्थ वह त्राण... जैसे कि- नदी के बड़े प्रवाह में बहते हुए मनुष्य-प्राणी अच्छे कर्णधार (नाविक) वाले जहाज को प्राप्त करके तैरते हैं वह माण... और शरण याने जिसके आश्रय में निर्भय होकर रह सकते हैं वह शरण... और वह शरण किल्ला, पर्वत अथवा पुरुष, स्वरूप होता है...

सारांश यह है कि- जरा याने वृद्धावस्था से पराभव पाये हुए प्राणी को न तो कोई त्राण है, और न तो कोई शरण है, और तुम भी उस परिवार का न तो त्राण हो, और न तो शरण हो... कहा भी है कि- जन्म, जरा (वृद्धावस्था) और मरण के भय से उपद्रववाले

तथा व्याधि-रोगों की पीडा से ग्रस्त इस लोक में जिनेश्वरों के वचनों के सिवा (बिना) और कोई त्राण एवं शरण नहीं है...

वह पुरुष उस वृद्धावस्था में कैसा होता है ? तो कहते हैं कि- जरा से जीर्ण शरीरवाला वह वृद्ध पुरुष दूसरों का उपहास नहि कर सकता, क्योंकि- वह खुद हि अन्य लोगों से हास्यास्पद होता है... अन्य लोग उसको प्रत्यक्ष या परोक्ष में कहते हैं कि- हास्यास्पद ऐसे इस वृद्ध के हसने से क्या ? तथा वह वृद्ध पुरुष लंघन = उल्लंघना, वल्गन-कुदके लगाना, आस्फोटन = ताली बजाना इत्यादि क्रीडा के लिये भी योग्य नहि है...

और न तो रतिक्रीडा के लिये योग्य है... रति यहां विषयसुख-कामक्रीडा स्वरूप जानीयेगा... और वह ललना = पत्नी के आलिंगन स्वरूप रति है... यदि वृद्ध पुरुष स्त्री के आलिंगन की चाहना रखता है तब पत्नी कहती हैं कि- आपको लाज नहीं आती ? आप आत्मा (खुद) को नहि देखते क्या ? पलित = सफेद बाल स्वरूप राख से घेरे हुए अपने मस्तक को क्या नहि देखते हो ? कि- जो मुझ से आलिंगन चाहते हो... इत्यादि वचनों के पात्र होने से वह वृद्ध पुरुष रति याने कामक्रीडे के योग्य नहि होता है...

और न तो विभूषा के योग्य होता है... मान लो कि- कभी विभूषा की भी हो तो भी शरीर में फैले हुए चमडी के झुर्री से (शिकन से) शोभास्पद नहीं होता है... कहा भी है कि- वृद्धावस्था में विभूषा करना योग्य नहीं है, तथा विभ्रम न होने से हसना भी योग्य नहीं... यदि वृद्धावस्था में पुरुष विभूषा करता है और अन्य का उपहास करता है तब वह खुद हि विडंबना पाता है... यौवन वय बीतने पर वृद्ध पुरुष या स्त्री एक सदाचार धर्म के सिवा अन्य जो कुछ भी करता है वह उसे शोभास्पद नहि है...

यहां यह अप्रशस्त मूलस्थान का स्वरूप पूर्ण हुआ, अब प्रशस्त मूलस्थान का स्वरूप सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में वृद्धावस्था का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। इस में बताया गया है कि- जीवन सदा एक-सा नहीं रहता है। जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आते रहते हैं और उसमें विभिन्न तरह के अनुभव एवं परिस्थितियां सामने आती हैं। व्यक्ति जिस पर पूरा विश्वास करता था और जिसके लिए अपना धर्म-कर्म भूलाकर सब कुछ करने को तत्पर रहता था, समय आने पर वे लोग किस तरह बदल जाते हैं तथा उनके जीवन व्यवहार को देखकर तथा अपनी अशक्त अवस्था का अवलोकन कर वृद्ध पुरुष के मन में अपने परिजनों के प्रति जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनका बहुत ही सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

हम प्रत्यक्ष हि देखते हैं कि- मनुष्य वृद्ध होने के बाद प्रायः बोझ रूप बन जाता है। जब तक उसके शरीर में शक्ति रहती है, तब तक परिजन भी उसका आदर-सम्मान करते हैं, सदा उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते हैं। यह आदर-सम्मान एवं सेवा-भक्ति उस व्यक्ति की नहीं, किंतु उससे प्राप्त होनेवाले भोगोपभोग की सामग्री की होती है। जब तक उसके द्वारा धन-संपत्ति के ढेर लगते हैं, भोगोपभोग के साधनों में अभिवृद्धि होती रहती है, तब तक उसके गुणों के गीत गाए जाते रहते हैं। परन्तु प्रायः शारीरिक शक्ति के क्षीण होते ही सारी स्थिति बदल जाती है, सुनहरा अतीत कालुष्य में परिवर्तित हो जाता है।

इस तरह दुनिया के अधिकांश संबंध स्वार्थ की भीति (दिवार) पर आधारित हैं। व्यक्ति अनेक पाप कार्य करके अपने परिवार का इस भावना से पालन-पोषण करता है कि- वृद्धावस्था में इनसे मुझे सुख मिलेगा। परन्तु उस अवस्था के आते ही वे परिजन उसके लिए संक्लेश का कारण बन जाते हैं और वह उनके लिए बोझ रूप बन जाता है। क्योंकि- वृद्धावस्था में शरीर की पर्याय बदल जाती है, शरीर की शक्ति एवं तेज घट जाता है। मानसिक सहिष्णुता भी कम हो जाती है, बात-बात पर बिगड़ने लगता है। खांसी से सारे घर के वातावरण को अशांत कर देता है, जगह-जगह कफ एवं खंखार थूक-थूक के कमरे को एवं आने जाने के मार्ग को गन्दा बना देता है। यह सारी स्थितियां लड़कों एवं पुत्र-वधुओं के लिए भयावनी बन जाती हैं। इतना हि नहीं, किंतु उस वृद्ध की विभिन्न आकांक्षाओं से तो वे परिजन चिंतित हो जाते हैं।

उसकी इन्द्रियें शिथिल पड़जाती हैं, शरीर जर्जरित हो जाता है, किंतु एक आसक्ति अब भी क्षीण नहीं होती, वृद्धावस्था में आसक्ति-लालसा अधिक प्रबल होती है, वह आसक्ति याने तृष्णा, आकांक्षा, लालसा। इस वृद्ध अवस्था में भी विवेकहीन ऐसे उस वृद्ध की अभिलाषा बढ़ती ही रहती है। अन्य ग्रंथों में भी कहा है कि-“केश पककर के श्वेत हो गए, शरीर के सारे अंग जीर्ण-शीर्ण एवं शिथिल हो गए, मुंह में एक भी दांत नहीं रहा और लकड़ी के सहारे के बिना वृद्ध पुरुष न तो खड़ा रह सकता है और न गति कर सकता है, फिर भी उस वृद्ध की तृष्णा-आशा एवं अभिलाषा कभी भी शांत नहीं होती, किंतु अपरिमित प्रकार से बढ़ती रहती है। अतः वह वृद्ध पुरुष तृष्णा की ज्वाला में जलता रहता है।”

उसकी शारीरिक विकृतियों एवं आशा-आकांक्षाओं तथा खाने-पीने की लालसा से परिजन घबरा जाते हैं और वे दुःखित मन से उसकी मरण-समय की प्रतीक्षा करते हैं। मात्र प्रतीक्षा ही नहीं, किंतु भगवान से प्रार्थना भी करते हैं कि- इस बूढ़े को जल्दी उठा ले। इस प्रकार वह वृद्ध पुरुष बोझ रूप प्रतीत होने लगता है। घर में उसका कोई विशेष आदर-सम्मान नहीं करता और न उसकी बात पर विशेष ध्यान भी दिया जाता है। अपने ही घर में अपनी यह स्थिति देखकर उसे दुःख एवं वेदना होती है। परन्तु परिजनों के सामने कुछ कहने का

साहस नहीं होता और कहे तो भी उसे कुछ सफलता नहि मीलती, इसलिए वह वृद्ध पुरूष उनके चले जाने के बाद उन परिजनोंकी निन्दा करके अपना दिल हल्का कर लेता है।

इस तरह पाप में प्रवृत्तहोनेवाला व्यक्ति वृद्धावस्था के आने पर दुःखी हो जाता है और आर्त्त-रौद्र ध्यान में संलग्न होकर संसार को और अधिक बढ़ा लेता है। परन्तु, उस समय उसका कोई संरक्षक नहीं होता। न धन उसका संरक्षण कर सकता है और न परिवार भी। कुछ परिजन ऐसे भी मिल सकते हैं कि- वे उसे उपकारी समझकर उसकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं, उसे आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। परन्तु वे भी उसे वृद्धावस्था के दुःखों से बचा नहीं सकते और उसे अपनी शरण में लेकर उस दुःखों से बचा भी नहि सकते हैं। यदि उसे कोई शरण देने वाला है, तो वो है, केवल एक धर्म हि धर्म की शरण में जाने के बाद फिर जरा और मरण का भय सूखने लगता है अर्थात् वह उन दुःखों से मुक्त हो जाता है। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि- वह धन, यौवन, भोग-विलास एवं परिवार में आसक्त नहीं बने और अपने एवं पारिवारिक भोगोपभोग के लिए रात-दिन पाप कार्यों में प्रवृत्त न रहे।

प्रस्तुत सूत्र में अशरण भावना का वर्णन किया गया है। वृद्धावस्था का चित्र चित्रित करके यह बताया गया है कि- संसार में दुःख एवं विपत्ति के समय कोई किसी को शरण नहीं देता। इसलिए व्यक्ति को उस समय आर्त्त-रौद्र ध्यान में न पड़कर अपने आत्म चिन्तन में लगना चाहिए और वृद्धावस्था में किसी का मुंह देखना न पड़े इसके लिए पहले से ही सावधान होकर धर्म-क्रिया करनी चाहिए, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि- पाप कार्य से सदा दूर रहना चाहिए, विवेक एवं संयम के साथ-धर्म कार्य करना चाहिए। क्योंकि- संयम एवं धर्म ही सच्चा साथी है, जन्मांतर में सहायक है एवं अंत समय में शरण देने वाला है।

परन्तु उन धर्मयुक्त व्यक्तियों का जीवन कैसा होना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में उन के प्रशस्त आचरण का वर्णन सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ६६ ॥ १-२-१-४

इच्चेवं समुट्टिए अहो ! विहाराए अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि नो पमायए वओ अच्चेति जोव्वणं च ॥ ६६ ॥

II संस्कृत-छाया :

इति एवं समुत्थाय, अहो ! विहाराय, अन्तरं च खलु इमं संप्रेक्ष्य धीरः मुहूर्त्तमपि न प्रमादयेत्, वयः अत्येति, यौवनं च ॥ ६६ ॥

III सूत्रार्थ :

इत्यादि ऐसी वृद्धावस्था जानकर संयमानुष्ठान के लिये अच्छी तरह से उठकर... और अन्य को निश्चित हि संयम में खेद पाते हुए देखकर धीर पुरुष क्षण मात्र भी प्रमाद न करे, क्योंकि- उम्र बीतती है, और यौवन भी बीतता है ॥ ६७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

अथवा इस प्रकार वे मित्र आदि स्वजन-लोग त्राण एवं शरण के लिये समर्थ नहीं है, तो अब क्या करें ? इस प्रश्न के अनुसंधान में कहते हैं कि- अप्रशस्त मूलगुणस्थान में रहा हुआ प्राणी वृद्धावस्था में न हसने योग्य है, न खेलने योग्य है, न कामक्रीडा के योग्य है, और न तो विभूषा के लिये योग्य है, क्योंकि- प्रत्येक जीव को अपने किये हुए शुभ एवं अशुभ कर्मों के फल खुद अपने को ही भुगतना होता है ऐसा जानकर शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में कहे गये मूलगुणस्थान में रहा हुआ साधु अहोविहार = यथोक्त संयम के अनुष्ठान के लिये, अच्छी तरह से उठकर = सावधान होकर एक क्षण भी प्रमाद न करे... तथा तप एवं संयम आदि में खेद पानेवाले साधु को कहते हैं कि- आर्य क्षेत्र, अच्छे कुल में जन्म, बोधि = सम्यग् दर्शन की प्राप्ति और सर्वविरति इत्यादि की प्राप्ति इस अनादिकाल के संसारचक्र में दुर्लभ है, अतः शुभ सामग्रीवाले इस महान् अवसर को प्राप्त करके धीर पुरुष एक मुहूर्तमात्र भी प्रमाद परवश न हो... छद्मस्थ जीवों का उपयोग अंतर्मुहूर्त का होता है, इसीलिये मुहूर्त कहा, अन्यथा एक समय भी प्रमाद न करें... ऐसा समझना है... कहा भी है कि- हे जीव ! मनुष्य जन्म प्राप्त करके, और संसार की असारता को जानकर भी यह मनुष्य प्रमाद का त्याग करके शांति-मोक्ष के लिये सतत प्रयत्न क्यों नहीं करता ? तथा निश्चित हि यह अति दुर्लभ मनुष्य जन्म, अगाध संसार समुद्र में यदि विनष्ट हुआ तब पुनः यह मनुष्य जन्म जुगनु और बिजली के चमकारे के समान अति दुर्लभ होगा...

अब कहते हैं कि- क्यों प्रमाद न करें ? उत्तर- कुमार आदि उम्र अति शीघ्र बीत जाती है, और यौवन भी अति शीघ्रता से बीत जाता है...

“उम्र” कहने से यौवन का भी कथन हो जाता है तो फिर पुनः यौवन का कथन क्यों किया ? हां, बात ठीक है, किंतु यौवन पद का ग्रहण यौवन प्रधानता बताने के लिये किया है... क्योंकि- धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थ का मुख्य साधन यौवन हि है, और संपूर्ण उम्र में यौवन हि सर्व श्रेष्ठ है, और वह यौवनावस्था अति शीघ्रता से बीत जाती है... कहा भी है कि- नदी के पुर के समान जीवित है, और फुल=पुष्प के समान यौवन है, और विषयभोग अनित्य है... यह तीनों शीघ्रता से नष्ट होते हैं... अतः ऐसा जानकर संयमानुष्ठान के लिये उठना = तत्पर होना हि कल्याणकर है...

अब-जो प्राणी संसार के अनुरागी है, वे असंयमवाले जीवन को हि अच्छा मानते हैं... तो उनका क्या होता है ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

जीवन सदा परिवर्तनशील हैं, वह सदा एक-सा नहीं रहता है। प्रायः चिन्ताओं, उलझनों से युक्त, यौवन का सुनहरा प्रवाह जब बह निकलता है और बुढ़ापे की कालिमा उसे आ घेरती हैं। उस समय कोई भी स्नेही-साथी उसके दुःख को दूर करने में समर्थ नहीं होता। इस बात को सम्यक्तया जानकर एवं समझकर विवेकशील व्यक्ति को धर्म एवं संयम-साधना पथ पर गति करने में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि- जीवन में धर्म-सदाचार ही एक मात्र सहायक है। क्योंकि- धर्म से पाप कर्मों का नाश होता है और सम्यग् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की ज्योति प्रज्वलित होती है, चिन्तन-मनन में स्थिरता आती है, आचार में तेजस्विता आती है। संकल्प-विकल्प का वेग अल्प होता है, आर्त्त-रौद्र ध्यान की धारा धर्म ध्यान या शुक्ल ध्यान में बदल जाती है। इससे आत्मा में अपूर्व तेज एवं शक्ति की अनुभूति होती है और आत्मा सारे दुःखों एवं वेदनाओं से ऊपर उठकर आत्म सुख के अनन्त आनन्दमय झूले में झूलने लगती है। अशुभ कर्मजन्य दुःख के तापवाली दुपहरियों में भी वह साधु संवर भाव स्वरूप आत्म सुख की शीतल, सरस, सघन एवं सुखद कुञ्ज में विहार करता है। इसलिए कहा गया है कि- मनुष्य को जीवन की अस्थिरता को भली-भांति जान कर वृद्धावस्था आने से पहले ही सावधान हो जाना चाहिए और जरा एवं मृत्यु स्वरूप शत्रुओं को परास्त करने के लिए अहिंसा, सत्य आदि आध्यात्मिक शस्त्रों को प्रबल एवं तीक्ष्ण बनाने के लिए अनवरत अप्रमत्त रहना चाहिए अथवा संयम साधना में क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

यह हम देख चुके हैं कि- वृद्धावस्था में शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है। उस समय जीवन संबन्धी अनेक चिन्ताएं एवं अनेक मानसिक और शारीरिक व्याधियां उसे निरूत्साह बनाती हैं, ऐसे समय में उसका मन तत्त्व चिन्तन-मनन एवं धर्म साधना में लगना कठिन है। उस समय वह जीवन की चिन्ताओं के बोझ से इतना दब जाता है कि- दुःख के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। इसलिए सर्वज्ञों ने मानव को सावधान करते हुए कहा है कि- धर्म एवं साधना करने के लिए समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि- किसे पता है कि- कौन सा समय, कौन सा क्षण उसके लिए काल के रूप में आ उपस्थित हो। अतः मनुष्य को आने वाले प्रत्येक समय को काल का, मृत्यु का दूत समझ कर उसे सफल बनाने में प्रयत्नशील रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में इसी मूल स्थान की और निर्देश किया गया है कि- उसे पूर्व जन्म के पुण्य एवं ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम से जो आर्य क्षेत्र, शुद्ध आचारयुक्त कुल एवं सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य रूप धर्म साधन उपलब्ध हुए हैं, अतः आत्म विकास में उनका उपयोग करने में मनुष्य को प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि- यौवन एक तरह से कल्प वृक्ष है, वह सब कामनाओं को पूरी करने में समर्थ है। इससे अर्थ और काम रूप विष भी प्राप्त किया जा सकता है और धर्म एवं मोक्ष रूप अमृत भी और विषय एवं अमृत दोनों के अशुभ एवं शुभ परिणाम दुनिया के सामने हैं। अतः बुद्धिमान व्यक्ति वही है, जो विष की ज्वाला से अपने आपको बचाते हुए अमृत समान धर्म पथ पर गति करता है। यदि कभी वह गृहस्थ जीवन में अर्थ और काम के पथ पर बढ़ता है, तब भी धर्म और मोक्ष की भावना को साथ लेकर गति करता है, यों कहना चाहिए कि- उसका भोग, त्याग प्रधान होता है। वह काम की अंधेरी गुफा में भी धर्म एवं त्याग का प्रकाश लेकर प्रविष्ट होता है, तब वहां भी वैराग्य मार्ग पा लेता है। अतः इस यौवन के सुनहरे क्षणों को व्यर्थ न खोकर; मनुष्य को अप्रमत्तभाव से धर्म-ध्यान में संलग्न रहना चाहिए।

आत्म ज्ञान का प्रकाश उस मनुष्य को इधर-उधर की ठोकड़ों से बचाता है। जो व्यक्ति आत्मज्ञान से शून्य होकर काम-वासना में संलग्न रहते हैं, वे विषय-वासना के बिहड़ एवं भयावने जंगल में भटक जाते हैं। वे अज्ञानी व्यक्ति अनेक दुष्प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होकर जीवन के सुनहरे समय को यों ही बर्बाद कर देते हैं। इसी बात को विशेष प्रकार से सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ६७ ॥ १-२-१-५

जीविए इह जे पमत्ते, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्वित्ता उतासइत्ता, अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धि संवसइ, ते वा णं एगया नियगा तं पुब्बिं पोसेंति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ॥ ६७ ॥

II संस्कृत-छाया :

जीविते इह ये प्रमत्ताः, सः हन्ता, छेत्ता, भेत्ता, लुम्पयिता, विलुम्पयिता, अपद्रावयिता, उत्-त्रासयिता, अकृतं करिष्यामि इति मन्यमानः यैः वा सार्द्धं संवसति, ते वा (णं इति वाक्यालंकारे) एकदा निजकाः तं पूर्वं पोषयन्ति, सः वा तान् निजकान् पश्चात् पोषयेत्, न अलं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वं अपि तेषां न अलं त्राणाय वा शरणाय वा ॥ ६७ ॥

III सूत्रार्थ :

जो लोग इस जीवित में प्रमादी हैं... वह प्राणीओं का वध करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लुटता है, प्राणों का नाश करता है, त्रास देता है, अन्य ने जो कार्य नहीं किया वह कार्य मैं करूंगा ऐसा मानता हुआ... जिन्हों के साथ रहता है, वे आत्मीय लोग एकदा पहले उसका पोषण करते हैं, एवं वह भी पुरुष उन आत्मीय लोगों का बाद में पोषण करे... किंतु वे लोग तुम्हारे त्राण एवं शरण के लिये समर्थ नहि हों, और तुम भी उनके त्राण एवं शरण के लिये समर्थ नहि होते हो... ॥ ६७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जो लोग उम्रका बीतना नहि जानते वे इस असंयम जीवित में मग्न हुए विषय-कषायों में प्रमाद करते हैं, प्रमादी ऐसे वे दिन-रात संताप पाते हुए काल और अकाल में जीवों के वध होनेवाली क्रियाओं का आरंभ करते हैं, इसीलिये कहते हैं कि- अप्रशस्त गुणमूलस्थानवाला विषयाभिलाषी प्रमादी ऐसा वह प्राणी स्थावर और जंगम जीवों का वध करता है, यहां बहुवचन का प्रस्ताव होते हुए भी जाति की अपेक्षा से एकवचन का निर्देश किया है...

तथा प्राणीओं के कान, नाक आदि का छेदन करते हैं, मस्तक, आंखे और उदर-पेट आदि का भेदन करते हैं, ग्रंथि के छेद (चोरी) आदि के द्वारा लुटते हैं, और गांव एवं नगर के विनाश स्वरूप विशेष प्रकार से लुटते हैं, विष (जहर) और शस्त्र आदि से जीवित का नाश करते हैं, और पत्थर के फेंकने के द्वारा जीवों को त्रास देते हैं...

प्रश्न- वह प्राणी जीववध आदि क्रियाएं क्यों करता है ?

उत्तर- अन्य लोगों ने जो कार्य नहीं किया है, ऐसा कार्य मैं करूंगा ऐसा सोचता हुआ वह मनुष्य धन की प्राप्ति के लिये जीववध आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है...

अतिशय क्रूर कर्मों को करनेवाला वह मनुष्य समुद्रलंघन आदि क्रियाओं को करता हुआ भी अलाभ-कर्म के उदय से सभी धन का विनाश होने से कैसा होता है ? यह बात अब कहते हैं... यहां “वा” शब्द भिन्नक्रम अथवा अन्य विकल्प का सूचक है...

वह मनुष्य जिस मात-पिता स्वजन आदि के साथ रहता है, वे आत्मीय बंधुजन अथवा मित्र आदि सभी, शिशु अवस्था में उसका पोषण करते हैं, और मन चाहा भोगोपभोग प्राप्त होने से वह मनुष्य भी बाद में धन की प्राप्ति से उन आत्मीय लोगों का धन-वस्त्र आदि के द्वारा पोषण करता है... किंतु वे पोषक या पोष्य स्वजन संसार में रहे हुए तुम्हारे त्राण के लिये समर्थ नहि है... “ते” याने आत्मीय मात-पितादि... “तव” याने सन्मुख रहा हुआ उपदेश योग्य प्राणी... त्राण याने आपदाओं से रक्षण तथा शरण याने निर्भय स्थिति के लिये समर्थ नहि है, और तुम भी उनके त्राण एवं शरण के लिये समर्थ नहि हो...

इस प्रकार स्वजन-परिवार के लोग त्राण के लिये समर्थ नहि है... यह बात कही, अब बहोत सारे कष्ट से प्राप्त कीया हुआ और सुरक्षित रखा हुआ धन भी त्राण के लिये समर्थ नहि है, यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से हि कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में असंयमी, विषयाभिलाषी एवं प्रमत्त व्यक्तियों के जीवन का वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि- विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति अपने भोगोपभोगों के साधनों को जुटाने के लिए अनेक प्राणियों का छेदन-भेदन करते हैं एवं अनेक प्राणियों के धन-वैभव को लुंटाते हैं। इस प्रकार वे लूट-खसूट एवं छल-कपट आदि विभिन्न उपायों से प्राणियों को त्रास देकर भोग-विलास में संलग्न रहते हैं। उनके इस कार्य में परिजन भी सहयोगी बन जाते हैं। जब वह व्यक्ति बीमार या कार्य करने में असमर्थ हो जाता है, तो वे परिजन उसका पोषण करते हैं। क्योंकि- उसके सहारे से हि इनका भोग-विलास चलता है। इस लिए वे उसे स्वस्थ बनाने के लिए विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करते हैं। वह प्रमादी व्यक्ति भी रात-दिन उनका पोषण करने में लगा रहता है।

इस प्रकार परस्पर सहयोग के द्वारा एक-दूसरे के पाप कार्यों को प्रोत्साहन देते हैं। परन्तु जब मृत्यु सिर पर आकर खड़ी होती है, उस समय संसार का कोई भी व्यक्ति उसकी रक्षा नहीं कर सकता और उसे अपनी शरण में लेकर मृत्यु के भय से मुक्त या निर्भय भी नहीं कर सकता है। उस मरण के समय में उस प्रमादी व्यक्ति के परिजन को अत्यल्प भी सहायता नहीं कर पाते हैं और ऐसे समय में वह भी अपने परिजनों को सहयोगी नहि बन सकता है। अतः इसका निष्कर्ष यह निकला कि- संसार में कोई भी व्यक्ति किसी को शरण नहीं दे सकता ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रमादी व्यक्तियों के लिए एक वचन का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि- सभी प्रमादी व्यक्तियों का जाति के रूप में वर्णन किया गया है। व्यवहार में भी हम जाति विशेष के लिए एक वचन का ही प्रयोग करते हैं।

इससे स्पष्ट हो गया कि- काल की कराल चपेट से कोई भी स्वजन व्यक्ति बचाने में समर्थ नहीं है। उस समय परिवार भी उससे मुंद मोड़ लेता है। ऐसी स्थिति में धन-वैभव उसके क्या काम आ सकता है ? जब चेतन व्यक्ति भी उसे मरण काल से बचाने में समर्थ नहीं है, तो जड़ द्रव्य-धन उसे क्या सहारा दे सकता है ? अथवा कुछ भी सहारा नहीं दे सकता है। इसी बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ६८ ॥ १-२-१-६

उपाइय-सेसेण वा संनिहि-संनिचओ किज्जइ, इहमेगेसिं असंजयाण भोयणाए, तओ से एगया नियगा तं पुब्बिं परिहरंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिहरिज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ॥ ६८ ॥

II संस्कृत-छाया :

उपादित-शेषेण वा सन्निधि-सन्निचयः क्रियते, इह एकेषां असंयतानां भोजनाय, ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते, यैः वा सार्द्धं संवसति, ते वा एकदा निजकाः तं पूर्वं परिहरन्ति, सः वा तान् निजकान् पश्चात् परिहरेत्, न अलं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वं अपि तेषां न अलं त्राणाय वा शरणाय वा ॥ ६८ ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में कितनेक असंयत लोग भोजन के लिये प्राप्त-उपभोग-शेष धन का संनिधि-संचय करता है... उसके बाद उसे ज्वर आदि रोग उत्पन्न होते हैं, तब जिन्हों के साथ रहता है, वे आत्मीय लोग एकदा पहले से ही उसको छोड़ देते हैं, और वह भी उनको बाद में छोड़ देता है, वे लोग तुम्हारे त्राण एवं शरण के लिये समर्थ नहि है, और तुम भी उनके त्राण एवं रक्षण के लिये समर्थ नहि हो... ॥ ६८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

उप + अद् + त = उपादित याने उपभोग के बाद शेष बचे हुए धन एवं उपभोग न करनेवाले कृपण मनुष्य सभी धन-समृद्धि का संनिधि-संचय करता है... संनिधि याने उपभोग के लिये जो धन इकट्ठा किया जाय... और संनिचय याने उसकी प्रचुरता... इस संसार में कितनेक असंयत अथवा संयत के आभासवाले साधु लोग अपने भोजन-उपभोग के लिये धन इकट्ठा करते हैं... किंतु जिस शब्दादि विषय भोग के लिये धन इकट्ठा किया था, वह विषय भोग भी अंतराय कर्म के उदय से उन्हें नहि मीलता है... यह बात अब सूत्र के हि पदों से कहते है- धन के निधि की प्रचुरता प्राप्त करने के बाद जब उस प्राणी को भोगोपभोग की इच्छा होती है तब द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव के कारणों से उदय में आये हुए असाता वेदनीय कर्म से ज्वर आदि रोग शरीर में उत्पन्न होते हैं, तब वह प्राणी ज्वर, कुष्ठ, राजयक्ष्म (क्षयरोग T.B.) आदि रोगों से पराभव पाता हुआ, कोढरोग से चीबडे नाकवाले, गल रहे हाथ-पैरवाले और क्षयरोग से निरंतर श्वासोच्छ्वास की पीडावाले होता है, ऐसे उसको रोगी अवस्था में मात-पितादि स्वजन लोग पहले से ही छोड़ देते हैं और परिजनों के पराभव से विवेक हीन ऐसा वह मनुष्य भी अपने उन स्वजनों को बाद में छोड़ देता है, स्वजनों के प्रति निरपेक्ष

सेडुक नाम के पुरुष की तरह... वह प्राणी भी स्वजनों का त्याग करता है... अब वे स्वजन आदि लोग, रोग अवस्था में तुमको छोड़ दे, या न भी छोड़े तो भी वे तुम्हारे त्राण एवं रक्षण के लिये समर्थ नहि है...

अब यहां यह प्रश्न होता है कि- रोग आदि विषम अवस्था में त्राण के अभाव में रोग की पीड़ा समभाव से सहन हो उसके लिये किसका आलंबन लेना चाहिये... ? इस प्रश्न का उत्तर अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

मोह कर्म के उदय से प्रमादी प्राणी भौतिक पदार्थों में आसक्त रहते हैं। वे उन पदार्थों को अपने भोगोपभोग का साधन एवं विपत्ति में सहायक के रूप में समझते हैं। इसलिए वे जीवन में धन-वैभव आदि को महत्त्व देते हैं और उसके संग्रह में रात-दिन लगे रहते हैं तथा अनेक प्रकार के पाप कार्य करने में भी संकोच नहीं करते। वे समझते हैं कि- यह धन मेरे एवं मेरे पुत्र-पौत्र आदि के भोगोपभोग के लिये उपयोग में आएगा, परन्तु, वे यह नहीं सोचते कि- जब एक लोही के संबंध में आबद्ध परिजन भी एक-दूसरे को दुःख में शरण नहीं दे सकता, तब यह जड़ द्रव्य-धन सहायक कैसे होगा ?

यही बात प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट रूप से समझाई गई है। सूत्रकार ने बताया है कि- धन का प्रभूत संचय किया हुआ है, परन्तु असाता-वेदनीय कर्म के उदय से असाध्य रोग ने जब आ घेरा उस समय वह धन एवं वे भोगोपभोग के साधन उसके दुःखों को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। धन-वैभव से सनाथता एवं श्रेष्ठता को मानने वाले मगधाधिपति श्रेणिक को भी अनाथी मुनी ने अनाथ बताया था, इसमें सच्चाई है, वास्तविकता है। अनाथी मुनि ने वैभव की निस्सारता का चित्र उपस्थित करते हुए सम्राट श्रेणिक से कहा था कि- हे राजन् ! मेरे पिता अगणित, धन-ऐश्वर्य के स्वामी थे, भरापूरा परिवार था। सुशील, विनीत एवं लावण्यमयी नवयौवना पत्नी थी। परन्तु जिस समय मेरे शरीर में दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया। मैं दिन-रात ज्वर की आग में जलता रहा; मैं ही नहीं मेरा सारा परिवार आकुल व्याकुल हो गया, पत्नी रात-दिन आंसू बहाती रही, पिता ने मेरी वेदना को शांत करने के लिए धन को पानी की तरह बहाना आरम्भ कर दिया, फिर भी हे राजन् ! वह धन, वह परिवार मेरी वेदना को शांत नहीं कर सका, मुझे शरण नहीं दे सका, इस लिए मैं उस समय अनाथ था। मैं ही नहीं, भोगों में आसक्त सारा संसार ही अनाथ है क्योंकि- यह भोगोपभोग, दुःख एवं संकट के समय किसी के रक्षक नहीं बनते...

यहां यह स्पष्ट है कि- रोग के आने पर वह द्रव्य धन-संपत्ति, उसे असाता वेदनीय कर्म या दुःख की संवेदना से बचा नहि सकता है और उसके संरक्षक माता-पितादि भी उसे

बचा नहि सकतें है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को धन-वैभव के संग्रह में आसक्त न होकर वेदनीय कर्म के उदय से प्राप्त कष्ट को समभाव पूर्वक सहन करके, उदयागत कर्म को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए,

रोग आदि दुःख एवं वेदना के समय किस तरह समभाव रखना चाहिए, इस बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ ६९ ॥ १-२-१-७

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ॥ ६९ ॥

II संस्कृत-छाया :

ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं, सातम् ॥ ६९ ॥

III सूत्रार्थ :

प्रत्येक प्राणी के दुःख एवं साता को जानकर मुनी संवरतत्त्व का आदर करता है...

IV टीका-अनुवाद :

प्रत्येक प्राणीओं के दुःख और साता (सुख) को जानकर साधु, दीनमनवाला हुए बिना ज्वर आदि की अवस्था में अपने कीये हुए कर्मफल अवश्य भुगतना हि है, ऐसा मानकर आकुल-व्याकुलता न करें... कहा भी है कि- हे जीव ! कोइ विकल्प कीये बिना तुं उदयागत कर्मों के दुःखों को सहन कर... क्योंकि- तुझे फिर से स्वाधीनता मिलनी दुर्लभ है... और हे जीव ! तुंने पराधीन दशा में तो बहोत दुःख सहन कीये है और सहन करेगा... किंतु ऐसी पराधीन स्थिति में तुझे कोइ गुण-लाभ प्राप्त नहि होगा...

अतः जब तक श्रोत्र आदि इंद्रियो का ज्ञान क्षीण होनेवाली वृद्धावस्था की उपस्थिति न हुई हो तब तक आत्मा के हितकर कार्य में अवश्य उद्यम कर लेना चाहिये... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

साता और दुःख दोनों एक ही कर्म-वृक्ष के फल है। वह वृक्ष है-वेदनीय कर्म। यह प्रश्न हो सकता है कि- एक ही पेड़ के दो विपरीत गुण वाले फल कैसे हो सकते हैं ? उत्तर- इसमें कोइ आश्चर्य जैसी बात नहीं है क्योंकि- वेदनीय कर्म रूपी वृक्ष की दो शाखाएं हैं- एक शुभ और दूसरी अशुभ और उन दोनों शाखाओं से उभय रूप फल प्राप्त होते हैं, जबकि-

दोनों का मूल वेदनीय कर्म एक ही है।

इस तरह साधक साता और दुःख रूप उभय फलों को वेदनीय कर्मजन्य जानकर समभाव पूर्वक संवेदन करे। न साता में आसक्त बने और न दुःख में हाहाकार करे, परन्तु अपने किए हुए कर्म के फल समझकर उपशमभाव के साथ उनका संवेदन करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जाणितु' और 'पत्तेयं' शब्द बड़े महत्त्व पूर्ण हैं। 'जाणितु' पद से यह अभिव्यक्त किया है कि- प्रत्येक वस्तु को पहले जानना चाहिए। क्योंकि- ज्ञान के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। अतः दुःख में समभाव की साधना भी ज्ञान युक्त व्यक्ति ही कर सकता है। और 'पत्तेयं' से यह बताया है कि- दुनिया में सर्वत्र व्यापक एक ही आत्मा नहीं, किंतु इस विश्व में अनंत-अनेक आत्माएं हैं और उन सब आत्माओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहा हुआ है।

इसके अतिरिक्त 'दुःखं' और 'सायं' शब्दों से यह स्पष्ट कर दिया है कि- प्रत्येक संसारी आत्मा को प्राप्त साता और दुःख उसके कृत कर्म के फल है, व्यक्ति पापाचरण से अशुभ कर्मों का बन्ध कर के दुःखों को प्राप्त करता है और पून्यकार्यों में प्रवृत्त होकर शुभ कर्म बन्ध से सुखसाता को उपलब्ध करता है।

अतः साधक को प्राप्त दुःख एवं वेदना में धबराना नहीं चाहिए, किंतु समभाव पूर्वक उसे सहन करना चाहिए। इसी बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ ७० ॥ १-२-१-८

अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए ॥ ७० ॥

II संस्कृत-छाया :

अनभिक्रान्तं च खलु वयः संप्रेक्ष्य ॥ ७० ॥

III सूत्रार्थ :

अभी निश्चित हि उग्र अभिक्रान्तं नहि हुई है, ऐसा देखकर आत्महित करें... ॥ ७० ॥

IV टीका-अनुवाद :

पहले ऐसा कहा कि- प्राणी जरा याने वृद्धावस्था या मरण से अभिक्रान्तं हुइ उग्र को देखकर मूढता को धारण करता है, अब कहते हैं कि- अनभिक्रान्तं आयुष्य को देखकर प्राणी आत्महित के कार्य करे... प्रश्न- क्या ? उग्र अतिक्रान्तं न हुइ हो ऐसा हि प्राणी आत्महितकर

अनुष्ठान करे ? या अन्य प्राणी भी ? उत्तर- अन्य प्राणी भी अवसर को प्राप्त करके आत्महित के अनुष्ठान अवश्य करे... यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधक को सावधान करते हुए कहा गया है कि- हे साधक ! तू संसार की अवस्था को जान-समझकर तथा सम्यक्तया अवलोकन करके आत्म चिन्तन में संलग्न हो। क्योंकि- अभी तुम्हारे शरीर पर वृद्धावस्था एवं रोगों ने आक्रमण नहीं किया है, तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियों भी सशक्त हैं, ऐसी स्थिति में बहुमूल्य समय को व्यर्थ में नष्ट मत कर। क्योंकि- इस यौवन अवस्था के बीत जाने पर इन्द्रियों की शक्ति कमजोर हो जाएगी, अनेक रोग तेरे शरीर पर आक्रमण करके उसे शक्ति हीन बना देंगे। फिर तू चाहते हुए भी कुछ भी पून्यकार्य नहीं कर सकेगा।

इससे यह स्पष्ट होता है कि- धर्म-साधना के लिए स्वस्थ शरीर एवं सशक्त इन्द्रियों का होना आवश्यक है। यह सब सापेक्ष साधन हैं। निश्चय दृष्टि से निर्वाण प्राप्ति के कारण रूप क्षायिक भाव की प्राप्ति के लिए क्षयोपशम भाव सहायक है, और शरीर की नीरोगता, साता वेदनीय कर्म के उदय से है, तो भी यहां जो यौवन वय को साधना में लगाने को कहा है, उसका कारण यह है कि- यह शरीर क्षायिक भाव प्राप्ति का भी परंपरा से साधन है और साधना की सिद्धि के लिए साधनों का स्वस्थ एवं सशक्त होना जरूरी है। इसलिए साधना काल में स्वस्थ शरीर भी अपेक्षित है। अतः प्राप्त समय को सफल बनाने के लिए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ७१ ॥ १-२-१-१

खणं जाणाहि पंडिए ॥ ७१ ॥

II संस्कृत-छाया :

क्षणं जानीहि पण्डित ! ॥ ७१ ॥

III सूत्रार्थ :

हे मुनिराज ! अवसर को जानो-पहचानो ॥ ७१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

क्षण याने धर्म के अनुष्ठान का अवसर... और वह अवसर आर्यदेश, उत्तमकुल में जन्म इत्यादि है... वृद्धावस्था, बाल अवस्था और रोग अवस्था के अभाव में हे आत्मज्ञ

! पंडित ! मुनिराज ! अवसर को जानो... अथवा संयम में खेद पानेवाले साधु को संयम-पंचाचार के लिये प्रोत्साहन देते हुए कहते हैं कि- हे यौवनउग्र वाले ! निंदा आदि तीन दोष रहित ! हे पंडित ! मुनिराज ! द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव भेदवाले अवसर को जानो-समझो...

वह इस प्रकार- द्रव्यक्षण = द्रव्य स्वरूप अवसर... जैसे कि- त्रस, पंचेंद्रिय, विशिष्ट जाति, विशिष्ट कुल, रूप, बल, आरोग्य एवं दीर्घ आयुष्यवाला यह मनुष्य जन्म, संसार समुद्र तैरने में समर्थ चारित्र के लिये हि तुमने प्राप्त किया है... ऐसा मनुष्य जन्म अनादिकाल के इस संसार में परिभ्रमण करनेवाले जीवों को अतिशय दुर्लभ है... और अन्य तिर्यच नरक एवं देव जन्म में यह चारित्र प्राप्त नहीं होता है... वह इस प्रकार- देव एवं नरक जन्म में सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक हि प्राप्त हो सकते हैं तथा तिर्यच जन्म में कोइक जीव को देशविरति सामायिक भी प्राप्त होता है... किंतु मोक्ष के कारण स्वरूप सर्वविरति सामायिक तो मात्र मनुष्य जन्म में हि प्राप्त होता है...

क्षेत्रक्षण याने क्षेत्र स्वरूप अवसर... जिस क्षेत्र में चारित्र प्राप्त हो वह क्षेत्रक्षण है... और वह क्षेत्र सर्वविरति चारित्र = सामायिक प्राप्ति का क्षेत्र अधोलोक के अधोग्राम सहित तिर्यक्-क्षेत्र हि है... और उनमें भी अढाइ द्विप-समुद्र... उनमें भी पंद्रह कर्मभूमीयां... और उनमें भी भरतक्षेत्र की अपेक्षा से साढे पच्चीस (२५.१/२) आर्धदेश इत्यादि... क्षेत्रक्षण है... अन्य क्षेत्र में सम्यक्त्व सामायिक एवं श्रुतसामायिक हि होते हैं...

कालक्षण = काल स्वरूप अवसर... वह कालक्षण-अवसर्पिणीकाल के सुषमदुष्म, दुष्मसुषम और दुष्म नाम के तीन आरे में तथा उत्सर्पिणी काल के तीसरे एवं चौथे आरे में सर्वविरतिसामायिक स्वरूप चारित्र होता है... यह बात प्रतिपद्यमान याने स्वीकार = आरंभ की दृष्टि से कहा है, किंतु पूर्व-प्रतिपन्न की दृष्टि से तो तिर्यग्-ऊर्ध्व और अधोलोक में तथा सभी काल में सर्वविरति चारित्र होता है...

भावक्षण के दो प्रकार है... १. कर्मभावक्षण और २. नोकर्मभावक्षण... उनमें कर्मभावक्षण याने कर्मों के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय में से कोइ भी भाव की प्राप्ति का अवसर... उनमें भी उपशमचारित्र क्षण = उपशम श्रेणी में चारित्रमोह का उपशम होने पर अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण औपशमिक चारित्रक्षण होता है... तथा इसी चारित्रमोह के क्षय से अंतर्मुहूर्त काल प्रमाण छद्मस्थ यथाख्यात चारित्र क्षण क्षीणमोह नाम के बारहवे गुणस्थानक में होता है... और क्षयोपशम चारित्र क्षण चारित्रमोह के क्षयोपशम से होता है... और वह उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि वर्ष पर्यंत होता है...

तथा सम्यक्त्व सामायिक का क्षण=अवसर तो मध्यम स्थिति के आयुष्यवालों को होता है... और शेष कर्मों में पत्योपम के असंख्येय भाग न्यून अंतःकोडाकोडिसागरोपम स्थितिवाले

जीवों को यह भावक्षण होता है...

मिथ्यात्व मोह की ग्रंथि के पास रहे हुए भव्यजीव और अभव्य जीवों की विशुद्धि से अनंतगुण विशुद्धि से विशुद्ध होनेवाला, मति, श्रुत और विभंगज्ञान में से कोई भी साकार उपयोगवाले तथा तेजो, पद्म और शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओं में से कोई भी लेश्यावाले तथा अशुभकर्मों के चार स्थानवाले रसको दो स्थानवाला बनानेवाले तथा शुभ कर्मों के दो स्थानवाले रस को चार स्थानवाला बनानेवाले तथा ऐसे ही शुभ कर्मरसबंध की बांधनेवाले तथा भवप्रायोग्य ध्रुवबंधिकर्म प्रकृतीयां तथा परिवर्तमान कर्मप्रकृतीयां को बांधनेवाले जीव हि मोहग्रंथि को भेदकर सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं...

ध्रुवबंधिकर्मप्रकृतीयां ४७ हैं... और वे यह- पांच ज्ञानावरणीय - ५, नव दर्शनावरणीय - ५ + ९ = १४, मिथ्यात्व मोहनीय - १५, सोलह कषाय - १५ + १६ = ३१, भय - ३२, जुगुप्सा - ३३, तेजस - ३४ और कर्मण शरीर - ३५ तथा वर्ण - ३६, गंध - ३७, रस - ३८, स्पर्श - ३९, अगुरुलघु - ४०, उपघात - ४१, निर्माणनामकर्म - ४२ तथा पांच अंतरायकर्म - ४२ + ५ = ४७... यह ध्रुवबंधिकर्म अपने अपने बंधस्थानक पर्यंत सदा बद्धयमान होते रहते हैं...

मनुष्य और तिर्यच में कोई भी जीव, सर्व प्रथम सम्यक्त्व को प्रगट करती वख्त यह परिवर्तमान इक्कीस (२१) कर्म प्रकृतीयां बांधते हैं... वे इक्कीस कर्म इस प्रकार हैं- १. देवगति और २. आनुपूर्वी, ३. पंचेंद्रियजाति, ४. वैक्रिय शरीर और ५. अंगोपांग, ६. समचतुरस्रसंस्थान, ७. पराघात, ८. उच्छ्वास, ९. शुभ विहायोगति, ९ + १० = १९. त्रस दशक, २०. साता वेदनीय और २१. उच्चगोत्र...

यहां देव और नारक - मनुष्यगति एवं आनुपूर्वी, प्रथम संघयण के साथ शुभ कर्म बांधते हैं, तथा तमःतमा नामक सातवी नरक के नारकजीव तिर्यचगति और आनुपूर्वी तथा नीचगोत्र के साथ परावर्तमान कर्म बांधते हैं... इस प्रकार ऐसे अच्छे अध्यवसायवाले जीव आयुष्यकर्म को नहीं बांधा हुआ यथाप्रवृत्ति कारण के द्वारा ग्रंथिप्रदेश में आकर अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व की ग्रंथि को भेदकर तथा सत्ता में रहे हुए मिथ्यात्व के दलिकों का अनिवृत्तिकरण के द्वारा अंतरकरण करके सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं, उसके बाद चारित्रमोह कर्म का विशेष क्षयोपशम होने से, और शुभ अध्यवसाय के कंडकों की वृद्धि होने से जीव को देशविरति एवं सर्वविरति चारित्र का अवसर तिर्यच एवं मनुष्य को प्राप्त होता है...

यह कर्मभावक्षण का स्वरूप कहा... अब नोकर्मभावक्षण का स्वरूप कहते हैं...

नोकर्मभावक्षण याने- आलस्य, मोह, अवर्णवाद (निंदा) अभिमान आदि दोषों के

अभाव में सम्यक्त्व आदि के प्राप्ति का अवसर... क्योंकि- आलस्य आदि दोषों के कारण से प्राणी संसार समुद्र को पार होने में समर्थ मनुष्य जन्म पाकर भी सम्यग्दर्शन आदि आत्मगुणों को प्राप्त नहीं कर सकती है... कहा भी है कि- आलस्य, मोह, अज्ञान, अभिमान, क्रोध, प्रमाद, कंजुसाइ, भय, शोक, अज्ञान, विक्षेप, कुतूहल, कामक्रीडा इत्यादि कारणों से जीव दुर्लभ ऐसा मनुष्य जन्म पाकर भी संसार से पार करनेवाली हितकारी श्रुति = धर्मकथा का श्रवण प्राप्त नहीं करते... इस प्रकार चार प्रकार का क्षण कहा... उसका सारांश यह है कि- जंगमत्व याने त्रसत्व आदि विशिष्ट मनुष्य जन्म यह द्रव्यक्षण है, तथा आर्यदेश आदि क्षेत्रक्षण है, तथा धर्मानुष्ठान के आचरण का काल यह कालक्षण है और क्षयोपशम आदि भाव यह भावक्षण है...

इस प्रकार चारों प्रकार के क्षण = अवसर को प्राप्त करके आत्महित के लिये आत्मा को स्थापित करें... यह बात अब इस उद्देशक के अंतिम सूत्र से सूत्रकार महर्षि कहेंगे...

V सूत्रसार :

समय की गति बड़ी तेज है। बीता हुआ समय कभी भी लौटकर नहीं लाया जा सकता। इसीलिए आगम में कहा गया है कि- द्रुतगति से भागने वाले समय को जानकर साधक को शास्त्रदृष्टि से सम्यक्तया उसे सफल बनाने में सदा सावधान रहना चाहिए। क्योंकि- ऐसा सुअवसर बार-बार मिलना कठिन है।

‘क्षण’ शब्द का अर्थ है-अवसर या समय। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चार प्रकार का है। मनुष्य जन्म, स्वस्थ शरीर, सशक्त इन्द्रियें आदि की प्राप्ति द्रव्य क्षण है। आर्यक्षेत्र, की प्राप्ति क्षेत्र क्षण है; उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के वे आरे कि- जहाँ धर्म की साधना की जा सके-जैसे कि- अवसर्पिणी काल का तृतीय, चतुर्थ और पंचम आरा तथा महाविदेह क्षेत्र का सभी काल, काल क्षण है। क्षयोपशम आदि भाव की प्राप्ति भाव क्षण है।

कहने का तात्पर्य यह है कि- धर्म साधना में सहायक साधन क्षण है और ऐसे क्षण-समय को प्राप्त करके साधक को साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि- समय को जानने वाला व्यक्ति ही पंडित है। अतः साधक को चाहिए की प्राप्ति क्षणों को प्रमाद में नष्ट न करे। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ ७२ ॥ १-२-१-१०

जाव सोयपरिष्णाणा अपरिहीणा, नेत्रपरिष्णाणा अपरिहीणा, घ्राणपरिष्णाणा अपरिहीणा, जीहपरिष्णाणा अपरिहीणा, फरिसपरिष्णाणा अपरिहीणा, इच्छेएहिं विरूवरूवेहिं परिष्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्टं सम्मं समणुवासिज्जासि तिबेमि ॥ ७२ ॥

II संस्कृत-छाया :

यावत् श्रोत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, नेत्रपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, घ्राणपरिज्ञानानि अपरिहीनानि, जिह्वापरिज्ञानानि अपरिहीनानि, स्पर्शपरिज्ञानानि अपरिहीनानि इति एतैः विरूपरूपैः परिज्ञानैः अपरिहीनैः आत्मार्थं सम्यक् समनुवासयेत् इति ब्रवीमि ॥ ७२ ॥

III सूत्रार्थ :

जब तक श्रोत्र का परिज्ञान क्षीण नहि हुआ, नेत्रका परिज्ञान क्षीण नहि हुआ, घ्राण (नासिका) का परिज्ञान क्षीण नहि हुआ, जिह्वा का परिज्ञान क्षीण नहि हुआ, स्पर्श का परिज्ञान क्षीण नहि हुआ... इत्यादि विविध प्रकार के परिज्ञान जब तक क्षीण नहि हुए हैं, तब तक आत्मा के हित के लिये अच्छी तरह से आत्मा के द्वारा आत्मा को धर्मानुष्ठान में स्थापित करें ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) (हे जम्बू ! तुम्हें) कहता हुं... ॥ ७२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जब तक विनाशशील इस काया के श्रोत्र का ज्ञान वृद्धावस्था से या रोग से क्षीण होते नहीं है... इसी प्रकार नेत्र, नासिका, जिह्वा, स्पर्श के ज्ञान अपने अपने विषय को ग्रहण करने के कार्य में मंद (अल्प) नहीं हुए हैं... इत्यादि... अर्थात् जब तक सभी इंद्रियों के प्रकृष्ट ज्ञान क्षीण नहि हुए हैं तब तक सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य स्वरूप आत्मा का हित करें... क्योंकि- इन रत्नत्रयी के सिवा सब कुछ अनर्थ हि है अथवा आत्मा के लिये हित कारक चारित्रानुष्ठान हि है... अथवा आयत याने जिसका अंत न हो वह... यह मोक्ष है जिसका प्रयोजन... वह आयतार्थ... याने मोक्ष... अथवा आयत याने मोक्ष और अर्थ याने प्रयोजन है जिस सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का ऐसे उस चारित्रानुष्ठान में आत्मा को स्थापित करें...

सम् = सम्यग् अनु = पश्चात् अर्थात् आयुष्य जब तक वृद्धावस्था या रोगों से आक्रांत याने घेरी हुई नहि है ऐसा उत्तम क्षण याने अवसर को देखकर अथवा श्रोत्र आदि के ज्ञान क्षीण नहि हुए हैं ऐसा जानकर आत्मा के हित के लिये आत्मा में धर्मानुष्ठान के शुभ अध्यवसाय करें...

अथवा अर्थ के कारण से विभक्ति और पुरुष का परिणाम होता है इसलिये तेन याने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य स्वरूप आत्मा के आत्मा को भावित करें, अथवा मोक्ष के लिये सम्यग् याने अपुनरागमन हो उस प्रकार, अनु याने यथोक्त-धर्मानुष्ठान से, अनुवासयेत् याने आत्मा से आत्मा में आत्मा को स्थापित करें... इति शब्द समाप्ति सूचक है... ब्रवीमि याने सुधर्मस्वामी कहते हैं कि- परमात्मा श्री वर्धमानस्वामीजी ने अर्थ से जो कहा है वह हे जम्बू ! मैं तुम्हे सूत्र से कहता हूँ...

V सूत्रसार :

हम यह देख चुके हैं कि- कोई भी मनुष्य शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता में ही संयम-साधना कर सकता है। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति निर्बल हो जाने के बाद वह भली-भांति साधना मार्ग में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसलिए शरीर एवं इन्द्रियों की स्वस्थता के रहते ही साधक को आत्म साधना में संलग्न हो जाना चाहिए। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है।

सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की सम्यग् आराधना से ही मोक्ष रूप साध्य की सिद्धि हो सकती है और यह मोक्षपद ही साधक का मूल लक्ष्य है। या यों कह सकते हैं कि- जिस साधना से आत्मा का हित हो उसी का नाम आत्मार्थ है। इस अपेक्षा से भी रत्न त्रय ही आत्मा के लिए हितकर हैं। क्योंकि- इनकी साधना से ही आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

इसके अतिरिक्त 'आयट्ठं' का संस्कृत रूप 'आयतार्थ' भी बनता है। आयत याने जिसकी कभी समाप्ति न हो अर्थात् आयत मोक्ष को कहते हैं, अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए जो साधना की जाए उसे 'आयतार्थ' कहते हैं। इस अपेक्षा से भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य रूप रत्न त्रय की साधना को ही स्वीकार किया गया है।

निष्कर्ष यह निकला कि- शरीर की स्वस्थता एवं इन्द्रियों में शक्ति-सामर्थ्य रहते हुए साधक को संयम साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। किंतु विषय-वासना, धन एवं परिजनों की आसक्ति का त्याग कर आत्म साधन में प्रवृत्त होना चाहिए। इसी से आत्मा भाव लोक याने कषायों पर विजय प्राप्त कर पूर्ण सुख-शान्ति रूप निर्वाण को पा सकेगा।

'तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत्...

॥ इति द्वितीयाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

५ ५ ५

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनगम प्रकाशन के लिए राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५ राजेन्द्र सं. ९६. ५ विक्रम सं. २०५८.

५



५

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - २ उद्देशक - २

५ दुढत्वम् ५

प्रथम उद्देशक कहकर अब दुसरे उद्देशक की व्याख्या करते हैं... प्रथम और द्वितीय उद्देशक में परस्पर यह संबंध है कि- विषय, कषाय, मात-पितादि लोक के विजय के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के कारण स्वरूप चारित्र की संपूर्णता को प्राप्त करना... इस द्वितीय अध्ययन का अर्थाधिकार पूर्वे कह चुके हैं... उसमें प्रथम उद्देशक में यह कहा कि- मात-पितादि लोक के विजय से रोग एवं वृद्धावस्था आने के पहले हि आत्मा के हितार्थ संयम का अनुष्ठान करें... अब यह दुसरे उद्देशक में कहते हैं कि- संयम में रहे हुए कोड़क साधु को कभी भी मोहनीय कर्म के उदय से अरति हो, अथवा अज्ञानकर्म एवं लोभ के उदय से आत्मा में प्रगट हुए दोषों के द्वारा संयम में शिथिलता आवे तब अरति एवं शिथिलता को दूर करके जिस प्रकार संयम में दृढता हो... यह बात इस दुसरे उद्देशक में कहेंगे... अथवा जिस प्रकार आठों प्रकार के कर्मना विनाश हो, यह बात इस अध्ययन में कहेंगे... इस प्रकार की बात अध्ययन के अर्थाधिकार में कही है, तो अब उन कर्मों का क्षय कैसे हो ? यह बात अब सूत्रों से कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ७३ ॥ १-२-२-१

अरइं आउटे से मेधावी, खणंसि मुक्के ॥ ७३ ॥

II संस्कृत-छाया :

अरतिं आवर्त्तेत स मेधावी, क्षणे मुक्तः ॥ ७३ ॥

III सूत्रार्थ :

अरति को दूर करे वह मेधावी है, वह क्षण से मुक्त है... ॥ ७३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र का अनंतर पूर्व के सूत्र से यह संबंध है कि- आत्मा के हित के लिये संयम करें, उसमें कदापि अरति हो तब चारित्र के अवसर को प्राप्त करके अरति न करें... हे आयुष्यमान जंबू ! परमात्मा महावीर प्रभुजी के मुख से मैने सुना है कि- साधु अरति को

दूर करे... अरति याने चारित्र में नाराजगी... मोह के उदय से कषायों के उदय में, पंचविध आचार (पंचाचार) के आचरण में मात-पिता-पत्नी आदि से होनेवाली अरति को मेघावी = संसार की असारता को जाननेवाले बुद्धिशाली साधु दूर करें... यह बात सूत्र में कही है...

कंडरीक की तरह शब्दादि विषयों में आसक्ति स्वरूप रति के बिना संयम में अरति नहीं होती... इसीलिये कहते हैं कि- विषयों की आसक्ति स्वरूप रति को दूर करें... और संयम में अरति का निवर्तन तब हो कि- जब पुंडरीक की तरह दशविध चक्रवाल साधु सामाचारी में रति हो... इसीलिये कहते हैं कि- संयम में रति करें, संयम में की हुई रति मोक्षमार्ग में बाधक नहि है... क्योंकि- संयम की रति में इस जन्म के और जन्मान्तर के विषय भोगोपभोग की बुद्धि नहि है... कहा भी है कि- मोक्ष स्वरूप महान् फल के लिये नित्य उद्यमवाले साधुओं को पृथ्वी तल पे शयन, निरस भोजन, शीत आदि परीषह और क्षुद्र लोगों के तिरस्कार स्वरूप उपसर्ग मन में और शरीर में दुःख उत्पन्न नहीं करते...

तृण के संधारे में रहा हुआ तथा राग, मद और मोह के अभाववाला साधु, जो मुक्ति के आंशिक सुख को भी पाता है, वह सुख चक्रवर्ती को भी कहां है ?...

इस विश्व में चारित्र मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त चारित्रवाले मुनी को, पुनः मोह के उदय से संसार में जाने की इच्छा हो तब इस सूत्र से उपदेश दीया जाता है... संयम = मोक्षमार्ग में से संसार की और जिस कारणों से जाना होता है, वह बात अब निर्युक्तिकार स्वयं हि गाथा से कहते हैं...

नि. १९७

इस दुसरे उद्देशक में यह कहना है कि- कोइक साधु अरति के कारण से संयम में अदृढ (शिथिल) होता है, अथवा तो आत्मा में प्रगट हुए अज्ञानकर्म तथा लोभ आदि के अशुभ अध्यवसाय स्वरूप कारणों से संयम में अरति करता है... तब वह साधु शुभ अध्यवसायों के लिये इस उद्देशक को बारबार पढ़ें...

इस दुसरे अध्ययन के प्रथम उद्देशक में निर्युक्ति गाथाएं बहोत सारी हैं, जब की इस दुसरे उद्देशक में यह एक हि निर्युक्ति-गाथा है...

कोइक कंडरीक के समान साधु, सत्तरह (१७) भेदवाले संयम में, मोहनीय कर्म के उदय से अरति होने पर शिथिल हो... और मोहनीय कर्म का उदय, आत्मा में उत्पन्न होनेवाले दोषों से होता है, और वे अध्यात्मदोष अज्ञान-लोभ आदि हैं... आदि शब्द से इच्छा कामक्रीडा आदि का ग्रहण होता है... क्योंकि- मोह, अज्ञान, लोभ एवं कामविकार आदि दोष स्वरूप है, और वे आत्मा में उत्पन्न होते हैं...

आपने कहा कि- अरतिवाले मेधावी साधु को इस सूत्र से उपदेश दिया जाता है... कि- संयम में होनेवाली अरति को दूर करें... किंतु आपने हि मेधावी का स्वरूप कहा कि- संसार के स्वभाव को जाननेवाला मेधावी... तो अब जो मेधावी साधु संसार के स्वभाव को जानता है वह संयम में अरतिवाला नहीं हो सकता, और यदि वह संयम में अरतिवाला है तब संसार के स्वभाव का जानकार नहीं है... क्योंकि- छाया और धूप (आतप) की तरह परस्पर विरोध वाले इन दोनों का एक जगह रहना नहीं हो सकता... कहा भी है कि- वह हि ज्ञान है कि- जिस ज्ञान के होने में राग आदि दोष नहीं हो सकते... क्या- सूर्य के किरणों के आगे अंधकार को रहना संभव है ? इसलिये हम कहते हैं कि- मोह से विनष्ट चित्तवाला अज्ञानी जीव हि शब्दादि विषयों की आसक्ति से सभी द्वंद्व से पर ऐसे संयम में अरति करे... कहा भी है कि- अज्ञान से अंधे और चंचल स्त्री के भ्रुकुटी से कामविकारवाले प्राणी हि कामभोग में आसक्ति रखते हैं, अथवा विपुल समृद्धि को प्राप्त करने में आसक्त होते हैं... किंतु जो महान् मोक्षमार्ग में एकाग्र चित्तवाले विद्वान् साधु हैं, वे कामभोगों में आसक्त नहीं होते... क्या गर्जेंद्र = हाथी छोटे स्कंध (थड) वाले वृक्ष में अपने खंभो को घीसते हैं ?

चारित्र की प्राप्ति ज्ञान के बिना नहीं होती... ज्ञान का कार्य चारित्र ही है... और ज्ञान और अरति का भी परस्पर विरोध नहीं है... अतः संयम में रही हुई रति हि अरति से बाधित होती है, ज्ञान बाधित नहीं होता... इसलिये ज्ञानी को भी चारित्र मोहनीयकर्म के उदय से संयम में अरति हो सकती है, और ज्ञान तो अज्ञान का हि बाधक है, संयम में अरति का (बाधक) नहीं अर्थात् ज्ञान होते हुए भी साधु को संयम में अरति हो सकती है... तथा कहा भी है कि- यथार्थवस्तु विषयक ज्ञान अपने प्रतिपक्षी अज्ञान का बाधक है, तथा ज्ञान रागादि प्रतिपक्ष (शत्रु) का विनाश स्वयं नहीं करता है किंतु हेतु बनता है... जैसे कि- दीपक (दीया) अंधकार में रहे हुए पदार्थ स्वयं नहीं देखता, किंतु देखनेवाले प्राणी को वस्तु-पदार्थ को देखने में हेतु बनता है... सभी कोइ अपने अपने विषय को ग्रहण करने में कर्ता है, अन्य के विषय में तो प्रासंगिक हेतु होते हैं...

तथा क्या ? यह बात भी आपने नहीं सुनी ? कि- इंद्रिय समूह बलवान् है... पंडित = प्रज्ञावान् साधुपुरुष भी इंद्रियों के विषयों में मूढ होते हैं... यह बात हमने अपेक्षा से कही है... अथवा- संयम में अरति पाये हुए साधु को हम अभी यह बात नहीं कहते हैं, किंतु यह उपदेश, मेधावी साधु को यह संकेत करता है कि- संयम में अरति न करें...

संयम में अरति से निवृत्त साधु को कौन सा गुण प्राप्त होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- संयम में अरति से निवृत्त साधु

आत्मगुण स्वरूप मोक्षसुख को प्राप्त करता है... वह इस प्रकार- क्षण याने अतिसूक्ष्म

काल = समय... और वह जीर्ण वस्त्र को फाड़ने के दृष्टांत से दर्शाया गया है, जैसे कि-
 जीर्ण वस्त्र को एक झटके से फाड़ने में भी एक तंतु से दूसरे तंतु को तुटने में बीच में असंख्य
 समय बीतते हैं... ऐसे अतिशय सूक्ष्म काल गणना स्वरूप समय याने कालक्षण से अर्थात्
 समय, आवलिका, मुहूर्त की गणना जहां होती है ऐसे संसार से वह साधु मुक्त होता है अर्थात्
 मोक्षपद पाता है... क्योंकि- सिद्धात्माओं को काल की असर नहि है... अथवा प्रथमा विभक्ति
 का तृतीया में परिणाम हो तब कहते हैं कि- क्षण से याने आठों प्रकार के कर्मों से अथवा
 शब्दादि विषयों की आसक्ति तथा अनुराग आदि स्वरूप संसार के बंधनों से पुंडरीक एवं भरत
 चक्रवर्ती की तरह वह साधु = संसार से मुक्त होता है... और जो साधु कंडरीक की तरह
 गुरुजी के उपदेश को आचरण में नहि लाते हैं वे प्राणी, चार गति स्वरूप दुःखमय संसार-
 सागर में डूबे रहते हैं... यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रथम उद्देशक में पारिवारिक एवं भौतिक सुख साधनों तथा धन-ऐश्वर्य आदि के मोह
 का परित्याग करने की प्रेरणा दी गई है। क्योंकि- पारिवारिक माया एवं संपत्ति का मोह तथा
 ममता का बन्धन साधना के पथ में अवरोधक चद्धान है। पारिवारिक व्यामोह एवं माता-पिता
 के संबन्धों की आसक्ति से ऊपर उठे विना साधक संयम साधना के पथ पर गतिशील नहीं
 हो सकता। स्वतन्त्रता संग्राम के समय हम देख चुके हैं कि- देश की स्वतन्त्रता के लिए
 सत्याग्रहियों को पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना ही होता था, उन्हें घर एवं संपत्ति की
 आसक्ति से भी कुछ सीमा तक निश्चित हि अलग होना पड़ता था। इससे हम सहज ही अनुमान
 लगा सकते हैं कि- आत्म स्वातंत्र्य के लिए वासना एवं विकारों से अनवरत लड़नेवाले
 आध्यात्मिक सेनानियों-साधकों के लिए पारिवारिक व्यामोह से ऊपर उठना अनिवार्य है।
 क्योंकि- व्यामोह का त्याग किए बिना संयम में स्थिरता नहीं आ सकती।

चिन्तन-मनन से प्राप्त सम्यग् ज्ञान पूर्वक आचार में प्रवृत्त होने का नाम संयम है।
 इसके लिए सबसे पहले चिन्तन में सात्त्विकता का आना जरूरी है और वह योगों की एकाग्रता
 पर आधारित है। और जब तक साधक पारिवारिक व्यामोह से आबद्ध है, तब तक उसके
 योगों में एकाग्रता आ नहीं पाती। क्योंकि- उसके सामने अनेक समस्यायें मुंह फाड़े खड़ी रहती
 हैं, कभी मन किसी समस्या से उलझा हुआ है तो वचन का प्रयोग किसी और ही पहलू
 को हल करने में लगा रहा है और शरीर किसी तीसरे कार्यमें ही व्यस्त है। इस प्रकार तीनों
 योगों की विभिन्न दिशाओं में दौड़ धूप होती रहने से, उनमें एकाग्रता नहीं आ पाती। अतः
 योगों की एकाग्रता के अभाव में चिन्तन में सात्त्विकता एवं ज्ञान तथा आचार में तेजस्विता
 नहीं आ पाती है। अतः संयम की साधना के लिए, साधना के मूल चिन्तन में सात्त्विकता
 एवं ज्ञान में निर्मलता लाने के लिए पारिवारिक व्यामोह का त्याग करना अनिवार्य है।

इसी कारण प्रथम उद्देशक में मोह एवं आसक्ति के परित्याग की बात कही गई है। इससे साधक के मन में साहस एवं उत्साह का संचार होता है। परन्तु कभी कभी कुछ ऐसी परिस्थितियां सामने आती हैं कि- साधक का मन लड़खड़ाने लगता है। उसकी अस्थिरता को दूर करके संयम साधना में दृढता लाने के लिए प्रस्तुत उद्देशक में सूत्रकार संयम मार्ग में आने वाली अरुचियों का वर्णन करके यह स्पष्ट कर रहे हैं कि- साधक को उन पर कैसे विजय पाना चाहिए।

एक विचारक ने सत्य ही कहा है कि “साधना का मार्ग फूलों का मार्ग नहीं, किंतु कंटीली पगडंडी है।” अतः उस पर गतिशील साधक को पूरी सावधानी रखने का आदेश दिया गया है, प्रतिक्षण विवेकपूर्वक गति करने को कहा गया है। इतने पर भी परीषहों का कोई न कोई कांटा चुभ ही जाता है। उस समय निर्बल साधक के मन में असाता वेदना की अनुभूति का होना भी संभवित है। इसलिए सूत्रकार ने साधक को सावधान करते हुए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया है कि- ऐसे विकट समय में भी अपने मार्ग पर गतिशील रहने वाला व्यक्ति ही बुद्धिमान है और वह हि साधक कर्म बन्धन की शृंखला को तोड़कर मुक्त हो सकता है। अतः साधक को थोड़े से परीषह से घबराकर अपने प्रशस्त मार्ग से विचलित नहीं होना चाहिए और अपनी श्रद्धा एवं ज्ञान की ज्योति को धूमिल नहीं पड़ने देना चाहिए।

साधना के पथ से विचलित होने का अर्थ है-पतन के गर्त में गिरना। अतः थोड़े से परीषह से परास्त होने वाला व्यक्ति कंडरीक की तरह अपने जीवन को बर्बाद कर देता है, अनुपम क्षमादि आत्म-सुखों को खो देता है और इसके विपरीत उसके भ्राता पुंडरीक का अनुकरण करने वाला व्यक्ति निर्बाध गति से मुक्ति की और कदम बढ़ाता है। साधना पथ पर गतिशील साधक के लिए ये दोनों उदाहरण सर्चलाईट की तरह उपयोगी हैं।

कंडरीक और पुंडरीक दोनों सगे भाई थे। एक दिन मुनि के सदुपदेश से राज्य का त्याग करके वह कंडरीक साधु बन गया और निरन्तर एक हजार वर्ष तक साधना करता रहा। परन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में वह परीषहों एवं वासना से परास्त हो गया। अपने भ्राता पुण्डरीक राज्य समृद्धि को देखकर उसका मन भी उस और लुढ़क गया। वह अपने को संभाल नहीं सका। अतः उसने अपनी अभिलाषा पुण्डरीक के सामने व्यक्त कर दी। पुण्डरीक को भाई के विचार सुनकर अति चिंता हुई और उसने धर्म एवं शासन की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए अपने भ्राता कंडरीक को अपना राज्य सौंप कर, उसके स्थान में उन्होंने स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली और तप साधना में संलग्न हो गये।

यहां राज्य समृद्धि पाकर कंडरीक, प्रकाम भोजन एवं भोगों में आसक्त हो गया और पुंडरीक मुनि संयम जीवन को पाकर तप करने लगा तथा रूखा-सूखा जैसा भी आहार मिल

गया उसी पर संतोष करके संयम साधना में संलग्न हो गया। परिणाम यह निकला कि- तपस्या से निर्बल बनी हुई कंडरीक की काया प्रकाम भोजन को पचा नहीं सकीं और दुर्बल शरीर अधिक भोगों के भार को सह नहीं सका, इससे उसे असाध्य रोग हो गया और वह भोगों की आसक्ति में तड़पता हुआ मरकर नरकगति में जा पहुंचा। उधर पुंडरीक को भी अपने स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन नहीं मिलने से वह भी अस्वस्थ हो गया। परन्तु ऐसी स्थिति में भी अपने मुनि-मार्ग में स्थिर रहा। समभाव पूर्वक वेदना को सहते हुए अनशन करके पंडित मरण को पाकर देवगति में देव-पद पाया।

इस प्रकार संयम त्यागने एवं संयम स्वीकार करने के थोड़े ही समय बाद दोनों भाइयों ने देह का त्याग कर दिया, और दोनों ने उपपात योनि में जनम लिया और ३३ सागरोपम की स्थिति को प्राप्त किया। योनि और स्थिति समान होते हुए भी दोनों की गति में बहुत बड़ा अंतर था। पुंडरीक ने अल्पकालीन साधना से सर्वार्थसिद्ध विमान को प्राप्त किया, तो कंडरीक ने भोगों में आसक्त होकर सातवीं नरक के अंधकार में जन्म लिया।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि- थोड़े से परीषहों से घबरा कर जो व्यक्ति पथभ्रष्ट होता है, वह एकदम पतन के गर्त में गिरता ही जाता है। अतः साधक को परीषहों के उपस्थित होने पर घबराना नहीं चाहिए। अनुकूल परिषहों में भी अपने पथ पर दृढ़ता के साथ गतिशील होना चाहिए। जो साधक साधु परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह कर्म बन्धनों को शिथिल करता हुआ एवं तोड़ता हुआ, एक दिन कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अतः वीतराग द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर गतिशील व्यक्ति हि संसार सागर से पार हो जाता है और मोक्षमार्ग में गति नहीं करने वाला प्राणी संसार सागर में परिभ्रमण करता है, विभिन्न नरकादि गतियों में महान् दुःखों का संवेदन करता है। इस बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ७४ ॥ १-२-२-२

आणाणाए पुट्टा वि एगे नियट्टंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिग्गहा भविस्सामो समुट्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्थ मोहे पुणो पुणो सण्णा नो हव्वाए नो पाराए ॥ ७४ ॥

II संस्कृत-छाया :

अनाज्ञया स्पृष्टाः अपि एके निवर्त्तन्ते, मन्दाः मोहेन प्रावृत्ताः, अपरिग्रहाः भविष्यामः समुत्थाय लब्धान् कामान् अभिगाहन्ते। अनाज्ञया मुनयः प्रतिलिखन्ति (प्रत्युपेक्षन्ते), अत्र मोहे पुनः पुनः विषण्णाः, न आरातीयतीराय, न पाराय ॥ ७४ ॥

III सूत्रार्थ :

अनाज्ञा से स्पृष्ट कितनेक प्राणी संयम से निवृत्त होते हैं, मोह से गुंडित (घेरे हुए) मंद प्राणी कहते हैं कि- हम अपरिग्रही बनेंगे, ऐसा कहकर अपने कुमत को स्वीकार करके प्राप्त कामभोगों का आसेवन करते हैं, अनाज्ञा से वेष विडंबक साधु विषय भोगों को दुंदते हैं... और विषय भोगोपभोग के मोह में बार बार मग्न होते हैं... अतः वे न तो संसारी है, और न तो साधु है... ॥ ७४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जो आदेश किया जाय वह आज्ञा और वह आज्ञा हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार (त्याग) स्वरूप सर्वज्ञ प्रभु का उपदेश ही है... इससे जो विपरीत वह अनाज्ञा, उस अनाज्ञा से स्पृष्ट कितनेक साधु कंडरीक आदि की तरह मोहनीयकर्म के उदय से परीषह और उपसर्गों के द्वारा सभी द्वन्द्वों के उपशम स्वरूप संयम से निवृत्त होते हैं, परंतु सभी साधु नहि... क्योंकि- मोह के उदय से ऐसी संभावना है... कि- मोह याने अज्ञान अथवा मिथ्यात्व मोहनीय से घेरे जाने से कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से शून्य ऐसे मंद याने जड साधु हि संयम से निवृत्त होते हैं... कहा भी है कि- क्रोध आदि सभी पापों से अज्ञान निश्चित हि कष्ट दायक है, क्योंकि- अज्ञान से घेरा हुआ जीव हित और अहित के स्वरूप को पहचान नहि शकता... इस प्रकार चारित्र प्राप्त करने के बाद साधु, कर्मों के उदय से आये हुए परीषहों के प्रसंग में पश्चात्भाव याने संसार में आता (लौटता) है... ऐसा कहा...

कितनेक साधु ऐसा कहते हैं कि- हम संसार से उद्विग्न = उभगे हुए हैं ऐसा कहकर अपनी अपनी रुचि = इच्छा अनुसार विविध क्रियाओं को करते हुए अनेक प्रकार के उपायों से लोगों के पास धन को लेने की इच्छावाले विभिन्न प्रकार के आरंभ और शब्दादि विषयों में प्रवृत्त होते हैं... यह बात अब कहते हैं... परि याने चारों ओर से मन, वचन और काया के प्रवर्तन के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह... ऐसा परिग्रह जिसके पास नहि है वे अपरिग्रही... ऐसे अपरिग्रही हम बनेंगे... शाक्य आदि मतवाले अपना यूथ (जमात-समूह) तैयार करके चीवर = वस्त्र आदिका ग्रहण करके, और बाद में प्राप्त कामभोगों का आसेवन करते हैं... यहां वचन के व्यत्यय से बहुवचन की जगह सूत्र में एकवचन लिखा है... यहां अंतिम व्रत के ग्रहण से शेष व्रतों का भी ग्रहण करें... हम अहिंसक बनेंगे... इसी प्रकार हम अमृषावादी बनेंगे इत्यादि भी समझ लें... इस प्रकार शैलूष याने अभिनेता या नर्तक-धूर्तकी तरह वे अज्ञ साधु अन्यथावादी हैं और अन्यथाकारक हैं... कहा भी है कि- अपनी इच्छानुसार शास्त्र बनानेवाले प्रब्रज्या के वेष को धारण करनेवाले क्षुद्र-साधु अनाथ की तरह विविध प्रकार के उपायों से लोक को लुंटेते हैं... इत्यादि...

इस प्रकार प्रव्रज्या के वेष को धारण करनेवाले जिनमत के भी मात्र वेषधारक साधु अथवा शाक्यादि साधु प्राप्त कामभोगों को भुगतते हैं, और अन्य कामभोगों की प्राप्ति के लिये उपाय करते हैं... यह बात अब कहते हैं... अनाज्ञा याने स्वच्छंद बुद्धि से मुनि वेष की विडंबना करनेवाले साधु कामभोग के उपायों के आरंभ में बार बार प्रयत्न करते हैं वह इस प्रकार... शब्दादि विषयों की आसक्ति स्वरूप अज्ञानात्मक मोह में बार बार निमग्न = डूबे रहनेवाले आत्मा के उद्धार के लिये समर्थ नहि होते... यह बात अब कहते हैं... नो हक्वाए नो पाराए याने महानदी के पूर में डूब रहा हुआ व्यक्ति न तो इस किनारे पे आ सकता, और न तो उस किनारे पे पहुंच सकता... इस प्रकार यहां संसार में भी कोइक निमित्त से घर, पत्नी, पुत्र, सुवर्ण, रत्न, कुप्य (बरतन वगैरह) और दास-चाकर आदि वैभव का त्याग करके आर्किचन्य = अपरिग्रह की प्रतिज्ञा से इस किनारे स्वरूप गृहवास के भोगोपभोगों को त्याग करके निकले... और बाद में उसी गृहवास के भोगोपभोगों के अभिलाषी बनने से यथोक्त संयम के अध्यवसाय के अभाव में संयम की क्रियाएं विफल रहती है... अतः कहते हैं कि- ऐसा साधु उभयतः = दोनों ओर से भ्रष्ट है... न तो गृहस्थ है, न तो प्रव्रजित-साधु है... कहा भी है कि- इंद्रियो को न तो सुरक्षित रखी, और न तो इच्छानुसार विषयभोगों से लालन-पालन की... इस प्रकार दूर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर न तो भोगोपभोग पाया, और न तो त्याग का सुख पाया... इत्यादि...

जो साधु अप्रशस्त रति से निवृत्त हुए हैं, और प्रशस्तरति में लीन रहे हैं, वे कैसे होते हैं ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

यह हम देख चुके हैं कि- साधना का पथ कांटों का पथ है। उसमें त्याग के पुष्पों के साथ-साथ परीषहों के कांटे भी बिखरे पड़े हैं। अतः साधना पथ पर गतिशील साधक को परीषहों का प्राप्त होना स्वाभाविक है। परन्तु उस परिसहादि समय वह साधक साधु अपनी संयम-साधना में संलग्न रह सकता है, कि- जिसकी श्रद्धा दृढ़ है एवं जिसके पास ज्ञान का प्रखर प्रकाश है। किंतु जो साधक निर्बल है, जिसकी ज्ञान ज्योति क्षीण है, वह परीषहों की अंधड़ में लड़खड़ा जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए बताया है कि- विवेक हीन व्यक्ति परीषहों से परास्त होकर पथ भ्रष्ट हो जाते हैं। वे विभिन्न कामभोगों में आसक्त होकर वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए भी नहीं हिचकिचाते। ऐसे वेशधारी साधकों को “इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः” कहा गया है। अर्थात् उन की स्थिति धोबी के कुत्ते की तरह होती है, वह न घर का रहता है और न घाट का। इसी प्रकार जो वेशधारी मुनि संयम-साधना को हृदयंगम नहीं कर सकने के कारण न तो मुनि का धर्म ही सम्यक्तया परिपालन करके उसका लाभ उठा सकते हैं, और वेष-भूषा से गृहस्थ न होने के कारण स्वतन्त्रता पूर्वक जीवन

में विषयभोगोपभोगों का उपभोग भी नहीं कर सकते हैं। वे न तो इधर के रहते हैं और न उधर के रहते हैं, बेचारे त्रिशंकु की तरह अधर आकाश में ही लटकते रहते हैं और विषयादि कामभोग में आसक्त होने के कारण संसार की परिभ्रमणा को बढ़ाते हैं। अतः इस भवसागर से पार नहीं हो सकते।

जो वीतराग देव की आज्ञानुसार आचरण करते हैं, वे ही संसार सागर से पार होते हैं। इस बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ७५ ॥ १-२-२-३

विमुक्ता हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लद्धे कामे नाभिगाहइ ॥ ७५ ॥

II संस्कृत-छाया :

विमुक्ता खु ते जनाः, ये जनाः पारगामिनः, लोभं अलोभेन जुगुप्समानः लब्धान् कामान् न अभिगाहते ॥ ७५ ॥

III सूत्रार्थ :

निश्चित हि वे लोग विमुक्त हैं, कि- जो लोग पारगामी हैं, अलोभ से लोभ की जुगुप्सा करनेवाले वे लोग प्राप्त कामभोगों को भी भुगतते नहीं... ॥ ७५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

सर्वविरत साधु, द्रव्य से अनेक प्रकार के धन-स्वजन आदि के राग से और भाव से विषय एवं कषाय आदि से प्रतिसमय = निरंतर मुक्त हो रहे हैं... यहाँ भविष्यत्काल में भूतकाल का उपचार करके कहा है, कि- मुक्त हि नहि किंतु विविध प्रकार से मुक्त जो हैं वे विमुक्त... अतः कहते हैं कि- वे हि विमुक्त हैं कि- जो साधुलोग स्वजनों से निर्मम हैं, अतः एव पारगामी हैं... पार याने मोक्ष, संसार समुद्र का किनारा... और उस मोक्ष के कारण ज्ञान-दर्शन और चारित्र को भी कारण में कार्य का उपचार करके पार कहते हैं... जैसे कि- लोक व्यवहार में कहते हैं कि- मेघ तंदुल (चावल) बरसता है अतः ज्ञान-दर्शन और चारित्र स्वरूप पार को पानेवाले ऐसे पारगामी साधु विमुक्त हैं...

संपूर्ण पारगामी कैसे हो ? यह बात अब कहते हैं- इस संसार में सभी संग के हेतुभूत लोभ का त्याग दुर्लभ है... क्योंकि- क्षपक श्रेणी में क्रोध, मान एवं माया कषाय के क्षय होने के बाद खंड खंड क्षय हो रहे हुए लोभ कषाय का उदय चालु रहता है... अतः ऐसे भयानक लोभ का अलोभ (संतोष) से परिहार (त्याग) करता हुआ वह साधु पुन्योदय से प्राप्त

कामभोग के सुखों का भी त्याग करता है... क्योंकि- जो साधु अपने शरीर आदि में भी लोभ-ममता रहित है, वह सर्वविरत साधु ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से आमंत्रित चित्र मुनि की तरह कामभोग के उपभोगों में आसक्त नहीं होता... यहां प्रधान याने मुख्य और अंतिम ऐसे संज्वलन लोभ का त्याग कहने से सामान्य ऐसे अनंतानुबंधि आदि पूर्व के क्रोधादि का त्याग तो हो ही गया है, ऐसा स्वयं समझ लें...

तथा क्षमा से क्रोध, मार्दवता से मान, सरलता से माया का एवं संतोष से लोभ का त्याग स्वयं समझ लें... और यहां सूत्र में जो लोभ का ग्रहण किया है वह सर्व क्रोधादि कषायों में लोभ की प्रधानता बताने के लिये हि है... वह इस प्रकार- लोभ में प्रवृत्त प्राणी, साध्य और असाध्य के विवेक से विकल होता है, तथा कार्य और अकार्य के विचार से रहित है तथा मात्र एक धन की हि दृष्टिवाला ऐसा वह लोभी साधु पापों के कारणों में रहकर सभी पापाचरण स्वरूप सावद्य क्रियाओं को करता रहता है... कहा भी है कि- जो पुरुष धन में आसक्त है वह रोहणाचल की और दौडता है, समुद्र को तैरता है, पर्वतो के निकुंजों में धूमता है, बंधुजन को भी मारता है... तथा धन प्राप्ति के लिये चारों और बहोत भटकता है, भार को उठाता है, भूखा रहता है, और धिक्का-पापी वह पुरुष अनेक पापाचरण करता है तथा लोभ से आकुल प्राणी कुल, शील और जाति संबंधित धृति का भी त्याग करता है... इत्यादि...

कितनेक मनुष्य कारण विशेष की परिस्थिति में लोभ आदि के साथ हि प्रव्रजित होकर बाद में लोभ आदि का परित्याग करते हैं... और कोई प्राणी पहले हि लोभ का त्याग करके प्रव्रज्या ग्रहण करता है यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

जैन संस्कृति में त्याग को महत्त्व दिया गया है, न कि- वेष-भूषा को। यह ठीक है कि- द्रव्य-वेष का भी महत्त्व है, परन्तु त्याग-वैराग्य युक्त भावना के साथ ही उस द्रव्य वेष का मूल्य है। भाव शून्य वेषचारी साधक साधु को पथ भ्रष्ट कहा गया है। जो साधक त्याग-वैराग्य की भावना को त्याग कर रात-दिन खाने-पीने, सोने एवं विलास में व्यस्त रहता है, उसे पापी श्रमण कहा गया है।

प्रस्तुत सूत्र में त्यागी की परिभाषा बहुत ही सुन्दर की गई है। वह व्यक्ति त्यागी नहीं माना गया है, कि- जिसके पास वस्तु का अभाव है, क्योंकि- उसका मन अभी भी उन भौतिक वस्तुओं में भटक रहा है। जिस साधु ने वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, अलंकार, स्त्री, शय्या-घर आदि भोगोपभोग के पदार्थों का त्याग किया है, परन्तु उन पदार्थों की वासना उसके मन में रही हुई है; तो वह साधु भगवान महावीर की भाषा में त्यागी नहीं है। किंतु त्यागी वह है, कि-

जिसको सुन्दर भोग-विलास एवं भौतिक सुख-साधन प्राप्त हैं और जो उनका भोग करने में भी स्वतन्त्र एवं समर्थ है, फिर भी उन्हें संसार में परिभ्रमण करने का साधन समझकर त्याग कर देता है, वह हि साधु सच्चा त्यागी कहलाता है।

ऐसा त्यागी व्यक्ति लुभावने मनोज्ञ प्रसंग उपस्थित होने पर भी नहीं फिसलता, वह अलोभ के द्वारा तृष्णा के जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है। क्योंकि- वह समझता है कि-सुहावने से प्रतीत होनेवाले भोगोपभोग-साधनों के पीछे दुःख का अनंत सागर लहरा रहा है। जिस प्रकार- आटे की उज्ज्वल गोली के साथ ही प्राणों को हरण करने वाले तीक्ष्ण कांटे की वेदना भी रही हुई है। किंतु यह बात वह मछली नहि जानती, अतः एव उस आटे की गोली खाने में अपने प्राणों को खो बैठती है, इसलिए वह प्रबुद्ध साधक उन विषय सुखों के क्षणिक लोभ में प्रवहमान होकर अपने आप को अथाह सागर में डूबने नहीं देता, किंतु उस तृष्णा पर विजय प्राप्त करके संसार सागर से पार हो जाता है।

लोभ की तरह कषाय के अन्य तीन भेदों- १-क्रोध, २-मान, ३-माया को भी समझ लेना चाहिए। जैसे अलोभ वृत्ति से लोभ को परास्त करने को कहा गया है। उसी प्रकार क्रोध, मान और माया का प्रसंग उपस्थित होने पर, उपशम भाव से क्रोध को, विनय-नम्रता से मान को एवं ऋजुता-सरलता से माया को परास्त करे।

इस प्रकार कषायों पर विजय पाने वाला विजेता ही साधना के पथ पर आगे बढ़ता है। और उसका मार्ग ही प्रशस्त मार्ग कहा गया है, कषायों के प्रवाह में प्रवहमान मनुष्य का मार्ग भयावह एवं दुःखों से भरा हुआ है। अतः अप्रशस्त मार्ग हैं... अब प्रशस्त मार्ग एवं अप्रशस्त मार्ग का स्वरूप सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ७६ ॥ १-२-२-४

विणइत्तु लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारे त्ति पवुच्चइ, अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकाल समुट्ठाइ संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहस्साक्कारे विणिविड्ढचित्ते, इत्थ सत्थे पुणो पुणो, से आयबले, से नाइबले, से मित्तबले, से पिच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिहिबले, से किविणबले, से समणबले, इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं अकज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए ॥ ७६ ॥

II संस्कृत-छाया :

विनीय लोभं निष्कम्य एषः अकर्मा जानाति, पश्यति। प्रतिलेखनया (प्रत्युपेक्षणया) न अवकाङ्क्षति। एषः अनगारः इति प्रोच्यते। अहश्च रात्रिं च

परितप्यमानः कालाकालसमुत्थायी संयोगार्थी अर्थालोभी आलुम्पः सहसाकारः विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्रं पुनः पुनः। सः आत्मबलः, सः ज्ञातिबलः, सः मित्रबलः, सः प्रेत्यबलः, सः देवबलः, सः राजबलः, सः चौरबलः, सः अतिथिबलः, सः कृपणबलः, सः श्रमणबलः, इत्येतैः विरूपरूपैः कार्यैः दण्डसमादानं सम्प्रेक्ष्य भयात् क्रियते, पापमोक्षः इति मन्यमानः, अथवा आशंसायै ॥ ७६ ॥

III सूत्रार्थ :

लोभ को दूर करके प्रव्रज्या लेकर अकर्मा याने मुक्त यह आत्मा संपूर्ण विश्व को जानता है देखता है... तथा लोभ के फल को जानकर-देखकर विषयगुणो को नहि चाहता... ऐसा हि साधु, अणगार कहा जाता है... और जो प्राणी दिन और रात परिताप पाता हुआ काल और अकाल में काम करनेवाला, संयोगों की कामनावाला धन की इच्छावाला, लुंटेनेवाला, सहसा कार्य करनेवाला विंकृत चित्तवाला साधु, पृथ्वीकायादि में बार बार शस्त्रारंभ करता है... वह ऐसा सोचता है कि- ऐसा शस्त्रारंभ करने से मुझे आत्मबल, ज्ञातिबल, मित्रबल, प्रेत्यबल, देवबल, राजबल, चोरबल, अतिथिबल, कृपणबल, श्रमणबल प्राप्त होगा इत्यादि... सोचकर इस लोक के भय से मुक्त होने के लिये विविध प्रकार के जीववधादि दंड का आचरण करता है, अथवा तो पाप से मुक्त होंगे ऐसा मानता हुआ, अथवा आशंसा से... ॥ ७६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

कोइक भरत चक्रवर्ती आदि जैसे मनुष्य संपूर्ण रूप से लोभ का विनाश होने के बाद लोभ के अभाव में प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं... अथवा पाठांतर- संज्वलन नाम के लोभ को निर्मूल से दूर करके चार घातिकर्मों के क्षय से प्राप्त हुए केवलज्ञान से जगत को विशेष प्रकार से जानते हैं, और सामान्य प्रकार से देखते हैं... सारांश यह है कि- ऐसे पूर्व कहे गये स्वरूपवाले लोभ के क्षय से मोहनीय कर्म के संपूर्ण विनाश से घातिकर्मों का अवश्य विनाश होता है और केवलज्ञान प्रगट होता है... ऐसी स्थिति में भवोपग्राहि शेष अघातिकर्मों का भी विनाश निश्चित हि है, इसीलिये कहा है, कि- लोभ के विनाश में आत्मा अकर्मा याने मुक्त होता है...

यदि ऐसा दुरंत लोभ है, और इस लोभ के विनाश में अवश्य सभी कर्मों का विनाश है, तो अब क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- गुण और दोष की विचारणा से लोभ के फल = विपाक को देखकर और लोभ के अभाव में गुणों को देखकर वह साधु लोभ को नहि चाहता... और जो प्राणी अज्ञान से विनष्ट अंतःकरणवाला है तथा अप्रशस्तमूलगुणस्थान में रहा हुआ है और विषय तथा कषायों से घेरा हुआ है, उस प्राणी को विपरीतता के कारण से पूर्व कहे गये संसार का स्वरूप घटित होता है... वह इस प्रकार-

अलोभ को लोभ से निंदित करता हुआ वह प्राप्त कामभोगों का उपभोग करता है... एक बार लोभ को दूर करके साधु बनकर पुनः लोभ के हि मनवाला कर्माधीन वह मनुष्य न तो जगत को वास्तविक स्वरूप से देखता है, और न जानता है... अतः सम्यक् प्रेक्षा के अभाव में वह साधु पुनः लोभ को चाहता है...

यहां द्वितीय अध्ययन के प्रथम उद्देशक में जो अप्रशस्तमूलगुणस्थान कहा है वह यहां कहीयेगा... वह इस प्रकार- दिन और रात परिताप पाता हुआ, काल और अकाल में कार्य करनेवाला, संयोगार्थी, अर्थ का लोभी, लुंटांरा, सहसाकारक और विनिविष्ट चित्तवाला वह प्राणी पृथ्वीकाय आदि को पीडा-वध होनेवाले शस्त्र के आरंभ में बार बार प्रवृत्त होता है... और वह यह सोचता है कि- इन कामगुणों से मुझे आत्मबल होगा... ऐसा सोचकर विविध प्रकार के उपायों से देह की पुष्टि के लिये इस जन्म और जन्मांतर को विफल करनेवाली विभिन्न सावद्य-पाप क्रियाएं करता है... वे इस प्रकार- मांस से मांस की पुष्टि होती है ऐसा मानकर पंचेंद्रिय प्राणीओं के वध में प्रवृत्त होता है... और भी लुंटां आदि पाप क्रियाएं भी करता है...

जैसे कि- ज्ञाति याने स्वजनों का बल मुझे प्राप्त होगा... तथा मुझे मित्रों का बल प्राप्त होगा... अर्थात् स्वजन-मित्रादि के सहकार से मैं संकट से बच जाऊंगा... तथा प्रेत्यबल के लिये बकरे आदि का वध करता है... तथा देवबल की प्राप्ति के लिये देवता के आगे नैवेद्य प्रदान करूं, ऐसा सोचकर पचन-पाचन (भोजन-रसोइ) आदि सावद्य-क्रियाएं करता है, तथा राजबल के लिये राजा की सेवा करता है तथा चोरों के गाव में रहता है अथवा चोरों से भाग प्राप्त करने के लिये चोरों की सेवा करता है... अथवा अतिथिबल प्राप्त करने के लिये अतिथीओं की सेवा करता है... क्योंकि- अतिथि सदा निःस्पृह कहा गया है...

कहा भी है कि- तिथि, पर्व और उत्सवों को जिन्होंने त्याग किया है वे महात्मा अतिथि है, और शेष सभी अभ्यागत कहे हैं... यहां सारांश यह है कि- इन सभी के बल की प्राप्ति के लिये भी प्राणीओं का वध तो नहि करना चाहिये... किंतु यह अज्ञानी मनुष्य सर्वदा जीववध करता रहता है... इसी प्रकार कृपण एवं श्रमण के लिये भी समझीयेगा... इस प्रकार पूर्व कहे गये विविध प्रकार के पिंडदान आदि कार्यों में वह प्राणी दंड का समादान करता है... दंड याने जहां प्राणीओं को दंड दीया जाता है अर्थात् मारा जाता है, वध किया जाता है वह दंड याने हिंसा... वह अज्ञानी प्राणी यह सोचता है कि- यदि मैं यह सब कुछ नहि करूंगा तो मुझे आत्मबल आदि विविध-बल प्राप्त नहि होंगे... ऐसा सोचकर भय से बचने के लिये वह मनुष्य प्राणीओं की हिंसा करता है...

यह बात अभी केवल इस जन्म के विषय में कही है... और जन्मांतर के लिये भी परमार्थ को नहि जाननेवाले वे अज्ञानी लोग दंड समादान (हिंसा) करते हैं यह बात अब कहते

हैं- पापमोक्ष = पाप से मुक्ति... ऐसी पापमुक्ति मेरी हो इस समझसे वह अज्ञानी प्राणी दंड का समादान करता है... वह इस प्रकार- छह (६) जीवनिकाय का विनाश करनेवाले शख्ख स्वरूप अग्नि में शठ लोगों से भ्रांत मतिवाले प्राणी अपने पापों के विनाश के लिये पीपल, शमी, आदि के समिधु = लकड़ी और डांगर-शाल-धाणी आदि का होम (हवन) करता है तथा पितृपिंडदान आदि में बकरे आदि के मांस से बनाया हुआ भोजन ब्राह्मणों को देता है और उनके भोजन के बाद शेष बचे हुए उस भोजन को स्वयं भी खाते हैं... इस प्रकार अज्ञान से विनष्ट बुद्धिवाले प्राणी विविध प्रकार के उपायों से पाप से मुक्त होने के लिये दंड के उपादान के द्वारा जीवों का विनाश करनेवाली क्रियाओं का आरंभ करते हुए अनेक सैंकड़ों कोटि जन्मों से भी मुक्ति न हो ऐसे पाप का उपार्जन करता है...

अथवा पितृपिंडदान से पापमुक्ति होती है ऐसा मानता हुआ दंड का आदान करता है, अथवा अप्राप्त विषय भोगों की प्राप्ति की अभिलाषा से दंड का समादान करता है... वह इस प्रकार- यह मुझे अगले वर्ष, आगे के दुसरे वर्ष अथवा जन्मांतर में यह विषय-भोग प्राप्त होगा इस आशासे जीववध की क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, अथवा धन की आशा में मूढ मनवाला वह प्राणी राजा की सेवा करता है... कहा भी है कि- राजा की सेवा से धन प्राप्त करके हम हमेशा भोगोपभोगों का उपभोग करेंगे... ऐसी आशा में धनके लोभी लोगों का काल (समय) मरण तक पहुंचता है... तथा धनवाले लोग धन की आशास्वरूप ग्रह से ग्रस्त ऐसे इच्छावाले सेवक लोगों के साथ निम्न प्रकार से क्रीडा करते हैं... जैसे कि- यहां आओ, यहांसे जाओ, यहां बैठो, यहां खड़े रहो, बोलो, मत बोलो इत्यादि... तो अब यह जानकर क्या करना चाहिये ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में जीवन के प्रशस्त और अप्रशस्त उभय स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। जो संसार से विरक्त होकर प्रव्रजित होता है और कषायों पर विजय पाता हुआ संयम में सदा संलग्न रहता है, वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय; मोहनीय और अन्तराय कर्म का सर्वथा क्षय करके सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। संसार के सभी पदार्थों को एवं तीनों काल के भावों को भली-भांति जानता-देखता है। उससे कोई भी बात प्रच्छन्न नहीं रहती है। इस स्थिति को प्राप्त करके सर्व कर्म बंधन से मुक्त होना ही प्रत्येक साधक का लक्ष्य है। राग-द्वेष का क्षय करने पर ही यह स्थिति प्राप्त हो सकती है, इसलिए राग-द्वेष एवं कषायों पर विजय प्राप्त करने तथा उक्त साधना में संलग्न रहने वाले व्यक्ति को अनगार कहते हैं। वह अनगार एक दिन कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कषायों के प्रवाह में बहते हैं, वे मोह मूढ होकर रात-

दिन विषय-वासना में आसक्त रहते हैं और विभिन्न पाप कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। अपनी शारीरिक शक्ति बढ़ाने के लिए मांस-मत्स्य आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करते हैं। अपनी जाति के व्यक्तियों को अनुकूल बनाने के लिए तथा अधिकारी वर्ग से कुछ काम कराने अथवा उससे अपना स्वार्थ साधने के लिए, उनकी इच्छा का पोषण करने के लिए विभिन्न प्राणियों की हिंसा करके उनके लिए भोजन-शराब आदि की व्यवस्था करते हैं। कई लोग मित्रता निभाने के लिए उसे सामिष भोजन कराते हैं। कुछ यह सोचकर कि- संकट के समय इससे काम लिया जा सकता है इसलिए उसे विभिन्न प्रकार के भोग-विलास एवं मांस-मदिरा युक्त खान-पान में सहयोग देते हैं तथा साथ में स्वयं भी उसका आस्वादन कर लेते हैं।

कुछ लोग परलोक को सुधारने की अभिलाषा से या इस कामना से कि- यज्ञ में बलिदान करने से मुझे स्वर्ग मिलेगा, ऐसा सोचकर यज्ञ वेदी पर अनेक भूक पशुओं का बलिदान करते हैं। कुछ लोग देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मन्दिर-मस्जिद जैसे पवित्र देव-स्थानों को वधस्थल का रूप दे देते हैं।

इस प्रकार अज्ञान के वश मनुष्य अनेक पापों में प्रवृत्त होता है। वह मनुष्य पाप को हि धर्म समझकर यज्ञ आदि हिंसा जन्य कार्यों में प्रवृत्त होता है। परन्तु उसकी यह समझ उतनी ही भूल भरी है जितनी कि- कीचड़ या खून से भरे हुए वस्त्र को कीचड़ या खून से साफ करने की सोचने वाले व्यक्ति की है। इन प्रवृत्तियों से पाप घटता नहीं, किंतु बढ़ता है और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख परंपरा में अभिवृद्धि ही होती है।

प्रस्तुत सूत्र में उपयुक्त “पावमुक्खु” में पाप और मोक्ष दो शब्दों का संयोग है। जो क्रिया प्राणी को पतन के गर्त में गिराती है या जिससे आत्मा कर्म के प्रगाढ़ बन्धन में आबद्ध होता है, उसे पाप कहते हैं। और जिस संयम-साधना से आत्मा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त होती है, उसका नाम मोक्ष है।

‘दण्ड समायाण’-‘दंड समादान’ का अर्थ है-प्राणियों की हिंसा में प्रवृत्त होना। यह पाप क्रिया आत्मा को कर्म बन्धन में फंसाने वाली है। इसमें आत्मा का संसार बढ़ता है, वह आत्मा मोक्ष से दूर होती है। अतः साधक को चाहिए कि- वह हिंसाजन्य कार्यों से एवं विषय-भोग से दूर रहे। और चित्त में अशांति उत्पन्न करने वाले कषायों का त्याग करके संयम मार्ग में गतिशील बने। यही मोक्ष का प्रशस्त मार्ग है, जिस मोक्ष-मार्ग पर गति करके आत्मा उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनकर, एक दिन पूर्ण स्वतंत्र बन जाती है।

प्रस्तुत सूत्र में बताई गई सावध क्रियाएं आत्मा के लिए अहितकर होती हैं, उसे दुःखों के अथाह सागर में जा गिराती है। इस लिए मुमुक्षु को सावध अनुष्ठानों का परित्याग करना चाहिए। इसी बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ७७ ॥ १-२-२-५

तं परिणाय मेधावी नैव सयं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभिज्जा, नैव अण्णं एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभाविज्जा, एएहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंतं पि अण्णं न समणुजाणिज्जा, एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलंपिज्जासि त्ति वेमि ॥ ७७ ॥

II संस्कृत-छाया :

तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं एतैः कार्यैः दण्डं समारभेत, नैव अन्यं एतैः कार्यैः दण्डं समारम्भयेत्, एतैः कार्यैः दण्डं समारभमाणमपि अन्यं न समनुज्ञापयेत्, एषः मार्गः आर्यैः प्रवेदितः, यथा एतस्मिन् न उपलिप्यसे इति ब्रवीमि ॥ ७७ ॥

III सूत्रार्थ :

उस (शस्त्र) को सभी प्रकार से जानकर मेधावी साधु स्वयं इन सावद्य कार्यों के द्वारा दंड का समारंभ न करें, इन कार्यों के द्वारा अन्य से भी दंड का समारंभ न करावें, और इन कार्यों के द्वारा दंड का समारंभ करनेवाले अन्य की अनुमोदना न करें... यह मार्ग आर्यपुरुषों ने कहा है, यथा इन दंड के समुपादान में तुम उपलिप्त न हो वैसे निर्दोष संयमानुष्ठान करो... ऐसा मैं कहता हूँ... ॥ ७७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

तत् याने शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में कहे गये स्वकाय, परकाय और उभयकाय स्वरूप शस्त्र, अथवा यहां कहे गये विषय-कषाय-मात-पितादि अप्रशस्त गुणमूलस्थान तथा कालाकालसमुत्थान, क्षणपरिज्ञान श्रोत्रादि विज्ञान की हानि तथा आत्मबल आदि की प्राप्ति के लिये दंड का समादान ज्ञ परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करनेवाला मर्यादावर्ती मेधावी साधु हेय और उपादेय का ज्ञाता होने से स्वयं खुद आत्मबलाधानादि कार्यों के हेतु से जीवों के विनाश स्वरूप दंड का समारंभ न करें, तथा इन कार्यों के हेतु से अन्यो के द्वारा भी हिंसा-जुठ आदि स्वरूप दंड का समारंभ न करावें तथा अपने आप दंड का समारंभ करनेवाले अन्य का योगत्रिक से याने मन-वचन-काया से अनुमोदन न करे...

यह उपदेश तीर्थंकर परमात्मा श्री महावीर प्रभुने कहा है, ऐसा पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी अपने शिष्य श्री जंबूस्वामीजी को कहते हैं कि- यह ज्ञानादिवाला भावमार्ग अथवा योगत्रिक याने मन-वचन और काया तथा करणत्रिक याने करण करावण और अनुमोदन के द्वारा दंड के ग्रहण का त्याग स्वरूप मार्ग आर्योंने कहा है... आर्य याने सभी हेय (त्याज्य) कार्यों से दूर रहनेवाले संसार समुद्र के किनारे पे रहे हुए, घातिकर्मों के सभी अंशों का क्षय

करनेवाले संसार के उदर में होनेवाले सभी भावों के ज्ञाता ऐसे तीर्थंकर प्रभु आर्य है... ऐसे आर्यों ने देव और मनुष्यों की बारह पर्षदा में सर्व-भाषा में परिणाम पानेवाली तथा एक साथ सभी जीवों के संशयों को नष्ट करनेवाली वाणी से यह मोक्षमार्ग बताया है... कहा है...

ऐसे स्वरूपवाले मार्ग को जानकर क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में अब कहते हैं... कि- आत्मबलोपधान आदि कार्यों आने पर भी दंड का ग्रहण न करनेवाला तत्त्वज्ञ कुशल मुनी इस जीववध स्वरूप दंडका आदर न करें, अर्थात् दंड का ग्रहण न करें... अथवा विभक्ति का परिणाम होनेसे- हे शिष्य ! दंड के ग्रहण से होनेवाले कर्मों से तुम लेपाओ नहिं वैसे ही प्रकार के निर्दोष कार्य करो... "इति" पद समाप्ति सूचक है... और "ब्रवीमि" याने मैं सुधर्मस्वामी हे जम्बू ! तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

जीवन का मूल लक्ष्य कर्म बन्धन से मुक्त होना है। इसके लिए बताया गया है कि- प्रबुद्ध पुरुष को त्रिकरण और त्रियोग से दण्ड-समारम्भ का परित्याग कर देना चाहिए। स्वयं किसी प्राणी का दण्ड-समारम्भ न करे, दूसरे व्यक्ति से न करावे, और ऐसा कार्य करने वाले का समर्थन भी न करे। इस प्रकार हिंसा जन्य प्रवृत्ति से सर्वथा दूर रहने वाला मनुष्य पाप कर्म से लिप्त नहीं होता।

यह साधना पथ अर्थात् त्याग मार्ग आर्य पुरुषों द्वारा प्ररूपित है। आर्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि-

“आराद्याताः सर्वहेयधर्मैभ्य इत्यार्याः-संसारार्णवतटवर्तिनः क्षीणघातिकर्माशाः संसारोदरविवरविवर्तिभावविदः तीर्थकृतस्तैः 'प्रकर्षेण' सदेवमनुजायां पर्षदि सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा यौगपद्याशेषसंशीतिच्छेत्र्या प्रकर्षेण वेदितः अर्थात्... कथितः प्रतिपादित इतियावत्”।

अर्थात्- जो आत्मा पाप कर्म से सर्वथा अलिप्त है, जिसने घाति कर्म को क्षय कर दिया है, पूर्ण ज्ञान एवं दर्शन से युक्त है, ऐसे तीर्थंकर एवं सर्वज्ञ-सर्वदर्शी पुरुषों को आर्य कहा गया है और उनके द्वारा प्ररूपित पथ को आर्यमार्ग या आर्यधर्म कहते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकला कि- जो मार्ग प्राणी मात्र के लिए हितकर है, अर्थात् हिंसा आदि दोष से दूषित नहीं है, तथा सभी जीवों के लिए सुख-शान्तिप्रद है, वह आर्य मार्ग है। और उस पर गतिशील साधक क्रमशः हि पूर्ण आत्म ज्योति को प्रकट कर लेता है।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्व के उद्देशों की तरह समझीएगा...

॥ इति द्वितीयाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

५ ५ ५

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिए राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आंचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५ राजेन्द्र सं. ९६. ५ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - २ उद्देशक - ३

॥ मद्युगः ॥

द्वितीय उद्देशक पूर्ण हुआ... अब तृतीय उद्देशक का आरंभ करते हैं... और इसका परस्पर यह संबंध है कि- यहां द्वितीय उद्देशक में कहा गया है, कि- संयम में दृढता करें और असंयम में शिथिलता करें... किंतु यह दोनों कार्य कषायों के परिहार से ही हो सकता है... और चार कषाय में भी मान कषाय उत्पत्ति से लेकर ही उच्चगोत्र का अभिमान करता है... अतः उच्चगोत्र का अभिमान दूर करने के लिये यहां इस तृतीय उद्देशक में कहा जाएगा... पूर्व के सूत्र में कहा था कि- कुशल मुनी उच्चगोत्र के अभिमान में मदोन्मत्तता न हो ऐसी सावधानी के साथ ही संयमानुष्ठान करें... यह बात अब तृतीय उद्देशक के प्रथम सूत्र में कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ७८ ॥ १-२-३-१

से असइं उच्चागोए असइं नीआगोए, नो हीणे, नो अइरित्ते, नोऽपि ईहए, इय संखाय को गोयावाई ? को माणावाई ? कंसि वा एगे गिज्झा, तम्हा नो हरिसे, नो कुप्ये, भूएहिं जाण पडिलेह सायं ॥ ७८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः असकृत् उच्चैर्गोत्रे, असकृद् नीचैर्गोत्रे न हीने, न अतिरित्ते, न अपि ईहेत, इति परिसङ्ख्याय कः गोत्रवादी ? कः मानवादी ? कस्मिन् वा एकः गृध्येत ? तस्मात् न हृष्येत, न कुप्येत, भूतेषु जानीहि प्रतिलिख्य (प्रत्युपेक्ष्य) सातम् ॥ ७८ ॥

III सूत्रार्थ :

वह (यह) जीव कर्मानुसार बार बार उच्चगोत्र में, बार बार नीचगोत्र में उत्पन्न होता है, अतः हीन और अतिरिक्त भाव न रखें, और न चाहें... यह बात जानकर कौन गोत्रवादी हो ? कौन मानवादी हो ? कौनसे स्थान में कौन आसक्ति करे ? इसलिये न हर्षित हो और न तो क्रोध करें... तथा विचारकर जानो कि- जीवों में साता की चाहना है... ॥ ७८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह संसारी प्राणी मान-सत्कार के योग्य उच्चगोत्र में अनेक बार उत्पन्न हुआ है, तथा सभी लोगों से तिरस्कृत ऐसे नीचगोत्र-कर्म में भी बार बार (अनेकबार) उत्पन्न हुआ है... वह इस प्रकार- नीचगोत्र के उदय से प्राणी अनंतकाल तक तिर्यचगति में रहता है... और वहां परिभ्रमण करते हुअे उस प्राणी को सत्ता में रही हुई ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म की बीयानबे (१२) प्रकृतियों में से उत्पन्न हुए तथाविध अशुभ अध्यवसायवाला वह प्राणी आहारक शरीर और उपांग तथा आहारक बंधन और संघातन तथा देवगति और अनुपूर्वी तथा नरकगति और अनुपूर्वी तथा वैक्रिय चतुष्टय याने वैक्रिय शरीर, उपांग, बंधन और संघातन यह बारह (१२) कर्म प्रकृतियों को सत्तामें से हटाकर अस्सी (८०) कर्म प्रकृतिवाला होता है...

वह प्राणी जब तेउकाय (अग्नि) और वायुकाय में उत्पन्न होता है तब मनुष्यगति और आनुपूर्वी दोनों को सत्ता में से हटाकर उच्चगोत्र का भी पत्योपम के असंख्येय भाग से उद्वलन करता है, इसीलिये अग्नि और वायु में प्रथम एक हि भंग-विकल्प है वह इस प्रकार- नीचगोत्र का बंध और उदय होता है, और उसी की हि सत्ता होती है... और वहां से निकलकर अन्य एकेन्द्रिय (पृथ्वी-जल आदि) में उत्पन्न होनेवालों को भी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में यह प्रथम एक हि भंग-विकल्प होता है... तथा त्रसकाय में भी अपर्याप्त अवस्था में यह प्रथम एक भंग होता है... और जिन्हों ने उच्चगोत्र को सत्ता में से हटाया नहि है उन्हे दुसरा और चौथा भंग... वह इस प्रकार... गोत्रकर्म के सात भंग-विकल्प...

विकल्प-भंग	बंध	उदय	सत्ता...	गुणठाणा
१.	नीचगोत्र	नीचगोत्र	नीचगोत्र...	१
२.	नीच (नीचगोत्र)	नीच	नीच-उच्च	१ - २
३.	नीच	उच्च	उच्च-नीच	१ - २
४.	उच्च	नीच	नीच-उच्च	१ से ५
५.	उच्च	उच्च	दोनो की सत्ता	१ से १०
६.	-	उच्च	दोनो की सत्ता	११ से १४
७.	-	उच्च	उच्चगोत्र	१४ वे का अंतिम समय

द्वितीय भंग में नीचगोत्र का बंध और नीचगोत्र का उदय तथा उच्च और नीचगोत्र की सत्ता. तथा चौथे भंग में उच्चगोत्र का बंध नीचगोत्र का उदय और सत्ता उच्च तथा नीच दोनों की... शेष चार विकल्प यहां तिर्यच गति में नहिं होते है.. क्योंकि- तिर्यच जीवों में उच्चगोत्र के उदय का अभाव होता है... यह यहां तात्पर्य है...

इस प्रकार उच्चगोत्र के उद्वलन से कलकल भाव को प्राप्त वह प्राणी अनंतकाल पर्यंत एकेन्द्रिय में हि रहता है... अथवा उद्वलन न होने पर भी वह प्राणी तिर्यचगति में अनंत उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल पर्यंत रहता है... और वह (काल-समय) एक आवलिका के असंख्येय भाग प्रमाण समयों की संख्या प्रमाण असंख्य पुद्गल परावर्त काल प्रमाण है...

प्रश्न- पुद्गल परावर्त का स्वरूप क्या है ?

उत्तर- संसार के उदर में रहे हुए पुद्गलों को जब कोई एक जीव औदारिक, वैक्रिय, तैजस, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन और कार्मण (कर्म) रूप से ग्रहण करके आत्मसात् परिणत करे, तब उस समय को पुद्गल परावर्त कहते हैं... ऐसा कितनेक आचार्य कहते हैं...

अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं कि- पुद्गलपरावर्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है... और वे चारों सूक्ष्म और बादर भेद से दो दो प्रकार से है... उनमें द्रव्य से बादर पुद्गल परावर्त का स्वरूप इस प्रकार है कि- जब कोई एक जीव औदारिक वैक्रिय तैजस और कार्मण इन चारों प्रकार से सभी पुद्गलों को ग्रहण करके त्याग करता है तब द्रव्य से बादर पुद्गल परावर्त होता है... और जब कोई एक जीव चारों में से कोई भी एक शरीर रूप से सभी पुद्गलों को ग्रहण करके त्याग करने स्वरूप स्पर्श करता है तब द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गल परावर्त होता है... ॥ १ ॥

अब क्षेत्र से बादर पुद्गल परावर्त- वह इस प्रकार- जब कोई एक जीव क्रम या उत्क्रम से लोकाकाश के सभी आकाश प्रदेशों को मरण से स्पर्शता है तब क्षेत्र से बादर पुद्गल परावर्त होता है, और जब कोई एक जीव मरण के द्वारा लोकाकाश के सभी प्रदेशों को अनुक्रम से स्पर्शता है तब क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गल परावर्त होता है... ॥ २ ॥

काल से बादर पुद्गल परावर्त इस प्रकार है कि- जब कोई एक जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकाल के सभी समयों को क्रम या उत्क्रम से मरण के द्वारा स्पर्श करता है तब काल से बादर पुद्गल परावर्त होता है... और जब कोई एक जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सभी समयों को अनुक्रम से हि मरण के द्वारा स्पर्श करता है तब काल से सूक्ष्म पुद्गल परावर्त होता है.. ॥ ३ ॥

अब भाव से बादर पुद्गल परावर्त- जब कोई एक जीव अनुभाग याने रसबंध के सभी अध्यवसाय स्थानकों को क्रम या उत्क्रम से मरण के द्वारा स्पर्श करता है तब भाव से बादर पुद्गल परावर्त होता है... और जब कोई एक जीव जंघन्य रसबंध के अध्यवसाय स्थानक से लेकर अनुक्रम से सभी अध्यवसाय स्थानकों को मरण के

द्वारा स्पर्श करता है तब भाव से सूक्ष्म पुद्गल परावर्त होता है... रसबंध के अध्यवसाय स्थानकों का स्वरूप हम संयम स्थान के अवसर में पहले हि कह चुके हैं... ॥ ४ ॥

इस प्रकार कलकल भाव को प्राप्त यह या अन्य जीव नीचगोत्रकर्म के उदय से अनंतकाल पर्यंत तिर्यच गति में रहता है... और मनुष्य जन्म में भी नीचगोत्रकर्म के उदय से वह प्राणी अपमानित स्थानों में उत्पन्न होता है... तथा कलकलभाव को प्राप्त प्राणी जब भी बेइंद्रियादि में उत्पन्न होता है तब प्रथम समय में अथवा पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद उच्चगोत्रकर्म का बंध करके मनुष्य गति में अनेकबार उच्चगोत्र को प्राप्त करता है... यहां मनुष्यगति में तृतीय भंग या पंचम भंग प्राप्त होता है... वे इस प्रकार- नीचगोत्र का बंध, उच्चगोत्र का उदय और सत्ता दोनो प्रकार की... यह तृतीय भंग है... और पांचवे भंग में उच्चगोत्र का बंध, उच्चगोत्र का उदय और उच्च-नीच दोनो की सत्ता...

तथा छद्मा और सातवा भंग-विकल्प तो बंध के अभाववाले जीव को क्षपक श्रेणी में होता है... किंतु यहां उनका विषय नहि है अतः उनका यहां इस सूत्र में अधिकार नहि है... उनका याने छट्टे एवं सातवे विकल्प का स्वरूप इस प्रकार है... बंधका अभाव, उच्च का उदय, दोनो की सत्ता... ॥ ६ ॥ बंध का अभाव, उच्च का उदय, उच्च की सत्ता... ॥ ७ ॥ यह सातवा भंग तो केवली भगवान को अयोगी नाम के चौदहवे गुणस्थान की अवस्था में जीवन के अंतिम द्विचरम समय में नीचगोत्र की सत्ता क्षीण होने पर मात्र उच्च का उदय और उच्च की सत्ता होती है... इस प्रकार उच्च और नीचगोत्र के प्रथम के पांच प्रकार के विकल्पों में अनेक बार (बार बार) उत्पन्न होनेवाले प्राणी को यह समझना चाहिये कि- न तो उच्चगोत्र का अभिमान करें, और न तो नीचगोत्र में दीनता करें, किंतु समभाव में रहें...

यह उच्च और नीचगोत्र कर्म के बंध के अध्यवसाय स्थान-कंडक, परस्पर तुल्य-समान हि हैं, यह बात अब कहते हैं- उच्चगोत्रकर्मबंध के जितने अध्यवसाय स्थान-कंडक हैं उतने हि नीचगोत्रकर्म के बंध अध्यवसाय स्थान-कंडक हैं और अनादि के इस संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणी ने बार बार उन सभी कंडको का स्पर्श किया है... इसलिये उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र के कंडक की दृष्टि से कोइ भी प्राणी न तो हीन है, और न तो अधिक है...

नागार्जुनीय मतवाले तो ऐसा कहते हैं कि- विश्व के सभी जीव निश्चित हि भूतकाल में अनेक (अनंत) बार उच्च एवं नीच गोत्र में उत्पन्न हुआ है... और वह उच्च एवं नीच गोत्रकर्म रसबंध कंडक की अपेक्षा से न हीन है न अधिक है... वह इस प्रकार- एक भव के या अनेक भवों के उच्चगोत्र के कंडकों से नीचगोत्र कंडक न तो हीन है, और न तो अधिक है... ऐसा जानकर उत्कर्ष और अपकर्ष न करें... गोत्र के उपलक्षण से जाति-कुल-बल आदि सभी मदस्थानों में यह सभी बातें स्वयं हि घटित करें... क्योंकि- उच्च एवं नीच

स्थानों में जीव कर्मों के कारण से उत्पन्न होता है... और बल, रूप, लाभ आदि मदस्थानों की तो असमंजसता याने अनिश्चितता हि है तो अब क्या करें ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- जाति लाभ कुल ऐश्वर्य बल रूप तप और श्रुत इन आठ मदस्थानों में से कोई भी एक की भी इच्छा न करें... स्पृहा भी न करें... क्योंकि- उच्च एवं नीच गोत्र के सभी स्थानों में जीव अनेक बार उत्पन्न हुआ है... ऐसा जानकर कौन बुद्धिशाली मनुष्य मानवादी होकर ऐसा बोले कि- "मेरा गोत्र उच्च है, सभी लोगों को माननीय है... अन्य का ऐसा गोत्र नहि है इत्यादि..." क्योंकि- सभी जीवों ने सभी उच्च एवं नीचगोत्र के स्थानों को अनेकबार प्राप्त किया है...

तथा उच्चगोत्र के कारण से होनेवाला मान (अभिमान) भी कौन करे ? अर्थात् संसार के स्वरूप को जाननेवाला कोई भी बुद्धिशाली मनुष्य मानवादी न होगा... क्योंकि- गोत्र के कोई भी एक स्थान का अनेक बार अनुभव करने के बाद अस्थिर ऐसे उच्चगोत्र के कौन से स्थान में बुद्धिशाली मनुष्य रागादि के अभाव से आसक्त हो ? तात्पर्य यह है कि- कर्मों के परिणाम को जाननेवाला समझदार मनुष्य अन्य प्राणीओं की सेवा करे... हां, यदि पहले कभी ऐसा उच्चगोत्र पाया न हो तब अवश्य गृद्धि = आसक्ति हो, किंतु प्रत्येक प्राणीने अनेकबार ऐसे उच्चगोत्र के सभी स्थानों को पूर्वकाल में प्राप्त किया है... अतः कहते हैं कि- ऐसे उच्चगोत्र की प्राप्ति और अप्राप्ति में उत्कर्ष और अपकर्ष न करें...

यह बात अब कहते हैं कि- अनादिकाल के इस संसार में पर्यटन करनेवाले सभी प्राणीओं ने कर्मों के अधीन ऐसे उच्च एवं नीच स्थानों का अनेक बार अनुभव किया है... इसलिये कभी कोईक शुभ या अशुभ कर्मों के उदय से उच्च अथवा नीच मद के स्थान को प्राप्त करके हेय एवं उपादेय को जाननेवाला पंडित-साधु हर्ष या क्रोप न करे...

कहा भी है कि- इस संसार में भटकते हुए मैंने सभी उच्चस्थानों को अनेकबार प्राप्त किया है, इसलिये मुझे इनमें विस्मय (हर्ष) नहि है... यदि आठों प्रकार के मदस्थानों का मथन = विनाश करनेवाले तीर्थंकरोंने उच्चगोत्र के मद का निषेध किया है, अतः शेष सात मदस्थानों का भी प्रयत्न के द्वारा त्याग करना चाहिये और नीचगोत्र के उदय से अपमानित स्थान की प्राप्ति में भी वैमनस्य न करें, यह बात अब कहते हैं- अशुभ कर्मों के उदय से शिष्ट-लोक में अमान्य ऐसे अधम प्रकार के जाति, कुल, रूप, बल, लाभ आदि प्राप्त करके कोप न करें... यहां ऐसा चिंतन करें कि- इस दुःखमय संसार में अशुभ कर्मों के उदय से कौन सा नीचस्थान भूतकाल में मैंने प्राप्त नहि किया है ? अथवा क्या अशुभ शब्दादि-दुःखों को मैंने पाया नहि है ? अर्थात् सभी नीचस्थान और शब्दादि दुःखों को प्राप्त किया है... ऐसा शोचकर उद्वेग न करें...

कहा भी है कि- सेंकडों प्रकार के जन्म-जन्मांतरों में अपमान, स्थानभ्रंश तथा वध, बंधन और धन के विनाश से सभी जीवों ने अनेक रोग एवं शोक को पाया है... कहा भी है कि- यह जीव उच्चगोत्रकर्म के उदय से उज्ज्वल छत्रवाला पृथ्वीपति चक्रवर्ती राजा होकर कालांतर में अनाथ और जीर्ण खंडेर घरों में रहनेवाला दरिद्र भी होता है... इस प्रकार अनेक जन्मों में या एक ही जन्ममें भी यह जीव उच्च-नीच इत्यादि... विविध प्रकार की अवस्थाओं का अनुभव करता है...

इस प्रकार उच्च और नीच गोत्र में निर्विकल्प मनवाला यह जीव क्या करता है ? वह अब कहते हैं- जैसे कि- भूत याने तीनों काल की दृष्टि से, हैं, होंगे और थे वे भूत याने प्राणी... अतः कुशाग्र बुद्धि से सोचकर के यह जानो कि- उनके साता याने सुख और असाता याने दुःख के कारण कौन है ? और वे प्राणी अनिदित ऐसा क्या चाहते हैं ? यहां जीव, जंतु प्राणी आदि उपयोग लक्षण जीवद्रव्य के मुख्य वाचक शब्दों को छोड़कर जीव के लिये सत्ता-वाचक भूत शब्द का ग्रहण करके यह कहना चाहते हैं कि- यह उपयोग लक्षणवाला जीव अपनी सत्ता-स्वरूप को धारण करता है... और साता-सुख का अभिलाषी यह प्राणी असाता याने दुःख की निंदा भी करता है...

तथा शुभ कर्म प्रकृतिवाला होने से यह प्राणी साता का अभिलाषी है... इसी प्रकार अन्य भी शुभ कर्म प्रकृतियों का यह प्राणी अभिलाषी है ऐसा समझीयेगा... अतः शुभ नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुष्यकर्म और सातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतियों की प्राप्ति में यह प्राणी आनंदित होता है तथा सभी प्राणी अशुभकर्म प्रकृतियों की निंदा करते हैं...

ऐसा होने पर क्या करना चाहिये ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

दूसरे उद्देशक में परिवार एवं धन-वैभव आदि में रही हुई आसक्ति का परित्याग करने का एवं संयम में दृढ़ रहने का उपदेश दिया गया है। संयम साधना में तेजस्विता लाने के लिए कषाय का त्याग करना आवश्यक है। क्रोध, मान, माया और लोभ की आन्धी में भी अपने पैरों को दृढ़ जमाए रखना ही संयम-साधना का उद्देश्य है। कई बार साधक क्रोध को निष्फल करता जाता है। क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर वह अपने मनमें आवेश को नहीं आने देता है और उसे जीवन व्यवहार में भी प्रकट नहि होने देता है। परन्तु अनेक बार मानवीय दुर्बलता के कारण साधक भी मान के प्रवाह में बहने लगता है। उसे अपने ज्ञान, तप, संयम-साधना या अन्य गुणों पर गर्व होने लगता है और इनके कारण वह अपने आपको अन्य साधकों से श्रेष्ठ या उत्कृष्ट समझने लगता है।

किंतु यह अभिमान पतन का कारण है, क्योंकि- इससे आत्मा में ऊंच-नीच की भावना उद्बुद्ध होती है। वह अपने आपको श्रेष्ठ और अन्य को हीन समझने लगता है इस परिस्थिति में अन्य जीवों के ऊपर घृणा एवं तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है। यह तिरस्कार की भावना पापबन्ध का कारण है। इसके फलस्वरूप आगामी भव में उसकी शक्ति का सम्यक्तया विकास नहीं हो पाता है। इसलिए साधक को अभिमान का परित्याग करना चाहिए। और निरभिमान होकर संयम-साधना में सदा संलग्न रहना चाहिए।

यही बात बताते हुए सूत्रकार ने प्रस्तुत उद्देश में कहा है, कि- संसार एक झूला है। जीव अपने कृत कर्म के अनुसार उस झूले में झूलते रहते हैं। कभी ऊपर और कभी नीचे, इस प्रकार वे विभिन्न योनियों में इधर उधर घूमते रहते हैं। उनका संसार प्रवाह चलता रहता है। जब तक कर्म के अस्तित्व को निर्मूल नहीं कर दिया जाता, तब तक संसार का प्रवाह किसी भी अवस्था में नहीं रुक सकता।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि आठ कर्मों में गोत्र कर्म का भी उल्लेख है। इसी कर्म के फलस्वरूप जीव विभिन्न गतियों में उच्च एवं नीच गोत्र को प्राप्त करता है। इस से स्पष्ट होता है कि- उच्च और नीच गोत्र कर्मजन्य है या यों कहिए कि- गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी उच्च-नीच गोत्र वाला कहा जाता है। यह उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र की बात केवल मनुष्यों में ही है, ऐसी बात नहीं है किंतु नरक; तिर्यक, मनुष्य और देव चारों गतियों में दोनों उच्च एवं नीच गोत्र पाए जाते हैं। संसार की समस्त योनियों में दोनों श्रेणियों के जीवों का अस्तित्व मिलता है। अतः यह उच्च एवं नीचपना गोत्रकर्म का ही फल है, क्योंकि- गोत्र कर्म में उच्चता एवं नीचता का भाव रहा हुआ है...

आगम में आठ प्रकार के मद बताए गए हैं- १. जातिमद, २. कुलमद, ३. बलमद, ४. रूपमद, ५. विद्यामद, ६. तपमद, ७. लाभमद और ८. ऐश्वर्यमद। इन आठ प्रकार के भेदों में सभी तरह के मदों का समावेश हो जाता है। अतः मद अभिमान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है और निरभिमान भाव में प्रवृत्त होना निर्जरा या शुभ गोत्र के बन्ध का कारण है।

इसलिये शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि- अतः साधक को यह समझना चाहिए कि- प्राप्त उच्च या नीच गोत्र में हर्ष या शोक नहीं करना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में जाति एवं कुल मद के त्याग का उपदेश दिया गया। परन्तु इन के साथ साथ शेष अन्य ६ मद भी त्यागने योग्य हैं, इस बात को भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार साधक को अभिमान का पूर्णतः त्याग करके नम्रता के साथ संयम-साधना के पथ पर

गतिशील होना चाहिए। नीच गोत्र की प्राप्ति होने पर चिन्ता नहि करनी चाहिए और उच्च गोत्र की उपलब्धि पर हर्ष भी नहीं करना चाहिए।

प्रत्येक प्राणी को अच्छे-बुरे पदार्थ-वस्तु शुभाशुभ कर्म के अनुसार मिलते हैं। अतः साधक किसी भी प्राणी का तिरस्कार अपमान करें और शुभाशुभकर्म के फल का विचार करके हर्ष एवं शोक का त्याग करके हर परिस्थिति में समभाव की साधना करनी चाहिए। इत्यादि यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ७९ ॥ १-२-३-२

समित् एयाणुपस्सी, तं जहा- अंधत्तं, बहिरत्तं, मूयत्तं, काणत्तं, कुण्टत्तं, खुज्जत्तं, वडभत्तं, सामत्तं, सबलत्तं सह पमाएणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधायइ, विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ ॥ ७९ ॥

II संस्कृत-छाया :

समितः एतदनुदर्शी, तद् यथा- अन्धत्वं, बधिरत्वं, मूकत्वं, काणत्वं, कुण्टत्वं, कुब्जत्वं वडभत्वं, श्यामत्वं, शबलत्वं, सह प्रमादेन अनेकरूपाः योनीः सन्धत्ते, विरूपरूपान् स्पर्शान् परिसंवेदयते ॥ ७९ ॥

III सूत्रार्थ :

समितवाला साधु यह देखता है कि- संसार में कर्मों के कारण से प्राणी अंधापन, बहेरापना, मुंगापना, काणापना, कुण्टपना, कुबडापना, वडभपना, श्यामपना, और शबलपने को प्राप्त करता है और अनेक प्रकार की योनियों में उत्पन्न होता है, निकृष्ट वहां विभिन्न प्रकार के कठोर स्पर्श-दुःखों का संवेदन करता है ॥ ७९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जीवों में रहे हुए शुभ और अशुभ कर्मों को देखकर, उनको जो अप्रिय है, ऐसा कार्य न करें... यह यहां उपदेश है... और नागार्जुनीय मतवाले कहते हैं कि- पुरुष याने जीव निश्चित हि दुःखों से उद्विग्न है, और सुख का अभिलाषी है... अर्थात् सभी प्राणी दुःखों से नाराज हैं और सुखों को चाहनेवाले हैं...

वे जीव पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि, वनस्पति... सूक्ष्म और बादर भेदवाले हैं... तथा विकलेंद्रिय, (बेइंद्रिय-तेइंद्रिय-चउरेंद्रिय) पंचेंद्रिय, संज्ञी और असंज्ञी वे सभी पर्याप्त और अपर्याप्त स्वरूप हैं इत्यादि प्ररूपणा शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में की है...

दुःखों के परिहार (त्याग) तथा सुखों की झंखनावाले इन प्राणीओं में आत्मीय भाव बनाकर हिंसादि पापस्थानों का त्याग करने के द्वारा आत्मा को पांच महाव्रतों में स्थापित करें... और उन महाव्रतों के परिपालन के लिये उत्तरगुणों का भी परिपालन करना चाहिये... अतः उपदेश देते हैं कि- पांच समिति से समित ऐसा साधु अंधत्व आदि के कारण स्वरूप अशुभ कर्मों को गहराई से देखें... और जीवों को साता प्रिय है ऐसा आत्म-संवेदन करें...

सम् + इ + ति = समिति... यह समितियां पांच है... १. ईर्यासमिति, २. भाषा समिति, ३. एषणासमिति, ४. आदान-निक्षेप समिति और ५. उत्सर्ग याने पारिष्ठापनिका समिति... उनमें- प्राणातिपातविरमण व्रत के परिपालन के लिये ईर्यासमिति... असत्य कथन के नियम की सिद्धि के लिये भाषासमिति... अचौर्यव्रत के परिपालन के लिये एषणासमिति... और शेष दो समितियां सभी व्रतों में श्रेष्ठ ऐसे अहिंसा व्रत की सिद्धि के लिये है... इस प्रकार पांच महाव्रतवाला साधु महाव्रतों की संरक्षा करनेवाली पांच समितियों से समित होता है और सद्भाव के साथ प्राणीओं के साता आदि को आत्मीयभाव से देखता है...

अथवा- वह साधु हैं, कि- जो पदार्थों को यथावस्थित देखे, जैसे कि- संसार के उदर में परिभ्रमण करनेवाले प्राणी अंधत्व आदि अनेक अवस्थाओं का संवेदन करते हैं... द्रव्य और भाव के भेद से अंध के दो प्रकार है... उनमें एकेंद्रिय बेइंद्रिय और तेइंद्रिय जीव द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से अंध है तथा मिथ्यादृष्टि ऐसे चउरिंद्रिय पंचेंद्रिय आदि प्राणी केवल भावसे अंध है... कहा भी है कि- निर्मल विवेक चक्षुवाले और ऐसे निर्मल चक्षुवाले के साथ निवासवाले जीव अंध नहि है...

इन दोनों के सिवा जगत में जो लोग विवेक-चक्षु की विकलता से अंध हैं वे यदि उल्टे मार्ग में चलते हैं तब उनका क्या अपराध है ? क्योंकि- वे अज्ञ हैं...

तथा जो सम्यग्दृष्टि लोग हैं किंतु यदि उनकी आंखे नष्ट हुई है तब वे द्रव्य से अंध है... यदि उनकी आंखे अच्छी है तब वे न तो द्रव्य से अंध है, और न तो भाव से अंध है...

इस प्रकार जो प्राणी द्रव्य एवं भाव से अंध है, वे एकांत = निश्चित हि दुःख पाते हैं... कहा भी है कि- अंध प्राणी जीवित होने पर भी मरे हुए के समान हि है, क्योंकि- वह सभी क्रियाओं में परतंत्र है... उसका सूर्य हमेशा अस्त हुआ हि है, और वह सदैव हि अंधकार के समुद्र में डूबा हुआ है... तथा दोनों लोक के संकट स्वरूप अज्ञान-अग्नि में जल रहे अंगवाले तथा अन्य की लकड़ी के सहारे चलनेवाले अंध को देखकर किसको उद्वेग-वैराग्य न हो ? जैसे कि- भयानक काले नागों से भरे हुए गहरे गड्ढे (गर्ता) में रहा हुआ प्राणी दुःख पाता है वैसे हि अंधत्व की गर्ता में पडा हुआ अंध (अज्ञ) प्राणी दुःखों को पाता है...

इसी प्रकार बहेरापना भी कर्मों के कारण से यह प्राणी अनेक बार प्राप्त करता है... बहेरेपने के कारण से प्राणी सत् और असत् को न सुन सकने के कारण से इस जन्म तथा जन्मांतर के इष्ट फलवाले क्रियानुष्ठान में शून्यता को धारण करता है... कहा भी है कि- धर्मकथा के श्रवण स्वरूप मंगल से रहित तथा लोगों की बात सुनने के व्यवहार से बाहर रहा हुआ बहेरा मनुष्य-प्राणी इस जगत में ठीक तरह से जीवन कैसे निभाएगा ? क्योंकि- इस विश्व में बोले जा रहे सभी शब्द जिसके लिये स्वप्न में प्राप्त कीये हुए धन की तरह निष्फल हि होते हैं... तथा मात-पिता एवं अपनी पत्नी और बाल बच्चों के मधुर वचनों का श्रवण न हो सकने से बहेरा मनुष्य जीवित होने पर भी मृतक के समान हि है अतः ऐसे उसके जीवित रहने से क्या फल ?

इसी प्रकार मुंगेपने से भी प्राणी एकांत हि दुःखों का संवेदन करता है... कहा भी है कि- मुंगापना निश्चित हि दुःखदायक अपयशःकीर्तिकारक तथा सभी लोगों से पराभव देनेवाला है तो भी मूढ लोग कर्मों ने कीये हुए ऐसे पराभव को क्यों नहि देखते ? तथा काणा-पना भी ऐसा हि है... कहा भी है कि- एक आंख से काणा मनुष्य अर्थात् एक आंख से नीची विषम या उंची दृष्टिवाला मनुष्य, संसार के रागी लोगों को भी वैराग्य (नाराजगी) के कारण होते हैं, उनका चित्र या प्रतिमा किसीके मनको प्रिय नहि होते हैं, तो फिर वह सामने प्रत्यक्ष हो तो कैसे अच्छा लगेगा ?

इसी प्रकार हाथों में वक्रता आदि स्वरूप कुंटत्व... तथा वामन स्वरूप कुब्जत्व... तथा पीठ का बहार होना स्वरूप वडभत्व... कालापना रूप श्यामत्व... और चित्र-विचित्र लक्षणवाला शबलत्व... इत्यादि जन्म से हो या बाद में किसी कारण से अंधत्व आदि होने में कर्माधीन यह संसारी जीव बहोत प्रकार के दुःखों का संवेदन करता है...

तथा कल्याणकारक कार्यों में आलस और विषय क्रीडामें आसक्ति स्वरूप प्रमाद के कारणों से यह प्राणी संकट विकट शीत उष्ण आदि विभिन्न भेदवाली योनीयों में उत्पन्न होता है अर्थात् चौरासी (८४) लाख योनीयों में उत्पन्न होने स्वरूप संबंध बनाये रखता है... अथवा जन्मांतर के बांधे हुए आयुष्य के अनुसार मरण होते हि विविध प्रकार की योनीयों की तरफ दौडता है... तथा वहां विभिन्न प्रकार के दुःखदायक स्पर्श का अनुभव करता है...

इस प्रकार उच्चगोत्र से होनेवाले मान से विनष्ट चित्तवाला अथवा नीचगोत्र के कारण से होनेवाले दीन-भाववाला अथवा अंधापना, बहेरापना को पाया हुआ वह प्राणी अपने कर्तव्य को जानता नहि है, कर्मों के फल को भी जानता नहि है, तथा संसार की नीचता को भी समझ नहि शकता, तथा अपने हित और अहित को नहि समझ शकता तथा उचितता को भी नहि समझ पाता है...

इसी प्रकार तत्त्वज्ञानो नहि जाननेवाला यह मूढ प्राणी कर्मेन्द्रिय से होनेवाले उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र आदि में विपर्यास (विपरीत) भाव को प्राप्त करता है... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

संसार विभिन्न प्रकार के आकार-प्रकार युक्त शरीरधारी जीवों से भरा हुआ है। इस विभिन्नता एवं विचित्रता का कारण कर्म है। अपने कृत कर्म के अनुसार ही प्रत्येक प्राणी अच्छे या बुरे साधनों को प्राप्त करता है। इतना स्पष्ट होते हुए भी इस बात को वह हि मनुष्य जानता है, कि- जो व्यक्ति समिति-गुप्ति स्वरूप संयम से युक्त है, अन्य व्यक्ति इस बात को सम्यक्तया नहीं जानता।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समिष्ट' शब्द महत्त्वपूर्ण आदर्श की और निर्देश करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि- किसी विषय को जानने का कार्य ज्ञान का है अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति प्रत्येक पदार्थ को भली-भांति जान-देख लेता है तो फिर यहां ज्ञान युक्त व्यक्ति का निर्देश नहीं करके समिति युक्त व्यक्ति का जो निर्देश किया गया है, उसके पीछे गंभीर भाव अन्तर्निहित है।

समिति आचरण-चारित्र्य का प्रतीक है। और जैनदर्शन की यह मान्यता है कि- सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य की समन्वित साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। ज्ञान और दर्शन समभावी हैं। दोनों एक साथ रहते हैं, परन्तु चारित्र्य के संबंध में यह नियम नहीं है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र्य की भजना मानी है। इसलिए ज्ञान के साथ चारित्र्य हो भी सकता और नहीं भी हो सकता है। परन्तु चारित्र्य के साथ ज्ञान की विद्यमानता नियम मानी है अर्थात् जहां सम्यक् चारित्र्य होगा, वहां सम्यग् दर्शन और ज्ञान अवश्य ही होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- समिति शब्द से ज्ञान और दर्शन का भी स्पष्ट बोध हो जाता है। इसलिये समिति युक्त व्यक्ति सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान युक्त होता ही है।

ज्ञान विषय पदार्थ का अवलोकन मात्र करता है, आचरण नहीं। किंतु यहां सूत्रकार को केवल विषय का बोध करना ही इष्ट नहीं है, परंतु उस बोध के द्वारा जीवन में क्रियात्मक रूप देने की प्रेरणा देना है। इसलिए सूत्रकार ने ज्ञान युक्त शब्द के स्थान में समिति युक्त शब्द का प्रयोग किया है। सम्यक् प्रकार से आचरण में प्रवर्तमान व्यक्ति ही कर्मजन्य दोषों से अपने आपको बचा सकता है।

वह अपने ज्ञान से इस बात को भली-भांति जान लेता है कि- संसार में अंधे, बहिरे, मूक, काण, वामन, कुबड़े, विकृत हाथ-पैर वाले, कुष्ठ आदि रोगों से पीड़ित व्यक्ति अपने

पूर्वभव में किए गए प्रमाद युक्त पापाचरण का फल पा रहे हैं। अर्थात् प्रमाद के आसेवन से आत्मा विभिन्न अशुभ योनियों में जन्म लेता है और उक्त विभिन्न प्रकार की शारीरिक विकृतियों एवं कठोर स्पर्श जन्य दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए संयमी पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए, और अपनी साधना में सदा जागरूक रहना चाहिए।

समिति का अर्थ है—विवेक के साथ संयम मार्ग में प्रवृत्त होना। और वह पांच प्रकार की है— १. ईर्यासमिति, २. भाषासमिति, ३. एषणासमिति, ४. आदाननिक्षेप समिति, और ५. उत्सर्ग समिति।

- | | | |
|---------------------|---|--|
| १. ईर्यासमिति | - | विवेक पूर्वक गमनागमन करना। |
| २. भाषासमिति | - | विवेक पूर्वक संभाषण करना। |
| ३. एषणासमिति | - | विवेक पूर्वक आहार आदि की गवेषणा करना। |
| ४. आदाननिक्षेपसमिति | - | वस्त्र-पात्र आदि विवेक से रखना एवं उठाना। |
| ५. उत्सर्गसमिति | - | मल-मूत्र आदि का विवेक पूर्वक उत्सर्ग करना। |

उक्त समिति से युक्त साधक प्रमाद एवं तज्जन्य अशुभ कर्मों के फल को भली-भांति देखकर, सदा उनसे बचने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्येक क्रिया में सावधानी रखता है और सदा अप्रमत्त भाव से साधना पथ पर गतिशील होने का प्रयत्न करता है।

अन्धत्व आदि के दो भेद किए हैं— १. द्रव्य और २. भाव। आंखों में देखने की शक्ति का अभाव द्रव्य अन्धत्व है और ज्ञान चक्षु का अभाव हि भाव अन्धत्व है। और उभय दोषों से आत्मा विभिन्न दुःखों एवं कष्टों का संवेदन करती है। द्रव्य अन्धत्व से वह पराधीनता के दुःख का अनुभव करती है और भाव अन्धत्व के कारण मिथ्यात्वादि बंध हेतुओं से अशुभ कर्मबंध करके नरक-तिर्यच आदि विभिन्न योनियों में अनेक प्रकार के कष्टों का संवेदन करती है। अन्धत्व की तरह बधिरत्वादि अन्य दोषों को भी समझ लेना चाहिए।

अन्धत्वादि दोषों की प्राप्ति प्रमाद से होती है। प्रमाद के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं। अतः जो जीव प्रमाद के वश हिताहित में विवेक नहीं करता अर्थात् अपने अज्ञान के कारण हित को अहित एवं अहित को हित समझते हैं, उनकी जो स्थिति होती है, वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ८० ॥ १-२-३-३

से अबुज्जमाणे हओवहए जाइमरणं अणुपरियट्टमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगसिं माणवाणं खित्त-वत्थ-ममायमाणणं आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्जाति, तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ,

संपुष्णं बाले जीवितुकामे लालप्यमाणे मूढे विपर्यासमुवेड ॥ ८० ॥

II संस्कृत-छाया :

सः अबुध्यमानः हतोपहतः, जातिमरणं अनुपरिवर्त्तमानः जीवितं पृथक् प्रियं इह एकेषां मानवानां क्षेत्र-वास्तु-ममायमानानां आरक्तं विरक्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्येन स्त्रीः परिगृह्णाति, तत्रैव रक्ताः, न अत्र तपः वा, दमः वा, नियमः वा दृश्यते, सम्पूर्णम् बालः जीवितुकामः लालप्यमानः मूढः विपर्यासं उपैति ॥ ८० ॥

III सूत्रार्थ :

कर्मविपाक को नहि जाननेवाला वह प्राणी हत-उपहत होता हुआ जन्म-मरण के चक्र में घुमता है... प्रत्येक प्राणी को जीवित प्रिय है... इस संसार में कितनेक मनुष्य क्षेत्र और मकानों में ममता करनेवाले होते हैं, तथा मणिकुण्डल और हिरण्य के साथ स्त्रियों का परिग्रह करता है... अतः उनमें हि रागी, ऐसे उन लोगों में न तप है, न दमन है, अथवा तो न कोई नियम दिखता है... तथा यथावसर कामभोग को प्राप्त करनेवाले बाल = अज्ञानी, भोगसुख के लालचु, और मूढ ऐसे वे लोग विपर्यास को पाते हैं ॥ ८० ॥

IV टीका-अनुवाद :

उच्चगोत्र के अभिमानी अथवा अंधपना बहेरापना आदि भावों के संवेदन करनेवाले कर्मविपाक को न जानते हुए हत और उपहत होते हैं हत याने विविध प्रकार के व्याधि-रोगों के कारण से क्षत (घाव) शरीरवाला... और उपहत याने सभी लोगों से पराभव पाया हुआ... अथवा- उच्चगोत्र के गर्व के अभिमान से शिष्ट पुरुषों के उचित विनय मर्यादा में न रहने के कारण से शिष्टजनो से अपयश का पात्र बनना वह “हत”, और अभिमान के कारण से प्राप्त हुए नीचगोत्र कर्म के उदय से अनेक कोटि भवों पर्यंत संसार में घूमना वह “उपहत”... अतः हत और उपहत से मूढ प्राणी विपर्यास को पाता है...

तथा जाति याने जन्म और मरण स्वरूप अरहट्ट-घटीयंत्र के न्याय से संसार के उदर में रहा हुआ यह प्राणी आवीचीमरण के द्वारा प्रतिक्षण जन्म के विनाश स्वरूप मरण का अनुभव करता हुआ दुःख के सागर में डूबा हुआ, विनाश शील पदार्थों में नित्यता की मतिवाला, हित में भी अहित माननेवाला यह प्राणी विपर्यास को पाता है... और कहते हैं कि- इस संसार में अविद्या से विनष्ट चित्तवाले कितनेक मनुष्यों को आयुष्य के दल पूर्ण न होने स्वरूप जीवित अथवा असंयमवाला जीवित प्रिय है... वह इस प्रकार- दीर्घ जीवन के लिये जीवों के वध हो ऐसी रसायण आदि का आसेवन करते हैं...

तथा शालि-डांगर आदि के क्षेत्र, हवेली, घर आदि वास्तु... “यह सब मेरा है” ऐसी ममता करनेवाले को क्षेत्र आदि प्रिय होते हैं तथा आरक्त याने थोड़ा लाल वर्णवाले वस्त्र आदि... और विरक्त याने बिना रंगवाला अथवा विविध रंगवाले वस्त्र आदि... तथा मणी याने रत्न, वैदूर्य, इंद्रनील आदि जड़े हुए कुंडल के साथ स्त्रीओं का परिग्रह करके, उन क्षेत्र, वास्तु, आरक्तविरक्तवस्त्र, मणीकुंडल, स्त्री आदि में आसक्त ऐसे मूढ प्राणी विपर्यास को पाते हैं...

वे कहते हैं कि- यहां इस विश्व में अनशनादि स्वरूप तप, इंद्रिय और मनके उपशम स्वरूप दम, और अहिंसा आदि व्रत लक्षणवाला नियम सफल है ऐसा नहि दीखता... वह इस प्रकार- तप, दम और नियमवाले मनुष्यों को कायक्लेश और भोग आदि की वंचना (ठगाना) के सिवा और कोई फल प्राप्त नहि होता है... मान लो कि- “जन्मांतर में फल प्राप्त होगा” तो यह भी भ्रमणामात्र हि है... जैसे कि- अभी जो दिख रहे हैं उनका त्याग और जो नहि दीखते हैं उनकी कल्पना करना यह भ्रमणा हि है...

इस प्रकार मात्र वर्तमान काल को हि देखनेवाला, भोगोपभोग में हि एक पुरुषार्थ की बुद्धिवाला, अवसर अनुरूप विषयोपभोग को भुगतनेवाला बाल याने अज्ञानी जीव दीर्घ काल पर्यंत जीवन जीने की अभिलाषा से भोगोपभोग के लिये प्रलाप करता हुआ वचन दंड करता है... वह इस प्रकार- ‘यहां तप दम और नियम के कोई फल नहि दीखते’ इस प्रकार बोलता हुआ मूढ अबुध प्राणी, हत और उपहत होता हुआ जन्म-मरण के चक्र में घुमनेवाला होता है...

तथा क्षेत्र, स्त्री आदि के लोभ से मूढ मतिवाला वह प्राणी सर्वत्र तत्त्व में अतत्त्व तथा अतत्त्व में तत्त्व मानने स्वरूप, तथा हित में अहितबुद्धि स्वरूप विपर्यास याने विपरीतता को धारण करता है... कहा भी है कि- स्त्रीयां परिभव स्वरूप केदखाना है... बंधुजन बंधन स्वरूप है, और विषयोपभोग विष-जहर है... अतः दुःख के हेतुओं में सुख की इच्छा रखना यह प्राणीओं का कैसा मोह-विभ्रम है ? इत्यादि...

जो लोग अशुभ कर्मों के क्षयोपशम से प्रगट हुए शुभ अध्यवसाय से मोक्ष के लक्ष्यवाले हैं वे कैसे होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

यह सूर्य के उजाले की तरह स्पष्ट है कि- सम्यग्-ज्ञान से रहित विषयासक्त प्राणी कर्म जन्य फल को नहीं जानते हैं। अतः वे तप, संयम, नियम आदि पर विश्वास नहीं करते, किंतु भौतिक भोगोपभोगों में आसक्त रहते हैं। और रात-दिन खेत-मकान, वस्त्र; स्त्री आदि भोगोपभोग साधनों में ही लिप्त रहते हैं और उन्हीं में सुख की कामना करते हुए विपरीत बुद्धि को धारण करते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'हओवहए भवइ' शब्द का यह अर्थ है कि- विषयासक्त प्राणी विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगों से, दुःखों से हत-पीड़ित होते हैं और दूसरे व्यक्तियों के द्वारा तिरस्कृत एवं अपमानित होने से उपहत-विशेष पीड़ित होते हैं। या उच्च गोत्र के अभिमान से हत होते हैं और नीच गोत्र में तिरस्कार का संवेदन करते हुए उपहत होते हैं। इस प्रकार सभी प्रमादी प्राणी विषयों में आसक्त होकर जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान होते रहते हैं।

विषयों में अत्यधिक ममता-मूर्छा के कारण विचारों में विपरीतता आ जाती है। इसीलिए कहा गया है कि- वह 'विप्परियासमुवेइ' अर्थात् विपरीतता को प्राप्त होता है। तत्त्व में अतत्त्व और अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि रखने का नाम विपर्यास है। यही विपरीत-विचारणा आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराती है।

सांसारिक भोगों की पूर्ति धन एवं स्त्री की प्राप्ति होने पर होती है। धन की प्राप्ति हो परन्तु स्त्री का अभाव हो तो वैषयिक भोगोपभोग की पूर्ति नहीं हो सकती अथवा वैषयिक भोगोपभोग के लिये स्त्री का संयोग प्राप्त हो परन्तु धन का अभाव हो तब भी भोगोपभोग की पूर्णता नहीं हो सकती, क्योंकि- भोगेच्छा की पूर्ति के साधनों को जुटाने के लिए धन की अपेक्षा रहती है। अतः विषय-वासना की पूर्ति के लिए दोनों साधन अपेक्षित हैं। सूत्रकार ने यही बात 'सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झति' शब्द से अभिव्यक्त की है। और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि- विषयासक्त प्राणी भोगों के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलाप करते रहते हैं। अर्थात् वैषयिक भोग भोगते हुए भी उन्हें तृप्ति नहीं होती, वे सदा अतृप्त हि रहते हैं...

अतः साधक को विषय-वासना का परित्याग करके आत्म विकास की और बढ़ना चाहिए। अब आत्म साधना के पथ पर बढ़ने वाले साधकों के विषय में जो कहना है, वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे-

I सूत्र ॥ ४/५ ॥ ॥ ८१-८२ ॥ १-२-३-४/५

इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो ।

जाइमरणं परिणाय, चरे संकमणे दढे ॥ ८१ ॥

नत्थि कालस्स नागमो, सब्बे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा, सब्बेसिं जीवियं पियं, तं परिगिज्झ दुपयं
चउप्पयं, अभिजुंजिया णं संसिंचिया णं, तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ, अप्पा
वा बहुया वा, ते तत्थ गट्ठिए चिट्ठइ, भोयणाए, तओ से एगया तिविहं परिसिट्ठं संभूयं

महोवगरणं भवइ, तं पि से एगया दायाया वा विभयंति, अदत्तहारो वा से अबहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, नस्सइ वा से, विनस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्जइ इय, से परस्सट्टाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्जं च आयाय तंमि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं पप्प अखेयण्णे तंमि ठाणंमि चिट्ठइ ॥ ८१-८२ ॥

II संस्कृत-छाया :

इदमेव न अवकाङ्क्षन्ति, ये जनाः ध्रुवचारिणः । जाति-मरणं परिज्ञाय चरेत् सङ्क्रमणे दृढः ॥ ८१ ॥ नास्ति कालस्थ न आगमः, सर्वे प्राणिनः प्रियायुषः, सुखसाता (सुखास्वादाः) दुःखप्रतिकूलाः अप्रियवधाः प्रियजीविनः जीवितुकामाः, सर्वेषां जीवितं प्रियं, तं परिगृह्य द्विपदं चतुष्पदं अभियुज्य संसिच्य त्रिविधेन या अपि तस्य तत्र मात्रा भवति, अल्पा वा बह्वी वा, सः तत्र गृह्यः तिष्ठति, भोजनाय, ततः तस्य एकदा विविधं परिशिष्टं सम्भूतं महोपकरणं भवति, तदपि तस्य एकदा दायादाः वा विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति, राजानः वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य, विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते इति, सः परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन सम्मूढः विपर्यासं उपैति, मुनिना खु एतद् प्रवेदितम्, अनोधन्तरा एते न च ओघं तरितुं, अतीरङ्गमाः एते न च तीरं गन्तुं, अपारंगमाः एते न च पारं गन्तुम्, आदानीयं च आदाय तस्मिन् स्थाने न तिष्ठति, वितथं प्राप्य अखेदज्ञः तस्मिन् स्थाने तिष्ठति ॥ ८१-८२ ॥

III सूत्रार्थ :

जो लोग ध्रुवचारी याने मोक्षगामी है वे पूर्वोक्त क्षेत्रवास्तु आदि नहि चाहते... किंतु जन्म और मरण की परिज्ञा करके दृढ प्रतिज्ञावाला साधु संयम में विचरे... ॥ ८१ ॥

काल का आगमन नहीं है ऐसा नहि है, सभी प्राणीओं को आयुष्य प्रिय है, सुख का स्वाद प्रिय है, दुःख अप्रिय है, वध अप्रिय है जीवन प्रिय है, जीवित की इच्छावाले है, सभी को जीवित प्रिय है... उस (असंयम जीवित) का आश्रय करके द्विपद, चतुष्पद को काम में लगा कर, धन का संचय करके, तीन योग और तीन करण के द्वारा, उसको उसमें जितनी भी अल्प या अधिक अर्थ-धन की मात्रा प्राप्त होती है, उसमें वह आसक्त रहता है... भोजनके लिये, ततः उसको एक बार विविध प्रकार के परिशेष संभूत महोपकरण होते हैं उनको भी उनके भाइ (बंधु) लोग विभाजित करते हैं, अथवा चौर उसे चोर जाते हैं, अथवा राजा उसको लूट लेता है, अथवा स्वयं हि नष्ट होते हैं, घरमें आग लगने से उस धनका जलकर विनाश

होता है... वह अज्ञानी बाल जीव अन्य लोगों के लिये क्रूर कर्म करता हुआ उनके दुःखों से मूढ बना हुआ विपर्यास को पाता है... मुनि = तीर्थंकर प्रभुने यह कहा है... कि- अनोधंतर याने पार्श्वस्था अथवा कुतीर्थिक संसार को तैर नहि शकतें, तथा अतीरंगम ऐसे ये लोग तीर = किनारे पे जानेमें समर्थ नहिं है, अपारंगमा यह लोग संसार का पार पाने के लिये समर्थ नहि है, असंयम (कर्मों) का स्वीकार करके मोक्षमार्ग में नहि रहता है, तथा वितथ याने विपरीतता को पाकर संसारी जीव असंयम के हि स्थान में रहता है... ॥ ८१-८२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वे लोग पूर्वोक्त संपूर्ण विषयोपभोगवाला जीवन, क्षेत्र, वास्तु, स्त्री आदि के परिभोग को नहि चाहतें... कि- जो मनुष्य लोग ध्रुव याने मोक्ष और उसके कारण ज्ञान आदि के आचरण में लीन रहतें हैं... अथवा धूत याने चारित्र... चारित्र के आचरण में लीन होतें हैं... और वह जन्म तथा मरण को अच्छी तरह से जानकर संक्रमण याने चारित्र में तत्पर होता है... वहां चारित्र में दृढ याने दुर्ध्यान का अभाव, परीषह और उपसर्गों में अचल अथवा तो निःशंक मनवाला होकर संयम का आचरण करो... शंका का अभाव = अशंका: शंका के अभाववाला जिसका मन हो वह अशंक मनवाला है... अर्थात् तप दम और नियमों के निष्कलता की शंका से रहित और आस्तिक्यगुणवाला होने में तप दम आदि में प्रवृत्त होता रहता है... क्योंकि- जो साधु ऐसा होता है वह हि राजा- चक्रवर्ती आदि की पूजा एवं प्रशंसा के योग्य है... और औपशमिक सुख स्वरूप फल को पानेवाले एवं सर्भी द्वन्द्वों से दूर ऐसे तपस्वीसाधु प्राज्ञ पुरुष अशुभ कार्यों का त्याग करे... मान लो कि- परलोक नहि है तो भी कोई नुकसान नहि है, किंतु यदि परलोक रहा तब तो वह नास्तिक बेहाल (विनाश) हो जाएगा... इत्यादि...

इसलिये अपने अधीन संयम सुखमें दृढ रहें... किंतु ऐसा कभी नहिं सोचें कि- “आगामी वर्ष में या दो वर्ष बाद या वृद्धावस्था में धर्मानुष्ठान करुंगा...” इत्यादि...

॥ ८१ ॥

काल याने मृत्यु को आने में अनवसर नहि है... वह इस प्रकार- सोपक्रमी आयुष्यवाले प्राणी को ऐसी कोई अवस्था नहि है कि- कर्म रूप अग्नि में रहे हुआ जीव रूप जंतु याने लाख का गोला विनाश न हो... कहा भी है कि- बालक हो या युवान, कठोर हो या कोमल, मूर्ख हो या विद्वान, धीर हो या डरा हुआ, स्वाभिमान हो या नम्र, निर्गुण हो या गुणवान, साधु हो या संसारी, उजाले में हो या अंधेरे में, अचेतन (मूर्च्छित) हो या सचेतन, रात्रि हो, दिवस हो या संध्या समय हो, काल याने मृत्यु कोई भी जीव का कभी भी विनाश करता है...

इस प्रकार “मृत्यु महा बलवान् है” ऐसा जानकर अहिंसादि व्रत-नियमों के पालन में सावधान रहना चाहिये... क्योंकि- सभी प्राणीओं को अपना आयुष्य (जीवित) प्रिय है... यहां प्राण कहने से अभेद ऐसे प्राणवाले प्राणी का ग्रहण किया है...

प्रश्न- सिद्ध-आत्माओं में यह बात कैसे घटित होगी ? क्योंकि- उनको आयुष्य ही नहीं है, अतः वे आयुष्य प्रियवाले नहीं हैं...

उत्तर- यहां यह दोष नहीं है... क्योंकि- जीव शब्द न ग्रहण करते हुए सूत्र में प्राण शब्द का ग्रहण किया है और वह संसारी प्राणीओं के उपलक्षण के लिये ही है...

अथवा पाठांतर... “सर्वे पाणा पियायथा” आयत याने अनादि अनंत स्थितिवाला आत्मा... अतः आत्मा ही प्रिय जिन्हों को वे प्राणी “प्रियात्मानः” हैं... और यह प्रियात्मता तो सुख की प्राप्ति और दुःखों के परिहार से ही होती है, इस लिये कहते हैं कि- सभी प्राणी आनंद रूप सुख का आस्वाद चाहते हैं और असाता रूप दुःख को नहीं चाहते हैं... तथा दुःख का कारण होने से वध (मरना) अप्रिय है... और असंयम जीवित स्वरूप आयुष्य प्रिय है... तथा दीर्घकाल तक (लंबा आयुष्य) जीने की चाह है... दुःखों से पीड़ित प्राणी अंतिम अवस्था में भी मरना नहीं चाहते किंतु जीना चाहते हैं...

कहा भी है कि- इस संसार में सभी प्राणी विषय सुखवाले जीवित के अभिलाषी हैं, किंतु ऐसा विषय-सुख तो आरंभ के सिवा नहीं है, और वह आरंभ जीवों के वध स्वरूप है, और सभी प्राणीओं को अपना जीवित बहोत ही प्रिय है, इसलिये ही बार बार यह कहा जाता है कि- सभी संसारी जीवों को बिना अपवाद असंयम-जीवित प्रिय है, और उस असंयमजीवित का आश्रय करके वे लोग दास-दासी आदि सेवक स्वरूप द्विपद, तथा गाय, बैल, घोड़े इत्यादि चतुष्पदों को सेवक बनाकर कार्यों में जोतते हैं... और प्रियजीवित के लिये धन की वृद्धि हो अतः द्विपद और चतुष्पद आदि के व्यापार से धन की वृद्धि करते हैं... योगत्रिक याने मन वचन और काया... तथा करणत्रिक याने करण करावण और अनुमोदन, से अल्प या अधिक मात्रा में जो कुछ धन-समृद्धि प्राप्त हुई है उनमें गृह्य याने आसक्त वे प्राणी धनके उपार्जन में होनेवाले कष्ट को देखते नहीं हैं, तथा प्राप्त उन धन के संरक्षण के श्रमको भी देखते नहीं हैं... तथा उन धन-समृद्धि की चंचलता-अस्थिरता को भी नहीं देखते और यह धन निरर्थक है ऐसा भी नहीं सोचते...

कहा भी है कि- कृमि कीड़े से व्याप्त, लार-थूक से व्याप्त, दुर्गंधि, निंदनीय ऐसी बिना मांसवाली मनुष्य की हड्डी को भी निरुपमरस की प्रीति से खाता हुआ श्वान याने कुत्ता पास में रहे हुए इंद्र से भी शंकिता होता है कि- वह इंद्र कहीं मेरी यह हड्डी ले न ले... इस तरह क्षुद्र प्राणी हड्डी स्वरूप परिग्रह में आसक्त रहता है... इत्यादि... वह प्राणी क्यों धन

को चाहता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- भोजन याने भोग एवं उपभोग के लिये वह मनुष्य धन की कामना करता है, और उस धन की इच्छावाला वह प्राणी विभिन्न आरंभ क्रियाओं में प्रवृत्त होता है... अब ऐसी सेवा व्यापार आदि क्रियाएं करते करते उस प्राणी को कभी कभी लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से विविध प्रकार की धन समृद्धि आदि सामग्री प्राप्त होती हैं, और उनका भोग एवं उपभोग करने के बाद जो कुछ धन बचता है उसे संभाल के रखता है, क्योंकि- इस धन से वह पुनः खान-पान आदि सामग्री प्राप्त कर सकता है, अतः धनका संग्रह महोपकरण माना जाता है...

लाभ योग्य कर्मों के उदय से कभी धन-समृद्धि प्राप्त होती तो है, किंतु अंतराय कर्म के उदय से वह धन उसको उपभोग में नहीं आते... यह बात अब कहते हैं... वह प्राणी समुद्र तैरना, रोहणगिरि को खोदना, बिल = गुफाओं में जाना, रस = पारा का मर्दन करना, राजसेवा तथा कृषी-खेतीवाडी आदि स्व एवं पर को दुःख-पीडा देनेवाली अनेक प्रकार की क्रियाओं से अपने उपभोग के लिये उपार्जित कीय हुए धन का एकदा भाग्य के क्षय होने से दायाद याने वारसदार पुत्र परिवार गोत्रज या भागीदार लोग विभाग करके बांट लेते हैं, अथवा चौर लुट लेते हैं, अथवा राजा छीन लेते हैं, अथवा अटवी आदि मे छुपाकर रखा हुआ वह धन स्वयं हि नष्ट होता है, अथवा पडा पडा सड जाता है, अथवा घर में आग लगने से सब कुछ जलकर नष्ट होता है, अथवा तो धन के विनाश के किंतने कारण हम कहें ? अर्थात् अनेक प्रकार से प्राप्त किया हुआ धन भी नष्ट-विनष्ट होता है...

अब कहते हैं कि- धनका उपार्जन करना उचित नहीं है, क्योंकि- अपने या अन्य के लिये धन का उपार्जन करने के लिये अज्ञानी बाल जीव गलकर्तन वध-हिंसा आदि क्रूर कर्म करता है, और उन कर्मों के फल स्वरूप असाता-दुःखों से वह प्राणी पुनः विवेकशून्य मूढ होता है, तथा सत् और असत् का विवेक न होने से कार्य को अकार्य और अकार्य को कार्य मानता हुआ विपर्यास को पाता है... कहा भी है कि- राग और द्वेष से पराभव पाया हुआ प्राणी कार्य और अकार्य के विचारों से पराङ्मुख होता है, ऐसा विपरीत कार्य करनेवाले प्राणी को मूढ कहते है...

इस प्रकार मूढता रूप अंधकार से आच्छादित हुआ है मार्ग जिन्हों का ऐसे सुख की कामनावाले प्राणी दुःखों को हि पाता है... ऐसा जानकर साधु-मुनिजन सभी पदार्थों के स्वरूप को प्रगट करनेवाले सर्वज्ञ प्रभु के वचन स्वरूप दीपक का आलंबन लेते हैं... सुधर्मास्वामीजी अपने अंतेवासी शिष्य जंबूस्वामीजी को कहते हैं कि- यह बात में अपने मन से नहीं कहता हूं, किंतु जगत् की त्रिकाल अवस्थाओं को जाननेवाले तथा प्रकृष्ट उच्चगोत्र के उदय से प्राप्त तीर्थंकर पदवाले परमात्माने सर्व जीवों को अपनी अपनी भाषा में परिणाम पानेवाली वाणी से जो कहा है वह मैं तुम्हे कहता हूं...

जैसे कि- ओघ के दो प्रकार है... द्रव्य ओघ और भाव ओघ... द्रव्य ओघ याने नदी-का पूर आदि और भाव ओघ याने आठ प्रकार के कर्म अथवा संसार... इन कर्मों से आत्मा-प्राणी अनंतकाल पर्यंत संसार में घुमता रहता है... इस ओघ याने संसार समुद्र को ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य स्वरूप जहाज में रहे हुए साधुजन तैरते हैं, और जो लोग कुतीर्थिक या पास्तथा हैं वे ज्ञानादि यान = जहाज के अभाव में नहीं तैर सकते... यद्यपि वे संसार समुद्र तैरने के लिये तत्पर तो है किंतु योग्य उपाय के अभाव में संसार को तैरने में समर्थ नहि होते... यह बात कहते हुए सूत्रकार कहते हैं कि- असंयत-प्राणी संसार समुद्र को तैरने में समर्थ नहीं हैं तथा तीर = किनारे पे जो पहुंचता है वह तीरंगम... और जो ऐसे नहि हैं वे अतीरंगम हैं, तथा प्रत्यक्ष सामने रहे हुए कुतीर्थिक लोगों को दिखाते हुए गुरुजी शिष्य को कहते हैं कि- सर्वज्ञ परमात्मा के बताये हुए मोक्षमार्ग के अभाव से यह लोग अतीरंगम है, अतः किनारे को पाने के लिये समर्थ नहि हैं... तथा अपारंगमा याने पार = सामने वाला किनारा, उनको जो प्राप्त नहीं कर पाते वे अपारंगम हैं अथवा पारगत ऐसे परमात्मा के उपदेश के अभाव से वे अपारंगत है... और वे पार पाने के लिये तत्पर होते हुए भी पारगत के उपदेश = मार्गदर्शन के बिना पार पाने के लिये समर्थ नहि होते हैं...

अथवा पार पाना वह पारंगम... ऐसे पार पाने के लिये वे कुतीर्थिक लोग समर्थ नहि होते अतः वे अज्ञ लोग अनंतकाल पर्यंत संसार के अंदर हि रहनेवाले होते हैं, यद्यपि वे पार पाने के लिये उद्यम तो करते हैं तो भी सर्वज्ञ प्रभु के उपदेश का अभाव और अपनी इच्छा अनुसार बनाये गये शास्त्रों की प्रवृत्तिवाले कुतीर्थिक लोग संसार के पार पाने में सम्र्थ नहि होते... अब प्रश्न यह होता है कि- तीर और पार में क्या विशेषता है ? उत्तर- तीर याने मोहनीय कर्म का क्षय और पार याने शेष घातिकर्मों का क्षय... अथवा तीर याने चार घातिकर्मों का विनाश और पार याने भवोपग्राही शेष चार अघातिकर्मों का क्षय...

प्रश्न- कुतीर्थिक साधु-लोग ओघ याने संसार को क्यों नहीं तैरते ? और तीरगामी तथा पारगामी क्यों नहीं होते ?

उत्तर- सभी वस्तु के स्वरूप भाव जिससे प्राप्त हो वह आदानीय याने श्रुतज्ञान... अर्थात् कुतीर्थिक लोग श्रुतज्ञान को प्राप्त करने के बाद भी कुमति के कारण से संयमस्थान में नहीं रहते हैं... अथवा आदानीय याने भोगसुख के अंग द्विपद, चतुष्पद, धन धान्य हिरण्य आदि... इनको ग्रहण करके अथवा मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग से आदानीय ऐसे कर्म को ग्रहण करके ज्ञानादि स्वरूप मोक्षमार्ग में अथवा प्रशस्त गुणस्थान के अच्छे उपदेश में नहीं रहते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग के अच्छे उपदेश में आत्मा को नहि रखते... वे मात्र सर्वज्ञ से कथित उपदेशस्थान में नहीं रहते हैं इतना हि नहीं किंतु मोक्षमार्ग से विपरीत आचरण करते हैं...

जैसे कि- वितथ याने असद्भूत और दुर्गति के कारण ऐसे विपरीत उपदेश को प्राप्त करके अखेदज्ञ याने अकुशल... अथवा खेदज्ञ याने वेषधारी द्रव्य साधु मात्र वर्तमानकाल को देखते हुए विपरीत आचरण स्वरूप असंयमस्थान में रहते हैं... अर्थात् असंयमस्थान में हि मग्न रहता है... इसलिये कहते हैं कि- कुतीर्थिकलोग संसार को तैरकर पारगामी नहि होते...

अब जो वितथ याने आदानीय भोगांग से भिन्न ऐसे संयमस्थान को प्राप्त करके खेदज्ञ याने निपुण साधु आदानीय याने कर्मों के विनाश के कारण ऐसे संयमस्थान में रहते हैं... अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा में आत्मा को रखते हैं... यह उपदेश तत्त्व को नहि जाननेवाले किंतु तत्त्व की अभिरुची के साथ उपदेश अनुसार आचारवाले विनेय शिष्य को दीया गया है... और जो शिष्य हेय और उपादेय के स्वरूप को जानता है वह तो अवसर अनुरूप अपने कर्तव्य को स्वयमेव करता हि है... इत्यादि... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधना के प्रशस्त मार्ग का तथा उसके प्रतिबन्धक कारणों का विवेचन किया गया है। इसके लिए सूत्रकार ने 'ध्रुव' शब्द का प्रयोग किया है। ध्रुव का अर्थ स्थायी होता है और मोक्ष में आत्मा सदैव अवस्थित रहती है। कर्म बन्धन से मुक्त होने के बाद आत्मा फिर से संसार में नहीं लौटती। इसलिए मोक्ष को ध्रुव कहा है। और इसके विपरीत संसार अध्रुव कहलाता है। और इसी कारण सांसारिक वैषयिक सुख भी अस्थिर, क्षणिक एवं अध्रुव कहलाते हैं। अतः मोक्षाभिलाषी साधक क्षणिक, विनश्वर और परिणाम में दुःख रूप विषय-भोगों की आकांक्षा नहीं रखते, इतना ही नहीं, अपितु वे तो प्राप्त भोगों का त्याग करके संयम-साधना के पथ पर गतिशील होते हैं। क्योंकि- वे जानते हैं कि- ऊपर से आकर्षक एवं सुहावने प्रतीत होने वाले विषय सुख, आत्मा को पतन के गर्त में गिराने वाले हैं। इस लिए साधुलोग विषयोपभोग के प्रलोभन में नहीं फंसते।

प्रथम तो भौतिक सुख-साधन ही अस्थिर है। जो धन-वैभव आज दिखाई दे रहा है, वह कल या कभी भी नष्ट-विनष्ट हो सकता है। और परिक्षीण होने की परिस्थिति में उसकी समाप्ति के अनेक कारण उपस्थित हो जाते हैं। जैसे कि- कभी परिवार में विभक्त हो जाने के कारण ऐश्वर्य की शक्ति कम हो जाती है या चोर लूट ले जाते हैं। नदी आदि के प्रवाह में बह जाता है, आग में जल जाता है या व्यापार में हानि हो जाती है। इस प्रकार संपत्ति के स्थिर रहने का कोई निश्चय नहीं है। और दूसरा यह जीवन भी अस्थिर है। कोई नहीं जानता कि- काल (मृत्यु) किस समय आकर सारे बने-बनाए खेल को ही बिगाड़ दे। समस्त वैभव एवं परिवार यहीं पड़ा रहता है और व्यक्ति मरण पाकर अगले जन्म की ओर चल पड़ता

है। उसकी समस्त अभिलाषाएं, भोगेच्छाएं मन में ही रह जाती हैं, सभी भोग-उपभोग के साधन यहीं रह जाते हैं। वह तो केवल कर्म बन्धन का बोझ लेकर चल पड़ता है। तथा सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अभाव में व्यक्ति भोगेच्छा की पूर्ति के लिए अनेक पाप कर्म करता है, विषय-वासना में आसक्त रहता है और कभी-कभी पापकर्म करने के बाद भी प्राप्त किए गए भोगों को भोग नहीं सकता। इस लिए साधक को इन भोगों से अलग रहना चाहिए। क्योंकि- विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'ध्रुव चारिणो' का अर्थ है- "ध्रुवो मोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानादि ध्रुवं, तदाचारितुं शीलं येषां ते" अर्थात्- ध्रुव नाम मोक्ष का है, अतः उस के साधन ज्ञानादि साधन भी ध्रुव कहलाते हैं। उनका सम्यक्तया आचरण करने वाला ध्रुवचारी कहलाता है इसके अतिरिक्त 'धूत चारिणो' पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है- 'धुनातीति धूतं-चारित्रं तच्चारिणः' अर्थात्- कर्म रज को धुनने-झाड़नेवाले साधन को धूत कहते हैं। सम्यक् चारित्र से कर्म रज की निर्जरा होती है। अतः सम्यक्चारित्र को धूत कहा है और उसकी आराधना करने वाले मुनि को धूतचारी कहा गया है।

"संकमणे ददे" पद का अर्थ है- संक्रम्यतेऽनेनेति संक्रमणं चारित्रं तत्र दृढः विम्रोतसिकारहितः परीषहोपसर्गे निष्प्रकम्पः।" अर्थात्- संक्रमण चारित्र का नाम है। अतः परीषह एवं उपसर्ग उपस्थित होने पर भी दृढ़ता पूर्वक चारित्र का परिपालन करनेवाले साधक को 'संकमणे ददे'-चारित्र में दृढ़ कहा जाता है। साधक की कसौटी परीषह के समय ही होती है। संकट के समय भी विचलित नहीं होने वाला मुनि ही आत्म साधना के पथ पर क्रमशः आगे बढ़ता रहता है।

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया...' आदि पाठ से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि- भगवान महावीर ने हिंसक यज्ञों का निवारण किया, और लोगों को यह बताया कि- संसार का प्रत्येक जीव सुख चाहता है, दुःख सबको अप्रिय लगता है, सभी प्राणी दुःख की एवं मृत्यु की दारुण वेदना से बचना चाहते हैं, जीवन सबको प्रिय है। इस लिए प्रबुद्ध पुरुष को किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में भी यही बात स्वयंभवसूरिजी ने लिखी है...

कुछ प्रतियों में "सव्वे पाणा पियायाया" यह पाठान्तर भी मिलता है। इसका अर्थ है- सब प्राणियों को अपनी आत्मा प्रिय है। इसका फलितार्थ यह निकलता है कि- कोई भी आत्मा अपने पर होने वाले आघात को नहीं चाहता, अतः साधक को चाहिए वह किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाए।

जो व्यक्ति हिंसा, झूठ आदि पापों में आसक्त हैं उन व्यक्तियों को प्रस्तुत सूत्र में अनोघतर कहा है। ओघ दो प्रकार का होता है— १. द्रव्यओघ और २. भावओघ। नदी के प्रवाह को द्रव्य ओघ कहते हैं। और अष्टकर्म या संसार को भावओघ कहते हैं और इस संसार रूपी सागर को पार करने वाले व्यक्ति को ओघतर कहते हैं। परन्तु वही व्यक्ति इसे तैर कर पार कर सकता है, जो हिंसा आदि दोषों से मुक्त है। उक्त दोषों में आसक्त एवं प्रवृत्त व्यक्ति इसे पार करने में असमर्थ है। इसलिए सूत्रकार ने उसे अनोघतर, अतीरंगम और अपारंगम कहा है। यहां उक्त ओघ शब्द भाव ओघ अर्थात् संसार सागर के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। तीर और पार शब्द के अर्थ में इतना ही अन्तर है— 'तीर' शब्द मोह कर्म के क्षय को व्यक्त करता है और 'पार' शब्द शेष अन्य तीन घातिकर्मों के क्षय का संसूचक है। अथवा 'तीर' शब्द से चारों घातिकर्मों का क्षय और 'पार' शब्द से चारों अधातिकर्मों का क्षय करने का अर्थ भी स्वीकार किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि— हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति करने वाले व्यक्ति अष्ट कर्मों का क्षय करके संसार सागर को पार नहीं कर सकते।

इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि— यह उपदेश किस के लिए है? प्रबुद्ध पुरुष के लिए या मूढ़ व्यक्ति के लिए? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ८३ ॥ १-२-३-६

उद्देशो पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति बेमि ॥ ८३ ॥

II संस्कृत-छाया :

उद्देशः पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनः निहः काम-समनोज्ञः अशमितदुःखः दुःखी दुःखानां एव आवर्त्तं अनुपरिवर्त्तते इति ब्रवीमि ॥ ८३ ॥

III सूत्रार्थ :

उपदेश पश्यक को नहीं है, किंतु जो बाल है तथा निहत है, कामसुख को चाहनेवाला है, तथा अशमित दुःखवाला है अतः एव दुःखी वह प्राणी आवर्त्तों में बार बार घुमता रहता है... अतः यह उपदेश ऐसे बालजीवों के लिये हि है... ऐसा मैं (सुधर्मस्वामी हे जंबू ! तुम्हें) कहता हूँ ॥ ८३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

उद्देश याने सत् और असत् का विवेक करके कर्तव्य के आदेश स्वरूप उपदेश...

पश्यक याने जो देखता है वह पश्यक = साधु को यह उपदेश नहीं है, क्योंकि- वह तो स्वयमेव तत्त्वज्ञ है... अथवा पश्यति सः पश्यकः याने सर्वज्ञ अथवा उनके उपदेश में रहनेवाले साधु... उनको नारक आदि के दुःखों का कथन अथवा उच्च और नीचगोत्र आदि के कथन स्वरूप उद्देश याने उपदेश की आवश्यकता नहीं है... क्योंकि- वे तो तत्काल (थोड़े ही समयमें) मुक्त होनेवाले हैं...

अब उपदेश अनुसार आचरण कौन नहि करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- जो प्राणी राग आदि से मूढ है वह बाल... तथा कषाय अथवा कर्म अथवा परिषह और उपसर्गों से हतप्रभ होता है वह निह... अथवा स्नेहवाला याने कामभोगानुरागी... तथा इच्छा एवं मदन-कामविकार स्वरूप काम-भोग के पदार्थ पुन्योदय से अच्छे पाये है ऐसा... अथवा अनुराग के साथ कामभोगों का सेवन करनेवाला... अथवा काम-भोग जिसको अच्छा लगता है वह... तथा विषयों की आसक्ति से कषायों से होनेवाला दुःख जिसका शांत नहि हुआ है ऐसा... दुःख शांत न होने के कारण से शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से दुःखी... उनमें कांटे, शस्त्र और फोड़े फुंसी रसौली आदि शारीरिक दुःख और प्रियवियोग, अप्रियसंयोग, इच्छित का अलाभ, दरिद्रता, दौर्भाग्य और दुष्ट मन आदि मानसिक दुःख और शरीर तथा मन का विरूप होना यह भी दुःख है... ऐसे शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से दुःखी... ऐसा दुःखी प्राणी शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के आवर्त में बार बार घुमता रहता है... इति शब्द समाप्ति सूचक है... और ब्रवीमि पद से पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामीजी कहते हैं कि- हे जंबू ! श्री महावीर प्रभुजी के मुखारविंद से जो हमने सुना है वह मैं तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में तत्त्वज्ञ और अतत्त्वज्ञ या प्रबुद्ध और बाल दो बात का चित्रण किया गया है। इसमें बताया गया है कि- जो व्यक्ति तत्त्वज्ञ है, प्रबुद्ध है, उसके लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि- वह विषय-वासना से प्राप्त होने वाले कटु फल को भली-भांति जानता है, अतः वह उससे निवृत्त हो चुका है और उससे निर्लिप्त रहने के लिए अपनी संयम-साधना में सदा सजग रहता है। परिणाम स्वरूप, वह कर्म का बन्ध नहीं करता अतः वह साधु, दुःख के प्रवाह में आर्तध्यान नहि करता...

इसके विपरीत, जो वासना के कटु फल को नहीं जानता, ऐसा वह अज्ञानी व्यक्ति दुःखों का उपशमन करने के लिए विषय-भोगों का आसेवन करता है। जैसे गर्मी की ऋतु में पसीने से भीगा बालक खेलते-कूदते घर में आता है और सारे वस्त्र उतार कर पसीना सुखाने के लिए धूप में जा खड़ा होता है। वह समझता है कि- भीगे हुए वस्त्रों की तरह धूप मेरे पसीने को सुखा देगी। परन्तु परिणाम इसके विपरीत देखने में आता है, अर्थात् पसीना सूखने

के स्थान में अधिक आने लगता है। यही स्थिति भोगोपभोगों से दुःख दूर करने वाले अज्ञानी जीवों की होती है। उससे दुःख कम नहीं होते किंतु दुःख अधिसाधिक बढ़ते हैं। क्योंकि-दुःख का मूल कारण राग-द्वेष आसक्ति एवं मोह है, और विषय-भोग एवं भौतिक ऐश्वर्य को संप्राप्त करने के बाद भी आसक्ति एवं मोह प्रबल रहता है। अतः उस आसक्ति एवं मोह की प्रबलता से संसारी जीवों को जन्म-मरण की परम्परा में अभिवृद्धि होती है। ऐसा समझकर साधक को काम-भोगों से सदा दूर रहना चाहिए। 'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् ही समझें।

॥ इति द्वितीयाध्ययने तृतीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

५१ ५१ ५१

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सान्निध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिए राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही भंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. १६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - २ उद्देशक - ४

५ भोगासक्ति - त्याग ५

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ८४ ॥ १-२-४-१

तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते व णं एगया नियया पुब्बिं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवएज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगा मे वा अनुसोयंति इहमेगेसिं माणवाणं ॥ ८४ ॥

II संस्कृत-छाया :

ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते, यैः वा सार्द्धं संवसति, ते वा एकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति, सः वा तान् पश्चात् परिवदेत् न अलं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वमपि तेषां न अलं त्राणाय वा शरणाय वा, ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं, भोगाः मे वा अनुशोचन्ति, इह एकेषां मानवानाम् ॥ ८४ ॥

III सूत्रार्थ :

कामभोग से उसको जब कभी रोग उत्पन्न होते हैं, तब जिन्हों के साथ वह रहता है वे स्वजन पहेले से हि उसकी निंदा करते हैं, अथवा वह उन अपने स्वजनों की बाद में निंदा करे... वे तुम्हारे त्राण या शरण के लिये नहि होते... और तुम भी उनके त्राण या शरण के लिये नहि होते हो... हर एक प्राणी के दुःख और साता को जानकर यहां कितनेक मनुष्य ऐसा सोचते हैं "यह भोगसुख मेरे है" इत्यादि... ॥ ८४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

तृतीय उद्देशक पूर्ण हुआ, अब चौथे उद्देशक की व्याख्या करते हैं... यहां कहना यह है कि- भोगसुख में आसक्ति न रखें... क्योंकि- भोगी लोगों को पूर्व कहे गये अपाय (संकट) होते हैं... वे इस प्रकार हैं... बाल, निह (स्निह) कामसमनोज्ञ ऐसा दुःखी प्राणी दुःखों के आवर्त में बार बार भ्रमण करता है... क्योंकि- कामभोग दुःख स्वरूप हि हैं, और जो प्राणी कामभोग में आसक्त रहता है, उसे धातुक्षय और भगंदर आदि रोग होते हैं... इसलिये शास्त्रकार

महर्षि उपदेश देते हैं कि- कामभोग की आसक्ति से (कामानुषंग से) कर्मों का उपचय और कर्मों के उपचय से मरण, और मरण के बाद नरक में जन्म... और नरक से निकलकर तिर्यंच या मनुष्यगति में गर्भावस्था. वहां निषेक, कलल, अर्बुद, पेशी, व्युह, और गर्भप्रसव (जन्म) आदि... और जनम के बाद रोग... अतः कहते हैं कि- कामभोग में आसक्त मनवाले प्राणी को जब कभी असाता-वेदनीय कर्म के विपाकोदय में शिरोर्ति = मस्तक पीडा तथा शूल आदि रोग उत्पन्न होते हैं... तब उस रोगावस्था में जिन्हों के साथ वह रहता है, वे आत्मीय स्वजन लोग उसकी निंदा तिरस्कार करते हैं, अथवा वह प्राणी उन आत्मीय स्वजनों की निंदा करे... अतः कहते हैं कि- वे लोग तुम्हारे त्राण या शरण के लिये नहि होते... और तुम भी उनके त्राण और शरण के लिये नहि होते हो... ऐसा जानकर यह जानें-समझें कि- सभी प्राणी अपने कीये हुए कर्मों के फल दुःख या सुख-साता पाते हैं अतः रोगावस्था में दुर्ध्यान न करें, और कामभोग का विचार भी न करें...

अज्ञानी प्राणी रोगावस्था में शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श के विषयभोगों की अभिलाषा में सोचता है कि- इन कामभोग को हम कैसे भोगेंगे... आज हमारी ऐसी रोगवाली अवस्था हुई है कि- अच्छे अच्छे सुंदर कामभोग प्राप्त होते हुए भी हम भोग नहीं सकते... ऐसा विचार यहां कामासक्त लोगों को होता है... इस संसार में विषयों के विपाक को नहीं जाननेवाले कितनेक ब्रह्मदत्तचक्री आदि मनुष्यों को ऐसा भोगोपभोग का अर्धवसाय-विचार आता है, सभी प्राणी को नहीं, क्योंकि- सनत्कुमारचक्रवर्ती को ऐसा विचार नहि हुआ था...

संक्षेप में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का स्वरूप इस प्रकार है कि- मरण पर्यंतवाले रोगों की वेदना से पराभव पाया हुआ, संताप के अतिरेक से विश्वासपात्र पत्नी के भोगोपभोग के चिंतन से मूर्च्छा को प्राप्त होता हुआ, व्याकुलता को प्राप्त हुआ, विषमता का विषय बना हुआ, ग्लानि के गोचर में आया हुआ, दुःखों से देखा हुआ, काल (यम) ने गोद में लिया हुआ, पीडाओं से पीडित, नियति से आदेश पाया हुआ, दैव (दुर्भाग्य) ने ग्रहण करने की इच्छा की है ऐसा वह ब्रह्मदत्त अंतिम श्वासोच्छ्वास की अवस्था में रहा हुआ, और परलोक गमन स्वरूप महाप्रवास के मुख में रहा हुआ, दीर्घनिद्रा (मरण) के दरवाजे में रहा हुआ, जीवितेश (यमराज) की जिह्वा के अग्रभाग पे रहा हुआ... ऐसी इस विषम अवस्था में वह बोलने में स्वलना पाता है, शरीर से विह्वल वह प्रचुर प्रलाप करता है अर्थात् विषम स्थिति-अवस्था का अनुभव करता हुआ वह ब्रह्मदत्त महामोह के उदय से कामभोगों की चाह-इच्छा करके पास में ही बैठी हुई तथा पति की वेदना से उत्पन्न हुए शोक से जिस की आंखों में से आंसु बह रहें हैं ऐसी पत्नी कुरुमती को "हे कुरुमती ! हे कुरुमती !" ऐसा पुकारता हुआ वह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मरण पाकर सातवीं नरक भूमी में उत्पन्न हुआ... वहां नरक में भी तीव्रतर वेदना से पीडित होते हुए भी वेदना की अवगणना करके वह उस कुरुमती को ही बुलाता

है... इस प्रकार कितनेक लोगों को शब्दादि विषयों के भोग का अनुराग छुटता नहि है...

तथा “आत्मा से शरीर भिन्न है” “आत्मा शाश्वत है, शरीर विनश्वर है,” इत्यादि चिंतन से शब्दादि विषयों के भोगोपभोग के स्वरूप को यथावस्थित जाननेवाले सनत्कुमार चक्रवर्ती आदि की तरह उदार सत्त्वशाली अन्य महापुरुषों को विषयोपभोग का अनुराग नहि होता है... किंतु ऐसी विषम रोगावस्था में वेदना होते हुए भी वे ऐसा सोचते हैं कि- मैंने जैसे कर्म कीये हैं वे मुझे भुगतना हि है ऐसा समझकर समभाव से सहन करते हैं, अतः ऐसे उदात्त विचार से कर्मों को क्षय करने में तत्पर मनवाले उत्तम पुरुषों को दुर्ध्यान स्वरूप मानसिक पीडा नहि होती है... कहा भी है कि- हे जीव ! यह कर्मवृक्ष तुने खुदने हि बोया है... जो जन्म स्वरूप क्यारीवाला है, जिसमें मोह स्वरूप जल भरा हुआ है, और जिसका राग, द्वेष एवं कषायों की परंपरा स्वरूप महान् एवं अविनाशी बीज है और जो स्वयं अशुभ है... तथा जो रोग स्वरूप अंकुरवाला है, आपदा-संकट स्वरूप कुसुम-फुलवाला है, ऐसा इस कर्मवृक्ष को धर्मध्यानाग्नि से दग्ध नहि करोगे तो अधोगति में संभवित नरकादि के दुःखों से फलित होगा...

इस संसार के दुःख-फल का अनुभव बाद में भी करना पड़ेगा... क्योंकि- संचित कीये हुए कर्मों का बिना भोगे या तपश्चर्या से निर्जरा कीये बिना युंहि विनाश नहि होता है, ऐसा समझ कर हे जीव ! इसी जनम में जो जो दुःख आवे उन्हे समभाव से सहन कर, क्योंकि- सत् और असत् का विवेक मनुष्य जन्म के अलावा अन्यत्र और कोई जन्म में पुनः मिलना संभव नहि है...

अब सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि- कामभोगों के मुख्य कारण धन है, अतः अनर्थकारी धन का स्वरूप आगे के सूत्र में कहेंगे....

V सूत्रसार :

तृतीय उद्देशक में विषय-भोगों में आसक्त नहीं रहने का उपदेश दिया है। और चौथे उद्देशक के प्रारम्भ में भोगासक्त जीवों की जो दुर्दशा होती है, उसका सजीव चित्र चित्रित करके बताया है कि- उन जीवों की भोगेच्छा, विषयाभिलाषा एवं ऐश्वर्य की तृष्णा पूर्ण होने में असंदिग्धता नहीं है। कभी आंशिक रूप से अभिलाषा पूर्ण हो भी सकती है और कभी नहीं भी हो सकती है। अतः उसकी पूर्ति हो या न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि- भोगों की आशा, तृष्णा, आकांक्षा एवं अभिलाषा के शल्य का कांटा तो उसे अनवरत पीड़ित करता ही रहेगा।

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं कि- जो दिन-रात विषय-भोगों में निमज्जित रहते

हैं। वैषयिक जीवन को ही सुखमय मानते हैं। अतः अत्यधिक भोगों के कारण या असाता-वेदनीय कर्मोदय से उन्हें जब रोग उत्पन्न हो जाता है। और उस भयंकर व्याधि के समय यथोचित सेवा-शुश्रूषा की व्यवस्था न होने से उस रोगी एवं परिवार के व्यक्तियों में परस्पर कटुता भी उत्पन्न हो जाती है। और फल स्वरूप एक-दूसरे को भला-बुरा भी कहने लगते हैं। इससे दोनों के जीवन में मनोमालिन्य रूप संकलेश बढ़ता है और वेदना में अधिकाधिक अभिवृद्धि होती है।

अतः साधक को वेदना के समय किसी को दोष न देकर यह सोचना चाहिए कि-यह वेदना मेरे अशुभ कर्म के उदय का ही फल है और उसे मुझे ही भोगना है। क्यों कि-कृत कर्म को भोगे बिना या तपश्चर्या से निर्जीरित कीये बिना कभी भी छुटकारा नहीं होता, मुक्ति नहीं मिलती। और इस वेदना से मुझे जिनाज्ञा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं बचा सकता है। परिवार के व्यक्ति न तो इससे मेरी रक्षा कर सकते हैं और न मुझे शरण दे सकते हैं और मैं भी उनकी रक्षा करने या उन्हें शरण देने में समर्थ नहीं हूँ। ऐसे समय में धैर्य, सहिष्णुता एवं समभाव ही सच्चे सहायक हैं। उन्हीं धर्मध्यान के सहयोग से वेदना की अनुभूति नहिबत् हो सकती है। ऐसा सोचकर साधक को वेदना के समय भी शांति एवं धैर्यता रखनी चाहिए।

परन्तु अज्ञ व्यक्तियों में ज्ञान की न्यूनता होने से वे उस समय अधीर होते हैं। वैषयिक भोगों को भोगने में समर्थ न होने पर भी रात-दिन भोगोपभोग के विचार से चिंतित रहते हैं। और उन कामभोगों को संप्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न करते हैं।

भोगोपभोग के साधनों की प्राप्ति के लिए धन-वैभव की आवश्यकता होती है। धन के बिना भोगोपभोग की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए भोगासक्त व्यक्ति धन को बटोरने में कृत्य एवं अकृत्य का विचार नहि करता, अकार्य करके भी धन बटोरता है, परंतु पापोदय में वह धन उसका संरक्षण नहीं कर पाता। इसी सत्य को अभिव्यक्त करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ८५ ॥ १-२-४-२

तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ताभवइ, अप्पा वा बहुगा वा, से तत्थ गट्टिए चिद्धइ, भोयणाए, तओ से एगया विपरिसिद्धं संभूयं महोवगरणं भवइ, तं पि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से हरति, रायाणो वा से विलुपंति, नस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारडाहेण वा से डज्जइ इय, से परस्स अट्टाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ ॥ ८५ ॥

II संस्कृत-छाया :

त्रिविधेन या अपि तस्य तत्र मात्रा भवति, अल्पा वा बह्वी वा, स तत्र गृह्यः तिष्ठति, भोजनाय, ततः तस्य एकदा विपरिशिष्टं सम्भूतं महोपकरणं भवति, तदपि तस्य एकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारः वा तस्य हरति, राजानः वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा विनश्यति वा, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते इति, सः परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः, तेन दुःखेन मूढः विपर्यासं उपैति ॥ ८५ ॥

III सूत्रार्थ :

त्रिविध-त्रिविध से उसके पास जो कुछ थोड़ी या बहोत अर्थ = धनकी मात्रा है, उसमें वह आसक्त रहता है, और सोचता है कि- यह धन भोजन के लिये होगा... उसके बाद उसके पास जब कभी बचा हुआ बहोत सारा धन इकट्ठा होता है, तब उस धन को उसके पुत्र आदि स्वजन या भागीदार बांट लेते हैं, अथवा चौर चोरकर ले जाता है, अथवा राजा लुट लेता है, अथवा स्वयं ही वह धन नष्ट विनष्ट होता है... अथवा आगमें जल जाता है इत्यादि... वह अज्ञानी प्राणी अन्य स्वजनों के लिये क्रूर हिंसादि कर्म करता हुआ, और दुःखों से मूढ बना हुआ विपर्यास को पाता है... ॥ ८५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र की व्याख्या सूत्रार्थ में कह चूके हैं अतः यहां विस्तार से नहि कही है... इस प्रकार “दुःखों के विपाक वाले भोगोपभोग है” अतः अब क्या करना चाहिये ? वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

मनुष्य धन के लिए दूसरों का संभवित अहित नहीं देखता। वह येन-केन-प्रकारेण धन बटोरने में लगा रहता है और दिन-रात धन का संचय करता रहता है। परन्तु वह धन कभी भी अवस्थित नहीं रहता। जैसे कि- कभी परिजन उसे बांट कर खा जाते हैं, तो कभी राजा विभिन्न प्रकार से कर-टैक्ष लगाकर या निर्माण योजना आदि के बहाने उससे धन ले लेता है। कभी चोर-डाकू उसे लूट ले जाते हैं, तो कभी व्यापार आदि में घाटा पड़ जाने से धन का नाश हो जाता है या कभी घर में आग लग गई तो सब-कुछ धन-संपत्ति जलकर भस्म हो जाती है। इस तरह अनेक प्रकार से धन का विनाश हो जाता है। परन्तु धन को पाने के लिये कीये हुए क्रूर कार्य से कर्मबन्ध हो जाता है, जिससे आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है तथा पाप कार्य से प्राप्त धन अकस्मात् विनष्ट हो जाने से मन में अत्यधिक वेदना एवं संकल्प-विकल्प होता है और कभी-कभी मनुष्य विक्षिप्त भी हो जाता है और उस मूढ अवस्था में विपरीत आचरण करने लगता है।

इस तरह विषय-भोगों के कटु परिणाम को जान कर मुमुक्षु पुरुषों को धन में आसक्त नहीं होना चाहिए। यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ८६ ॥ १-२-४-३

आसं च छंदं च विगिंच धीरे ! तुमं चेव तं सल्लमाहट्ट, जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जना मोहपाउडा, थीभि लोए पव्वहिए, ते भो ! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए नरगाए नरगतिरिक्खाए, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, उआहु वीरे, अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए भेउरधम्मं संपेहाए, नालं पास, अलं ते एएहिं ॥ ८६ ॥

II संस्कृत-छाया :

आशां च छन्दं च वेविक्ष्व, हे धीर ! त्वमेव तत् शल्यं आहत्य, येन स्यात् तेन न स्यात्, इदमेव न अवबुध्यन्ते, ये जनाः मोहप्रावृत्ताः, स्त्रीभिः लोकः प्रव्यथितः, ते भोः! वदन्ति, एतानि आयतनानि, एतत् तस्य दुःखाय मोहाय, मरणाय, नरकाय, नरकतिरश्चये (तिर्यग्-योन्यर्थ), सततं मूढः धर्मं न अभिजानाति, उदाह वीरः अप्रमादः महामोहे, अलं कुशलस्य प्रमादेन, शान्तिमरणं सम्प्रेक्ष्य, भिदुरधर्मं सम्प्रेक्ष्य, न अलं पश्य, अलं तव एभिः ॥ ८६ ॥

III सूत्रार्थ :

आशा और इच्छा का विवेक कर, हे धीर ! तुं हि उस शल्य को स्वीकार के दुःखी हुआ है, जिससे कर्मबंध हुआ उससे मोक्ष नहि होता है, किंतु मोहवाले लोग यह बात नहि समझते... लोक स्त्रीओं से पीडित है, वे कहते हैं कि- यह घर-बार जरूरी है... किंतु यह घरबार उसके दुःख, मोह, मरण, नरक और तिर्यचगति के लिये होते हैं, सतत मूढ प्राणी धर्म को नहि समझता है, वीर परमात्मा कहते हैं कि- महामोह में अप्रमादवाला बनें, कुशल को प्रमाद से क्या ? शांति = मोक्ष और मरण = संसार को देख करके, तथा विनश्वर धर्मवाले शरीर को देखकर प्रमाद न करें और यह भोगसुख तृप्ति के लिये समर्थ नहि है, अतः तुम्हें इन भोगोपभोगों से क्या ? ॥ ८६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

आशा याने भोगोपभोगों की चाहना तथा छंद याने अन्य के कहने से भोगोपभोग की इच्छा... इन दोनों का विवेक करो अर्थात् त्याग करो... हे धीर पुरुष ! ("धी" याने बुद्धि से जो "राजते" याने सुशोभित होता है वह धीर...) भोगों की आशा और इच्छा का त्याग

न करने में मात्र दुःखों की हि प्राप्ति होती है, अतः हे शिष्य ! (उपदेश योग्य आत्मा) तुं हि भोगोपभोग की आशा स्वरूप शल्य का स्वीकार करके अतिशय अशुभ-पाप को हि ग्रहण करता है, उपभोग को नहीं... क्योंकि- धन आदि उपायों से भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त होती है, किंतु उनसे भोग-उपभोग का सामर्थ्य नहि मिलता... क्योंकि- कर्मों के परिणाम विचित्र प्रकार के हैं... अथवा जिस कोइ हेतु से कर्मबंध होता है, उन हेतुओं का आदर न करें...

राज्य के उपभोग आदि से कर्मबंध होता है, और निर्ग्रथत्व आदि से मोक्ष होता है, यह बात अद्भुत से जानते हुए भी प्राणी मोहाधीन होकर समझते नहीं हैं... ऐसे कौन है ? तो अब कहते हैं कि- जो लोग मुनीश्वर के उपदेश से विकल (रहित) हैं, मोह याने अज्ञान अथवा मिथ्यात्व के उदय से आच्छादित हैं... क्योंकि- मोहनीयकर्म के उदय से हि तत्त्व से विपरीत बुद्धि होती है...

तथा मोहनीय कर्म का एवं मोह के भेद-प्रभेद स्वरूप काम का महान् कारण स्त्रीयां हि है... वह इस प्रकार- भ्रुकुटी का विक्षेप (आंख मारना) इत्यादि विभ्रम याने विलास वाली स्त्रीओं की आशा एवं इच्छा से परवश और क्रूर कर्मों को करनेवाला यह मनुष्य नरक के विपाक स्वरूप फलवाले शल्य को ग्रहण करके और उसके फल को नहि जाननेवाला मोहाच्छादित यह आत्मा अतिशय व्यथित है... वे मात्र स्वयं हि पीडित नहीं है, किंतु अन्य लोगों को भी जुठी बातें कहकर उनको भी दुःखी करते हैं... वह इस प्रकार- स्त्रीयों से पीडित वे लोग अन्यजनों को कहते हैं कि- भो: ! हे लोगों ! यह स्त्री आदि उपभोग के स्थान = मंदिर है, उनके बिना शरीर की स्थिति हि हो नहि सकती... किंतु यह पीडा अथवा ऐसी बातें उनके अपाय याने संकट के लिये हि होते हैं... यह बात अब कहते हैं... यह व्यथा अथवा आयतन का कथन उनके दुःख याने शारीरिक एवं मानसिक असाता के उदय के लिये होता है, मोह याने मोहनीय कर्म के बंधके लिये अथवा अज्ञान के लिये होता है तथा मार याने मरण के लिये होता है, नरक याने नरक में जानेके लिये होता है, तथा नरक से निकलकर तिर्यचगति में जाने के लिये होता है...

इस प्रकार स्त्रीओं के अंगोपांग को देखने में परवश बने हुए प्राणी विविध प्रकार की योनीओं में पर्यटन करते हुए आत्महित को समझ नहि पाते... यह बात अब कहते हैं... सतत याने निरंतर दुःखों से पराभव पाया हुआ यह मूढ प्राणी दुर्गति से बचानेवाले क्षमा आदि लक्षणवाले धर्म को नहि जानते... यह बात तीर्थंकर प्रभुने कही है... जिसका संसारभय दूर हो गया है वह वीर परमात्मा तीर्थंकर प्रभु अनुग्रहभाव से कहते हैं कि- स्त्रीओ के प्रति अनुराग हि महामोह का कारण है, अतः ऐसे महामोह के प्रसंग में प्रमाद न करें... अप्रमत्त रहें... कहते हैं कि- सूक्ष्म दृष्टिवाले कुशल निपुण साधु, मद्य विषय कषाय निद्रा और विकथा स्वरूप

पांच प्रकार के प्रमाद से दूर रहें... क्योंकि- प्रमाद हि दुःखों के आगमन का मुख्य कारण है...

अब प्रश्न यह होता है कि- प्रमाद को छोड़ने के लिये किसका आलंबन लें ? उत्तर- शांति याने सभी कर्मों का दूर होना अर्थात् मोक्ष... और मरण याने जहां प्राणी बार बार मरण को प्राप्त करता है वह चारगति स्वरूप संसार... अतः मोक्ष और संसार के स्वरूप का पर्यालोचन करके... जैसे कि- प्रमादी जीव को संसार में परिभ्रमणा... और प्रमाद के त्याग से संसार की परिभ्रमणा से मुक्ति याने मोक्ष... यह बात हृदय में विचार करके वह कुशल साधु विषय-कषाय स्वरूप प्रमाद न करें... अथवा शांति याने उपशम भाव से रहनेवालों को मोक्षफल प्राप्त होता है इत्यादि सोचकर प्रमाद न करें...

तथा विषय और कषायों के अनुराग स्वरूप प्रमाद शरीर में हि रहता है, और वह शरीर तो स्वतः ही विनाशशील है... ऐसा सोचकर भी प्रमाद न करें... तथा इन भोगसुखों के उपभोग से कभी भी तृप्ति होती हि नहीं है, क्योंकि- कामभोगों का उपभोग तृप्ति के लिये समर्थ नहीं है... अतः हे कुशल ! हे प्राणी ! दुःखों के कारण प्रमाद स्वरूप इन वैषयिकभोगों के उपभोग से तुझे क्या (फायदा-लाभ है) ? बार बार उपभोग करने पर भी वैषयिकभोगों की इच्छाका उपशम-शमन नहि होता है... अन्यत्र भी कहा है कि- इस लोक में जीतने भी गेहुं चावल आदि धान्य तथा सोना-रूपा-मणि-माणिक्य आदि धन तथा हाथी घोड़े, बैल आदि पशु और स्त्रीयां हैं वे सभी यदि एक व्यक्ति को प्राप्त हो तो भी जीव को तृप्ति नहि होती है, अतः ऐसा जानकर भोगोपभोगों की इच्छा का हि शमन करे = इच्छा का त्याग करें... जो प्राणी उपभोग के उपायों में तत्पर होकर विषयतृष्णा को शांत करना चाहता है वह प्राणी निश्चित हि अपराह्न काल में अपनी छाया (पडछाई) को पकड़ने के लिये दौड़ता है अर्थात् यह प्रयास निष्फल हि है...

इस प्रकार भोगोपभोग की चाहवालों को भोगोपभोग की प्राप्ति या अप्राप्ति मात्र दुःखों के लिये हि होती है... यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में विषय भोगों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया गया है। भोग-विलास को दुःख का कारण बताया गया है। क्योंकि- विषय-भोग में प्रवर्तमान व्यक्ति की इच्छा, आकांक्षा एवं तृष्णा सदा बनी रहती है। वह तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है और जीवन सीमित है; इसलिए उसकी पूर्ति होना दुष्कर है। यदि कभी किसी इच्छा-आकांक्षा की कुछ सीमा तक सम्पूर्ति हो भी जाए, तब भी विषयेच्छा, भोगामिलाषा एवं पदार्थों की तृष्णा के शल्य का कांटा उसके हृदय में सदा चुभता रहता ही है। अगणित भोगोपभोग के साधनों

में भी उसे सन्तोष की अनुभूति नहीं होती, किंतु कुछ न कुछ न्यूनता खटकती रहती है। जिसे पूरा करने के लिए वह रात-दिन चिन्तित एवं उदास सा रहता है। फिर भी, वे विषय-भोग उसकी चिन्ता को, वेदना को मिटा नहीं सकते। परंतु वासना की आग को और अधिक प्रज्वलित कर देते हैं। विषय-भोग के साधन प्रज्वलित आग में मिट्टी के तेल का कार्य करते हैं। इससे तृष्णा की ज्वाला सदा बढ़ती रहती है। अतः साधक को भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करना चाहिए। जो व्यक्ति तृष्णा एवं आकांक्षा के शल्य को आत्मा में से निकाल देता है। वह व्यक्ति वास्तविक आत्मिक सुख एवं आनन्द की अनुभूति करता है।

परन्तु, जो व्यक्ति अज्ञान एवं मोह से आवृत्त है, वे ऐसा कहते हैं कि- विषयभोग एवं भोगों के साधन, धन, वैभव, स्त्री आदि सुख के स्थान हैं। परंतु ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में वे धन, वैभव आदि दुःख के कारण देखे गये हैं। कामेच्छा-भोगाकांक्षा मोह कर्म के उदय से है। अतः विषयोपभोग में आसक्त होने से मोह कर्म की उदीरणा होती है, इससे तृष्णा एवं आकांक्षा में अभिवृद्धि होती है और उससे कर्म बन्धन होता है और परिणाम स्वरूप आत्मा अनेक तरह के नरकादि दुःखों का संवेदन करता है। यद्यपि भोग के सभी साधन मोह को बढ़ाने वाले हैं, परन्तु काम ब्रीडा तो मोह को अधिक उत्तेजित करनेवाली है, इससे भोगेच्छा एवं तृष्णा को वेग मिलता है और इसकी पूर्ति के लिए स्त्री का सहयोग अपेक्षित है। इसी कारण सूत्रकार ने महामोह शब्द से इसी स्त्रीभोग के भाव को अभिव्यक्त किया है। और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि- स्त्रीसंग से तृष्णा एवं वासना का उपशमन नहीं होता, किंतु अत्यधिक अभिवृद्धि ही होती है। अतः विषय-वासना की तृष्णा या भोगेच्छा को मोह, मृत्यु, नरक एवं तिर्यञ्च गति का कारण कहा है तथा संसार एवं दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाली बताया है। अतः तृष्णा के भयावह परिणामों को देख-जानकर मुमुक्षु पुरुष को सदा-सर्वदा संयमित रहना चाहिए। संयम की साधना में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए, यह हि भगवान महावीर के धर्मोपदेश का सारांश है।

‘संतिमरणं’ अर्थात् शान्ति और मरण शब्द से मोक्ष एवं संसार का अर्थ ग्रहण किया गया है। संपूर्ण कर्मों का क्षय होने पर ही आत्मा को परम शान्ति मिलती है और यह स्थिति मोक्ष में ही संभव है, इसलिए शान्ति शब्द का तात्पर्य मोक्ष है। तथा जिस स्थान में प्राणी बार-बार मरण को प्राप्त होते हैं, उसे संसार कहते हैं। अतः मोक्ष एवं संसार दोनों के स्वरूप का सम्यक्तया ज्ञान करके साधक-साधु को प्रमाद का परित्याग करना चाहिए।

भोगेच्छा व्यक्ति के जीवन को दुःखमय बना देती है; इस बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ८७ ॥ १-२-४-४

एयं पस्स मुणी ! महब्भयं, नाइवाइज्ज कंचणं, एस वीरे पसंसिए, जे न निव्विज्जइ, आयाणाए, न मे देइ न कुप्पिज्जा, थोवं लद्धुं न खिसए, पडिसेहिओ परिणमिज्जा, एयं मोणं समणुवासिज्जासि ति वेमि ॥ ८७ ॥

II संस्कृत-छाया :

एतत् पश्य हे मुने ! महाभयं, न अतिपातयेत् कश्चन, एषः वीरः प्रशंसितः, यः न निर्विद्यते, आदानाय न मे ददाति इति न कुप्येत्, स्तोत्रं लब्ध्वा न निन्देत्, प्रतिषिद्धः परिणमेत्, एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि ॥ ८७ ॥

III सूत्रार्थ :

हे मुनी ! इस महाभय को देखो... अतः किसी को भी न मारें... वह वीर प्रशंसनीय है... कि- जो संयमानुष्ठान से उद्विग्न नहि होता... तथा मुझे नहि देता है, ऐसा देखकर कोप न करें... थोडा आहारादि प्राप्त होने पर निंदा न करें और मनाइ करने पर वहां से वापस लौटें... तथा मुनि के इस मुनिव्रत में आत्मा को स्थापित करें इति मैं (सुधर्मस्वामी हे जंबू ! तुम्हें) कहता हुं... ॥ ८७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

हे मुनी ! इस प्रत्यक्ष भोगोपभोगों की आशा स्वरूप महाज्वरवालों के काम की मरण पर्यंतवाली दश अवस्था स्वरूप महाभय को देखो ! मरण का कारण होने से महान् और भय का हेतु होने से दुःख... अर्थात् इस जन्म में मरण और जन्मांतर में दुःखों के कारण ऐसे इस महाभय को देखो ! जी हां ! यदि ऐसा है तो अब क्या करें ? तो अब कहते हैं कि- भोगोपभोग की अभिलाषा हि महाभय है, अतः भोगोपभोग के लिये कोई भी जीव का वध न करें... यहां अहिंसा कहने से शेष व्रतों का भी ग्रहण करें... अतः किसी को भी ठगें नहि इत्यादि... अब भोगोपभोग की इच्छा के अभाव में और प्राणातिपातविरमण आदि व्रतों में रहा हुआ मुनि कौन से गुणों को प्राप्त करता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- भोगोपभोग की आशा एवं इच्छा का विवेक करनेवाला, अप्रमादी, तथा पांच महाव्रतों के भार को वहन करने के लिये स्कंध (कंधे) को उंचा उठाये हुए, तथा कर्मों का विनाश करने से वीर, ऐसे उस मुनी की देवराज = इंद्र ने प्रशंसा की है...

प्रश्न- ऐसा तो कैसा वह वीर है ? कि- जिसकी प्रशंसा खुद इंद्र करते हैं-?

उत्तर- जो मुनी आदान याने संयमानुष्ठान से उद्विग्न नहि होता है... आदान याने संयम जिससे आत्म नत्त्वकी प्राप्ति हो, कि- जो आत्मतत्त्व-सभी घाति और अघाति कर्मों के क्षय

से प्रंगट होनेवाले केवलज्ञान तथा अव्याबाध सुख स्वरूप है...

अतः ऐसे आत्मतत्त्व की प्राप्ति जिससे हो वह आदान याने संयमानुष्ठान... अथवा रेत के कवल को चबाने (भक्षण) के समान इस संयमानुष्ठान के आचरण में कभी कहीं आहारादि का अलाभ हो तब वह मुनी खेद नहीं करता है... वह इस प्रकार- “यह गृहस्थ धन-धान्य से समृद्ध है तो भी दान के आये हुए अवसर में मुझे कुछ भी आहारादि नहि देता है” ऐसा कहकर वह मुनी कोप न करें... किंतु वह मुनी ऐसा सोचे कि- मेरे हि अलाभोदय स्वरूप कर्मों के यह परिणाम है, अतः आहार आदि के अलाभ से कर्मों के क्षय करने के लिये तत्पर ऐसा मुझे अशुभ कर्मों के क्षय में समर्थ ऐसा तप होगा... अतः मेरा कुछ भी बिगडा नहि है...

और कभी कुछ थोडा या रुक्ष भोजन प्राप्त हो तब निंदा न करें... यह बात अब कहते हैं- थोडा याने अपर्याप्त आहार आदि की प्राप्ति हो तब दान देनेवाले दाता की अथवा दान-अन्न-आहार की निंदा न करें... जैसे कि- कोईक गृहस्थ अति थोडा सिक्थ याने अन्न-आहार लावे, तब ऐसा न कहे कि- “पकाया हुआ चावल स्वरूप भिक्षा लाओ... अथवा नमकवाला आहार लाओ... हमारे पास अन्न नहीं है अतः हमें आहार दो” इत्यादि उच्छृंखल छात्र की तरह न करें...

तथा कभी गृहस्थ भोजन न दें तब वहां से वापस लौटें, क्षण मात्र भी वहां खडे न रहें, और जरा सा भी दुर्घ्यान न करें, पुकारते (चिल्लाते) हुए न निकलें, और उन स्त्रीयों की निंदा भी न करें... जैसे कि- धिक्कार हो तुम्हारे गृहवास में इत्यादि... तथा भिक्षा प्राप्त होने पर वैतालिक- भाट चारण की तरह वहां दान देनेवाले की विभिन्न आलापों से प्रशंसा भी न करें...

अब इस उद्देशक का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि- साधु प्रव्रज्या में उद्वेग न करें, भिक्षा प्राप्त न होने पर कोप न करें, थोडी भिक्षा प्राप्त होने पर निंदा न करें और भिक्षा का निषेध करने पर वापस लौटना इत्यादि मुनिजनों का जो उचित आचरण है, ऐसा उत्तम आचरण अनेक कोटि जन्मों में भी दुर्लभ है, अतः दुर्लभ ऐसे संयम जीवन को प्राप्त करके हे मुनी ! तुम अपनी आत्मा को संयम में स्थापित करो ! इस प्रकार गुरुजी शिष्य को उपदेश देते हैं, अथवा साधु स्वयं हि अपने आत्मा का इस प्रकार अनुशासन करे... इति ब्रवीमि... का अर्थ पूर्ववत् समझीयेगा...

V सूत्रसार :

भोग का अर्थ केवल काम-वासना एवं काम-क्रीडा ही नहीं है, प्रत्युत भौतिक पदार्थों

की आकांक्षा, लालसा का भी भोगेच्छा में समावेश किया गया है। अतः इसका तात्पर्य यह है कि- पदार्थों में आसक्त होना, ममत्व भाव रखना यह हि भोग है और यह लोककहावत प्रसिद्ध है कि “भोग रोग का घर है।” यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि- काम-भोग महारोग के उत्पादक हैं। उनसे वर्तमान जीवन में अनेक रोगों एवं दुःखों का संवेदन करना पड़ता है तथा भविष्य में विभिन्न नरकादि की योनियों में अनेक कष्टों को भोगना पड़ता है। आगमों का यह कथन नितान्त सत्य है कि- “खणमित्त सुखा बहु काल दुःखा” अर्थात् काम-भोग क्षणिक आभासिक सुख रूप प्रतीत होते हैं, और अनन्तकालीन दुःख के हेतु बनते हैं, अतः साधक को भोगों में आसक्त नहीं होना चाहिए। यहां तक कि- शरीर निर्वाह के लिए स्वीकार कीये जाने वाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि साधनों में भी आसक्त नहीं रहना चाहिए और इनके लिए किसी भी प्राणी को मानसिक; शाब्दिक और शारीरिक कष्ट भी नहीं पहुंचाना चाहिए।

यदि मुनि किसी गृहस्थ के घर में भिक्षा के लिए गया, वहां उसे अपनी विधि के अनुसार आहार आदि उपलब्ध नहीं हुआ या गृहस्थ ने उसे आहार आदि दिया नहीं या किसी गृहस्थ ने उसे थोड़ा सा आहार दिया या किसी ने अपने घर से खाली हाथ ही लौट जाने के लिए कह दिया। इस प्रकार के अनेक विकल्पों उपस्थित होने पर भी साधु अपनी धैर्यता एवं उपशान्त भावना का परित्याग न करें, तथा संकल्प-विकल्प के जाल में उलझ न जाए। चाहे जैसी स्थिति-परिस्थिति क्यों न उत्पन्न हो, पर साधक को प्रत्येक परिस्थिति में सदा-सर्वदा समभाव रखना चाहिए गृहस्थ के न देने पर, उस पर क्रोध नहीं करना चाहिए और थोड़ा देने पर उसकी निन्दा भी नहीं करनी चाहिए और उसके इन्कार कर देने पर उसके घर में नहीं ठहरना चाहिए और न दीनता के भाव प्रकट करने चाहिए। क्योंकि- साधु आहार आदि पदार्थों का उपभोग केवल संयम साधना के लिए ही करता है, न कि- पदार्थों का स्वाद चखने के लिए। अतः उसे जिस समय संयम के अनुकूल जैसा भी पदार्थ मिल जाए उसमें सन्तोष करना चाहिए और यदि कभी परिस्थिति वश पदार्थों का संयोग न मिले, तो उसे सहज ही तप का सुअवसर समझकर सन्तोष करना चाहिए। परन्तु उन पदार्थों में आसक्त हो कर संयम की साधना में विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार भोगों की आसक्ति से दूर रहने वाला मुनि हि इन्द्रादि के द्वारा प्रशंसनीय होता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त ‘महभयं’ शब्द आत्म विकास की साधना में प्रवर्तमान व्यक्ति के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द से यह अभिव्यक्त किया है कि- विषयभोग में आसक्त व्यक्ति सदा-सर्वदा भयभीत रहते हैं। भौतिक शक्ति एवं धन-वैभव से संपन्न होने पर भी वे निर्भयता के साथ नहीं घूम-फिर सकते। जितने भौतिक साधन अधिक होंगे उतना ही अधिक भय होगा। इससे स्पष्ट होता है कि- विषय-भोग भय में अभिवृद्धि करने वाले

हैं। अतः उनका परित्याग करने वाला वीर पुरुष ही निर्भय हो सकता है। उसे संसार के किसी भी क्षेत्र में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वह स्वयं निर्भय बनकर संसार को निर्भय बनाता हुआ यत्र-तत्र-सर्वत्र शांत भाव से विचरण करता है। अतः साधक को विषयों की आसक्ति का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त मुनिवृत्ति को 'मौन'—मौन शब्द से व्यक्त किया गया है। क्योंकि—प्रतिकूल परिस्थिति होने पर भी मुनि न तो मन में किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प लाता है और न वाणी द्वारा उसे व्यक्त करता है। अतः मुनित्व की साधना को मौन कहा गया है—'मुनेरिदं मौनं—मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितम् मौतम्' इत्यादि।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्व उद्देशक की तरह ही समझ लीजिये।

॥ द्वितीयाध्ययने चतुर्थः उद्देशकः समाप्तः ॥

५१ ५१ ५१

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्रेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. ९६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - २ उद्देशक - ५

❧ लोकनिश्रा ❧

चौथा उद्देशक पूर्ण हुआ... अब पांचवे उद्देशक की व्याख्या का आरंभ करते हैं... चौथे और पांचवे उद्देशक में परस्पर यह संबंध है कि- भोगसुखों का त्याग करके संयम और देह के परिपालन के लिये लोकनिश्रा से विहार करें... ऐसा जो कहा था, उसका अब यहां विस्तार से प्रतिपादन करते हैं... जैसे कि- इस विश्व में संसार से उद्विग्न बने हुए एवं भोगोपभोगों की अभिलाषा का त्याग कीये हुए, पांच महाव्रतों को वहन करने वाले, निर्दोष (निष्पाप) अनुष्ठान को करनेवाले मुमुक्षु-साधु को जीवन पर्यंत की संयमयात्रा के निर्वाह के लिये तथा देह के परिपालन के लिये लोकनिश्रा से हि विहार करना चाहिये... क्योंकि- जो निराश्रय है उसे देह के साधन भिक्षा आदि कहां से हो ? और भिक्षा आदि के अभाव में धर्म-अनुष्ठान भी कैसे हो ? कहा भी है कि- धर्म के आचरण करनेवाले साधु को लोक में निश्रा-आश्रय देनेवाले पांच हैं, १. राजा, २. गृहपति (मकान मालिक), ३. षट्काय, ४. गण, ५. शरीर... अब देह के साधन... वस्त्र, पात्र, आहार-पानी, आसन, शयन आदि... उनमें भी प्रतिदिन उपयोग में आनेवाला आहार हि मुख्य है... और वह आहार, लोक याने जनसमूह जनता से प्राप्त करना चाहिये... लोक सामान्य तरह से अनेक प्रकार के उपायों के द्वारा अपने पुत्र-पत्नी आदि के लिये आरंभ-समारंभ में प्रवृत्त हुआ होता है, अतः उनके वहां से साधु संयम और देह के निमित्त वृत्ति याने आहार आदि का अन्वेषण करें... यह बात अब सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ८८ ॥ १-२-५-१

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति, तं जहा-अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं, सुण्हाणं, नाईणं, धाईणं, राईणं, दासाणं, दासीणं, कम्मकराणं, कम्मकरीणं, आएसाए पुढो पहेणाए सामासाए पायरासाए संनिहि-संनिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए ॥ ८८ ॥

II संस्कृत-छाया :

यैः इदं विरूपरूपैः शस्त्रैः लोकाय कर्मसमारम्भाः क्रियन्ते, तद् यथा-आत्मनः तस्य पुत्रेभ्यः दुहितृभ्यः स्नुषाभ्यः ज्ञातिभ्यः धात्रीभ्यः राजभ्यः दासेभ्यः दासीभ्यः

कर्मकरेभ्यः कर्मकरीभ्यः आदेशाय, पृथक् पृथक् प्रहेणकार्थं श्यामाऽऽशाय, प्रातराशाय,
सन्निधि-सन्निचयः क्रियते, इह एकेषां मानवानां भोजनाय ॥ ८८ ॥

III सूत्रार्थ :

जो लोग विभिन्न प्रकार के शस्त्रों के द्वारा लोगों के लिये कर्मसमारंभ करते हैं, वे इस प्रकार- उसके अपने पुत्रों के लिये, पुत्रीओं के लिये, पुत्रवधूओं के लिये, ज्ञातिजनों के लिये, धावमाता के लिये, राजाओं के लिये, दास-सेवक के लिये, दासी-सेविका के लिये, कर्मकर-चाकर के लिये, कर्मकरीओं के लिये, पृथक् पृथक् पुत्रादि को भोजन के लिये, साम के भोजन के लिये, प्रातः काल के भोजन के लिये, धन-धान्य का सन्निधि-संचय करता है और कितनेक मनुष्यों के भोजनके लिये संचय करते हैं ॥ ८८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

विद्या के अभाववाले जो लोग विषयसुख की प्राप्ति और दुःखों के परिहार के लिये विविध प्रकार के प्राणीओं का वध करनेवाले द्रव्य-भाव शस्त्रों से लोक याने प्राणी अपने शरीर के लिये पुनः पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू और ज्ञातिजन आदि के लिये सुख की प्राप्ति एवं दुःखों को दूर करनेके हेतु से कायिकी, अधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी पारितापनिकी और प्राणातिपातिकी स्वरूप असत् क्रियाएं... अथवा कृषि और व्यापार आदि स्वरूप संरंभ समारंभ और आरंभ स्वरूप क्रियाओं को करते हैं...

उनमें संरंभ याने इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिये प्राणातिपातादि के संकल्प स्वरूप आवेश... समारंभ याने उन इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहार के लिये साधन-सामग्री एकत्रित करना इत्यादि समारंभ तथा आरंभ याने मन वचन एवं कायदंड के व्यापार से होनेवाले प्राणातिपातादि क्रियाओं का आचरण... अर्थात् आठों प्रकार के कर्मों के उपार्जन के उपाय करते हैं यहां चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है...

अब प्रश्न यह होता है कि- वे कौन लोग हैं ? कि- जिसके लिये मनुष्य संरंभ, समारंभ और आरंभ करते हैं ? उत्तर- अपने पुत्र-परिवार के लिये लोग आरंभादि करते हैं... यहां भी तृतीया के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है... अर्थात् जहां मनुष्य अपने परिवार के लोगों के लिये विविध प्रकार के शस्त्रों से कर्म-समारंभ करते हैं, वहां इस लोक में साधु साधुवृत्ति का अन्वेषण (शोध) करें...

मनुष्य अपने पुत्र, पुत्री, पुत्रवधूओं के लिये कर्म-समारंभ करता है... तथा ज्ञाति याने पूर्व और प्रश्नात् संबंधवाले स्वजन लोगों के लिये, इसी प्रकार धात्री, राजा, दास, दासी, कर्मकर, कर्मकरीओं के लिये मनुष्य कर्मसमारंभ करता है... तथा अतिथि-प्राघूर्णक - महेमान

के लिये कितनेक लोग कर्म-समारंभ करते हैं... तथा पृथक् पृथक् पुत्र आदि के हेतु प्रहेणक = मिष्टान्न के लिये... तथा श्यामा = रात्रि में भोजन के लिये, तथा प्रातः भोजन के लिये, कर्म-समारंभ करते हैं...

इस प्रकार सामान्य से कह कर अब विशेषार्थ कहते हैं- विनाशी द्रव्य याने अल्पकाल में विनष्ट होनेवाले दहि, ओदन (चावल) आदि को रखना वह संनिधि... और अविनाशी द्रव्य याने दीर्घकाल पर्यंत रहनेवाले मिसरी (सक्कर) द्राक्ष आदि का संग्रह... संनिचय... अथवा धन, धान्य, हिरण्य (सोना-रूपा) आदि का संनिधि-संचय करते हैं, अर्थात् इस मनुष्यलोक में अपरमार्थ बुद्धिवाले कितनेक मनुष्य भोजन के लिये धन्य धान्य आदि का संनिधि-संचय करते हैं...

इस प्रकार विविध प्रकार के शस्त्रों से शरीर एवं पुत्र आदि के लिये कर्मों के समारंभ में प्रवृत्त लोक विविध प्रकार के मिष्टान्न के लिये, शाम का भोजन एवं प्रातः भोजन के लिये तथा कितनेक मनुष्यों के भोजन के लिये संनिधि और संचय करने में उद्यत (तत्पर) होते हैं, अतः साधुओं को क्या करना चाहिये ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

चतुर्थ उद्देशक में भोगेच्छा का परित्याग एवं किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देने का उपदेश दिया गया है। इससे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि- साधु अपने जीवन का निर्वाह कैसे करे ? इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत उद्देशक में किया गया है।

संयम साधना के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण साधन है। आध्यात्मिक साधना की चरम सीमा तक पहुंचने के लिए शरीर के माध्यम की आवश्यकता है। और उसको स्वस्थ एवं समाधियुक्त बना रखने के लिए आहार, वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या-संथारा आदि साधन भी आवश्यक हैं। इन सब साधनों की पूर्ति गृहस्थ लोगों से होती है, अतः साधु को लोक का आश्रय लेना अनिवार्य है। परन्तु आश्रय लेने का यहां यह अभिप्राय है कि- साधक केवल संयम-साधना के निर्वाह के लिए गृहस्थों के यहां से निर्दोष आहार आदि की गवेषणा करे। इन आहारादि को प्राप्त करते समय साधु संयम को सदा लक्ष्य में रखे। प्रस्तुत उद्देशक में यही बताया गया है कि साधक को किस विधि से आहार ग्रहण करना चाहिए।

मनुष्य आरंभ समारंभ में क्यों प्रवृत्त होता है ? इसके अनेक कारणों को सूत्रकार ने स्पष्ट कर दिया है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि- मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन समाज एवं परिवार के साथ संबद्ध है। वह अकेला नहीं रह सकता। उसे अपने जीवन का निर्वाह करने के लिए दूसरों का सहारा-सहयोग लेना-देना अनिवार्य है... यह जीवन

का एक साधारण नियम हे कि- बिना सहयोग से यह जीवन चल नहीं सकता। जीवन जीने में एक दूसरे का सहयोग अपेक्षित है। अन्यत्र कहा है कि- 'परस्पर एक दूसरे को उपकार-सहयोग करना यह जीवका लक्षण है।' इसलिए अपने पारिवारिक सदस्यों एवं ज्ञाति के अन्य स्नेहि-संबन्धियों के लिए मनुष्य आरंभ-समारंभ में प्रवृत्त होता है।

'रात्रि के पूर्व सायंकाल में तथा मध्याह्न के पूर्व प्रातः किए जाने वाले भोजन को अनुक्रम से 'समासाए' और 'पायरासाए' कहते हैं। 'संनिधि' और 'संनिचय' शब्द से क्रमशः दूध-दही आदि थोड़े समय तक रहनेवाले और चीनी, गुड़; अनाज-धान्य आदि अधिक समय तक स्थिर रहने वाले पदार्थों को ग्रहण किया गया है।'

किसी भी सावद्य कार्य में प्रवृत्ति करने के तीन स्तर हैं-१. संरंभ २. समारंभ और ३. आरम्भ। किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं अनिष्ट पदार्थ को नष्ट करने के लिए मन में कल्पना करना उनका चिंतन करना संरंभ कहलाता है। चिंतित विचारों को साकार रूप देने के लिए तद्योग्य साधनों का संग्रह करना समारंभ है। और उक्त विचारों को कार्य रूप में परिणत करने के का नाम आरम्भ है। इस प्रकार विभिन्न कार्यों के लिए संरंभ-समारंभ और आरम्भ में प्रवर्तमान जीव आठ कर्मों का बन्ध करता है और कर्मोदय से संसार में परिभ्रमण करता है।

अब प्रश्न यह होता है कि- ऐसी स्थिति में संयमी साधु को क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- साधु त्रि-करण और त्रि-योग से सदोष आहार का त्याग करके निर्दोष आहारादि से शुद्ध संयम अनुष्ठान में प्रवृत्ति करे।

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ८९ ॥ १-२-५-२

समुद्रिए अणगारे आरिये अरियपण्णे आरियदंसी अयंसंधि त्ति अदक्खु, से नाईए नाइयावए न समणुजाणइ, सव्वामगंधं परिण्णाय निरामगंधो परिव्वए ॥ ८९ ॥

II संस्कृत-छाया :

समुत्थितः अनगारः आर्यः आर्यप्रज्ञः आर्यदर्शी अयं सन्धिः इति अद्राक्षीत्, सः न आददीत्, न आदापयेत्, न समनुजानीयात्, सर्वामगन्धं परिज्ञाय निरामगन्धः परिव्रजेत् ॥ ८९ ॥

III सूत्रार्थ :

समुत्थित अणगार आर्य आर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी साधु ने यह संधिकाल है ऐसा देखा है, वह साधु अकल्प्य ग्रहण न करे, ग्रहण न करवाये, और अनुमोदन भी न करे... सर्व आमगंध की परिज्ञा करके निरामगंध ऐसा वह प्रव्रजित बने... ॥ ८९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

समुत्थित याने अच्छी तरह से सतत अथवा संगत रीत से जो संयम के अनुष्ठानों में तत्पर हुआ है वह समुत्थित... अर्थात् विविध प्रकार के समारंभ से निवृत्त हुआ... तथा जिसको अंगार याने घर नहि है वे अनंगार... अर्थात् पुत्र पुत्री पुत्रवधू, ज्ञातिजन, धात्री आदि से रहित... तथा आर्य याने सभी त्याज्य पदार्थों एवं अशुभ क्रियाओं से दूर रहे हुए, अर्थात् चारित्र योग्य... आर्य है प्रज्ञा जिन्हों की वे आर्यप्रज्ञ... अर्थात् श्रुतज्ञान से संस्कारित बुद्धिवाले, तथा आर्य याने न्याययुक्त विशेष गुणों को देखनेवाले अर्थात् विभिन्न मिष्टान्न तथा रात्रि भोजनादि के संकल्प रहित... तथा अयं संधि याने समय मर्यादा अनुसार धर्म-अनुष्ठान करनेवाले... अर्थात् जिस क्रिया-अनुष्ठान का जो समय है, उसी समय में उस अनुष्ठान को करनेवाले... सारांश यह है कि- पडिलेहण, उपयोग, स्वाध्याय, भिक्षाचर्या, प्रतिक्रमण आदि सभी क्रियाएं परस्पर अन्योन्य एक-दुसरे को बाधा न हो वैसे अपने अपने कर्तव्य काल में करनेवाले हैं... इस कारण से कहते हैं कि- यथासमय अनुष्ठान करनेवाले हि परमार्थ को देखनेवाले होते हैं, अतः कहते हैं कि- जो आर्य आर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी और कालज्ञ है वे हि परमार्थदर्शी होते हैं, अन्य नहिं...

पाठांतर इस प्रकार है कि- पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट साधु संधि याने कर्तव्य काल को देखनेवाला होता है... सारांश यह है कि- जो साधु परस्पर बाधा न हो उस प्रकार हित की प्राप्ति और अहित के परिहार स्वरूप कर्तव्यका अवसर जानता है, और कर्तव्यको करता है वह हि परमार्थको जाननेवाला है...

अथवा भावसंधि याने ज्ञानदर्शन और चारित्रकी अभिवृद्धि, और वह वृद्धि शरीरके सिवा न हो, और वह शरीर भी आहार आदि उपष्टभक कारणोंके बिना नहि हो सकता, और उस आहार आदि उपष्टभक में जो सावद्य (सदोष) है उनका त्याग करना चाहिये, अतः यह बात अब कहते हैं कि- वह साधु अकल्पनीय आहार आदिको ग्रहण न करें, और न अन्यो के द्वारा ग्रहण करावे, तथा अनेषणीय (आहार आदि) को ग्रहण करनेवाले अन्य की अनुमोदना भी न करें...

अथवा इंगाल दोष या धूमदोषवाले आहार का भोजन न करें, न तो अन्य से करवाये, और सदोष भोजन करनेवाले अन्य की अनुमोदना न करे... अतः कहते हैं कि- सभी प्रकार के आम याने अपरिशुद्ध (सदोष) और गंध शब्द से पूतिकर्मदोष वाला आहार आदि साधु ग्रहण न करें...

प्रश्न- पूति द्रव्य भी अशुद्ध हि है, अतः आम शब्द से हि उनका ग्रहण हो जाता है, तो फिर अलग से क्यों कहा गया है ?

उत्तर- आपकी बात सही है, किंतु अशुद्ध कहने से सामान्य दोषवाले आहार आदि का ग्रहण होता है, जब कि- पूति के ग्रहण से आधाकर्म आदि अविशुद्धकोटिवाले आहार आदि का ग्रहण किया गया है... और पूति-दोष, बड़ा दोष है अतः उसकी मुख्यता (प्रधानता) बताने के लिये अलग से कथन किया गया है...

अतः सारांश यह है कि- गंध शब्द से १. आधाकर्म, २. औद्देशिक त्रिक, ३. पूतिकर्म, ४. मिश्रजात, ५. बादर प्राभृतिका, ६. अध्यवपूरक... यह छह (६) उद्गम दोष अविशोधिकोटि के अंतर्गत हैं, शेष सभी दोष विशोधिकोटि के अंतर्गत हैं और वे आम शब्द से ग्रहण किया गया है... यहां सर्व शब्द प्रकार-वाचक होने से जिस किसी भी प्रकार से आम याने अपरिशुद्ध और गंध याने पूतिकर्म होता है, उन सभी दोषों को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से निरामगंध याने आम और गंध दोष का त्याग करता हुआ मुनि प्रव्रजित बने... ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में चारों ओर से अच्छी तरह से गमन करे अर्थात् संयम के अनुष्ठानों का अच्छी तरह से पालन करें...

अब कहते हैं कि- आम शब्द से क्रीतदोष का प्रतिषेध हो हि गया है, तो भी अल्प सत्त्ववाले जीवों की क्रीतदोष में प्रवृत्ति न हो, इसलिये नाम लेकर हि उसका निषेध करने की इच्छा से सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समुद्विष्ट' शब्द का अर्थ है- उत्थितः अर्थात् सम्यक् प्रकार से संयम मार्ग में प्रवृत्ति करने वाला साधक। संयम मार्ग में प्रवर्तमान होकर जिस मुनि ने घर, परिवार एवं धन-वैभव आदि का सर्वथा त्याग कर दिया है, उसे अनगर कहते हैं। आर्य वह है-जिसने त्यागने योग्य -अधर्म का त्याग कर दिया है। और श्रुत के अध्ययन से जिसकी बुद्धि शुद्ध एवं निर्मल हो गई है, उसे आर्यप्रज्ञ कहते हैं। सत्य एवं न्याय मार्ग के दृष्टा को आर्यदर्शी कहते हैं। साधु जीवन की समस्त क्रियाओं को यथाविधि एवं यथासमय अर्थात् जिस अनुष्ठान से लिए आगम में जो विधि एवं समय का विधान किया है: तदनुसार आचरण करने वाला साधु संधिदृष्ट है...

'निराम' का अर्थ होगा-निष्पाप, क्लेश रहित और 'आमगन्ध' का अर्थ-आधाकर्म आदि दोषों से दूषित अशुद्ध आहार है। अतः समस्त दोषों से रहित शुद्ध आहार को ग्रहण करके संयम साधना में संलग्न रहना ही साधु का प्रमुख उद्देश्य है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १० ॥ १-२-५-३

अदिस्समाणे कयविककयेसु, से न किणे न किणावए, किणंतं वा न समणुजाणइ, से भिक्खू कालण्णे, बलण्णे, मायण्णे, खेयण्णे, खणयण्णे, विणयण्णे, ससमयपर समयण्णे, भावण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालाणुद्दाई अपडिण्णे ॥ १० ॥

II संस्कृत-छाया :

अदृश्यमानः क्रय-विक्रययोः, सः न क्रीणीयात्, न क्रापयेत्, क्रीणन्तं न समनुजानीयात्, सः भिक्षुः कालज्ञः बलज्ञः मात्राज्ञः खेदज्ञः (क्षेत्रज्ञः) क्षणकज्ञः विनयज्ञः स्वसमयपरसमयज्ञः, भावज्ञः, परिग्रहं अममीकुर्वाणः कालानुष्ठायी अप्रतिज्ञः ॥ १० ॥

III सूत्रार्थ :

क्रय एवं विक्रय को नहीं देखने (चाहने) वाला वह साधु कुछ भी खरीद (क्रय) न करे, न तो खरीद (क्रय) करवाये, और खरीदी (क्रय) करनेवाले अन्य की अनुमोदना न करे... वह साधु कालज्ञ है, बलज्ञ है, मात्रा-ज्ञ है, खेद-ज्ञ है अथवा क्षेत्रज्ञ है, क्षणकज्ञ है, विनयज्ञ है तथा स्वसिद्धांत (शास्त्र) और पर सिद्धांत को जाननेवाला है, और भावज्ञ है... परिग्रह के प्रति ममता न करनेवाला है, अतः कालानुष्ठायी वह साधु अप्रतिज्ञ ही है ॥ १० ॥

IV टीका-अनुवाद :

साधु क्रय एवं विक्रय को देखता नहि है, क्योंकि- साधु अर्किचन है अतः क्रय एवं विक्रय के कारण धन हि उनके पास नहि है अतः साधु क्रीतकृत आहार आदि का उपभोग नहि करते, वह अर्किचन साधु धर्म के उपकरणों को भी स्वयं खरीदे नहिं, तथा अन्य के द्वारा क्रय (खरीदी) न करवाये, एवं खरीदी करनेवाले अन्य की अनुमोदना न करें... अथवा निरामगंध पद में आम शब्द से हनन कोटि त्रिक, गंध शब्द से पचन कोटि त्रिक, तथा क्रयणकोटित्रिक का स्वरूप से हि ग्रहण होता है, अतः नवकोटि से परिशुद्ध आहार का अंगार और धूम दोष न लगे उस प्रकार आहार (भोजन) करे...

ऐसे गुणवाले साधु और कैसे होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- वह भिक्षु = साधु कर्तव्य के अवसर को जानने स्वरूप काल को जानता है अतः विदितवेद्य कालज्ञ है... तथा बलज्ञ याने बल = शरीरबल को जानकर अपने सामर्थ्य के अनुसार यथाशक्ति धर्मानुष्ठान करता है, अर्थात् अपने बल एवं वीर्य-पराक्रम को छुपाता नहि है... मात्राज्ञ = जितने द्रव्यों जितनी मात्रा = प्रमाण चाहिये उस मात्रा को जाननेवाला...

तथा खेदज्ञ = खेद याने अभ्यास, उस अभ्यास से जाननेवाला, अथवा खेद याने श्रम संसार में पर्यटन से लगी हुई थकान को जाननेवाला, कहा भी है कि- जरा (वृद्धावस्था) मरण, दरिद्रता (दुर्गति) व्याधि (रोग) की बात तो दूर रहो, किंतु मैं तो ऐसा मानता हूं कि- बार बार जन्म हि धीर पुरुष को लज्जा देता है... इत्यादि... अथवा क्षेत्रज्ञ = संसक्त, विरुद्धद्रव्य, और परिहार्यकुल आदि क्षेत्र के स्वरूप के ज्ञाता... तथा क्षणकज्ञ = क्षणक याने अवसर और वह भिक्षा आदि का समय... उसको जो जाने वह क्षणकज्ञ... तथा विनयज्ञ = विनय याने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचारविनय... इन्हें जो जाने वह विनयज्ञ...

तथा स्वसमय-परसमयज्ञ = स्वसमयज्ञ याने स्वसिद्धांतों का ज्ञाता गोचरी = भिक्षा के लिये गये हुए मुनि को पुछने पर सहज भाव से भिक्षा के दोष कहे... वे इस प्रकार- उद्गम के १६ दोष- १. आधाकर्म, २. औद्देशिक, ३. पूतिकर्म, ४. मिश्रजात, ५. स्थापना, ६. प्राभृतिका, ७. प्रादुष्करण ८. क्रीत, ९. प्रामित्य (उद्यतक), १०. परिवर्तित, ११. अभ्याहत, १२. उद्भिन्न, १३. मालापहत, १४. आच्छेद्य, १५. अनिसृष्ट, १६. अध्यवपूरक तथा उत्पादना के १६ दोष... १. धात्री पिंड दोष... २. दूतीपिंड, ३. निमित्त, ४. आजीवपिंड, ५. वनीपक, ६. चिकित्सा, ७. क्रोधपिंड, ८. मानपिंड, ९. मायापिंड, १०. लोभपिंड, ११. पूर्वसंस्तव, १२. पश्चात्संस्तव, १३. विद्यापिंड, १४. मंत्रपिंड, १५. चूर्णयोगपिंड, १६. मूलकर्म... तथा एषणाके १० दोष... १. शंक्ति, २. प्रक्षित, ३. निक्षिप्त, ४. पिहित, ५. संहत, ६. दायक, ७. उन्मिश्र, ८. अपरिणत, ९. लिप्त, १०. उज्झितदोष... इन में से जो सोलह उद्गम दोष हैं वे दाता की और से लगते हैं तथा सोलह उत्पादन के दोष साधु की और से लगते हैं तथा एषणा के दश दोष दाता (गृहस्थ) और साधु दोनों के द्वारा लगते हैं...

और परसमयज्ञ याने अन्य मत के शास्त्रों को जानने वाले... जैसे कि- ग्रीमऋतु के मध्याह्न के समय आकाश में अति उग्र तप रहे सूर्य के किरणों के ताप से पर्वत शिला पे खुल्ले पाउं कायोत्सर्ग-ध्यान कर रहे साधु के शरीर से निकलते हुए पसीने के बिंदुओं को देखकर कोइक ब्राह्मण उन साधु से कहे कि- सभी लोक को मान्य ऐसा स्नान आपको कयों मान्य (संमत) नहि है ? तब वह साधुजी कहते हैं कि- स्नान यह कामविकार का अंग (कारण) है अतः सभी साधुजनों के लिये स्नान वर्जित (त्याज्य) है... ऋषिओं ने भी कहा है कि- मद और दर्प करनेवाला यह स्नान कामक्रीडा का प्रथम अंग (कारण) है अतः दम में रक्त मुनिजन काम का त्याग करने के बाद स्नान नहीं करते... इत्यादि... इस प्रकार उभय याने दोनों मत के शास्त्रों को जाननेवाले साधु कोइ भी शास्त्र संबंधित प्रश्न उपस्थित होने पर उत्तर देने में कुशल होता है...

तथा भावज्ञ याने दाता या श्रोता के चित्त के अभिप्राय को जाननेवाला... तथा परिग्रह में याने संयम के अतिरिक्त उपकरण आदि में ममत्वभाव नहि करनेवाला अर्थात् मन से भी

परिग्रह को नहि चाहनेवाला... ऐसे गुणवाला साधु कालज्ञ बलज्ञ मात्रज्ञ क्षेत्रज्ञ खेदज्ञ क्षणज्ञ विनयज्ञ समयज्ञ और भावज्ञ तथा परिग्रह में ममता नहि करनेवाला वह साधु कालानुष्ठायी होता है, अर्थात् जिस समय में जो कार्य करने योग्य है उन्हे उसी समय में करनेवाला, अर्थात् काल का उल्लंघन नहि करनेवाला...

प्रश्न- यह बात तो कालज्ञ पद से कह चूके हो, तो अब पुनः क्यों कहते हो ?

उत्तर- ना, यहां यह पुनरुक्त दोष नहि है, क्योंकि- यहां कालज्ञ पद में मात्र ज्ञपरिज्ञा हि कही गइ है, यहां मात्र कार्य-कर्तव्य का काल जानता है, और यहां कर्तव्यकाल में आसेवना-परिज्ञा है अर्थात् कर्तव्यकाल में क्रियानुष्ठान करना है...

तथा अप्रतिज्ञ याने जिन्हें कषाय के उदय से होनेवाली कोई प्रतिज्ञा नहि है... वह इस प्रकार- क्रोध-कषाय के उदय से स्कंदकाचार्यजी (खंधकसूरीजी) ने अपने शिष्यों के यंत्रपीलन का प्रसंग देखकर सेना, वाहन, राजधानी के साथ पुरोहित के विनाश की प्रतिज्ञा की थी... तथा मान के उदय से बाहुबलीजी ने प्रतिज्ञा की थी कि- केवलज्ञानवाले छोटे (९८) भाईओं को छद्मस्थ ऐसा मैं कैसे देखुं ? तथा माया कषाय के उदय से मल्लिनाथ-तीर्थंकर के जीवने पूर्व जन्म में अन्य साधुओं को कपट-माया से ठगा था कि- आज मैंने प्रत्याख्यान परिज्ञा ली है... तथा लोभ कषाय के उदय से परमार्थ तत्त्व को नहि जाननेवाले मात्र वर्तमानकाल को देखनेवाले तथा साधु नहि किंतु साधु के आभास जैसे साधुलोग भौतिक-कामना से मासक्षपण आदि प्रतिज्ञाएं करते हैं...

अथवा अप्रतिज्ञ याने अनिदान संयमानुष्ठान करनेवाले साधु वसुदेव की तरह नियाणा नहि करते... अथवा गोचरी (भिक्षा) के लिये निकला हुआ साधु "मुझे आज विविध प्रकार के विशिष्ट आहार आदि प्राप्त होंगे" इत्यादि प्रतिज्ञा नहि करते... अथवा जिनेश्वरों के आगम-शास्त्र स्याद्वाद प्रधान हैं अतः एक पक्ष के अवधारण-आग्रह स्वरूप प्रतिज्ञा से रहित वह अप्रतिज्ञ... जैसे कि- मैथुन-विषय को छोडकर अन्य कोई भी नियमवाली प्रतिज्ञा न करनी चाहिये... यतः कहा भी है कि- जिनेश्वरों ने मैथुन भाव को छोडकर अन्यत्र सर्वथा प्रतिषेध भी नहि किया है, और अनुज्ञा भी नहि दी है, क्योंकि- मैथुन-भाव राग और द्वेष के बिना नहि होता है...

तथा- जिस से सभी दोषों का निषेध हो तथा जिस से सभी कर्मों का विनाश हो, वह वह अनुष्ठान मोक्ष का उपाय है जैसे कि- रोगावस्था में शमन क्रियाएं... तथा जितने भी हेतु संसार के हैं, उतने हि वे हेतु मोक्ष के भी है... वे गणनातीत याने असंख्य हैं और दोनों परस्पर तुल्य है... अयं संधि से लेकर कालानुष्ठायी पर्यंत के इन सूत्रोंसे ग्यारह (११) पिंडैषणा निकली है...

इस प्रकार अप्रतिज्ञ पद से यह सार प्राप्त हुआ कि- कोई भी साधु कहीं पर भी कोई प्रतिज्ञा न करे... तथा आगमसूत्र में विविध प्रकार के अभिग्रह कहे गये हैं... अतः आगे पीछे के सूत्रों में परस्पर व्याघात जैसा दिखता है अतः सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में विरोध का निवारण करके समन्वयभाव का निर्देश करेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में संयम मार्ग में प्रवर्तमान अनगार को निर्दोष आहार की गवेषणा करने एवं संयम मार्ग की क्रियाओं के परिपालन करने का सामान्य रूप से उपदेश दिया गया है। साधु अपनी संयम साधना में आवश्यक उपकरण आदि को न स्वयं खरीदे, न अन्य व्यक्ति को खरीदने के लिए उपदेश दे और खरीदते हुए व्यक्ति का समर्थन या अनुमोदन भी न करे।

पूर्व सूत्र में 'निरामगन्धो परिव्वए' पाठ में प्रयुक्त 'निराम और गन्ध' शब्द हनन एवं पचन आदि क्रिया से होने वाली हिंसा का त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का उपदेश दिया है और प्रस्तुत सूत्र में क्रय-विक्रय के द्वारा होने वाले दोष का सर्वथा त्रि-करण और त्रि-योग से त्याग करने का निर्देश किया है। जैसे आधाकर्म आदि कार्य में हिंसा होती है। उसी प्रकार क्रय-विक्रय की क्रिया भी हिंसा आदि दोष का कारण है। क्योंकि- क्रय-विक्रय में पैसे की, धन की आवश्यकता रहती है और पैसे की प्राप्ति हिंसा आदि दोषों के विना संभवित हि नहीं है।

अतः हिंसा आदि दोषों के सर्वथा त्यागी मुनि के लिए अधाकर्म एवं क्रय आदि दोषों से युक्त आहार वस्त्र, पात्र, मकान आदि ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। साधु को पूर्णतया शुद्ध, एषणीय एवं निर्दोष आहार की गवेषणा करनी चाहिए।

निर्दोष संयम का परिपालन करने वाला साधु काल-समय का, आत्मशक्ति का; आहार आदि के परिमाण का परिज्ञाता है। तथा अभ्यास के द्वारा पदार्थों का ज्ञाता, संसार पर्यटन एवं संसार-क्षेत्र को भी खेद कहते हैं। इसी दृष्टि से खेदज्ञ का अर्थ होगा-संसार परिभ्रमण के लिए किए जाने वाले श्रम (कर्म) को एवं क्षेत्र के स्वरूप को जानने वाला तथा प्रत्येक व्यक्ति के आंतरिक भावों का परिज्ञाता। और स्व मत एवं परमत का विशिष्ट ज्ञाता होना चाहिए। जो साधु स्व-परमत का ज्ञाता नहीं होगा, वह अन्य मतावलम्बी व्यक्तियों द्वारा या किसी भी व्यक्ति द्वारा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर भली-भांति नहीं दे सकेगा।

'अपडिन्ने' का अर्थ है- कषाय के वश होकर किसी भी प्रकार की प्रतिज्ञा न करने वाला। क्योंकि- कषायों के वेग एवं आवेश के समय अविवेक की स्थिति में की गई प्रतिज्ञा स्व और पर के लिए अहितकर भी हो सकती है। जैसे कि- स्कन्धाचार्य ने अपने शिष्यों

को यन्त्र में पीलते हुए देखकर क्रोध के आवेश में नगर, राजा एवं पुरोहित आदि का विनाश करने की प्रतिज्ञा की थी। अभिमान के वेग में बाहुबली ने अपने से पहिले दीक्षित हुए लघु भ्राताओं को वन्दन नहीं करने की प्रतिज्ञा की थी। इस प्रकार माया एवं लोभ के वश स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए तप आदि साधना की प्रतिज्ञा करना अर्थात् निदान पूर्वक तप करना। इस प्रकार की प्रतिज्ञाओं से आत्मा स्वयं पतन की ओर प्रवृत्त होता है। अतः संयमनिष्ठ मुनि को कषाय के वश होकर कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। किंतु विवेक पूर्वक संयम-साधना में ही प्रवृत्ति करनी चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में साधु वृत्ति का विवेचन किया गया है। साधु परिग्रह-धन वैभव, मकान, परिवार आदि का सर्वथा त्यागी होता है, अतः वह क्रय-विक्रय की प्रवृत्ति में प्रवृत्त नहीं होता। क्रय की प्रवृत्ति द्रव्य के माध्यम से होती है और मुनि द्रव्य का त्यागी होता है। इसीलिए वह अपने उपयोग में आनेवाले आहार, वस्त्र-पात्र आदि किसी भी पदार्थ को न स्वयं खरीदता है और न किसी व्यक्ति को खरीदने के लिए प्रेरित करता है और उसके लिए खरीद कर लाई वस्तु को वह स्वीकार भी नहीं करता इत्यादि...

प्रस्तुत सूत्र में प्रतिज्ञा का जो निषेध किया गया है, वह एक अपेक्षा विशेष से किया गया है न कि- प्रतिज्ञा मात्र का हि। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगेका सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ११ ॥ १-२-५-४

दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिगहं कंबलं, पायपुंछणं उग्गहणं च कडासनं एएसु
चेव जाणिज्जा ॥ ११ ॥

II संस्कृत-छाया :

द्विधा छित्त्वा नियाति, वस्त्रं, पतद्ग्रहं (पात्रं) कम्बलं, पादपुञ्जनकं, अवग्रहः,
च कटासनं, एतेषु चैव जानीयात् ॥ ११ ॥

III सूत्रार्थ :

राग और द्वेष दोनों का छेद करके प्रतिज्ञा सफल है... वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरण,
अवग्रह तथा कटासन (आसन) इन सभी उपकरणों में प्रतिज्ञा जानें ॥ ११ ॥

IV टीका-अनुवाद :

राग एवं द्वेष से जो प्रतिज्ञा है, उसे छेद करके ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य स्वरूप मोक्षमार्ग
में अथवा संयमानुष्ठान में अथवा भिक्षा आदि के लिये निश्चित अभिग्रह-प्रतिज्ञा करें... सारांश

यह है कि- सग और द्वेष का छेद करके की हुई प्रतिज्ञा गुणवती (गुणवाली) है, और यदि राग-द्वेष का छेद नहि कीया तो वह प्रतिज्ञा निष्फल (व्यर्थ) हि है...

वह इस प्रकार- कालज्ञ बलज्ञ यावत् राग और द्वेष का छेदक साधु क्या करते हैं? यह बात अब कहते हैं कि- पुत्र-परिवार आदि के लिये आरंभ-समारंभ में प्रवृत्त तथा संनिधि-संनिचय करने में तत्पर गृहस्थो के यहां वस्त्र आदि की शुद्धि एवं अशुद्धि का विवेक करें अर्थात् शुद्ध वस्त्रादि ग्रहण करें, और अशुद्ध का त्याग करें... वे वस्त्रादि इस प्रकार हैं... वस्त्र पद से वस्त्रैषणा कही है, तथा पतद्ग्रह याने पात्र शब्द से पात्रैषणा कही है... तथा कंबल पद से उनके पात्र के उपकरण तथा ऊनी वस्त्र याने कंबल का ग्रहण सूचित है... और पादपुंछनक पद से रजोहरण (ओधो) का सूचन है, इन सूत्रों से ओध उपधि और औपग्रहिक उपधि का सूचन है... इस प्रकार इन सूत्रों से वस्त्रैषणा और पात्रैषणा कही है...

तथा अवग्रह के पांच प्रकार है...

- | | | |
|----|------------------------|-----------------------------------|
| १. | देवेन्द्र का अवग्रह... | सौधर्मेन्द्र का अवग्रह |
| २. | राजा का अवग्रह... | भरत चक्रवर्ती का अवग्रह |
| ३. | गृहपति-अवग्रह... | घर-मकानका स्वामी-मालिक... |
| ४. | शय्यातर-अवग्रह... | जिस के यहां वसति की हो वह... |
| ५. | साधर्मिक-अवग्रह... | समान धर्मवाले साधुओं का अवग्रह... |

इस अवग्रह पद से अवग्रह-प्रतिमा का सूचन कीया है... तथा अवग्रह कल्पवाले साधुओं का यहां निर्देश है... तथा कटासन पद में कट पद से संधारे का ग्रहण करें और आसन पद से आसंदक याने कुर्शी, सिंहासन आदि... अथवा जहां बैठा जाय, रहा जाय वह आसन-शय्या... अतः आसन पद से शय्या सूचित की है... यह सभी वस्त्र आदि और आहार आदि के निर्माण में स्वयमेव प्रवृत्त गृहस्थों के यहां साधु वस्त्र आदि की गवेषणा करे... अर्थात् सर्वाभंगंधं याने सभी प्रकार के दोषों को जानकर निरामगंधं याने निर्दोष प्रकार से साधु प्रव्रजित बने = संयमानुष्ठान करें...

अब कहते हैं कि- अपने आप आरंभ में प्रवृत्त गृहस्थों के यहां गवेषणा करनेवाला साधु जितना मिले उतना ग्रहण करे कि- वस्त्रादि ग्रहण करने में कोई नियम है ? इस प्रश्न का उत्तर अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

पूर्व सूत्र में जो अप्रतिज्ञा अर्थात् प्रतिज्ञा नहीं करने की बात कही गई है, उसका अभिप्राय प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- सूत्रकार ने पूर्व सूत्र

में प्रतिज्ञा मात्र का निषेध नहीं किया है। उनका अभिप्राय राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का परित्याग करने से है। यह बात प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट हो जाती है कि- मुनि राग-द्वेष युक्त प्रतिज्ञा का छेदन करके निर्दोष वस्त्र-पात्र आदि पदार्थों का अभिगह-प्रतिज्ञा ग्रहण करे।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि- आहार, वस्त्र, पात्र आदि ग्रहण करने के लिए किए जाने वाले विविध अभिग्रहों का त्याग करने का नहीं कहा है। परन्तु यह कहा गया है कि- राग-द्वेष या निदान पूर्वक कोई अभिग्रह प्रतिज्ञा न करे। क्योंकि- राग-द्वेष से परिणामों में विशुद्धता नहीं रहती और परिणामों एवं विचारों का दूषित प्रवाह उस प्रतिज्ञा को स्पर्श किए बिना नहीं रहता है। अतः दोष युक्त भावों से की गई प्रतिज्ञा में भी अनेक दोषों का प्रविष्ट होना स्वाभाविक है। जैसे मकान के चारों ओर लगी हुई आग की ज्वाला में अपने मकान का आग के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहना असम्भव है। उसी प्रकार जिस साधक के मन में राग-द्वेष की ज्वाला प्रज्वलित है, उस समय की गई प्रतिज्ञा भी उस राग की आग से निर्लिप्त नहीं रह सकती, उस प्रतिज्ञा पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। अतः साधक को चाहिए कि- वह राग-द्वेष की धारा का छेदन करे। यदि कभी राग-द्वेष की आग प्रज्वलित हो उठी हो तो पहले उसे उपशान्त करे, उसके बाद शान्त मन से प्रतिज्ञा धारण करे।

इससे स्पष्ट हुआ कि- साधु राग-द्वेष का परित्याग करके संयम में प्रवृत्ति करे। इससे उसके मन में चञ्चलता नहीं रहेगी और दृष्टि में धून्धलापन एवं विकार नहीं रहेगा। इससे लाभ यह होगा कि- वह अपनी की गई प्रतिज्ञा तथा जीवन में की जाने वाली अन्य प्रतिज्ञाओं का भली-भाँति परिपालन कर सकेगा। साधु की प्रतिज्ञा है कि- वह किसी भी प्रकार के दोष-हिंसा आदि का सेवन न करे और साधु के निमित्त किसी भी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ भी न किया जाए। इस प्रतिज्ञा का पालन रागद्वेष का छेदन कर के ही हो सकता है। क्योंकि- साधना में सहायक वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की आवश्यकता होती है और उनके लिए गृहस्थ अनेक प्रकार के आरंभ-समारंभ कर सकता है।

यदि साधु के मन में राग-द्वेष है, या यों कहिए कि- वस्त्र पात्र आदि देने वाले गृहस्थ के प्रति अनुराग है, तो वह अपने साधना पथ से विचलित जायगा और अपनी प्रतिज्ञा को भूल कर सदोष-निर्दोष की जांच किए बिना ही उन उपकरणों को ले लेगा। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में साधक को यह आदेश देते हुए कहा है कि-वह राग-द्वेष का छेदन करके वस्त्र; पात्र, कम्बल, रजोहरण, आसन आदि के दोषों का परिज्ञान करे, यह देखे कि यह उपकरण गृहस्थ के यहां किस प्रयोजन से आए है। वह अपने उपभोग के लिए इन्हें लाया है या मेरी आवश्यकता को पूरा करने के लिए ? इसका सम्यक्तया परीक्षण करे। परीक्षण के बाद यदि वे साधन सदोष प्रतीत हों तो उनका परित्याग करके निर्दोष साधनों-उपकरणों की गवेषणा करे। इस कथन से आहार-एषणा, वस्त्र-एषणा आदि का भी स्पष्ट निर्देश किया

गया है। -

अवग्रह के ५ भेद कहे गए हैं। १. देवेन्द्र अवग्रह, २. राजअवग्रह, ३. गृहपतिअवग्रह, ४. शय्यातर अवग्रह, और ५. साधर्मिक अवग्रह। इनमें प्रथम अवग्रह को छोड़कर शेष चारों अवग्रह स्पष्ट हैं। किंतु देवेन्द्र की आज्ञा कैसे ली जाती है और वह आज्ञा कैसे देता होगा ? भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशक २ में वर्णन आता है कि- एक बार शक्रेन्द्रने भगवान महावीर से कहा था कि- मैं आपके साधुओं को पृथ्वी पर विचरने की एवं तृण-काष्ठ आदि ग्रहण करने की आज्ञा देता हूं। देवेन्द्रअवग्रह का यही अभिप्राय है। और इस पर से ही यह परम्परा है कि- जंगल आदि में जहां कोई व्यक्ति नहीं होता है; वहां तृण-कंकर आदि लेने की आवश्यकता होती है, तब शक्रेन्द्र की आज्ञा ली जाती है।

‘कट’ शब्द से संस्तारक और ‘आसन’ शब्द से शय्या; मकान आदि ग्रहण किया है। अतः वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, शय्यासंस्तारक आदि की सदोषता-निर्दोषता का भली-भांति परिज्ञान करे और उसमें सदोष का त्याग करके निर्दोष पदार्थों का स्वीकार करे।

यह सत्य है कि- जीवन निर्वाह के लिए निर्दोष आहार आदि ग्रहण करने का आदेश दिया गया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि- निर्दोष पदार्थ होने से वह चाहे जितना ग्रहण करले। उसमें भी मर्यादा है, परिमाण है। साधु अपने परिमाण से अधिक आहार आदि को ग्रहण नहीं करे। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १२ ॥ १-२-५-५

लब्धे आहारे अणगारो मायं जाणिज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं, लाभुत्ति न मज्जिज्जा, आलाभु त्ति न सोइज्जा, बहुं पि लब्धुं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्किज्जा ॥ १२ ॥

II संस्कृत-छाया :

लब्धे आहारे अनगारः मात्रां जानीयात्, तद् यथा भगवता प्रवेदितं, लाभः इति न माद्येत्, अलाभः इति न शोचेत्, बहु अपि लब्ध्वा न सन्निधिं कुर्यात्, परिग्रहात् आत्मानं अपसर्पयेत् ॥ १२ ॥

III सूत्रार्थ :

आहार प्राप्त होने पर साधु मात्रा = प्रमाण को जाने, परमात्माने कहा है... कि- लाभ होने पर मद न करें, अलाभ होने पर शोक न करें, और अधिक लाभ होने पर सन्निधि न करें, और परिग्रह से अपने आपको दूर रखें... ॥ १२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

आहार वस्त्र औषध आदि प्राप्त करने में साधु मात्रा-प्रमाण जाने... मात्रा याने “जितने प्रमाण में आहार आदि ग्रहण करने से गृहस्थ पुनः आरंभ समारंभ न करे, और जितने आहार आदि के प्रमाण से अपने विवक्षित कार्य पूर्ण हो” ऐसे प्रकार की मात्रा को जाने यहां यह सारांश है... यह बात हम अपने मन से नहीं कहते हैं, किंतु ऐश्वर्यादिगुण युक्त भगवान् परमात्मा महावीर प्रभुने सभी जीवों को अपनी अपनी भाषा में बोध हो ऐसी अर्धमागधी भाषा में देव और मनुष्यों की बारह पर्षदा में केवलज्ञान-चक्षु से देखकर कही है... यह बात पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी अपने शिष्य जंबूस्वामी को कहते हैं...

“वस्त्र, आहार आदि मुझे प्राप्त हुए हैं” अतः अहो ! मैं लब्धिवाला हूं इस प्रकार साधु मद न करें, तथा आहार आदि प्राप्त न होने पर शोकवाला होकर दुर्ध्यान भी न करें जैसे कि- मुझे धिक्कार हो, कि- मंद भाग्यवाला मैं, सभी दान में तत्पर ऐसे दाताओं से आहार आदि प्राप्त नहीं कर पाता हूं इत्यादि... किंतु यहां साधु लाभ और अलाभ में मध्यस्थता हि रखें... कहा भी है कि- यदि आहार आदि प्राप्त हो तो भी अच्छा, और यदि प्राप्त न हो तो भी अच्छा... यदि आहार आदि प्राप्त न हो, तो संयम तप की वृद्धि हो, और प्राप्त हो तो संयम-प्राण का धारण हो... इत्यादि...

इस प्रकार पिंड (आहार) पात्र और वस्त्र की एषणा कही... अब संनिधि का निषेध करते हुए कहते हैं कि- आहार आदि अधिक प्राप्त हो, तो संनिधि न करें, संचय न करें... थोड़ा भी न रखें, और अधिक भी न रखें... मात्र आहार का हि संनिधि न करें इतना हि नहीं, किंतु अन्य वस्त्र, पात्र, आदि संयम के उपकरणों का भी अतिरिक्त संग्रह न रखें, अर्थात् संचय न करें...

परिग्रह याने चारों ओर से जो आत्मा को ग्रहण करे, पकड़े वह परिग्रह... धर्म के उपकरण से अतिरिक्त जो कुछ उपकरण है वह परिग्रह है, यह परिग्रह आत्मा को संयम से दूर करता है... अथवा संयम के उपकरण भी मूर्च्छा रखने से परिग्रह होते हैं... “मूर्च्छा हि परिग्रह है” ऐसा उमास्वातिजी का वचन है... अतः आत्मा को परिग्रह से दूर रखें, और संयम के उपकरण में भी साज सजे तुरग-घोड़े की तरह मूर्च्छा न रखें... मूर्च्छा न करें...

प्रश्न- जो कुछ धर्मोपकरण आदि का ग्रहण है, वह भी चित्त की क्लुषितता के सिवा नहि होता... जैसे कि- अपने उपकार करनेवाले पे राग तथा उपघात- पीडा करनेवाले पे द्वेष, अतः परिग्रह होने पर राग और द्वेष दूर नहि होते, और राग एवं द्वेष होने से कर्मों का बंधन निश्चित हि है, अतः धर्मोपकरण भी परिग्रह क्यों नहीं है ? कहा भी है कि- जब तक “मैं और मेरा” यह अभिमान स्वरूप दाहज्वर है, तब तक

यह आत्मा कृतांत याने यम-मरण के मुख में हि है, अर्थात् तब तक आत्मा को शांति प्राप्त नहीं होती...

अतः इस परिग्रह स्वरूप दाहज्वर को दूर कैसे करें ?

उत्तर- यहां कोई दोष नहि है, क्योंकि- धर्मोपकरण में साधुओं को “यह मेरा है” ऐसा परिग्रह का आग्रह नहि होता है... दशवैकालिक आगम सूत्र में भी कहा है कि- साधु “अपने देह में भी ममत्व भाव नहीं करते...” यहां सारांश यह है कि- जिस आहार आदि के ग्रहण में कर्मबंध हो, वह परिग्रह... किंतु जो आहार आदि का ग्रहण कर्मों की निर्जरा के लिये होते हैं वे परिग्रह नहि है इत्यादि...

यहां विशेष बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

आहार आदि पदार्थ लेते समय केवल सदोषता-निर्दोषता का ज्ञान करना ही पर्याप्त नहीं है, किंतु परिमाण का भी ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि- विना परिमाण को जाने निर्दोष आहारादि से पात्र भर लेने से संयम के स्थान में असंयम का पोषण हो जाता है। यदि परिमाण से अधिक आहार ले लिया है, तो गृहस्थ को अपने एवं अपने परिवार के लिए फिर से आरम्भ करना पड़ेगा। सारांश यह है कि- साधु अपने आहार की मात्रा का ज्ञाता हो। शरीर निर्वाह के लिए जितने आहार की आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करे। जब अपने आहार का परिमाण ज्ञात नहीं है, तब अधिक आहार आ जाने से, वह खा (वापर) नहीं सकेगा, इससे अयतना होगी और यदि कभी खा लिया तो मर्यादा से अधिक आहार करने के कारण उसे आलस्य-प्रमाद आएगा या वह बीमार हो जायगा, जिसके कारण वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की यथाविधि आराधना नहीं कर सकेगा। इसलिए मुनि को गृहस्थ के घर की स्थिति-परिस्थिति एवं अपने आहार की आवश्यकता का परिज्ञान होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त भगवान् जिनेश्वर परमात्मा की यह आज्ञा है कि- आहार उपलब्ध हो या न हो दोनों अवस्थाओं में मुनि को समभाव रखना चाहिए। आहार के मिलने पर मुनि को गर्व नहीं करना चाहिए और न मिलने पर खेद नहीं करना चाहिए। और अधिक आहार प्राप्त हो जाने पर उसे मर्यादित काल से अधिक काल अर्थात् प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक नहीं रखना चाहिए और आगामी दिन में खाने की अभिलाषा से रात को भी संग्रह करके नहीं रखना चाहिए। इससे लालसा एवं तृष्णा की अभिवृद्धि होती है। और तृष्णा, आसक्ति या लालसा को ही परिग्रह कहा गया है। अतः साधु को परिग्रह से सदा दूर रहना चाहिए। अर्थात् आहार आदि का संग्रह करके नहीं रखना चाहिए।

इन वस्त्र आदि संयमोपकरण पर आसक्ति रखने से परिग्रह का दोष लगता है। इसलिए मुनि को वस्त्र आदि किसी पदार्थ पर मूर्छा या आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ९३ ॥ १-२-५-६

अण्णहा णं पासए परिहरिज्जा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहित्थ कुसले नोवल्लिंपिज्जासि त्ति बेमि ॥ ९३ ॥

II संस्कृत-छाया :

अन्यथा पश्यकः परिहरेत्, एषः मार्गः आचार्यैः प्रवेदितः, यथा अत्र कुशलः न उपलिम्पयेत् इति ब्रवीमि ॥ ९३ ॥

III सूत्रार्थ :

मुनि सभी प्रकार से परिग्रह का त्याग करे... यह मार्ग आचार्यों ने कहा है, अपरिग्रहता से यहां कुशल साधु कर्मों से उपलिप्त न हो... इति हे जम्बू ! मैं (सुधर्मास्वामी) तुम्हे कहता हूँ ॥ ९३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

सर्व प्रकार से पश्यक याने मुनि परिग्रह का त्याग करे... जैसे कि- परमार्थ तत्त्व को नहि जाननेवाले गृहस्थ-लोग वैषयिक भोगोपभोग लिये परिग्रह को देखते (चाहते) हैं, वैसे साधु नहि देखते... यहां साधु यह सोचते हैं कि- यह वस्त्र आदि उपकरण आचार्यजी के हैं, मेरे नहि... इत्यादि... यहां मात्र राग-द्वेष मूलवाले परिग्रह के आग्रह का हि निषेध है, धर्मोपकरण का निषेध नहि है... क्योंकि- धर्मोपकरण के बिना संसार-समुद्र का पार पाना मुश्किल है... कहा भी है कि- छोटा कार्य यथा कथंचित् (जैसे तैसे) सिद्ध हो शकता है किंतु बड़ा (महान्) कार्य वैसे सिद्ध नहि होता... जैसे कि- समुद्र को तैरना जहाज-नौका के बिना शक्य नहि है...

यहां जैनके आभासवाले बोटिकों (दिगंबरों) के साथ बड़ा-महान् विवाद है, अतः विवक्षित = कथन योग्य बात तीर्थंकरों के अभिप्राय के द्वारा सिद्ध करने की इच्छावाले श्री शीलांक आचार्य म. कहते हैं कि- "धर्मोपकरण परिग्रह नहि है..." यह यहां कहा गया मार्ग आर्य याने तीर्थंकरों ने कहा है... किंतु बोटिक (दिगंबर) मतवालों ने अपनी रुचि-इच्छा अनुसार बनाया हुआ मार्ग मोक्ष मार्ग नहि है... अथवा तो शौद्धोदनि = बुद्ध के द्वारा प्रकाशित कीया हुआ मार्ग भी मोक्षमार्ग नहि है... इस दृष्टिकोण से अन्य मतों का भी त्याग कीजियेगा...

कर्मभूमि को प्राप्त करके तथा मोक्ष वृक्ष के बीज स्वरूप बोधि (सम्यग्दर्शन) और सर्वविरति चारित्र को प्राप्त करके इस आर्यों के द्वारा कहे गये मोक्षमार्ग में कुशल साधु ऐसा धर्मानुष्ठान करें कि- जिस से आत्मा पाप-कर्मों से लिप्त न हो... यदि कहे गये विधि के अनुसार धर्मानुष्ठान न करें तो आत्मा कर्मों से लिप्त होता है... और सज्जनों का यह मार्ग है कि- स्वयं ने ली हुई प्रतिज्ञा का पालन अंतिम श्वासोच्छ्वास पर्यंत करें... कहा भी है कि- अत्यंत शुद्ध हृदयवाली आर्य मां की तरह गुणों के समुदाय को जन्म देनेवाली लज्जा को अर्थात् संयम को अनुसरनेवाले तेजस्वी साधुजन अपने प्राणों को सुख-सहजता से छोड़ देते हैं किंतु परीषहोपसर्गादि संकट आने पर भी व्रत प्रतिज्ञा का त्याग नहि करते...

यहां इति शब्द अधिकार की समाप्ति सूचक है, ब्रवीमि याने वह मैं सुधर्मस्वामी हे जबू ! तुम्हें कहता हूं कि- मैंने भगवान् महावीर प्रभु की सेवा करते हुए प्रभुजी के मुखारविंद से जो कुछ सुना है वह यह है...

इस सूत्र में कहा कि- परिग्रह से आत्मा को दूर रखें, किंतु ऐसा तो नियामों के उच्छेद के सिवा हो हि नहि शकता... और नियामा (निदान) तो शब्दादि पांच विषयगुणों की कामना स्वरूप है... और इन शब्दादि पांच विषयगुणों की कामना का छेद करना सुगम नहि है... अतः इस परिस्थिति में विषयगुणों की भयानकता का स्वरूप सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह का स्पष्ट अर्थ व्यक्त किया गया है। यह बताया गया है कि- केवल वस्त्र-पात्र आदि पदार्थ परिग्रह नहीं हैं। किंतु उनमें आसक्ति रखना परिग्रह है। अतः कुशल साधक को परिग्रह का त्याग करके अपनी आत्मा को पाप कर्मों से सर्वथा लिप्त नहीं होने देना चाहिए।

‘अन्नहा पासए परिहरिज्जा’ का अर्थ है कि- सर्व प्रकार से साधु परिग्रह का त्याग करे। इसका स्पष्ट अर्थ है कि- गृहस्थ वस्त्र, पात्र, मकान, शय्या आदि साधनों को सुख रूप समझकर उनमें आसक्त रहते हैं और रात-दिन उनका संग्रह करने में संलग्न रहते हैं। परन्तु मुनि की दृष्टि इससे भिन्न होती है। वह साधनों को, उपकरणों को गृहस्थ की तरह सुखमय समझकर नहीं ग्रहण करता, किंतु संयम साधना को गतिशील बनाने के लिए उन्हें सहायक के रूप में स्वीकार करता है। इसलिए साधु उनमें आसक्त नहीं होता। वर्तमान समय पर जैसे भी उपयुक्त वस्त्र-पात्र आदि प्राप्त हो, उसी में संतोष मानता हुआ साधु समभाव से संयमाराधना में संलग्न रहता है। इससे स्पष्ट होता है कि- वस्त्र-पात्र आदि उपकरण परिग्रह नहीं हैं। दशवैकालिक सूत्र में भी कहा है- कि वस्त्र आदि उपकरण परिग्रह नहीं है, किंतु उन पर मूर्छा

रखना परिग्रह है; आचार्य उमास्वाति ने भी मूर्छा-ममत्व भावना को हि परिग्रह कहा है।

स्थविरकल्पवाले साधु संयम-साधना काल में उपकरणों का सर्वथा त्याग नहीं करते, क्यों कि- संयम में प्रवृत्त होने के लिए वस्त्र, पात्र, तृण-घास, फलक, मकान आदि की आवश्यकता होती है। इन सब साधनों का सर्वथा त्याग तो १४वें गुणस्थान में ही संभव हो सकता है, जहां पहुंचकर साधक समस्त कर्मों एवं कर्म जन्य, मन, वचन एवं शरीर का भी त्याग कर देता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि- जब तक शरीर का अस्तित्व है, तब तक साधक को वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपकरणों का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिए सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया है कि- वस्त्र-पात्र आदि रखना परिग्रह नहीं है; किंतु-उसमें राग-द्वेष एवं ममत्व भाव रखना परिग्रह है। अतः भगवान की यह आज्ञा है कि- साधक उपकरणों में आसक्ति न रखे। इस बात को सूत्रकार ने 'एस मग्गे आथरिएहिं पवेइए' इस वाक्य के द्वारा व्यक्त किया है कि- उपरोक्त मोक्ष-मार्ग आर्यपुरुषों द्वारा प्ररूपित है। तीर्थकर-गणधर आदि आप्तपुरुष हि आर्य है...

अतः विचारशील व्यक्ति को आर्य द्वारा प्ररूपित मार्ग पर निर्द्वंद्व भाव से गतिशील होना चाहिए। और अपने आपको समस्त पाप कर्मों से सदा अलिप्त रखना चाहिए। यहां उद्देशक के मध्य में 'त्तिबेमि' का प्रयोग प्रस्तुत प्रभेद-अधिकार की समाप्ति के लिए हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह के त्याग की बात कही गई है। परिग्रह का त्याग तभी संभव है, जबकि- लालसा-वासना एवं आकांक्षा का त्याग किया जाएगा। अतः सूत्रकार महर्षि आगामी सूत्र में काम-वासना के स्वरूप को कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ १४ ॥ १-२-५-७

कामा दुरतिक्रमा, जीवितं दुष्प्रतिबृंहणीयम्, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ, जूरइ, तिप्पइ, परितप्पइ ॥ १४ ॥

II संस्कृत-छाया :

कामाः दुरतिक्रमाः, जीवितं दुष्प्रतिबृंहणीयम्, कामकामी खलु अयं पुरुषः, स शोचते (शोचति) खिद्यते, तेपते, परितप्यते ॥ १४ ॥

III सूत्रार्थ :

कामभोग दुरतिक्रम हैं, और जीवित उपबृंहणीय नहि है, निश्चित हि कामभोग का कामी यह पुरुष अज्ञ है, अतः वह अज्ञानी पुरुष शोक करता है, खेद पाता है, क्षीण होता है, और परिताप को पाता है ॥ १४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

काम के दो प्रकार है- १. इच्छाकाम और २. मदनकाम... उनमें इच्छाकाम की उत्पत्ति मोहनीयकर्म के भेद स्वरूप हास्य और रतिमोहनीय से होती है, तथा मदनकाम की उत्पत्ति मोहनीय कर्म के भेद स्वरूप स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद से होती है... अतः मोहनीयकर्म के सद्भाव में काम का विच्छेद होना असंभव है, इसलिये कहते हैं कि- काम दुरतिक्रम हैं, अतिक्रम याने विनाश... अर्थात् काम का विनाश होना दुष्कर है... इसीलिये उपदेश देते हैं कि- मोहनीयकर्म के विच्छेद के लिये संयमानुष्ठान में अप्रमत्त रहें... और भी विशेष उपदेश देते हुए कहते हैं कि- जीवित याने आयुष्य क्षीण होने पर जीवित रहना मुश्किल है... अथवा कामभोग में आसक्त लोगों को संयम-जीवित निर्दोष रूप से पालन करना दुष्कर है...

कहा भी है कि- आकाश में गंगा के प्रवाह की तरह... नदी पूर में प्रतिश्रोत याने प्रवाह के सामने की और तैरने की तरह... गंभीर महासमुद्र को भुजा से तैरने की तरह... मोक्षमार्ग रूप यह संयम जीवित दुष्कर हि है...

तथा- रेत के कवल की तरह निराशंस भाव से संयम-पालन दुष्कर है, तथा लोहे के बने हुए जव (चणे) को चबाने की तरह संयमजीवन अतिशय दुष्कर हि है...

तथा जिस अभिप्राय से कामभोग का त्याग दुष्कर है ऐसा हमने पहले कहा है, उस अभिप्राय को पुनः कहते हुए कहते हैं कि- कामकामी याने काम = भोगोपभोगों की अभिलाषा करनेवाले प्राणी = जंतु... कामकामी है... ऐसा अविरतचित्तवाला जंतु विविध प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक दुःखों का अनुभव करता है... वह इस प्रकार- इच्छित अर्थ-वस्तु की अप्राप्ति में तथा पुण्योदय से प्राप्त इच्छित वस्तु के वियोग में उनका स्मरण करता हुआ वह मनुष्य शोक का अनुभव करता है... और काम स्वरूप महाज्वर से पीडित वह प्राणी विविध प्रकार का प्रलाप करता है...

कहा भी है कि- १. प्रेम का संबंध टुटने से, २. प्रेम-बहुमान क्षीण होने से, ३. सद्भाववाले प्रियजन का वियोग-मरण होने से, उस प्राणी को ऐसा आभास होता है कि- देखो ! वह हमारा प्रियजन जा रहा है... इस प्रकार उत्प्रेक्षा-कल्पना करता हुआ वह सोचता है कि- हे प्रियजन ! वे दिन तो चले गये... अब तुम कहां जा रहे हो ! और तुम्हारे वियोग में ऐसा कौन कारण है कि- इस मेरे हृदय का चूरचूर = सैंकड़ो टुकड़े नहीं होते ? इत्यादि प्रकार से प्राणी शोक करता है...

तथा हृदय से खेद पाता है... वह इस प्रकार- हे हतहृदय ! हे निराश ! पहले से हि तुझे यह सोचना = विचार करना था कि- बहोत लोगों को प्रिय ऐसे इस स्वजन से प्रेम

करके अब संताप क्यों करता है ? तुं यह नहि जानता कि- जल में कभी जल से सेतुबंध होता है क्या ? अर्थात् नहि होता है... इत्यादि...

तथा तेपते याने संचलित होता है, अर्थात् संयम की मर्यादा से भ्रष्ट होता है, मर्यादा-हीन होता है... तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से पीडित होता है... तथा परि याने चारों ओर से बाहर और अंदर संतप्त होता है, अथवा पश्चाताप करता है... जैसे कि- इष्ट पुत्र एवं स्त्री आदि कोप से कहीं चले जाने पर वह चिंता करता है कि- “मैं इनको अनुकूल न रहा” ऐसा सोचकर परिताप करता है... इस प्रकार विषय रूप विष से पीडित अंतःकरणवालों की यह सभी चिंताएं दुःखावस्था के सूचक हैं...

अथवा यौवन धन मद और मोह से अभिभूत = तिरस्कृत मनवाला व्यक्ति उचित आचरण से विपरीत आचरण का सेवन करके बाद में वृद्धावस्था में अथवा मरण समय समीप में आने पर अथवा तो मोह दूर होने पर सोचता है कि- मंदभाग्यवाला मैंने यौवन अवस्था में सभी शिष्ट पुरुषों से आचरित, सद्गति में जाने के कारण एवं दुर्गति के द्वार में परिघ (भुंगल) के समान जिन धर्म का आदर न किया... इत्यादि... इस प्रकार चिंता-शोक करता है...

कहा भी है कि- देह-शरीर के निश्चित हि होनेवाले विषम-विपरीत परिणाम को सोचे बिना मैंने यौवन के मद से पूर्वकाल में अनेक अशुभ = पापाचरण कीये हैं, अतः वे पापाचरण परलोक में जाने का समय समीप (नजदीक) में आने पर अथवा जरा = वृद्धावस्था से शरीर जीर्ण होने पर अब मुझे चिंता का विषय बनकर व्यथित करते हैं...

कहा भी है कि- गुणवाले अच्छे या दोषवाले बुरे कार्यों को करते समय बुद्धिशाली पुरुष सावधानी से उनके परिणाम का अवश्य विचार = चिंतन करें... क्योंकि- बिना शोचे - विचारे कीये हुए कर्मों का विपाक = फल, आपदा = संकट के समय हृदय को व्याकुल करनेवाले शल्य तुल्य होते हैं...

ऐसा उपरोक्त शोक एवं व्याकुलता किसको नहीं होता है ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

जीवन में अन्य विकारों की अपेक्षा से काम-वासना को सबसे बलवान् शत्रु माना है। उस पर विजय पाना बहुत ही कठिन है। इसी कारण सूत्रकार ने काम-वासना को 'दुरतिकम्मा' कहा है अर्थात् काम-वासना को परास्त करना दुष्कर है।

काम के दो भेद हैं-१. इच्छा रूप काम और २. मैथुन सेवन रूप काम। दोनों प्रकार

के काम का उद्भव मोहनीय कर्म के उदय से होता है। हास्य, रति आदि से इच्छा आकांक्षा एवं वासना उद्बुद्ध होती है और वेदोदय से मैथुन सेवन की प्रवृत्ति होती है। अतः काम-भोग मोहनीय कर्मजन्य हैं और जब तक मोह कर्म का सद्भाव रहता है, तब तक उनका सर्वथा उन्मूलन कर सकना कठिन है। इसलिए सूत्रकार ने मोह को दुर्जय कहा है। क्योंकि- मोहनीय कर्म सभी कर्मों का राजा माना गया है। इसलिए घाति कर्मों का क्षय करने वाले क्षपकश्रेणीस्थित साधुजन सब से पहले मोह कर्म का ही नाश करते हैं। क्योंकि- राजा को परास्त करने पर शेष शत्रु सैन्य तो स्वयं ही पराजित हो जाते हैं; फिर उनका नाश करने में देरी नहीं लगती। परन्तु राजा को जीतना आसान काम नहीं है। इसलिए साधु को इस मोहनीय कर्म पर विजय पाने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए। एवं अपने मन, वचन एवं शरीर को संयमानुष्ठान के प्रति सावधान करना चाहिए।

वासना एक ऐसी भूख है, जो कभी शांत नहीं होती। काम-भोग को आग कहा गया है और आग ईंधन डालने पर शांत नहीं, किंतु अधिक प्रज्वलित होती है। यही बात विषय-वासना की है, वह पदार्थों के भोगोपभोग से शांत नहीं होती है, किंतु अत्यधिक उग्र बनती जाती है। हम सदा देखते हैं कि- एक इच्छा पूरी भी नहीं हो पाती है उतने में दूसरी इच्छा जाग उठती है। उसके समाप्त होते, न होते तीसरी, चौथी आदि इच्छाएं जागती रहती हैं, अतः काम-वासना का कभी भी अन्त नहीं आता।

यदि कभी भाग्य से कतिपय इच्छाएं पूरी भी हो जाएं, तब भी मनुष्य स्वस्थता को नहीं पा सकता। क्योंकि- आखिर यह जीवन भी तो सीमित है। और वासना असीम है, अनन्त है, और उसकी अभिवृद्धि के साथ साथ जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता। इसलिए वासना, इच्छा एवं आकांक्षा मन में ही रह जाती है और मानव जन्मांतर की यात्रा के लिए चल पडता है। इससे स्पष्ट है कि- वासना की आग मनुष्य को सदा जलाती रहती है और उसमें प्रज्वलित मनुष्य विषय-वासना की पूर्ति न हो सकने के कारण सदा चिन्ता-शोक करता है, मन में खेद करता है और रोने लगता है। इस प्रकार वासना के ताप से मोहाधीन मनुष्य सदा सन्तप्त रहता है।

इसलिए साधक को प्रमाद का त्याग करके सदा विषय-भोगों से दूर रहना चाहिए। क्योंकि- जो व्यक्ति काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर विषय-भोगों में नहीं फंसता, वह सदा सुखी रहता है और पूर्ण सुख-शांति को प्राप्त करता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ८ ॥ १५ ॥ १-२-५-८

आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ, गह्णिए लोए अणुपरियट्टमाणे संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए,

जे बद्धे पडिमोयए, जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूड देहंतराणि पासइ, पुढो वि सवताइं पंडिए पडिलेहाए ॥ १५ ॥

II संस्कृत-छाया :

आयतचक्षुः लोकविदर्शी, लोकस्य अधो भागं जानाति, ऊर्ध्वं भागं जानाति, तिर्यक् भागं जानाति, गृद्धः लोकः अनुपरिवर्त्तमानः, सन्धिं विदित्वा इह मर्त्येषु, एषः वीरः प्रशंसितः, यः बद्धान्, प्रतिमोचयति, यथा अन्तः तथा बहिः, यथा बहिः तथा अन्तः, अन्तः अन्तः पूति देहान्तराणि पश्यति, पृथक् अपि स्रवन्ति पण्डितः प्रत्युपेक्षेत ॥ १५ ॥

III सूत्रार्थ :

आयतचक्षु और लोकविदर्शी साधु लोक के अधोभाग को जानते हैं, ऊर्ध्व भाग को जानते हैं, तिर्यक् भाग को जानते हैं इत्यादि, जैसे कि- गृद्ध = आसक्त लोक संसारचक्र में अनुपरिवर्त्तमान है... यहां मनुष्य जन्म में जो व्यक्ति ज्ञान-संधि को जानकर विषयों का त्याग करता है वह वीर है, प्रशंसनीय है, और वह हि बद्ध प्राणीओ को मुक्त करता है... जैसा अंदर वैसा बाहर, और जैसा बाहर वैसा अंदर... देह के अंदर अंदर पूति - दूर्गंध मांस-मेद को देखता है, देह में नव या बारह द्वार दुर्गंध को बहाते हैं, यह सब कुछ विद्वान् साधु शास्त्रदृष्टि से देखे... ॥ १५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

आयत याने दीर्घ काल संबंधित अर्थात् इस जन्म एवं जन्मांतर के अपार-संकट को देखने के लिये ज्ञान-चक्षु जिसके पास है, वह आयतचक्षु = साधु... एकान्त से अनेक अनर्थोवाले कामभोगों का त्याग करके शमसुख का अनुभव करता है, तथा लोक याने विषयभोगों की आसक्ति से प्राप्त अतिशय दुःखोवाले एवं कामभोग के त्याग से प्राप्त शमसुखवाले इत्यादि विविध प्रकार के लोगों को शास्त्रदृष्टि से देखनेवाले साधुजन होते हैं, अथवा लोक के ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यग् भाग की गति के कारणभूत आयुष्य और प्राप्तव्य साता एवं दुःखों के प्रकारों को देखता है... वह इस प्रकार- लोक याने धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त आकाश खंड (लोकाकाश) के अधोभाग को साधु शास्त्रदृष्टि से जानता है... सारांश यह है कि- जिस कर्मों के उदय से प्राणी वहां नरक में उत्पन्न होते हैं, और वहां जिस प्रकार के साता एवं दुःखों का विपाक हैं, उन्हें साधु अच्छी तरह से जानता है...

इसी प्रकार ऊर्ध्व एवं तिर्यग्भाग में भी समझीयेगा... अथवा तो लोकविदर्शी याने कामभोग के लिये धन उपार्जन करने में आसक्त और मूर्च्छावाले लोगों को देखते हैं, वह

बात अब कहते हैं- कामभोग में आसक्त यह प्राणी कामभोग में या कामभोग के उपायों में लीन होकर बार बार कामभोगों में प्रवृत्त होते हैं, और ऐसे कामभोग के सेवन से पुनः प्राप्त हुए कर्मों से इस संसारचक्र में बार बार परिभ्रमण करते हैं, किंतु कामभोग की अभिलाषा से निवृत्त नहि हो पाते हैं... ऐसे संसारी-प्राणिओं को आयतचक्षु वाले साधु शास्त्रदृष्टि से देखता है... अथवा तो हे शिष्य ! देखो ! कामभोग में आसक्त यह मनुष्य लोक-संसार में बार बार परिभ्रमण करते हैं...

इस विश्व में मनुष्यों में ज्ञानादि भावसंधि की संभावना है... क्योंकि- चारों गति में मात्र मनुष्य हि संपूर्ण ज्ञानादि प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये मनुष्य शब्द का यहां ग्रहण किया गया है... अतः इस भावसंधि (ज्ञानादि) को जानकर जो प्राणी विषय एवं कषायों का त्याग करता है वह हि वीर है... यह बात अब कहते हैं... यह अभी कहे गये आयतचक्षु, लोक के विभिन्न विभागों के यथावस्थित स्वभाव को देखनेवाले तथा भावसंधि को जाननेवाले मुमुक्षु-साधु हि विषयों की तरस का त्याग करके कर्मों का विनाश करने के कारण से वीर कहे गये हैं... और तत्त्वज्ञ पुरुषों ने ऐसे वीरों की हि प्रशंसा की है...

ऐसे वीर पुरुष और क्या क्या करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- संसार में द्रव्य एवं भाव बंधनों से जो जो प्राणी बंधे हुए हैं उन्हें मुक्त करते हैं... क्योंकि- जो स्वयं मुक्त है वे हि अन्य को मुक्त कर सकते हैं...

अब द्रव्य भाव बंधन एवं मोक्ष का स्वरूप वचन की युक्ति से कहते हैं... जैसे कि- जिस प्रकार साधु आंतरिक भावबंधन स्वरूप आठ प्रकार के कर्मों की बेडी (केद) से मनुष्यों को मुक्त करते हैं उसी ही प्रकार पुत्र, पत्नी आदि स्वरूप बाह्य बंधन से भी उन्हें साधु मुक्त करते हैं... अथवा तो जैसे बाह्य बंधु-स्वजनों के बंधन से मुक्त करते हैं वैसे हि मोक्षगमन में बाधक अंतरंग कर्मों के बंधनों से भी मनुष्य को मुक्त करते हैं...

अथवा तो ऐसे वीर पुरुष तत्त्व को प्रगट करके प्राणीओं को मोह से मुक्त करते हैं... वह इस प्रकार- जैसे कि- अपना शरीर अंदर से अमेध्य याने विष्टा-मलमूत्र तथा मांस, लोही = खून, इत्यादि की दूर्गंध से पूर्ण है, अतः असार है... इसी प्रकार बाह्य सभी पुद्गल पदार्थ भी विनश्वर है अतः वे भी असार हैं... यह शरीर मल-मूत्र एवं अशूचि से भरे हुए घट के समान हि है... यह बात अन्य विद्वानों ने भी कही है जैसे कि- इस शरीर के अंदर के पदार्थ यदि बाहर रहे तब यह मनुष्य इस शरीर के रक्षण के लिये दंड (लकड़ी) लेकर कते एवं कौवाँ आदि को दूर करने में लगे रहें... इत्यादि...

अथवा यह शरीर जैसा बाहर असार है, वैसा हि अंदर भी असार है... और देह के अंदर अंदर रहे हुए मांस, लोही (खून), मेद, मज्जा इत्यादि दूर्गंधवाले देह के अवयवों

को साधु शास्त्रदृष्टि से देखते हैं... अथवा तो देहान्तराणि याने कोठ आदि की अवस्था में चारों ओर से एक साथ शरीर में से अशुचि निकलती है... तथा देह के नव या बारह द्वार अशुचि को बहाते हैं... नव द्वार इस प्रकार- दो आंखें, दो कान, दो नासिका, मुख, तथा मल और मूत्र के द्वार... यह नव द्वार पुरुषों के शरीर में होते हैं... जब की स्त्रीओं के देह में इन नव से अतिरिक्त दो स्तन एवं योनिमार्ग... अतः इन नव या बारह द्वारों से कर्णमल, चक्षुमल, श्लेष्म, लार, मूत्र एवं मल-विष्टा आदि... तथा अन्य भी विविध प्रकार के रोगों से होनेवाले व्रण (घाव) में से अपवित्र लोही एवं रसी आदि निकलते रहते हैं...

यदि इस शरीर में ऐसा हि दुर्गन्धमय सब कुछ रहा हुआ है तब तत्त्व को जाननेवाले विद्वान् साधु जन इस शरीर का स्वरूप जैसा है, वैसे स्वरूप को शास्त्रदृष्टि से अच्छी तरह से जाने, समझे और विवेक करें... अन्यत्र भी कहा है कि- मांस, हड्डी, लोही, स्नायु, मेद, मज्जा, और मल, मूत्र से पूर्ण, दुर्गन्धि एवं अशुचि से बिभत्स, चमडे का थैला, तथा निरंतर गलते हुए मल-मूत्र आदि मलिनता से पूर्ण एवं अशुचि के कारण ऐसे इस शरीर-देह में राग होने का कारण क्या है ? अर्थात् देह-शरीर पर राग नहि होना चाहिये...

इस प्रकार दुर्गन्धिवाले देह के अंदर के भागों को शास्त्रदृष्टि से देखनेवाले तथा नव द्वारों से अशुचि को बाहर बहानेवाले इस शरीर को देखकर साधुजन क्या करें ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- भोगों से वही व्यक्ति विरक्त हो सकता है, जो दीर्घदर्शी है। अर्थात् जो केवल वर्तमान के भोगोपभोगों को ही नहीं देखता किंतु ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् क्षेत्र में भोगोपभोगों से प्राप्त होने वाली विषम स्थिति को भी शास्त्रदृष्टि से देखता है। इसलिए उसे आयतचक्षु-दीर्घदर्शी के साथ लोकदर्शी भी कहा है। इसका अभिप्राय यह है, कि- वह साधु सम्यग् ज्ञान के द्वारा लोक के स्वरूप को जान लेता है। उसे यह स्पष्ट हो जाता है, कि- लोक याने चारगति का आधार विषय-वासना ही है। यह हम पहिले भी देख चुके हैं, कि- विषय-वासना मोहनीय कर्म जन्य है और मोह कर्म ही लोक में परिभ्रमण कराने वाला है। इस मोहकर्म के वशीभूत जीव विभिन्न गतियों में शुभाशुभ अनेक वेदनाओं का संवेदन करता है। इस प्रकार जो प्रबुद्ध साधु मोहकर्म के विपाक को जानकर काम-वासना का परित्याग करता है, वह साधु हि भोगोपभोगों से सदा दूर रहता है। और विषय-वासना से निवृत्त होकर अपने कर्म के बन्धन को तोड़ता है एवं दूसरों के कर्म बन्धन काटने में भी सहायक बनता है।

यह सत्य है, कि- आत्मा स्वयं ही अपने बन्धनों को तोड़ती है। फिर भी, यहां जो

बन्धन तोड़ने में सहायक शब्द का प्रयोग किया है, उसका तात्पर्य इतना ही है, कि- विषय-वासना से मुक्त बना हुआ जीव हि अन्य किसी भी बद्ध जीव के बन्धन तोड़ने का मार्ग दिखा देता है, उपाय बता देता है, इसी कारण उसे निमित्त रूप से सहायक माना है। बन्धन तोड़ने का प्रयत्न तो आत्मा को हि करना होगा। अन्य जीव तो केवल पथप्रदर्शक बन सकता है।

साधु ने शास्त्रदृष्टि से शरीर के वास्तविक स्वरूप को जान लिया है कि- यह शरीर मल-मूत्र से भरा हुआ है। जैसे शरीर के अन्दर मल-मूत्र है, उसी प्रकार बाहिर भी मल लगा हुआ है और जैसे बाहिर से मल-युक्त है उसी प्रकार भीतर से भी मलीन है। शरीर के नव या बारह द्वारों से सदा मल का प्रस्रव होता रहता है। इस प्रकार शरीर में अपवित्रता के भंडार को देखकर वह अशुचि भावना का चिंतन करता है और दूसरों को भी इस भावना को भाने के लिए प्रेरित करता है, अतः वे लोग भी इस अशुचि के भंडार से निवृत्त होने की ओर लगाता है।

प्रस्तुत सूत्र में अशुचि भावना का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया गया है। साधु अपने शरीर के अन्दर एवं बाहिर रही हुई अपवित्रता को तथा समय-समय पर होने वाले कुष्ठ आदि रोगों से होने वाली शारीरिक विकृति एवं घाव आदि से झरने वाले रक्त, पीप आदि को देखकर वह सोचता है, कि- यह शरीर कितना विकृत है। इसके स्पर्श जन्य भोग भी मात्र कर्मबंध को बढ़ाने वाला है। कामभोगों से मात्र मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक अशुद्धि की ही अभिवृद्धि होती है। अतः प्रबुद्ध साधु इस अशुचि-भावना के द्वारा भोगोपभोग की निस्सारता को जानकर शरीर-स्पर्श जन्य कामभोगों से निवृत्त हो जाता है।

संत महापुरुष तीनों लोक के स्वरूप को शास्त्रदृष्टि से भली-भांति जानता है और सांसारिक विषय-भोगों से सर्वथा निवृत्त होकर आत्मिक अनन्त सुख पा लेता है, वही दीर्घदर्शी है और ऐसा महापुरुष ही संसार में फंसे हुए अन्य व्यक्तियों को मुक्त बनने की राह बता सकता है। तीन लोक के स्वरूप को स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जानने वाला सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होता है। जब कि- शास्त्रदृष्टिवाले साधु-संत शास्त्र के माध्यम से संपूर्ण लोक का ज्ञाता होते हैं...

निष्कर्ष यह निकला कि- जो अपने ज्ञान से या सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित श्रुत-ज्ञान से तीन लोक के स्वरूप एवं कर्मों के फल तथा काम-भोग के दुष्परिणाम को जानकर भोगों का सर्वथा परित्याग कर देता है। वास्तव में वह वीर है, प्रशंसा के योग्य है और वह सर्व कर्म बन्धन से मुक्त बनता है और दूसरों को भी मुक्ति का पथ बताता है।

इस प्रकार अशुचि भावना के द्वारा साधक भोगों से निवृत्त होता है। उसके बाद साधक को क्या करना चाहिए ? अपनी संयम साधना को किस प्रकार गति-प्रगति देनी चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १६ ॥ १-२-५-१

से मइमं परिणाय, मा य हु लालं पच्चासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए कासंकासे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वहेइ अप्पणो, जमिणं परिकहिज्जइ इमस्स चेव पडिवूहणयाए अमराय महासद्धी अट्टमेयं तु पेहाए अपरिणयाए कंदइ ॥ १६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः मतिमान् परिज्ञाय मा च खलु लालां प्रत्याशी, मा तेषु तिरश्चीन मात्मानमापादयेः, कासंकषः (अकार्ष, करिष्ये) खलु अयं पुरुषः बहुमायी कृतेन मूढः पुनः तत् करोति, लोभं वेरं (च) वर्द्धते आत्मनः, यद् इदं परिकथ्यते, अस्य एव परिवृंहणार्थं, अमराय महाश्रद्धी, आर्त्त एतं प्रेक्ष्य अपरिज्ञाय क्रन्दते ॥ १६ ॥

III सूत्रार्थ :

वह मतिमान् साधु परिज्ञा करके बांत-त्यक्त को खाने की इच्छा न करें, किंतु उनसे अपने आत्मा को पराङ्मुख करें, यह संसारी पुरुष निश्चित हि कासंकष है, बहुमायावाला अपने कीये हुए कर्मों से मूढ है, फिर से उस लोभ को करता है, और अपने आत्मा का वैर बढ़ाता है, इसलिये यह कहते हैं कि- संसारी-प्राणी इस शरीर के हि पोषण के लिये तथा मरण न हो इसके लिये भोगों में श्रद्धावाला होता है... अतः प्राणीओं को आर्त्त याने पीडित देखकर साधु भोग की इच्छा न करें... पुनः यह संसारी प्राणी परिज्ञा के अभाव में क्रंदन करता है ॥ १६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह पूर्व कहे गये श्रुतज्ञान से संस्कारित बुद्धिवाला मतिमान् साधु दो प्रकार की परिज्ञा से जैसा है वैसा हि देह का स्वरूप और कामभोगों का स्वरूप देखकर त्याग करता है... उसके बाद उन वमन कीये हुए कामभोग की इच्छा न करें... जैसे कि- छोटे बच्चे अच्छे-बुरे के विवेक के अभाव से मुंह और नाक में से निकलते हुए लार एवं श्लेष्म को पुनः खाते हैं, वैसा साधु न करें... तथा अज्ञान अविरति और मिथ्यादर्शन आदि स्वरूप संसार के प्रवाह से प्रतिकूल हि रहें और मोक्ष के कारण ज्ञानादि में अनुकूल रहें... अर्थात् मोक्षमार्ग में आत्मा को अप्रमत्त रखें... क्योंकि- प्रमादी साधु को कहिं भी शांति प्राप्त नहि होती है... तथा कासंकष याने ज्ञान आदि के कार्यों में प्रतिकूल बननेवाला मनुष्य भोगोपभोग की अभिलाषावाला होकर हमेशां कर्तव्यमूढ होता है, और "यह मैंने कीया, यह मैं करुंगा" इत्यादि भोगोपभोग की अभिलाषा में लगे हुए अंतःकरण = मनवाला मनुष्य स्वस्थता का अनुभव भी नहिं कर

शकता... वर्तमानकाल समय मात्र का होने से अति सूक्ष्म है, अतः वर्तमानकाल का व्यवहार न करते हुए यह मनुष्य भूतकाल और भविष्यकाल की चिंता से पीडित होता हुआ कहीं भी स्वस्थता को नहि पा शकता... कहा भी है कि- आज मैंने यह कार्य किया... और कल मैं यह अन्य कार्य करूंगा... इत्यादि कार्यों की चिंता करनेवाला मनुष्य जन्मांतर को जान नहि शकता... अर्थात् “जन्मांतर के लिये कुछ न कुछ पुण्योपार्जन करूँ” ऐसा समझता नहीं है...

यहां दधिघटिकाद्रमकदृष्टांत = दहि के घड़ेवाले द्रमक का दृष्टांत इस प्रकार हैं... कोइ एक द्रमक (दरिद्र भिक्षुक) कहीं महिषी याने भैंसो के रक्षण का कार्य करने से दुध प्राप्त होने पर, उस दुध का दहि बनाकर मस्तक पर रखकर खडा-खडा सोचता है कि- मुझे इस दहि से घी की प्राप्ति होगी और क्रमशः पत्नी और पुत्र आदि की प्राप्ति होगी... और जब पत्नी से झगडा होगा तब इस प्रकार लात (पाद प्रहार) मारूंगा... ऐसा सोचते हुए उस द्रमकने पाद प्रहार किया तब वह दहि का घडा तुट गया... दहि सब बिखर गया... इस प्रकार के चिंता-मनोरथ से व्याकुल मनवाला वह द्रमक उस दहि को लेने के लिये शिरोबंधन के वस्त्र को लेने की चेष्टा करता हुआ मस्तक को नमाया तब दहि का मटका = घडा गिरकर तुट गया... इस प्रकार- न तो उस द्रमक ने दहि खाया और न तो पुन्य के लिये किसी को दानमें दिया... इस प्रकार... यह संसारी प्राणी भी कर्तव्यमूढ होकर निष्फल कार्यों को करता रहता है...

अथवा जहां प्राणी कसा जाता है, वह कास याने संसार... उस संसार में जो घुमता है वह कासंकष याने संसारी विषयभोगाभिलाषी प्राणी... अथवा ज्ञानादि में प्रमादवाला वह मनुष्य अतिशय मायावाला होता है... कषायों से हि प्राणी का संकष होता है... अतः यह मनुष्य क्रोधी, मानी, मायी और लोभी होता है... तथा कीये हुए पापकर्मों से मूढ यह मनुष्य कर्तव्यमूढ होकर, चाहता है सुख, किंतु दुःखों को हि प्राप्त करता है... कहा भी है कि- कृपण - रांक-मनुष्य मम्मण श्रेष्ठी की तरह शयन के समय सो नहि शकता, स्नान करने के समय स्नान नहीं कर पाता और भोजन के समय स्वस्थता से भोजन भी नहीं कर शकता है... यहां मम्मण शेट का दृष्टांत जीनीयेगा...

इस प्रकार कासंकष, बहुमायी और कृतमूढ यह प्राणी ऐसे कार्य करता है कि- जिससे वह अपने हि आत्मा के वेर-भाव को बढ़ाता है... कहते हैं कि- अन्य को ठगने की बुद्धि से मायावी मनुष्य बार बार ऐसा आचरण करता है कि- जिससे वह अपने आत्मा को हि ठगता है... अथवा वह लोभ करता है अर्थात् लोभ-कषाय के कर्मों का बंध करता है, जिस से सैंकड़ों जन्मों में वैर की परंपरा बढ़ती रहती है... कहा भी है कि- दुःखों से पीडित प्राणी कामभोग का सेवन करता है, किंतु सेवन कीये हुए वे कामभोग हि उस को दुःख देनेवाले होते हैं... अतः हे मानव ! यदि तुझे दुःख प्रिय नहि है, तो उन कामभोगों के रस (इच्छा)

का त्याग कर...

अब यहां प्रश्न यह होता है कि- ऐसा वह कौन मनुष्य है ? कि- जो अपनी हि आत्मा के वैर को बढ़ाता है ? उत्तर- विनाशी (विनाशर) इस शरीर की वृद्धि = पोषण के लिये जो मनुष्य प्राणघात (जीववध) आदि पापचरण करता है... अतः वध कीये गये वे प्राणी, जन्मांतर में सैंकड़ो बार उस हिंसक मनुष्य का वध करते हैं... इसीलिये मैं यह कहता हूं कि- कासंकष बहुमायी और कृतमूढ यह मनुष्य बार बार ऐसे कार्यों को करता है कि- जिस से वह अपने आत्मा के वैर भाव को बढ़ाता है... अथवा तो हे जंबू ! मैं जो यह उपदेश-वचन आपको बार बार कहता हूं, वह संयम की पुष्टि के लिये हि है...

तथा जो अमर न होते हुए भी धन, यौवन, प्रभुत्व (हकुमत) और रूप में आसक्त यह मनुष्य अपने आप को अमर समझता है... किंतु ऐसा मनुष्य वह होता है कि- जिसको कामभोग और उनके उपाय में बहोत श्रद्धा हो... जैसे कि- अमर...

संक्षेप में कथा इस प्रकार है- राजगृह नगर में मगधसेना नाम की गणिका (वेश्या-वारांगना) है... उस नगर में कोइ एक दिन धन नाम का सार्थवाह बहोत सारे धन-समृद्धि के साथ पहुंचा... उस धन श्रेष्ठी के रूप, यौवन, उदारतादि गुणगण और धन-समृद्धि से आक्षिप्त (आकर्षित) हुई मगधसेना गणिका उस धन श्रेष्ठी के पास गई; किंतु लाभ और खर्च की चिंता में डूबे हुए मनवाले धन श्रेष्ठी ने गणिका को देखा भी नहीं... तब मगधसेना गणिका को अपने रूप, यौवन और सौभाग्य के गर्व का खंडन होने से बहोत दुःखी हुई... जब म्लानमुखवाली उस मगधसेना को धन-श्रेष्ठी ने देखा तब मगधसेना को धनश्रेष्ठी ने कहा कि- तुम्हारे दुःख का कारण क्या है ? अथवा तो तुम किस के साथ रहती हो ? तब वह मगधसेना बोली कि- अमर के साथ... उसने पुछा कि- वह अमर कौन ? तब मगधसेना ने जैसा था वैसा सब कुछ वृत्तांत कहा... और बताया कि- आज पर्यंत वह वैसा हि है, और उसी प्रकार से रहता है इत्यादि... इसलिये हे जंबू ! मैं तुम्हें कहता हूं कि- भोगसुखों की कामनावाले मनुष्य धन-समृद्धि में आसक्त होकर अजरामर की तरह पापाचरण में प्रवृत्त होते हैं...

अब जो प्राणी अमर की तरह आचरण करता है, और कामभोगों का अभिलाषी है, वह शारीरिक एवं मानसिक पीडाओं से पीडित होते हैं... ऐसे उन्हे देखकर, तथा शास्त्रदृष्टि से विचार (चिंतन) करके साधु अर्थ (धन) और काम भोगोपभोग में मन न करें...

अब और भी अमरायमाण एवं भोगश्रद्धावालों का स्वरूप कहते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि- कामभोग के स्वरूप अथवा उनके विपाक (फल) को नहि जानने के कारण से उन कामभोग में मन लगानेवाला मनुष्य अप्राप्त कामभोग की झंखना (कामना) करता है और प्राप्त भोग-सामग्री का विनाश होने पर शोक करता है... कहा भी है कि- प्रियजन

के चले जाने-से चिंता होती है, और यदि पास में हो तब विक्षोभ होता है, यदि उनका त्याग कर देते हैं, तब अधिक संताप होता है और कामक्रीडा करने पर अतृप्ति होती है, यदि अन्य के पास हो तब द्वेष होता है, और स्वाधीन न होने पर शोक से संतप्त होना पडता है, अतः इस संसार में कहा भी सुख की प्राप्ति कहीं भी होना असंभव है...

अनेक प्रकार से कामभोगों के विपाक (फल) कह कर अब प्रस्तुत उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

पूर्व के सूत्र में अशुचि भावना के द्वारा त्याग पथ पर गति करने का आदेश दिया गया है और प्रस्तुत सूत्र में उस पथ पर दृढता के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है, कि- साधु को त्यागे हुए भोगों को फिर से प्राप्त करने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। इस विषय में बालचेष्टा का बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। जैसे अबोध बालक अपनी गिरती हुई लार को फिर से मुंह में लेकर चूसने लगता है। अतः प्रबुद्ध साधु त्यागे हुए भोगों को फिर से आस्वादन करने की कामना न करे। किंतु ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के पथ पर आत्मा को सदा गतिशील रखे... अर्थात् अपने आप को विषय-वासना एवं अविरति आदि की ओर न दौड़ने दे।

क्योंकि- इच्छित भोग कभी भी परिपूर्ण प्राप्त नहीं होते और जो प्राप्त हुए हैं उनका भी वियोग होता रहता है, इस प्रकार आशा की अपूर्ति एवं प्राप्त के वियोग से कामी व्यक्ति का मन सदा शोक एवं चिन्ता से सन्तप्त रहता है। और विषयों की तृष्णा एवं आसक्ति से इस जीवन में विभिन्न दुःख आते हैं तथा परलोक में आत्मा दुःख के महागर्त में गिरती है, अतः साधु भोगोपभोग की कामना से सदा दूर रहे... भोगों में आसक्त होने वाले प्राणियों की विषम स्थिति को देखकर साधु भोगोपभोग से सदा दूर रहे...

प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है-कि विचारशील पुरुष अविरति, मिथ्यात्व आदि दोषों से अपनी आत्मा को बचाकर उसे ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की ओर मोडे तथा निरन्तर संयम साधना में संलग्न रहे जिससे शीघ्र ही कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को पा सके।

जो व्यक्ति अपने धन, यौवन, अधिकार और रूप के गर्व में देव न होते हुए भी अपने आपको देव तुल्य मान कर भोगों में आसक्त रहता है, वह अंततः विभिन्न वेदनाओं एवं चिन्ताओं का संवेदन करता है। इस बात को 'अदृग्भेयं तु पेहाए' पद से व्यक्त किया गया है। अतः उनकी शारीरिक एवं मानसिक पीडाओं को देखकर मुमुक्षु पुरुष को भोगों में अपने आप को नहीं लगाना चाहिए।

अब सूत्रकार महर्षि प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ १७ ॥ १-२-५-१०

से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुंपइत्ता, विलुंपइत्ता उद्वइत्ता, अकडं करिस्सामि ति मण्णमाणे, जस्स वि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अणगारस्स जायइ ति बेमि ॥ १७ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्मात् तत् जानीत, यद् अहं ब्रवीमि, चिकित्सां पण्डितः प्रवदन् सः हन्ता, छेत्ता, भेत्ता लुम्पयिता विलुम्पयिता अपद्रावयिता, अकृतं करिष्यामि इति मन्यमानः यस्य अपि च करोति, अलं बालस्य सङ्गेन, ये वा तस्य कारयन्ति बालाः, न एवं अनगारस्य जायते इति ब्रवीमि ॥ १७ ॥

III सूत्रार्थ :

इसीलिये हे जंबू ! तुम उस बात को जानो कि- जो मैं कहता हूँ... चिकित्सा को करता हुआ वह पंडित (साधु) पृथ्वीकाय आदि जीवों का वध करता है, छेदन करता है, भेदन करता है, लुंटा है, विशेष लुंटा चलाता है, और प्राणांत कष्ट देता है... तथा "अन्य ने नहीं की हुई उस चिकित्सा को मैं करूंगा" ऐसा मानता हुआ वह, हिंसात्मक चिकित्सा करता है... अतः अज्ञानीओं के संग से क्या ? जो ऐसा करते हैं वे बाल हैं, अणगार ऐसा नहीं होता इत्यादि...

IV टीका-अनुवाद :

कामभोग निश्चित हि दुःखों के कारण है, अतः हे जंबू ! कामभोग के त्याग का मैं जो उपदेश देता हूँ उसे सुनो, हृदय में रखो !

जो साधु काम की चिकित्सा को अन्य रोगों की चिकित्सा की तरह कहता हुआ जीवों के वध में प्रवृत्त होता है... वह इस प्रकार... वह साधु न होते हुए भी साधु का दिखावा करनेवाला वह मनुष्य तत्त्व को जानता नहीं है, अतः काम की चिकित्सा का उपदेश देता हुआ साधु जीवों का वध करता है, कान आदि का छेदन करता है, शूल आदि के द्वारा भेदन करता है, ग्रंथिछेद याने जेब कतरु की तरह लुंटा है, और धाड पाडना, डाका डालना इत्यादि प्रकार से विशेष लुंटा है, तथा प्राण विनाश स्वरूप अपद्रावण = वध करता है... क्योंकि-परमार्थ दृष्टि के अभाव में काम चिकित्सा और रोग चिकित्सा पृथ्वीकायादि-के वध के बिना संभव ही नहीं है... तथा वह शोचता है कि- जो काम चिकित्सा या व्याधि चिकित्सा का

कार्य अन्यने नहीं किया वह, मैं करूंगा, ऐसा मानता हुआ वह साधु प्राणीओं के वध आदि में प्रवृत्त होता है, अतः ऐसे कार्यों से साधु को कर्मबंध होता है...

अतः जो साधु इस प्रकार कामचिकित्सा का उपदेश देता है, तथा जिसको उपदेश दिया जाता है, उन दोनों को यह अपथ्य है अतः अकार्य है... यह बात अब कहते हैं... वह साधु जिस किसी को ऐसी कामचिकित्सा जब करता है, तब उन दोनों को, कर्ता एवं करानेवाले को दोनों को हिंसा आदि प्राणीवध का पाप होता है, इसीलिये कहते हैं कि- बाल याने अज्ञानी के संग से कोई आत्मिक लाभ नहीं है, मात्र कर्मबंध ही होता है... अतः जो ऐसी चिकित्सा करवाता है ऐसे उस बाल = अज्ञ से भी दूर रहें...

जो साधु तत्त्व को जानते हैं वे ऐसी कामचिकित्सा का उपदेश नहीं करते, और रोग की चिकित्सा भी नहीं करते... क्यों कि- इस प्रकार प्राणीओं को पीडा होनेवाली चिकित्सा का उपदेश या चिकित्सा करना, संसार के स्वरूप को जाननेवाले अनगार-साधु का कल्प नहीं है... और जो साधु कामचिकित्सा या व्याधिचिकित्सा जीव वध के द्वारा करते हैं वे तत्त्व को नहीं जानने के कारण से बाल याने अज्ञानी है अतः उनका वचन आदरणीय नहीं है... "इति" समाप्ति सूचक है और ब्रवीमि याने मैं (सुधर्मास्वामी) हे जम्बू ! तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधु को काम चिकित्सा एवं रोग चिकित्सा करने का निषेध किया गया है। क्योंकि- उक्त चिकित्साओं में अनेक जीवों की हिंसा होती है, अतः साधक को सावध चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। काम चिकित्सा का वात्स्यायन सूत्र में विस्तृत विवेचन किया गया है। उसमें कामसेवन के विविध आसनों, प्रकाम भोजन एवं पौष्टिक औषधियों का उल्लेख किया गया है। इससे काम-वासना उद्दीप्त होती है और मनुष्य भोगोपभोग की ओर प्रवृत्त होता है। वस्तुतः यह काम की चिकित्सा नहीं है, किंतु काम-वासना को अत्यधिक बढ़ाने वाली है।

चिकित्सा का अर्थ है- औषध आदि प्रयोगों से रोग का उपशमन या नाश करना। काम भी एक रोग है और इसका मूल है मोहनीय कर्म। अतः पंचाचार के द्वारा मोह कर्म का उपशमन करना या क्षय करना ही वास्तव में काम चिकित्सा है। क्योंकि- मोहनीय कर्म संसार में परिभ्रमण कराने वाला है। अतः मोहनीय कर्म का क्षय होने से ही आत्मा कामवासना से मुक्त अर्थात् अकामी होता है...

रोग चिकित्सा में जड़ी-बूटी आदि से तथा स्वर्ण भस्म आदि रासायनिक औषधों को बनाने की विधि बताने में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस जीवों की हिंसा होती

है। और आध्यात्मिक चिन्तन में भी विघ्न उपस्थित होता है। क्योंकि- रोगी रात-दिन उसे घेरे रहेंगे, 'अतः वह अपनी संयम-साधना नहीं कर सकेगा तथा चिकित्सा कारण गृहस्थों से घनिष्ठ परिचय बढ़ने से अन्य दोषों में भी प्रवृत्त होना सम्भव है। इसलिए साधु को काम चिकित्सा के एवं व्याधि चिकित्सा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और ऐसी चिकित्सा करने वाले बाल-अज्ञानी व्यक्तियों का संसर्ग भी नहीं करना चाहिए।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि- अपने शरीर में जब कभी कामवासना या विषम रोग उत्पन्न हो जाए उस समय साधु क्या करे ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि- आगमों में बताई गई निर्दोष तपश्चर्या आतापना स्वाध्याय, ध्यान एवं सेवा-शुश्रूषा की विधि को स्वीकार करके काम-वासना एवं विषम रोगों पर विजय प्राप्त करे अर्थात् काम एवं रोगों के मूल मोह को उन्मूलन करने का प्रयत्न करे।

यद्यपि विषम रोग को उपशांत करने के लिए साधु अपनी शास्त्र मर्यादा के अनुसार गुरुजनों के आदेश से निर्दोष चिकित्सा कर भी सकता है या दूसरे से करवा भी सकता है। साधु निर्दोष औषध ग्रहण कर सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत उद्देशक में यह बताया गया है कि- साधु को सदोष आहार एवं वस्त्र-पात्र, वसति-स्थानादि का स्वीकार नहीं करना चाहिए और निर्दोष आहारादि भी मर्यादा से अधिक न लें... और ग्रहण कीये हुए उन आहारादि में आसक्ति एवं ममत्व भाव न रखे। तथा जिस किसीके भी के संसर्ग से काम की वासना एवं हिंसा की प्रवृत्ति के भावों को उत्तेजना मिलने की संभावना हो, उनका संसर्ग भी नहीं करना चाहिए। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि- साधक को आहार, उपधि सम्बन्धी सदोषता, आसक्ति एवं भोगेच्छा का सर्वथा त्याग करके निर्विकार एवं निर्दोष भाव से संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

'त्तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ द्वितीयाध्ययने पञ्चमः उद्देशकः समाप्तः ॥

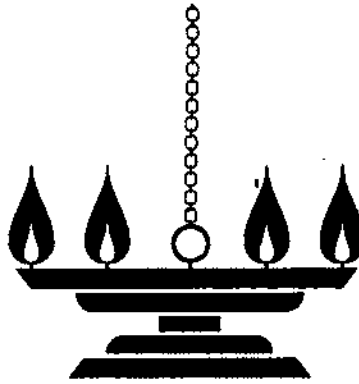
❧ ❧ ❧

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृंहत् तपागच्छ

संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. १६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - २ उद्देशक - ६

॥ अममत्वम् ॥

पांचवा उद्देशक पूर्ण हुआ... अब छठ्ठा उद्देशक आरंभ करते हैं... इन दोनों में परस्पर संबंध इस प्रकार है- संयम और देह की यात्रा याने पालन करने के लिये साधु- “लोक का अनुसरण करे किंतु नहीं पर भी ममत्व भाव न करें” यह बात जो उद्देशार्थाधिकार में कही थी वह अब इस छठे उद्देशक में कहते हैं... तथा पूर्व के सूत्र में कहा था कि- काम चिकित्सा अणगार को कल्पती नहि है... वह बात अब यहां आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १८ ॥ १-२-६-१

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुद्वाय तम्हा पावकम्मं नेव कुज्जा, न कारवेज्जा
॥ १८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः तत् सम्बुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय, तस्मात् पापकर्म नैव कुर्यात् न कारयेत् ॥ १८ ॥

III सूत्रार्थ :

कामचिकित्सा के पाप-कार्यों को जाननेवाला वह साधु अच्छी तरह से संयमानुष्ठान में रहकर पापकर्म स्वयं न करें और अन्य से न करवायें... ॥ १८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जो अणगार (साधु) पूर्वोक्त कामचिकित्सा नहि करता है वह हि सच्चा अणगार है... अतः कहते हैं कि- जीवों के उपघात को करनेवाली कामचिकित्सा का उपदेश और चिकित्सा के पाप को अच्छी तरह से जाननेवाले साधु-अणगार ज्ञ परिज्ञा से उन्हे जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करता हुआ और ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य स्वरूप पारमार्थिक भाव आदानीय संयम को अच्छी तरह से ग्रहण करके- अथवा मोक्ष का कारण यह ज्ञानादि है ऐसा जानकर अच्छी तरह से संयम के अनुष्ठानों के द्वारा संसारभाव से उठ कर- अब मुझे यह पापाचरण स्वरूप सावद्य अनुष्ठान नहि करना चाहिये “इस प्रकार की परिज्ञा स्वरूप मेरु-पर्वत पे चढकर

के अर्थात् सभी सावद्य-पापाचरण के आरंभ की निवृत्ति स्वरूप संयम का स्वीकार करके पाप के कारण ऐसे कर्म याने सावद्य क्रियाओं को स्वयं न करें... अन्य से न करवायें, और पापकर्म करनेवाले अन्य की अनुमोदना मन से भी न करें..."

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्या, पैशून्य, परपरिवाद, रतिअरति, मायामृषावाद और मिथ्यादर्शनशल्य स्वरूप अडारह (१८) प्रकार के पाप-कर्मों को मन-वचन-काया से स्वयं न करें, अन्य से न करवायें और ऐसे पापकर्म करनेवाले अन्य की अनुमोदना भी न करें यह यहां इस सूत्र का भावार्थ है...

प्रश्न- क्या प्राणातिपातादिक में से कोई एक पापकर्म को करनेवाले को क्या अन्य पापकर्म भी आ जाते हैं या नहीं ?

उत्तर- इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

पांचवें उद्देशक में यह बताया गया है कि- संयम का सम्यक्तया परिपालन करने के लिए आहार आदि का ग्रहण करे, परन्तु उसमें आसक्त नहीं बने। प्रस्तुत उद्देशक में भी मुख्यतया इसी बात का वर्णन किया गया है, कि- मुनि को आहार आदि में मूर्छा भाव नहीं रखना चाहिए।

पंचम उद्देशक के अन्तिम सूत्र में यह कह चुके हैं, कि- काम चिकित्सा एवं व्याधि चिकित्सा अनेक दोषों से युक्त है। उसमें अनेक प्राणियों की हिंसा होती है अतः उस से साधु जीवन में अनेक दोषों को प्रविष्ट होने की संभावना रहती है। अतः एवं साधु को उसके दुष्परिणाम को जानकर ज्ञान, दर्शन और चारित्र में प्रवृत्ति करते हुए समस्त पाप कार्यो से बचकर रहना चाहिए। साधु स्वयं कोई भी पापकर्म न करे एवं अन्य व्यक्ति के द्वारा भी पापकर्म करावे... क्योंकि- इससे उसके महाव्रतों में दोष लगता है।

पांचों महाव्रतों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध रहा हुआ है। एक में दोष लगने पर दूसरा दूषित हुए बिना नहीं रहता। इसी बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १९ ॥ १-२-६-२

सिया तत्थ एगयरं विपरामुसइ छसु अण्णयरंपि कप्पइ सुहड्डी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेइ, सएण विप्पमाणेण पुढो वयं पकुब्बइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिण्णा पवुच्चइ, कम्मोवसंती ॥ १९ ॥

II संस्कृत-छाया :

स्यात् तत्र एकतरं विपरामृशति, षट्सु अन्यतरस्मिन् अपि कल्पते, सुखार्थी लालप्यमानः स्वकेन दुःखेन मूढः विपर्यासं उचैति, स्वकेन विप्रमादेन पृथक् वयं (संसारं) प्रकरोति, यस्मिन् इमे प्राणाः प्रव्यथिताः, प्रत्युपेक्ष्य न निकाराय, एषा परिज्ञा प्रोच्यते, कर्मोपशान्तिः ॥ ९९ ॥

III सूत्रार्थ :

कदाचित् कोईक मनुष्य एक पापारंभ में कोई भी पृथ्वीकायादि एक का परामर्श करता है तब छह जीवनिकाय में प्रवृत्त होना संभव है... सुख को चाहनेवाला एवं स्नान-पान का लालचु यह मूढ प्राणी अपने दुःखों से विपर्यास को पाता है... और अपने हिं विविध प्रकार के प्रमादों से पुनः विविध-संसार को करता है... कि- जिस संसार में यह प्राणी पीडित हैं... अतः ऐसा देख करके विकार न करें... यह परिज्ञा कही है... इस परिज्ञा से कर्मों का उपशम होता है ॥ ९९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जब कभी कोईक मनुष्य कोई भी एक पापारंभ में पृथ्वीकायादि एक का समारंभ सोचता है, अथवा अट्टारह पापों में से कोई भी एक पाप को सोचता है तब यद्यपि वह मनुष्य छह जीवनिकाय में कोई भी एक पृथ्वीकाय आदि का आरंभ करता है अर्थात् जिस पृथ्वीकायादि का विचार है उसमें हिं प्रवृत्त हुआ है तो भी यहां सारांश यह है कि- पृथ्वीकायादि छह जीवनिकाय में अथवा अट्टारह पापस्थानक = आश्रव द्वारों में से कोई भी एक में भी प्रवृत्त होनेवाला वह मनुष्य अपनी बदलती हुई इच्छा के अनुसार शेष अप्काय आदि के वधमें एवं अट्टारह पापस्थानकों में प्रवृत्त हो सकता है अर्थात् सभी में प्रवृत्त होता है...

प्रश्न- कोई भी एक पृथ्वीकायादि के समारंभ में प्रवृत्त होनेवाला प्राणी अन्यकाय के समारंभ में या सर्व पापों के समारंभ में कैसे प्रवृत्त हो ? कि- जो आप ऐसा मानते हो... ?

उत्तर- जैसे कि- कुंभकारशालोदकप्लावन-दृष्टांत से एक काय का आरंभ करनेवाला, अन्य काय का भी समारंभ करता है... अथवा प्राणातिपात-आश्रव द्वार के विघटन से एक जीव के अतिपात (मरण-वध) से या एक काय के वध से अन्य जीवों का वध करनेवाला माना गया है.. तथा मृषावादी भी है, क्योंकि- उसने परिज्ञा का लोप (विनाश) किया है... अतः वह जुठ है... तथा वह चोर भी है क्योंकि- वध कीये जानेवाले प्राणी ने अपने प्राण हिंसक को दीये नहीं हैं, और तीर्थकरो ने भी अनुज्ञा

दी नहि है, अतः प्राणीओं के प्राणों को लेनेवाला अदत्तग्राही भी है, तथा सावद्य का ग्रहण = स्वीकार करने से वह परिग्रही भी है... और परिग्रह से हि मैथुन और रात्रिभोजन के पापों का संभव है... क्योंकि- जिसका परिग्रह नहि किया है उसका उपभोग नहि होता है... किंतु परिग्रह करने से अवश्य मैथुन और रात्रिभोजन का उपभोग होता है... इसीलिये तो कहते हैं कि- कोई भी एक पृथ्वीकायादि के आरंभ में छह (जीवनिकाय) का आरंभ माना गया है... अथवा हिंसा जुठ चोरी और परिग्रह यह चार आश्रव द्वारों का निवारण कीये बिना कैसे चौथा सर्वथा मैथुन विरमण महाव्रत एवं छट्ठा रात्रि भोजन विरमण व्रत हो सकता है ? इसीलिये तो कहते हैं कि- छह जीवनिकाय में से कोई भी एक पृथ्वीकायादि में प्रवृत्त होनेवाला मनुष्य सभी में प्रवृत्त हुआ है ऐसा सूत्र से कहा है... अथवा जो मनुष्य कोई भी एक पाप के समारंभ का आरंभ करता है वह सभी (= अट्टारह में से कोई भी) पाप कर सकता है... क्योंकि- वह अकर्त्तव्य में प्रवृत्त हुआ है...

अथवा जो प्राणी कोई भी एक पापारंभ को करता है तब वह आठों प्रकार के कर्मों का ग्रहण करके पृथ्वीकायादि छह जीवनिकाय में से कोई भी एक या अन्य-अन्य जीवनिकाय में बार बार उत्पन्न होता है..:

प्रश्न- प्राणी ऐसे पापकर्मों को क्यों करता है ?

उत्तर- सुख की चाह होने के कारण से सुखार्थी यह मनुष्य वाणी से बार बार आलाप-प्रलाप करता है एवं काया से दौडना, कुदना इत्यादि क्रियाएं करता है और मन से भोगोपभोग की प्राप्ति के उपायों का चिंतन करता है... वे इस प्रकार- भोगोपभोग की कामनावाला यह पुरुष कृषि आदि कर्मों के द्वारा पृथ्वीकाय का समारंभ करता है, स्नान के लिये जल का समारंभ, और तापने के लिये अग्नि का तथा गरमी को दूर करने के लिये वायुकाय वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय का समारंभ करता है... तथा असंयत अथवा संयत वह मनुष्य रस के आस्वाद की चाहना से सचित्त लवण (नमक) और वनस्पति-फल आदि ग्रहण करता है... इसी प्रकार अन्य भी समारंभ स्वयं समझ लें...

खुद स्वयं ने हि अन्य जन्म में दुःख स्वरूप वृक्ष के कर्म-बीज जो कुछ बोये हुए हैं वे हि इस जन्म में दुःख रूप वृक्ष के स्वरूप से प्रगट होता है... वह कर्मबीज उसने हि जन्मांतर में बोये हुए है अतः वह अपने कीये हुए कर्मों के उदय से प्राप्त दुःखों से मूढ बनता है अर्थात् परमार्थ को नहि जाननेवाला वह मूढ प्राणी विपर्यास को पाता है अर्थात् भोगोपभोग के लिये जीववध के कारण ऐसे अनेक समारंभों का आरंभ करता है सांरांश यह है कि- चित्त का विपर्यास होने से मनुष्य अनेक दुःखों को पाता है... कहा भी है कि- दुःखों का द्वेषी और सुखों की चाहवाला वह मनुष्य मोहांधता के कारण से गुण एवं दोषों को न देखता हुआ

जो जो क्रियाएं करता है, उनसे वह मात्र दुःखों को ही प्राप्त करता है...

अथवा हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार के अभाव में वह मूढ मनुष्य विपर्यास का पाता है, अर्थात् हित का अहित मानता है और अहित का हित मानता है... इसी प्रकार कार्य और अकार्य, पथ्य और अपथ्य, वाच्य और अवाच्य आदि में भी विपर्यास को पाता है इत्यादि स्वयं ही समझ लें... यहां सारांश यह है कि- मोह याने अज्ञान अथवा मिथ्यात्व से अर्थात् इन दोनों प्रकार के मोह से मूढ यह मनुष्य भौतिक बाह्य विषय भोग के लिये ऐसे ऐसे कर्म करता है कि- जिस से शारीरिक एवं मानसिक दुःख एवं संकट की प्राप्ति का पात्र बनकर अनंतकाल पर्यंत संसार में परिभ्रमण करता रहता है...

और भी इस मूढ प्राणी को होनेवाली अनर्थों की परंपराओं को बताते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि- अपने ही आत्मा ने कीये विविध प्रकार के मद्य, विषय, कषाय, विकथाएं एवं निद्रा स्वरूप प्रमाद से वह मनुष्य पुनः विविध प्रकार के पापों को करता है... अथवा पृथु याने विस्तीर्ण और वय याने संसार... अर्थात् मनुष्य अपने ही कीये हुए कर्मों से जहां पर्यटन करता है वह संसार... उस संसार में एक एक काय (पृथ्वीकायादि) में दीर्घकाल पर्यंत रहने के कारण से, संसार को विस्तृत-लंबा करता है... अथवा कारण में कार्य का उपचार करके कहते हैं कि- अपने ही विविध प्रकार के प्रमाद से किये हुए कर्मों से वयः याने अवस्था-विशेष को बनाता है अर्थात् एकेन्द्रिय आदि असंज्ञी तथा कलल-अर्बुद आदि से उत्पन्न हुए गर्भज पंचेन्द्रिय प्राणी जन्म, बाल आदि अवस्थाएं तथा व्याधि (रोग) दरिद्रता, दुर्भाग्य और संकट आदि को भी प्राप्त करता है...

अब- वयः याने इस संसार में अथवा अवस्था विशेष में प्राणीगण जो जो पीडा पाते हैं वह कहते हैं- वह इस प्रकार- अपने ही कीये हुए प्रमाद से प्राप्त कर्मों के विपाक से उत्पन्न हुए चारगति स्वरूप संसार में- अथवा एकेन्द्रियादि अवस्था-विशेष में यह प्राणीगण... प्राण जिसके पास हो वह प्राणी... ऐसे प्राणीगण विविध प्रकार के व्यसन = संकट से प्राप्त हुई पीडाओं से पीडित हैं... यहां सारांश यह है कि- भोगोपभोग की कामना से आरंभ-समारंभों में प्रवृत्त, मोह से विपर्यस्त, एवं प्रमादवाले गृहस्थ अथवा पाखंडी कि- जो साधु नहि होते हुए भी साधु का दिखावा करनेवाले मनुष्य गण हैं, वे इस संसार में व्यथित = पीडित हैं...

अब इस संसारचक्र में अपने ही कीये हुए कर्मों के फल के स्वामी ऐसे प्राणीओं को गृहस्थों के द्वारा अथवा तो परस्पर-आपस आपस में कर्म के विपाक से व्यथित-पीडित देखकर तत्त्वज्ञ साधु महात्मा कर्म-समारंभ न करे... निकार याने कर्म... जिस से जंतु निश्चत प्रकार से, नितांत, या नियत विविध प्रकार की दुःखोंवाली अवस्थाओं को करता है, -वह निकार याने कर्म, अर्थात् शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म न करे... सारांश

यह है कि- जिससे प्राणीओं की पीडा हो, ऐसे आरंभ को साधु न करे...

अब ऐसी स्थिति में क्या होता है, वह कहते हैं कि- जो यह सावद्योग (पापाचरण) की निवृत्ति स्वरूप परिज्ञा है, उस परिज्ञा को साधु करते हैं... यह परिज्ञा तत्त्व से प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप है, और वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, न कि- ठग अथवा नर्तक का ज्ञान... क्योंकि- ठग लोगों का यह ज्ञान तो निर्वाण-फल के अभाववाला है... अर्थात् मिथ्या है...

इस प्रकार दो प्रकार की परिज्ञा याने ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा से साधु निकार याने कर्मों का विनाश करके अशेष (सभी) द्वन्द्वों के समूह स्वरूप संसार-वृक्ष के बीज का क्षय करता है... क्योंकि- कर्मों की उपशांति याने मोक्ष-मुक्ति प्राणीओं को पीडादायक आरंभ-समारंभवाली क्रियाओं की निवृत्ति से ही होती है...

किंतु कर्मक्षय के प्रतिपक्ष आरंभ-समारंभ का मूल कारण तो आत्मा का कदाग्रह हि है, अतः इस कदाग्रह को दूर करने के लिये सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार ;

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- एक काय की हिंसा से ६ काय की हिंसा भी हो जाती है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम अध्ययन में कर चुके हैं। यहां यह विशेष रूप से बताया गया है कि- जैसे एक काय की हिंसा से ६ काय की हिंसा होती है, उसी प्रकार एक महाव्रत का भंग होने पर शेष महाव्रतों का भी भंग हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि- पांचों महाव्रत एक-दूसरे से संबद्ध है। अर्थात् एक दूसरे पर आधारित है। जैसे कि- कोई भी साधु किसी भी प्राणी की हिंसा करता है तब वह केवल अहिंसा व्रत का हि खंडन करता है ऐसा नहि है, किंतु अन्य व्रतों का भी खंडन करता है। क्योंकि- उसकी हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा असत्य हो गई, इस लिए उसका दूसरा व्रत दूषित हो जाता है। और जीव की विना आज्ञा उसके प्राणों का अपहरण करने रूप चोरी करता है। तथा जो व्यक्ति हिंसा के कार्य में प्रवृत्त होता है, वह किसी कामनावश होता है और कामना-वासना हि अब्रह्म है और उस सजीव प्राणी को ग्रहण करने रूप परिग्रह तो है ही। इस प्रकार जो साधु झूठ बोलता है, वह अन्य व्यक्ति के मन को आघात पहुंचाने रूप हिंसा करता है, वीतराग की आज्ञा का उल्लंघन रूपी चोरी करता है। वह झूठ भी किसी कामना-वासना एवं आसक्तिवश बोलता है। इसलिए चौथा एवं पांचवां महाव्रत भी भंग हो जाता है। इसी प्रकार अन्य व्रतों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- एक व्रत में दोष लगने से, शेषव्रत भी दूषित हो जाते हैं।

मनुष्य अपने वैषयिक भोगोपभोगों के लिए पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। जब मनुष्य

के जीवन में की भावना जागृत होती है उस समय वह संसार के प्राणियों के हित को तो क्या ? अपने आपके हित को भी भूल जाता है। भौतिक पदार्थ एवं भोगोपभोग का मोह एवं तृष्णा मनुष्य की हिताहित की दृष्टि को आवृत्त कर लेती है। वह सब कुछ जानते हुए भी मूढ बन जाता है। इस विषय में एक उदाहरण दिया जाता है- वह इस प्रकार-

एक राजा को भयंकर रोग हो गया। कई राजवैद्यों से चिकित्सा कराने पर भी वह स्वस्थ नहीं हो पाया। एक अनुभवी वैद्य को बुलाया, उसने राजा के रोग को शांत कर दिया और साथ में यह भी कह दिया कि- इस रोग का मूल कारण आम्रफल है। अतः यदि आप स्वस्थतासे शेष जीवन जीवित रहना चाहते हैं, तो कभी भी आम न खाएं। राजा ने स्वीकार कर लिया। समय बीतता चला गया, एक दिन राजा उद्यान में घूम रहा था। आम की मौसम थी। आमके वृक्षों की शाखाएं मधुर पक्के फलों से लदी हुई विनम्र शिष्य की भांति झुक रही थीं। आम्र फलों की मधुर सुवास चारों ओर फैल रही थी। फलों की सुवास एवं उनके सौंदर्य को देखकर राजा का मन ललचा गया। मंत्री ने उसे रोकना भी चाहा, परन्तु तृष्णा ने राजा के मन पर अधिकार जमा लिया था। अतः सब के कथन को ठुकराकर वह राजा आम खाने लगा... और उसका परिणाम महावेदना के रूप में प्रकट हुआ और उस महावेदना ने राजा के प्राण भी ले लिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि- तृष्णा एवं मोह के वश मनुष्य अपना हित भी भूल जाता है। तो ऐसी स्थिति में दूसरों के हित को देखने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि दोषों में आसक्त व्यक्ति को भी अंधा कहा गया है। उनके बाहिरी आंख तो रहती है, परन्तु आत्मज्ञान पर मोह, अज्ञान एवं कषायों का गहरा अवगुण्ठन पड़ा रहने से वह हिताहित को नहीं देख पाता। इस लिए अज्ञानांध एवं मोहान्ध वह मनुष्य पाप कार्य में प्रवृत्त होता है।

‘लालप्पमाणे’ का अर्थ है- बार-बार इच्छा करना ‘विप्परियासमुवेइ’ का अर्थ है- हित के कार्य को अहितकर एवं अहित के कार्य को हितप्रद समझना। इसे बुद्धि की विपरीतता भी कहते हैं। ‘पुद्धो वयं पकुव्वइ, पृथग्-विभिन्नं वयं करोति यदि वा-का तात्पर्य यह है- पृथु-विस्तीर्णं वयमिति वयन्ति पर्यटन्ति प्राणिनः स्वकीयेन कर्मणा यस्मिन् स वयः-संसारस्तं करोति, तथा वयः अवस्था विशेषः’ अर्थात् यह जीव व्रत का भंग करने के परिणामस्वरूप संसार में विभिन्न पृथ्वीकायादि रूप से परिभ्रमण करता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि- प्रमाद के वश मनुष्य अपने पथ से भटक जाता है और विभिन्न एकैदियादि जातिओं में उत्पन्न होता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को अज्ञान का त्याग करके संयम में प्रवृत्त होना चाहिए। क्योंकि- संयमाराधना से वह साधु कर्मों का क्षय

करके पूर्ण आत्म-सुख को प्राप्त कर सके।

मनुष्य संसार में जो कुछ भी साता या दुःख पा रहा है, वह स्वकृत कर्म का फल है। प्रमाद एवं आसक्ति का सेवन करके ही वह भूढ़ भाव को प्राप्त होता है। अतः सबसे पहिले आसक्ति, ममत्व एवं मूर्छा भाव का त्याग करना चाहिए। यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ३-४ ॥ ॥ १००-१०१ ॥ १-२-६-३/४

जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हु दिट्टपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं, तं परिण्णाय मेधावी विइत्ता लोगं, वंता लोगसण्णं, से मइमं परिक्कमिज्जासि त्ति वेमि... ॥ १०० ॥

नारइं सहइ वीरे वीरे न सहइ रतिं ।

जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे न रज्जइ ॥ १०१ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः ममायितं मतिं जहाति सः त्यजति ममायितम्, स एव दृष्टपथः मुनिः, यस्य नास्ति ममायितम् । तं परिज्ञाय मेधावी विदित्वा लोकं वान्त्वा लोकसञ्ज्ञाम्, सः मतिमान् पराक्रमेथाः इति ब्रवीमि... न अरतिं सहते वीरः वीरः न सहते रतिम् । यस्मात् अविमनस्कः वीरः तस्मात् वीरः न रज्यति ॥ १००-१०१ ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधु ममकारवाली मति का त्याग करता है वह हि ममता का त्याग करता है, और वह हि दृष्टपथ मुनी है कि- जिस को ममता नहि है... अतः परिग्रह की परिज्ञा करके मेधावी साधु लोक के स्वरूप को जानकर लोकसंज्ञा का त्याग करता है, वह हि मतिमान् है अतः तुम पराक्रम करो ऐसा हे जंबू ! मैं (सुधर्मास्वामी) तुम्हें कहता हूं... वीर पुरुष अरति को सहन नहि करता है, तथा वीर पुरुष रति को भी सहन नहि करता है... क्योंकि- साधु वीर पुरुष है, अतः अविमनस्क वीर पुरुष कहिं भी रागवाला नहि होता है ॥ १००-१०१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

ममायितं याने यह वस्तु मेरी है ऐसा भाव... परिग्रह के विपाक को जाननेवाला जो साधु ममकारवाली मति का त्याग करता है वह हि ग्रहण कीये हुए परिग्रह का त्याग करता है... सूत्र में परिग्रह के दो प्रकार कहे है... १. द्रव्य परिग्रह एवं २. भाव परिग्रह... यहां

द्रव्य परिग्रह की मति का निषेध करने के कारण से अंतरंग भावपरिग्रह का भी निषेध हो गया है... परिग्रह की बुद्धि का प्रतिषेध करने से मुख्यतया यहां बाह्य द्रव्यपरिग्रह ग्रहण किया गया है... अथवा काकु-व्यंग्य से कहते हैं कि- जो प्राणी परिग्रह के अध्यवसाय से क्लुषित-ज्ञान याने अज्ञान का त्याग करता है, वह हि परमार्थ से बाह्य एवं अभ्यंतर परिग्रह का त्याग करता है... अतः यहां सारांश यह है कि- यदि चित्त में परिग्रह की क्लुषितता सा अभाव है, तब स्थविर कल्पिक साधुओं को नगर आदि के संबंध में, और जिनकल्पिक-साधुओं को पृथ्वी आदि के संबंध में भी निष्परिग्रहता हि है... इसीलिये दुःखों के हेतु एवं संसार में परिभ्रमण के कारण स्वरूप परिग्रह से जिसके अध्यवसाय (विचार) निवृत्त हुए हैं वह हि दृष्टपथ मुनी है... दृष्ट याने देखा है पथ याने ज्ञानादि स्वरूप मोक्ष मार्ग जिसने वह दृष्टपथ मुनी है...

अथवा दृष्टभयः याने सात प्रकार के भयों को जाननेवाले साधु को शरीर आदि परिग्रह से, साक्षात् या परंपरा से विचार (चित्तन) करने से मालुम (ज्ञात) होता है कि- सात प्रकार के भय चारों ओर से बार बार आते हैं, इसीलिये परिग्रह के त्याग में हि परमार्थ दृष्टि से साधु का ज्ञातभयत्व सत्य सिद्ध प्रतीत होता है... अतः पूर्व कही गइ बात को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि- जिस को ममकार स्वरूप परिग्रह नहि है वह हि दृष्टभय मुनी है...

अतः बाह्य एवं अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह को ज्ञ परिज्ञा एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा स्वरूप दोनों परिज्ञा से जानकर ज्ञातज्ञेय मेधावी मुनी परिग्रह के आग्रह के विपाकवाले ऐकेंद्रिय आदि प्राणिगण स्वरूप लोक को अच्छी तरह से जानकर तथा प्राणिगण की दश प्रकार की आहार आदि संज्ञाओं का वमन (त्याग) करके सत् और असत् के विवेक से ज्ञ = जाननेवाला मतिमान् मुनी संयम के अनुष्ठानो में अच्छी तरह से पराक्रम करे अर्थात् प्रयत्न करे... अथवा आठ प्रकार के कर्म या काम-क्रोधादि अंतरंग छह अरिवर्ग अथवा विषय और कषायों के त्याग के लिये पराक्रम करे... पुरुषार्थ करे... यहां “इति” पद अधिकार के समाप्ति का सूचक है... और “ब्रवीमि” पद “मैं सुधर्मस्वामी हे जबू ! तुम्हे कहता हुं” इस बात का सूचक है...

इस प्रकार संयमानुष्ठान में उद्यम करनेवाला तथा परिग्रह के आग्रह के योग का त्याग करनेवाला मुनी कैसा होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार महर्षि कहते हैं, कि-

घर-बार, धन धान्य हिरण्य आदि परिग्रह के त्यागी, अकिंचन, और संयमानुष्ठान में उद्यम करनेवाले साधु को कदाचित् मोहनीय कर्म के उदय से संयमानुष्ठान में अरति हो तो कभी भी सहन नहीं करते... अर्थात् साधु संयमानुष्ठान में दृढ रहते हैं... वीर याने आठ प्रकार के कर्म अथवा अंतरंग षट् अरिवर्ग को दूर करे वह वीर याने शक्तिमान् पुरुषः... तथा वह हि वीर पुरुष कदाचित् असंयम में, या परिग्रह में या शब्दादि विषयों में रति होवे, तो उसे भी सहन नहीं करते... अर्थात् साधु परिग्रह में रति नहि करते... इस प्रकार संयम में अरति

और शब्दादि-विषयों में रति, इन दोनों में मन नहि देनेवाला मुनी शब्दादि विषयों में राग नहि करता... इस प्रकार रति और अरति के त्याग से विमनस्क हुआ वीर मुनी शब्दादि विषय समूह में गृद्धि = आसक्ति नहि करते...

अरति एवं रति के त्यागी ऐसे उस वीर मुनिराज को कौन सा शुभ-फल मिलता है ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

मुनि के लिए यह आवश्यक है कि- वह परिग्रह का सर्वथा त्याग करे। पूर्ण अपरिग्रही व्यक्ति ही मुनित्व का स्वीकार कर सकते हैं। पूर्ण अपरिग्रही बनने के लिए केवल बाह्य पदार्थों का त्याग करना ही पर्याप्त नहीं है, किंतु उनकी ममता, आसक्ति एवं मूर्छा का परित्याग करना भी आवश्यक है। हम यों भी कह सकते हैं कि- ममत्व का त्याग करने पर ही व्यक्ति अपरिग्रह भाव की और आगे बढ़ सकता है। जब तक पदार्थों की लालसा, भोगेच्छा एवं आसक्ति मन में विद्यमानरही है, तब तक बाह्य पदार्थों का त्याग कर देने पर भी उसे अपरिग्रही या त्यागी नहीं कहा जा सकता...

आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि- “जो साधक वस्त्र, सुगंधित पदार्थ, पुष्पमाला, आभूषण, स्त्री आदि का उपभोग करने में स्वतंत्र नहीं है या उसे यह भोगोपभोग के साधन उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसके मन में भोगेच्छा है तो वह त्यागी नहीं कहा जा सकता है। त्यागी वह कहला सकता है, कि- जो मनोहर एवं प्रियकारी प्राप्त भोगों को भोगने में स्वतंत्र एवं समर्थ होते हुए भी उनका एवं उनकी वासना का त्याग कर देता है”

इससे स्पष्ट होता है कि- आसक्ति का त्याग करने वाला व्यक्ति ही परिग्रह का त्याग कर सकता है। अतः साधु के लिए यह आवश्यक है, कि- वह पहिले आसक्ति के कारणों का परिज्ञान करे। क्योंकि- गृहस्थों से प्राप्त होनेवाले आहार, वस्त्र आदि भोग्य पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा साधु के मन में हो है। अतः मुनि को लोकसंज्ञा का परित्याग करके संयम में संलग्न रहना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित गाथा के चारों पदों में ‘वीर’ शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि- संयम साधना में अरति का, एवं असंयम में रति का, तथा मन में अमध्यस्थ भाव का, और शब्दादि विषयों में आसक्ति उत्पन्न होने का, प्रसंग उपस्थित होने पर भी जो साधु अपने मन को, विचार को एवं आत्मा को उस प्रवाह में नहीं बहने देता, वही वास्तव में वीर है।

योद्धा का वीरत्व तब माना जाता है कि- जब वह बलवान शत्रु के बाणों के प्रहार

याने भीषण बम वर्षा में भी अपने मार्ग को छोड़कर नहीं भागता; किंतु शत्रु को परास्त करके शत्रुका हि विनाश करता है। इसी प्रकार विषय-वासना एवं कषायों के प्रबल वातावरण में भी जो विचलित होता नहीं, उसे ही वीर कहा गया है। अतः ऐसे संयमनिष्ठ साधक का बार-बार वीर... वीर... शब्द का प्रयोग करके आदर-सत्कार किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'दिट्ठपहे' पद भी इसी अर्थ को परिपुष्ट करता है। दृष्टो ज्ञानादि को मोक्षपथो येन स दृष्टपथः अर्थात् जिस व्यक्ति ने ज्ञानादि रूप मोक्ष-मार्ग को सम्यक्तया देख लिया है, उस मुनि को दृष्टपथ कहा गया है। यदि इस पद को 'दृष्ट भय' पढ़ा जाए तो इसका अर्थ होगा-सात भय का परिज्ञान करके उनकी उत्पत्ति के मूल कारण प्ररिग्रह का उस साधु ने त्याग कर दिया है।

'मइमं' का अर्थ है-बुद्धिमान् ! अर्थात् जिसमें सत्-असत् को समझने की बुद्धि है। इससे यह सिद्ध होता है कि- विचारशील एवं विवेकवान व्यक्ति संयम से प्रतिकूल परिस्थितियां एवं वातावरण के उपस्थित होने पर भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता, वह समस्त विकारों पर विजय पा लेता है, इसलिए उसे वीर शब्द से संबोधित किया गया है।

'वीर' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ यह है "विशेषेणेरयति-प्रेरयति अष्ट प्रकारं कर्म्मारिषड्वर्गं वेति वीरः" अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्मों की आत्मा से सर्वथा पृथक् करता है अथवा काम-क्रोध आदि ६ आंतरिक शत्रुओं को परास्त करता है ब्रह्म वीर है... इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि- वीर पुरुष ही निर्वाण पद को प्राप्त कर सकता है।

I सूत्र ॥ ५-६ ॥ ॥ १०२-१०३ ॥ १-२-६-५/६

सहे फासे अहियासमाणे निव्विंद नंदिं च इह जीवियस्स ।

मुणी मोणं समायाय धुणे कम्मसरीरगं... ॥ १०२ ॥

पंतं लूहं सेवंति वीरा संमत्त दंसिणो ।

एस ओहंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरए विद्याहिये त्तिबेमि ॥ १०३ ॥

II संस्कृत-छाया :

शब्दान् स्पर्शान् सम्यक् सहमानः निर्विन्दस्व नन्दीं च इह जीवितस्य । मुनिः मौनं समादाय, धुनीयात् कर्मशरीरकम्... प्रान्तं, रूक्षं सेवन्ते, वीराः समत्वदर्शिनः । एषः ओघं तरेत् मुनिः, तीर्णः मुक्तः विरतः विख्यातः इति ब्रवीमि ॥ १०२-१०३ ॥

III सूत्रार्थ :

शब्द और स्पर्श को सम्यक् सहन करनेवाला हे मुनी ! शब्दादि में निर्वेद करो और

संयम जीवन में प्रसन्न हो... मुनी मौन याने संयम को ग्रहण करके कर्म-शरीर को आत्मा से अलग (भिन्न) करे... तथा मुनी नीरस एवं रुक्ष आहार का भोजन करते हैं, ऐसे वीर एवं समत्वदर्शी मुनी ओष याने संसार तैरते हैं... और तीर्ण, मुक्त, विरत और विख्यात होते हैं ऐसा हे जंबू ! मैं (सुधर्मास्वामी) तुम्हें कहता हूँ... ॥ १०२-१०३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

रति और अरति को दूर करके वीर मुनी अच्छे शब्दादि विषयों में राग नहि करता है, और बुरे शब्दादि में द्वेष भी नहि करता है... अतः अच्छे या बुरे शब्दों एवं स्पर्शों को शमभाव से सहन करनेवाले हे मुनी ! आप निर्वेद पाओ ! और संयम में प्रसन्न रहो ! यहां सारांश यह है कि- अच्छे शब्दों को सुनकर मुनी राग न करें, और बुरे शब्दों को सुनकर द्वेष न करें... यहां पांच विषयों में आदि और अंतिम विषय का ग्रहण करने से बीचवाले शेष रूप, रस एवं गंध के विषय में भी वीर मुनी राग-द्वेष न करें ऐसा स्वयं हि समझ लें... अर्थात् कोई भी प्रकार के विषयों में राग या द्वेष न करें किंतु शमभाव से सहन करें... कहा भी है कि- अच्छे या बुरे शब्द श्रोत्र याने कान में आने पर श्रमण-मुनी रागवाला या द्वेषवाला न हो... इसी प्रकार अच्छे या बुरे रूप में, गंध में, रस में और स्पर्श में मुनी राग या द्वेष न करे...

अब प्रत्यक्ष सामने रहे हुए शिष्य को गुरुजी कहते हैं कि- हे शिष्य ! अच्छे या बुरे शब्दादि विषयों को सहन करनेवाले तुम असंयम में होनेवाली तुष्टि में निर्वेद पाओ, अर्थात् जुगुप्सा करो... नंदी याने ऐश्वर्य-वैभव स्वरूप मन की तुष्टि याने संतोष-प्रसन्नता... अर्थात् इस मनुष्य-लोक में जीवित याने असंयम जीवित की खुसी, हर्ष एवं प्रसन्नता की निंदा करो... वह इस प्रकार- मुझे यह धन-समृद्धि आदि प्राप्त हुई थी, प्राप्त हुई है और प्राप्त होगी इत्यादि विकल्पोंवाली नंदी याने प्रसन्नता की निंदा करो जैसे कि- पापकर्म के हेतु और अस्थिर ऐसी इस धन-समृद्धि से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं...

कहा भी है कि- यदि धन-वैभव है तो उस में मद-अभिमान क्यों ? और यदि वैभव का नाश हुआ है तो उस में खेद क्यों ? क्योंकि- मनुष्यों का यह धन-वैभव, हाथ में रहे हुए गेंद की तरह आता जाता रहता है... इस प्रकार रूप-बल आदि में भी सनत्कुमार चक्रवर्ती के दृष्टान्त से समझीयेगा... अथवा भूतकाल में हुए पांचों हि अतिचारों की निंदा करें... वर्तमानकाल में होनेवाले पांच अतिचार का संवर करें एवं भविष्यत्काल में संभवित इन पांचों अतिचारों का प्रत्याख्यान (निषेध) करें...

किंतु ऐसा मुश्किल कार्य करने के लिये आलंबन क्या लें ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- मुनी संयम का आलंबन लेकर कर्मों को आत्मा से दूर करें... तीनों काल के स्वरूप

को जो जाने वह मुनी याने यती... तथा मुनी का जो भाव वह मौन याने संयम... अथवा मुनि का भाव मुनित्व... यह भी संयम हि है... अथवा मौन याने वाणी का संयम... यहां वाणी का संयम कहने से आस-पास रहे हुए काय एवं मन का भी संयम समझीयेगा... अतः सर्वथा संयम को स्वीकार करके मुनी कर्मशरीर को अथवा औदारिक आदि शरीर को आत्मा से भिन्न करे... अथवा धुनीहि याने विवेक करो, पृथक् करो... अर्थात् औदारिक शरीर के उपर ममत्व न करें...

अब प्रश्न होता है कि- ऐसा तो क्या करें कि- वह शरीर दूर हो, या उस शरीर के उपर ममता न हो ? इस प्रश्न का उत्तर अब कहते हैं...

द्रव्य से प्रांत याने स्वाभाविक रस रहित अथवा अति अल्प रसवाला, तथा रूक्ष याने बाहर के आगंतुक स्नेह आदि से रहित... तथा भाव से प्रांत याने धूमदोष अर्थात् द्वेष रहित तथा रूक्ष याने अंगारदोष याने राग से रहित, ऐसे आहार को साधु ग्रहण करते हैं... ऐसे वीर एवं समत्वदर्शी अर्थात् राग-द्वेष से रहित अथवा सम्यक् प्रकार से तत्त्व को देखनेवाले परमार्थ दृष्टिवाले... वह इस प्रकार- यह शरीर कृतघ्न एवं निरूपकारी है, और इस शरीर के लिये हि प्राणी इस जन्म एवं जन्मांतर में क्लेश-दुःखों के पात्र बनते हैं...

अनेक आदेश में एक आदेश इस न्याय से प्रांतरूक्षसेवी समत्वदर्शी साधु कौन से गुण को प्राप्त करते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- ऐसे मुनी प्रांत और रूक्ष आहार के सेवन से कर्मादि शरीर को कंपायमान = शीर्णविशीर्ण करते हुए ओघ याने संसार समुद्र को तैरते हैं... ऐसे वे मुनी, यती है... अथवा “कडेमाणे कडे” इस न्याय से संसार समुद्र को तैर गये हैं... कि- जो मुनी बाह्य एवं अभ्यंतर परिग्रह से मुक्त है, तथा जो मुनी भाव से शब्दादि विषयों की आसक्ति से रहित है... इस प्रकार जो मुनी मुक्तत्व और विरतत्व से विख्यात हैं, वे हि भव-समुद्र को तैरते हैं, अथवा तैर गये हैं यह यहां सारांश है... “इति” शब्द अधिकार की समाप्ति का सूचक है, तथा ब्रवीमि याने मैं (सुधर्मास्वामी) हे जंबू ! तुम्हें कहता हूं...

अब जो साधु मुक्तत्व एवं विरतत्व से विख्यात नहि हैं, वे कैसे होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- साधु को शब्दादि विषयों को भली-भांति जानकर उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि- उनमें आसक्त होने से अनुकूल विषयों पर राग-भाव और प्रतिकूल विषयों पर द्वेष भाव आना स्वाभाविक है, और राग-द्वेष ही कर्म बन्ध

के मूल कारण हैं। यह बात ठीक है कि- मनुष्य के सामने यावत् साधु के सामने भी यह शब्दादि विषय आते हैं, अनुकूल एवं प्रतिकूल शब्द, गंध, रूप, रस और स्पर्श का संयोग भी मिलता रहता है। अतः इसका यह अर्थ नहीं है कि- साधु कान-आंख आदि बन्द करके चले या बैठा रहे। किंतु यहां विषयों से बचने का तात्पर्य इतना ही है कि- उनमें आसक्त न हो, अनुकूल या प्रतिकूल किसी भी प्रकार का प्रसंग उपस्थित होने पर समभाव का त्याग न करे, अर्थात् विषमता के प्रवाह में न बहे।

इसलिए यह आदेश दिया गया है कि- मुनि विषयों में राग-द्वेष न करे। यही उसका मौन है। वस्तुतः देखा जाए तो मौन का अर्थ केवल नहीं बोलना ही नहीं है। नहीं बोलना, यह व्यवहारिक या द्रव्य मौन है। इसमें केवल शब्द के विषय-भाषा को रोका जाता है, उसमें मात्र बोलने पर ही प्रतिबन्ध है, न कि- सुनने पर भी। क्योंकि- श्रोत्रेंद्रिय की प्रवृत्ति द्रव्य मौन में खुली रहती है, अतः मौन का यथार्थ अर्थ यह है कि- शब्दादि विषयों में राग-द्वेष नहीं करना। क्योंकि- कर्म बन्ध राग-द्वेष से होता है। केवल इन्द्रियों के साथ शब्दादि विषयों का सम्बन्ध होने मात्र से कर्म का बन्ध नहीं होता है, इसलिए साधु को राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

इससे यह होगा कि राग-द्वेष से निवृत्त हो जाने पर नये कर्मों का बन्ध नहीं होगा और पुराने कर्म की निर्जरा करके वह मुनी कर्मण शरीर को ही नष्ट कर देगा, कहा भी है कि- कर्मण शरीर के कारण से हि जीव औदारिक आदि शरीर धारण करता है और विभिन्न योनियों में भटकता फिरता है। संसार का सारा प्रपंच कर्म याने कर्मण शरीर पर ही आधारित है, उसका नाश होने पर संसार की समाप्ति स्वतः ही हो जायगी। नींव उखाड़ फैकने पर गगन चुम्बी भवनों का स्थित रहना नितांत असंभव है। इसी प्रकार कर्म का उन्मूलन ही संसार का उन्मूलन है। और उसके लिए कर्म के मूल कारण राग-द्वेष को समाप्त करना आवश्यक है। अतः मुनि को चाहिए कि- वह विषयों से सदा मौन रहे अर्थात् राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करे। यही कर्मों को नष्ट-विनष्ट करने का प्रशस्त मार्ग है।

‘संमत्तदंसिणो’-पाठ भी इसी बात को पुष्ट करने के लिए दिया है। जो समदर्शी है अर्थात् अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों के उपस्थित होने पर भी मुनी की दृष्टि में विषमता नहीं आती, वही वीर पुरुष कर्म की विषाक्त लता को निर्मूल कर सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि- संसार-सागर को पार करने के लिए समता की नौका को स्वीकार करना अनिवार्य है। समभाव की साधना जितनी विकसित होती जाएगी, उतना ही राग-द्वेष अल्प होता जाएगा और राग-द्वेष के घटने का अर्थ है-संसार का घटना। जब हमारी आत्मा में समभाव की पूर्ण ज्योति प्रज्वलित हो उठेगी, तो राग-द्वेष का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा और उसके साथ संसार का भी अन्त हो जाएगा...

अतः मुनि को चाहिए कि- वह परिग्रह एवं विषयों की आसक्ति का परित्याग करे। क्योंकि- आसक्ति से आत्मा के परिणामों में एवं विचारों में विषमता आती है, राग-द्वेष के भाव उद्वुद्ध होते हैं। इसलिए उसके मूलकारण आसक्ति का त्याग करने वाला साधु ही बाह्य परिग्रह से भी निवृत्त होता है, और एक दिन समस्त कर्मों एवं कर्म जन्य संसार से मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। 'ब्रवीमि' का अर्थ पूर्ववत् समझीएगा...

जो व्यक्ति परिग्रह एवं विषयों की आसक्ति से मुक्त एवं विरत नहीं हुआ है, उसकी क्या स्थिति होती है ? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ १०४ ॥ १-२-६-७

दुर्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए, अच्चेइ लोगसंजोगं, एस नाए पवुच्चइ ॥ १०४ ॥

II संस्कृत-छाया :

दुर्वसुमुनिः अनाज्ञया, तुच्छः ग्लायति वक्तुम्, एषः वीरः प्रशंसितः, अत्येति लोगसंयोगं, एषः न्यायः प्रोच्यते ॥ १०४ ॥

III सूत्रार्थ :

अनाज्ञा से दुर्वसु यह मुनी, तुच्छ होने से कहने में ग्लानि पाता है... और जो सुवसुमुनी है वह वीर है, और विद्वानों से प्रशंसित है, ऐसा मुनी हि लोक-संयोग का त्याग करता है... यहां यह हि मोक्ष का न्याय-नीति कहा गया है ॥ १०४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

धन-द्रव्य अर्थवाला यह वसु शब्द यहां भव्य अर्थ में दर्शाया है... भव्य याने मुक्ति में गमन योग्य आत्मा... अतः मुक्तिगमन के लिये जो योग्य द्रव्य है, वह यहां वसु शब्द से वाच्य है... और दुर्वसु याने मुक्तिगमन के लिये अयोग्य द्रव्य = आत्मा... अतः वह स्वेच्छाचारी मनुष्य हि तीर्थकर परमात्मा की आज्ञा-वचन के अभाव में हि दुर्वसु यहां कहा गया है...

प्रश्न- तीर्थकर के उपदेश में ऐसा तो क्या दुष्कर है ? कि- आत्मा स्वेच्छाचारी बनता है ?
उत्तर- मिथ्यात्व से मूढ मनुष्य को इस लोक में बोध-समझ-ज्ञान प्राप्त होना दुष्कर है, तथा व्रतों में आत्मा को रखना भी दुष्कर है, तथा रति और अरति का निग्रह करना भी दुष्कर है... तथा इष्ट एवं अनिष्ट शब्दादि विषयों में मध्यस्थता की भावना दुष्कर है, तथा प्रांत एवं रूक्ष आहार का भोजन करना भी दुष्कर है... इस प्रकार खड्गधारा

के समान जिनेश्वरों की आज्ञा के अनुसार चलना = आचरण करना इस दुर्वसु मनुष्य के लिये अतिदुष्कर है... तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल विविध प्रकार के उपसर्गों को सहना भी दुष्कर है, तथा उपसर्गों को सहन न करने में कर्मों का उदय भी प्रबल होता है... यहां अनादि-अतीतकाल के भोगोपभोग की भावना हि कारण है... क्योंकि- जीव स्वभाव से हि दुःखों से डरता है, और निरंतर भोगोपभोग को चाहता है, अतः भोगोपभोग का निषेद्ध करनेवाली तीर्थकरों की आज्ञा में जीव को दुःख होता है...

कभी, कभी यथाकथंचित् भी तीर्थकर की आज्ञा में वह दुर्वसु मनुष्य प्रवेश करता है, तब वह कैसा होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- तुच्छ याने निर्धन-द्ररिद्र... अथवा द्रव्य से जल आदि से रहित घट आदि... की तरह और भाव से सम्यग्-ज्ञान आदि से रहित वह दुर्वसु आत्मा होता है... क्योंकि- किसिके पुछने पर, सम्यग् ज्ञान न होने के कारण से जवाब (उत्तर) देने में ग्लानि पाता है... तथा कोइ दुर्वसु-मुनी ज्ञानयुक्त हो किंतु चारित्र से अपूर्ण हो तब पूजा एवं सत्कार की प्राप्ति के मोह-ममत्व के कारण से शुद्ध-मोक्षमार्ग के कथन के समय यथास्थित चारित्र के स्वरूप को कहने में ग्लानि-खेद पाता है... जैसे कि-सन्निधि में प्रवृत्त वह साधु, अब सन्निधि को निर्दोष कहने में प्रवृत्त होता है... इस प्रकार अन्य क्रियाओं में भी विपरीतता समझीयेगा...

तथा जो मुनी कषाय रूप महाविष के अगद = औषध तुल्य परमात्मा की आज्ञानुसार संयम-जीवन धारण करता है वह सुवसु मुनी है... ऐसा मुनी सम्यग् दर्शन-ज्ञान एवं चारित्र से यथावस्थित वस्तु के ज्ञान एवं आचरण से युक्त होने से कर्हि भी उत्तर देने में खेद-ग्लानि को प्राप्त नहि करता... ऐसा ज्ञानादि से युक्त एवं यथावस्थित मोक्षमार्ग को कहनेवाला मुनी कर्मों का विनाश करता है अतः यह वीर है, एवं विद्वानों से प्रशंसित है...

ऐसा परमात्मा की आज्ञानुसार आचरणवाला वीर मुनी लोकसंयोग का त्याग करता है... लोक याने असंयतलोक और संयोग याने ममत्ववाला संबंध... अथवा लोक के दो भेद है १. बाह्यलोक एवं २. अभ्यंतर लोक... उनमें बाह्यलोक याने धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्ण-मात-पिता-पुत्र-परिवार आदि... तथा अभ्यंतर लोक = याने-राग-द्वेष आदि... अथवा राग एवं द्वेष का कार्य याने आठ प्रकार का कर्म...

इन दोनों प्रकार के लोक के संयोगों को जो अतिक्रमण करता है, वह हि सुवसु वीर मुनी है... इस प्रकार लोकसंयोग का त्याग हि मुमुक्षुओं के लिये न्याय अर्थात् सन्मार्ग है... आचार है... अथवा लोक संयोग का त्याग करनेवाला हि मुनी अन्य आत्माओं को सदुपदेश के द्वारा मोक्ष प्राप्त करवाता है...

अब कहते हैं कि- हां, भले ऐसा हि हो, किंतु उस उपदेश का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

आगम में कहा गया है कि- 'आणाए धम्मो' अर्थात् भगवान की आज्ञा में धर्म है। इस पर प्रश्न हो सकता है, कि- आज्ञा में कौन होते हैं ?

इसी प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि- जो मोक्ष के योग्य है, वही भगवान की आज्ञा में है। मोक्ष की योग्यता सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र पर आधारित है। इससे स्पष्ट हो गया कि- जिस व्यक्ति को सम्यग् ज्ञान का आलोक नहीं, वह अज्ञान के अन्धकार में इधर-उधर भटकता फिरेगा, वह मोक्ष मार्ग पर गति नहीं कर सकेगा। क्योंकि- उसे उस मार्ग का ज्ञान ही नहीं और जब ज्ञान ही नहीं तब उस पर चलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता इसलिए यह कहा गया, कि- सम्यग् ज्ञान से रहित व्यक्ति भगवान की आज्ञा में नहीं है और ज्ञानाभाव के कारण ही वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने में हिचकिचाता है। इसके विपरीत ज्ञानसंपन्न व्यक्ति भगवान की आज्ञा में है, क्योंकि- वह भगवान द्वारा प्ररूपित शुद्ध मार्ग पर चलने एवं उसकी प्ररूपणा करने में हिचकिचाता नहीं है। अतः भगवान की आज्ञा में प्रवर्तन करनेवाला साधु ही मोक्ष मार्ग के योग्य है। इस मार्ग को न्याय-नीतिपूर्ण मार्ग भी कहा गया है। क्योंकि- संसार संबन्ध का त्याग करने वाला मुनि ही इसे स्वीकार करता है।

भव्यजीव हि मुक्ति के योग्य है। क्योंकि- 'वसु' का अर्थ द्रव्य माना है और भव्य संज्ञक जीव द्रव्य ही मुक्ति योग्य है। अतः अभव्य जीव को 'दुर्वसुमुनिः' कहा है। कारण कि- उस में मोक्ष जाने की योग्यता नहीं अर्थात् साधुवेश ग्रहण कर लेने पर भी मोक्ष के आधारभूत सम्यग् ज्ञान आदि का अभाव होने से वह मोक्ष के अयोग्य है। और इसी कारण वह शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा नहीं कर सकता।

इससे स्पष्ट है कि- ज्ञान युक्त व्यक्ति ही इस पथ पर चल सकता है और मोक्षमार्ग का उपदेश देकर दूसरों को भी सन्मार्ग बता सकता है। इसलिए उपदेश का भी महत्त्व माना गया है। उपदेश के महत्त्व का स्वरूप सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ १०५ ॥ १-२-६-८

जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं, तस्स दुक्खस्स कुसला परिणामुदाहरंति, इह कम्मं परिणाय सव्वसो जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे, जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी, जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ, जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥ १०५ ॥

II संस्कृत-छाया :

यद् दुःखं प्रवेदितं इह मानवानाम्, तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञां उदाहरन्ति ।
इह कर्म परिज्ञाय सर्वशः, यः अनन्यदृष्टिः सः अनन्यारामः, यः अनन्यारामः सः
अनन्यदृष्टिः । यथा पुण्यस्य (पुण्यवते) कथ्यते, तथा तुच्छस्य कथ्यते, यथा तुच्छस्य
(तुच्छाय) कथ्यते तथा पुण्यवतः (पुण्यवते) कथ्यते ॥ १०५ ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में मनुष्यों के जो जो दुःख कहें हैं, उन दुःखों का कुशल मुनी परिज्ञा करते हैं... यहां सभी प्रकार से कर्मों की परिज्ञा करके... जो अनन्यदृष्टिवाला है वह अनन्याराम है, जो अनन्याराम है वह अनन्यदृष्टिवाला है... तथा जिस प्रकार साधु पुन्यवान को धर्मकथा कहे, उसी ही प्रकार तुच्छ-निर्धन को भी कहें... एवं जिस प्रकार निर्धन को धर्मकथा कहे उसी ही प्रकार पुन्यवानों को कहें... ॥ १०५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस संसार में तीर्थंकरों ने दुःखों का कारण कर्म या अज्ञ-लोगों का संयोग है ऐसा धर्मोपदेश में कहा है, उस असाता स्वरूप दुःख या कर्म की कुशल पुरुष परिज्ञा करते हैं... कुशल वे हैं कि- जो

१. निपुण याने चतुर हैं
२. धर्मकथा की लब्धि से संपन्न है
३. स्वशास्त्र एवं परशास्त्रों को जानते हैं
४. विहार याने धर्मानुष्ठान में उपयोगवाले हैं
५. जैसा कहते हैं वैसे ही आचरणवाले हैं
६. निद्रा याने प्रमाद को जितनेवाले हैं
७. इंद्रिय याने इंद्रियों के विकारों को जितनेवाले हैं
८. देश एवं काल आदि के क्रम को जानते हैं...

ऐसे स्वरूपवाले कुशल-पुरुष ही परिज्ञा करते हैं... परिज्ञा याने ज्ञ-परिज्ञा से उपादान के कारणों को जानते हैं, तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से निमित्त-कारणों का विच्छेद करते हैं अर्थात् कुशलमुनी दोनों प्रकार की परिज्ञा से दुःखों का परिहार करते हैं...

वह दुःख कर्म स्वरूप है, और उस कर्म के आठ प्रकार हैं अतः उन कर्मों को और उन कर्मों के आश्रव द्वारों को जानकर... वह इस प्रकार- “ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानगुण का प्रत्यनीक याने दुश्मन है” इत्यादि... ऐसा जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से कर्मों के आश्रव-

द्वारों का तीन योग याने मन वचन एवं काया तथा तीन करण याने करण करावण और अनुमोदन ऐसे योगत्रिक एवं करणत्रिक से त्याग करते हैं... अथवा सर्व प्रकार से कर्मों को जानकर जिज्ञासु लोगों को कहते हैं... सर्व प्रकार का ज्ञान केवलज्ञानी को या गणधरों को या चौदपूर्वीओं को होता है... अथवा सर्व प्रकार से याने आक्षेपिणी आदि चार प्रकारकी धर्मकथाओं के द्वारा कहते हैं... आक्षेपिणी विक्षेपिणी संवेदनी एवं निर्वेदनी इत्यादि चार प्रकार की कथा से धर्म कहते हैं...

तथा अनन्यदर्शी याने जैसा है वैसा हि पदार्थों को देखनेवाला... अर्थात् सम्यग्दृष्टि ऐसा वह मुनी जिनप्रवचन के तत्त्वार्थ को प्रगट करनेवाला है... अतः जो मुनी अनन्यदर्शी (दृष्टि) है वह अनन्याराम होता है... अनन्याराम याने मोक्षमार्ग में हि रमण करनेवाला... यहां हेतु और हेतुमद् भाव से सूत्र लगाते हुए कहते हैं, कि- जो मुनी परमात्मा के उपदेश में हि रमण करते हैं वे मुनी अनन्यदर्शी हि होते हैं... और जो मुनी अनन्यदर्शी होते हैं वे मोक्षमार्ग के सिवा और कहीं मन नहि लगाते,

कहा भी है कि- वैशेषिक, षष्टितंत्र और बौद्धों के कुशास्त्रों का कल्याण हो... क्योंकि- उनके शास्त्रों में रहे हुए दोषों के कारण से हि हमारा चित्त परमात्मा की और अनुरागी बनता है... इत्यादि...

इस प्रकार सम्यक्त्व का स्वरूप कहा... अब उपदेश देनेवाला मुनि राग और द्वेष को दूर करके धर्मकथा कहे... जैसे कि- तीर्थंकर, गणधर एवं स्थविर आचार्यों ने पुन्यवान् याने इंद्र, देव, चक्रवर्ती, मांडलिक राजा आदि को जिस प्रकार से उपदेश दीया है, उसी प्रकार से हि तुच्छ याने दरिद्र कठियारा आदि को भी उपदेश देते हैं... अथवा पूर्ण याने उत्तम जाति, कुल, रूप, आदि से युक्त और तुच्छ याने अधम जाति आदि वाले लोग... अथवा पूर्ण याने समझदार और तुच्छ याने अज्ञानी लोग... कहा भी है कि- उत्तम ज्ञान, ऐश्वर्य, धन, जाति, कुल-वंश, आदिवाले तथा तेजस्वी और बुद्धिशाली लोग "पूर्ण" हैं और उनसे विपरीत जो लोग हैं वे "तुच्छ" हैं...

यहां सारांश यह है कि- जिस प्रकार द्रमक-दरिद्र आदि को कुछ भी बदला लेने के भाव बिना मात्र एक उपकार की बुद्धि से उपदेश देते हैं, वैसा हि चक्रवर्ती आदि धनिकों को भी उपदेश देते हैं अथवा तो- जिस प्रकार चक्रवर्ती आदि धनिकों को आदर-भाव के साथ संसार से पार पाने का उपदेश देते हैं, वैसा हि दरिद्रों को भी उपदेश देते हैं... यहां निरीहता याने प्रतिफल की अपेक्षा न रखना यही सारांश है... किंतु ऐसा भी कोई नियम नहि है कि- जिज्ञासुओं के भागों को देखे बिना एक हि प्रकार से उपदेश देना... परंतु जो जीव जिस प्रकार से बोध पा शके उसी प्रकार से उसे बोध देना... अर्थात् जो समझदार बुद्धिशाली

हो उसे तत्त्व की गंभीर बातें कहें और जो अल्पमतिवाले हैं उन्हें सामान्य कथा-दृष्टांत से उपदेश दें...

तथा राजा को उपदेश देते समय उनके अभिप्राय याने विचार को जान-समझकर हि कहें... जैसे कि- क्या यह राजा अभिगृहीत मिथ्यादृष्टि है कि- अनभिगृहीत या सांशयिक मिथ्यादृष्टि है ? तथा अभिगृहीतमिथ्यादृष्टि हो तो भी, क्या वह कुतीर्थिकों से व्युद्ग्रहित है ? या अपने आप हि... इत्यादि बातें वार्त्तालाप के द्वारा जान-समझकर उपदेश दें...

ऐसे उस राजा को उचित धर्मोपदेश देने पर भी यदि अशुभ कर्मों के उदय में कदाचित् वह राजा द्वेष करे... अब द्वेषवाला वह राजा क्या क्या अनर्थ-उपद्रव करे, वह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है, कि- जो साधु कुशल-बुद्धिमान है, वह संसार में उपलब्ध होने वाले दुःखों के कारण को जानकर उस मार्ग का परित्याग कर देता है। इस प्रकार वह दुःखों एवं कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है। फिर ऐसे व्यक्ति का मन संसार में नहीं लगता। वह संसार से ऊपर उठ जाता है। इसी बात को सूत्रकार ने इन शब्दों में व्यक्त किया है, कि- “जो अनन्यदर्शी है वह अनन्याराम है और जो अनन्याराम है वह अनन्यदर्शी है।” इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि- जो यथार्थ द्रष्टा है-संसार एवं आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जानता-पहचानता है, वह मोक्ष मार्ग से अन्यत्र गति नहीं करता। क्योंकि- उसका लक्ष्य, उसका ध्येय आत्मा को समस्त कर्म बन्धनों से मुक्त-उन्मुक्त करना है। इसलिए उसके पग उसी मोक्ष-पथ पर ही उठेंगे। जिसके पग उस मोक्ष-पथ पर बढ़ रहे हैं तो समझना चाहिए कि- वह यथार्थ द्रष्टा है। इससे यह बात सिद्ध की है, कि- सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र का समन्वय ही मोक्ष मार्ग है। उक्त त्रिपथ की समन्वित साधना से ही आत्मा समस्त दुःखों से सर्वथा छुटकारा पा सकता है। यह ठीक है कि- इस सूत्र में दर्शन और चारित्राचार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। परन्तु ज्ञान और दर्शन दोनों सहभावी है। क्योंकि- ज्ञान के बिना दर्शन, और दर्शन के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं रहता है। इसलिए ‘अनन्यदर्शी और अनन्याराम’ के द्वारा ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की समन्वित साधना से ही निर्वाण पद बताया गया है।

इसलिए साधु के लिए यह आवश्यक है, कि- वह पहिले कर्मों के स्वरूप को जाने। क्योंकि- दुःख के मूल कारण कर्म ही है। अतः उनके स्वरूप का बोध हुए बिना उनका त्याग कर शकना कठिन है। यहां यह प्रश्न हो सकता है, कि- कर्मों का संपूर्ण स्वरूप किस प्रकार जाना जाए ? इसके लिए आगम में बताया गया है कि-कर्म की मूल प्रकृतियां आठ हैं। और उनका चार प्रकार से बन्ध होता है-१-प्रकृतिबन्ध, २-स्थितिबन्धः, ३-अनुभागबन्ध और ४-

प्रदेशबन्ध। इनके स्वरूप को समझने से कर्म का स्वरूप भलीभांति समझ में आ जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अनन्नदंसी और अनन्नारामे' पाठ की व्याख्या इस प्रकार की गई है- "अन्यद्द्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी तथा नासावनन्यदर्शी इति अनन्यदर्शी अर्थात् - यथावस्थितपदार्थद्रष्टा, कश्चैवंभूतो ? यः सम्यग्दृष्टिः मौनीन्द्रप्रवचनाविर्भूततत्त्वार्थः, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यारामः-मोक्षमार्गादन्यत्र न रमते।" अर्थात् जो व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा होता है, वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित सिद्धांत के अतिरिक्त अन्यत्र रमण नहीं करता और जो अपने चिन्तन-मनन, विचारणा एवं आचरण को अन्यत्र नहीं लगाता वही तत्त्वदर्शी है, परमार्थदर्शी है। और ऐसे ही तत्त्वदर्शी पुरुष तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग का पथ बता सकते हैं, यथार्थ उपदेश दे सकते हैं। क्योंकि- उनके उपदेश में समभाव की प्रमुखता रहती है। वे महापुरुष समदर्शी होते हैं। उनके मन में धनी, निर्धन का, पापी-धर्मी का कोई भेद नहीं होता। उनका ज्ञान-प्रकाश उनकी उपदेश धारा किसी व्यक्ति विशेष, जाति विशेष, संप्रदाय विशेष, वर्ग विशेष के बन्धनों से आबद्ध नहीं होती। वे जिस विशुद्ध भाव से एक ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्ति को उपदेश देते हैं, उसी भाव से दीन-दरिद्रों को भी देते हैं। और जिस अनुग्रह भाव से निर्धन को उपदेश देते हैं, उसी भाव से धनीकों को भी उपदेश देते हैं। ऐसा नहीं कि- गरीब को जो कुछ मन में आया, वह कह दिया और सेठ जी के आते ही जरा व्यवस्थित बातें बनाने लगे।

आगम में अनाथी मुनि का उदाहरण आता है। वे उस युग के एक महान् ऐश्वर्य सम्पन्न एवं शक्तिशाली सम्राट श्रेणिक को भी अनाथ कहते हुए नहीं हिचकिचाते किंतु निर्भयता के साथ राजा श्रेणिक की अनाथता को सिद्ध कर देते हैं। और उस अनाथता की बात को राजा श्रेणिक स्वयं स्वीकार कर लेता है। उस महामुनि ने समस्त धनिकों के धन-सम्पत्ति और राजाओं के ऐश्वर्य एवं सैनिक शक्ति के मिथ्याभिमान एवं अहंकार को निर्मूल कर दिया था। अतः कहने का तात्पर्य यह है कि- भव्य प्राणियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए वे यथार्थ द्रष्टा मुनी कभी भी छोटे-बड़े का भेद नहीं करते। वे सभी जिज्ञासुओं को समान भाव से उपदेश देते हैं।

उपदेष्टा को सभी जीवों के प्रति समभाव रखना चाहिए, साधु के मन में भेद भाव नहीं होना चाहिए। तथा परिषद् अर्थात् श्रोताओं की योग्यता परिस्थिति एवं वहां के देश काल का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि उसे इन बातों का पूरा-पूरा बोध नहीं है, तो उससे अहित होने की भी संभावना हो सकती है। अतः उपदेष्टा कैसा होना चाहिए, और अनर्थ-उपद्रव कैसे आ सकता है, यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ १०६ ॥ १-२-६-९

अवि य हणे अणाइयमाणे, इत्थं पि जाण सेयंति नत्थि, केयं पुरिसे कं च नए ? एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वओ

सव्वपरिणतचारी न लिप्पइ छणपएण, वीरे, से मेहावी अणुग्घायणखेयण्णे, जे य बंधपमुक्खमण्णेसी कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के ॥ १०६ ॥

II संस्कृत-छाया :

अपि च हन्यात् अनाद्रियमानः, अत्राऽपि जानीहि श्रेयः इति नाऽस्ति, कोऽयं पुरुषः ? कं च नतः ? एषः वीरः प्रशंसितः, यः बद्धान् प्रति मोचयति, ऊर्ध्व-अधः-तिर्यक्-दिक्षु, सः सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी न लिप्यते, क्षणपदेन, वीरः सः मेधावी अनुद्घातन-खेदज्ञः, यश्च बन्धप्रमोक्षान्वेषी कुशलः पुनः न बद्धः न मुक्तः ॥ १०६ ॥

III सूत्रार्थ :

कभी अनादर से वह रुष्ट राजा वध करे... “यहां भी श्रेयः नहि है” ऐसा जानो... यह कौन पुरुष है ? किसको नमस्कार करता है ? यह वीर प्रशंसित है, कि- जो उपर नीचे एवं तिरछी दिशाओं में बंधे हुए जीवों को मुक्त करते हैं... तथा सर्व प्रकार से सर्वपरिज्ञाचारी ऐसा यह मुनी हिंसा के पापों से लिप्त होता नहि है... एवं कर्मों के विनाश में निपुण तथा कर्मों के बंधन से छुटने के उपायों को शोधनेवाला कुशल मुनी मोह-ममता का विच्छेद होने से बद्ध नहि है, तथा सत्तागतकर्मों का उदय अभी भी है अतः मुक्त भी नहि है ॥ १०६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह राजा अनादर के कारण से वाणी से तर्जना करे एवं क्रोध के कारण से दंड एवं चाबुक आदि से मारे... कहा भी है कि- वहां उपदेश-सभा पर हि क्रुद्ध ऐसा वह राजा उपदेश कार्य को रोक दे, रज्जु (रस्सी) से बांधे, बाहर निकाल दे, सेना-सीपाहि से सजा दिलावे या देश से हि बाहर निकाल दे...

तथा नंद के बल से चाणक्य, बुद्ध के उत्पत्ति की कथा से भागवत, भल्लिगृह की कहानी से रौद्र, उमा के वृतांत से पेढालपुत्र सत्यकी... प्रद्वेष को प्राप्त हुए... अथवा तो कोइक द्रमक, काणा, कुंट, आदि लोग भी पाप-कर्म के फल कहने से गुस्से में आते हैं, द्वेष धारण करते हैं...

इस प्रकार अविधि से कहने में इसी जन्म में बाधा = पीडाएं होती है, और जन्मांतर में कोइ विशेष अच्छा गुण-लाभ तो है हि नहिं... यह बात अब कहते हैं कि- परहित के लिये धर्मकथा को कहनेवालों को पुन्य होता है, किंतु पर्षदा-सभा को जाने-पहचाने बिना धर्मकथा कहने से पुन्य तो नहि होता है किंतु राजा आदि वे मूढ लोग अनादर के कारण से उन धर्मकथा कहनेवालों का वध पर्यंत का कष्ट दे सकते हैं...

अथवा तो उपदेश में जहां जहां अविधि से कथन होता है वहां वहां कल्याण तो है हि नहीं... जैसे कि- विद्वानों की पर्षदा-सभा में पक्ष, हेतु और दृष्टांतों का अनादर करके सामान्य भाषा से कहना यह अविधि है, और ग्राम्य जनता-मुग्ध लोगों के सामने पक्ष, हेतु और दृष्टांत आदि कहना अविधि है... ऐसा करने से केवल शासन की हीलना और कर्मबंध ही होता है, यहां श्रेयः - कल्याण तो कुछ भी नहीं है... इसलिये कहते हैं कि- विधि को नहीं जाननेवालों के लिये मौन ही कल्याणकर है... कहा भी है कि- पापवाले (सावद्य) और निष्पाप (निरवद्य) वचनों का भेद जो नहीं जानता है उसे तो बोलना भी नहीं कल्पता है तो फिर उपदेश देने की बात की तो बात ही कहां ?

हां, यदि ऐसा है तो अब गीतार्थ-साधु धर्मकथा किस प्रकार कहे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- जो मनुष्य इंद्रियों को वश करनेवाला है, विषय-विष से पराङ्मुख है, संसार से उद्विग्न मनवाला है और वैराग्य से जिसका हृदय भरा हुआ है... ऐसा व्यक्ति यदि धर्म को समझने के लिये पुछता है, तब आचार्य आदि धर्मोपदेशक विचार करें कि- यह पुरुष कौन है ? मिथ्यादृष्टि या भद्रक ? अथवा तो कौन से आशय (कल्पना) से यह पुछ रहा है ? तथा कौन से देव को माननेवाला है ? और इसने कौन से दर्शन-मत का आश्रय किया है ? इत्यादि यथायोग्य विचार करके ही धर्मोपदेश सारांश यह है कि- धर्मकथा की विधि को जाननेवाला साधु अपनी आत्मा से परिपूर्ण होकर द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से श्रोता को समझता है...

वह इस प्रकार- चाणक्य (चनिक), भागवत या ऐसे ही अन्यमत से यह क्षेत्र वासित है ? या पासत्था आदि से ? या उत्सर्गरुचिवालों से यह क्षेत्र भावित है ? इत्यादि... तथा काल से- जैसे कि- यह दुःषम (पांचवा आरा) आदि काल है... अथवा तो दुर्लभद्रव्यवाला काल (दुष्काल) है... इत्यादि... तथा भाव से - राग एवं द्वेष से रहित मध्यस्थ दृष्टिवाले यह मनुष्य है इत्यादि देखकर के जिस प्रकार वे लोग बोध प्राप्त करे वैसे ही प्रकार से धर्मकथा कहे...

इस प्रकार का साधु ही धर्मकथा कहने के लिये योग्य है... जो ऐसे नहीं है उन साधुओं को धर्मकथा कहने का अधिकार ही नहीं है... कहा भी है कि- जो साधु हेतुओं से समझनेवाले श्रोताओं को हेतु से एवं आगम की श्रद्धावालों को आगम के सूत्र से बोध देता है वह ही साधु सच्चा उपदेशक है, बाकी के सभी सिद्धांत के विराधक है...

जो साधु इस प्रकार धर्मकथा की विधि को जानता है वह ही साधु प्रशस्त अर्थात् प्रशंसनीय है... जैसे कि- पुन्यवान् एवं दरिद्रों को धर्मकथा कहने में समदृष्टिवाला, विधि को जाननेवाला, श्रोताओं को पहचाननेवाला और कर्मों का विच्छेद करनेवाला वीर साधु ही

श्लाघनीय है... कि- जो साधु आठ प्रकार के कर्मों से अथवा स्नेह-राग आदि बेडीओं से बंधे हुए प्राणीओ को धर्मकथा के उपदेश आदि द्वारा मुक्त करते हैं... अतः वे तीर्थकर, गणधर या यथोक्तधर्मकथा विधि को जाननेवाले आचार्य आदि हि सच्चे धर्मोपदेशक है...

प्रश्न- उपदेशक कहां रहे हुए जंतुओं को मुक्त करते हैं ?

उत्तर- ऊर्ध्व याने ज्योतिष्क वैमानिक देव आदि... अधः याने भवनपति आदि... और तिर्यक् याने मध्यलोक में रहे हुए मनुष्य आदि जीवों को मुक्त करते हैं...

धर्मोपदेश के द्वारा भव्यजीवों को मुक्त करनेवाला वीर साधु सर्वदा ज्ञ परिज्ञा एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा = दोनो परिज्ञा से अपनी आत्मा को भावित करनेवाला होता है, तथा सर्वपरिज्ञाचारी वह साधु विशिष्ट ज्ञानवाला है एवं सर्वसंवर स्वरूप चारित्रवाला भी है...

प्रश्न- ऐसा साधु कौन से गुण को प्राप्त करता है ?

उत्तर- ऐसा वीर साधु प्राणीओं को पीडा होनेवाली हिंसा-प्राणातियात से लिप्त नहि होते अर्थात् वे अहिंसा गुण को प्राप्त करते हैं...

प्रश्न- क्या वीर का लक्षण इतना हि है ? कि- और भी लक्षण है ?

उत्तर- वह बुद्धिमान् वीर साधु अणोद्घात का खेदज्ञ है... अण याने जीवों का समूह... अथवा चारगति स्वरूप संसार का कारण कर्म... इन आठों कर्म का मूल से हि विनाश करने में खेदज्ञ याने निपुण... अर्थात् इस विश्व में कर्मों के विनाश के लिये तत्पर मुमुक्षुओं को संसार से मुक्त करनेवाला एवं कर्म के क्षय की विधि को जाननेवाला मेधावी कुशल साधु हि वीर है...

तथा जो साधु कर्मों के प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभाव (रस) बंध एवं प्रदेशबंध... इन चारों प्रकार के कर्मों के बंधनों से मुक्ति अर्थात् कर्मबंध हि न हो अथवा बंधे हुए उन कर्मों से मुक्त होने के उपाय को दुंढने (शोधने) वाले हि वीर साधु है... यहां सारांश यह है कि- मूल एवं उत्तरप्रकृति भेदवाले एवं योग के निमित्त से आत्मा में आये हुए तथा कषाय से स्थिति प्राप्त कीये हुए कर्मों की बद्ध-स्पृष्ट, निद्धत एवं निकाचित स्वरूप बध्यमान अवस्था को जानते है तथा उन कर्मों को दूर करने के उपाय को भी वे जानते हैं... ऐसा यहां कहा गया है... ऐसा कहने से कर्मों को दूर करने का अनुष्ठान भी वे जानते हैं... एवं आचरण भी करते है...

प्रश्न- यहां जो आपने कहा कि- अणोद्घातन का खेदज्ञ, तथा बंध एवं मोक्ष को दुंढनेवाला वह वीर साधु है... तो क्या वह साधु छद्मस्थ है कि- केवली है ?

उत्तर- केवली को पूर्वोक्त विशेषण की आवश्यकता नहि है, अतः यहां छद्मस्थ साधु का ग्रहण किया गया है... यदि छद्मस्थ साधु ऐसा विशिष्ट गुणज्ञ है, तब केवली की तो

बात हि कहाँ ?

कुशल याने क्षीणघातिकर्मवाला... तीर्थकर या सामान्य केवली... अथवा कर्मों से बद्ध किंतु मोक्षार्थी और मोक्ष के उपायों को हुंढनेवाला... साधु... तथा केवली भगवान् तो क्षीण घातिकर्मोवाले होने से बद्ध नहि है, और भवोपग्राही चार अघातिकर्मों के सद्भाव से मुक्त भी नहि है अतः उन्हें अबद्धमुक्त कहा गया है...

अथवा तो यहां छद्मस्थ मुनी को ग्रहण करें तो कुशल याने ज्ञान-दर्शन-चारित्रवाला तथा मिथ्यात्व एवं बारह कषायों का उपशम होने के कारण से उनके उदयवाले जीवों की तरह वे बद्ध नहि है, और अभी भी उन कर्मों की आत्मा में सत्ता है, अतः सर्वथा मुक्त भी नहि है...

इस प्रकार वह कुशल मुनी केवली हो या छद्मस्थ... वे कुशल मुनी पुरातनकाल में जो आचरण करते थे, या वर्तमानकाल में पंचाचार का आचरण करते हैं, उन्हें अन्य मुनी भी आचरण करे... इस प्रकार के उपदेश की बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है, कि- उपदेशक को स्व और पर सिद्धान्त के साथ श्रोताओं की स्थिति, योग्यता एवं मान्यता का भी ज्ञान होना चाहिए। यदि वह परिषद् में उपस्थित व्यक्तियों की प्रकृति से परिचित नहीं है, तो ऐसी स्थिति में दिया गया उपदेश अनर्थ एवं उपद्रव के स्वरूप में परिणत हो सकता है, उसका परिणाम उपदेशक की अपेक्षा के विपरीत भी आ सकता है।

श्रोताओं के विचारों को जाने बिना दिया गया उपदेश कभी कभी उनकी भ्रमणाओं को को बढ़ा देता है। अपने विचार एवं मान्यताओं से विपरीत बात सुनकर उनके विचारों में आवेश आ जाना स्वाभाविक है और फिर उन्हें संभालना वक्ता के लिए कठिन हो जाता है। आजकल सभाओं में कई बार ऐसे विषम प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- धर्मोपदेशक मुनि को श्रोताओं के अभिप्राय का, उन की मान्यताओं का बोध होना चाहिए। अन्यथा उसके उपदेश से लोगों में उनके प्रति अनादर का भाव उत्पन्न होगा और परिणाम स्वरूप वे उपदेशक को तिरस्कार एवं अपमान जन्य शब्दों से तिरस्कृत कर सकते हैं। यदि कहीं वे अधिक उग्र हुए तो डंडे आदि का प्रहार भी कर सकते हैं। अतः जो वक्ता देश, काल एवं श्रोताओं की मान्यताओं से परिचित होता है, वह परिषद् में कभी भी उपहास-अपमान को प्राप्त नहीं होता।

उपदेश का उद्देश्य लोगों को यथार्थ मार्ग दिखाना है। इसलिए उपदेशक को बड़ी

सतर्कता से उपदेश देना चाहिए। उपदेशक का कार्य इतना ही है कि- वह उपदेश के द्वारा श्रोताओं को सत्य-अहिंसा आदि आत्म गुणों की ज्योति जगाकर उन्हें आत्म चिन्तन एवं सदाचार की ओर गतिशील कर दे। और यह काम तभी हो सकेगा जब कि- वह उनके विचारों से परिचित होगा और उन्हीं की भाषा में उन्हें समझाने में प्रवीण होगा।

उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन में जयघोष-विजयघोष के प्रकरण में उपदेशक की शैली का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। दोनों व्यक्ति ब्राह्मण कुल में जन्मे थे, परन्तु एक श्रमण-निर्ग्रन्थ बन गया और दूसरा वैदिक यज्ञ-याग में उलझ रहा है। एक समय मुनि जयघोष वाराणसी में पधारते हैं और भिक्षा के लिए विजयघोष के यहां जा पहुंचते हैं। विजयघोष ब्राह्मण जयघोष-मुनि को यह कह कर भिक्षा देने से इन्कार कर देता है कि- मैं वेद में पारंगत एवं वैदिक धर्म का अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण को ही भिक्षा दूंगा। जयघोष मुनि इससे रुष्ट नहीं होते हैं, वे समभाव पूर्वक खड़े रहते हैं और वैदिक विचार के अनुसार धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं। वे उसे याज्ञिक भाषा में तत्त्व का उपदेश देते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि- विजयघोष के मन में श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह चिन्तन की गहराई में उतरता है, मुनि धर्म को स्वीकार कर लेता है। और उत्कृष्ट साधना के द्वारा समस्त कर्मों को तोड़कर दोनों महामुनि जयघोष एवं विजयघोष मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है, कि- वक्ता को बोलने से पहिले श्रोता के विचारों का ज्ञान होना ज़रूरी है। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि- यह किस मत का है और यदि कोई उससे प्रश्न पूछ रहा हो तो उस समय भी यह ध्यान रखना चाहिए कि- प्रश्न कर्ता का उद्देश्य क्या है? वह समझने की दृष्टि से पूछ रहा है या वक्ता की परीक्षा करने के लिए या उसे निरुत्तर करने या पराजित करने की दृष्टि से पूछ रहा है। उक्त सारी परिस्थितियों एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला वक्ता ही उपदेश देने योग्य है। वह श्रोताओं के तथा प्रश्नकर्ता के मन का यथार्थ समाधान कर सकता है। उन्हें यथार्थ मार्ग बता सकता है। वह उन्हें कर्म बन्धन से मुक्त होने का मार्ग बताने में भी योग्य है। क्योंकि- वह ज्ञान सम्पन्न और सदा-सर्वदा हिंसा आदि दोषों से दूर रहता है। इसलिए वह प्रबुद्ध पुरुष कर्मों को क्षय करने में निपुण है और वह प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध, इन चार प्रकार के कर्मबन्धों से बचने एवं पूर्व बन्धे हुए बन्धनों से मुक्त होने के प्रयत्न में सदा संलग्न रहता है। ऐसे महापुरुष को वीर, मेधावी, कुशल, खेदज्ञ आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “अणुग्घायण खेयन्ने” और “बन्धपमुक्खमन्नेसी” दोनों शब्दों की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है कि- “जिस के प्रभाव से यह जीव संसार में प्ररिभ्रमण करता है, उसको अण-कर्म कहते हैं। उस कर्म का जो सर्वथा क्षय करने में समर्थ

है, उसे खेदज्ञ कहते हैं।” इसका तात्पर्य यह है, कि- जो व्यक्ति कर्मों को क्षय करने की विधि जानता है वही मुमुक्षु-कर्म क्षय के लिए उद्यत पुरुषों में कुशल एवं वीर माना जाता है। जो चारों प्रकार के बन्ध एवं बन्धन से छूटने के उपाय में संलग्न है, उसे बन्ध-मोक्षान्वेषक कहते हैं।

परन्तु यहां इतना ध्यान रखना चाहिए कि- ‘अणुघायणखेयन्ने’ शब्द से मूल और उत्तर कर्म प्रकृतियों के भेद प्रभेद के ज्ञाता है, और मन-वचन का यदि योग निमित्त से आने वाले कषायमूलकबध्यमान कर्म की जो बद्ध, स्पृष्ट निधत्त और निकाचित स्वरूप अवस्था है, उसको तथा उसे दूर करने के उपाय को भी जो जानता है, और बन्धपमुक्खमन्नेसी, शब्द से कर्म बन्धन से छूटने के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान अपेक्षित है, इसलिए यहां पुनरुक्ति दोष का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है।

प्रश्न- इस विवेचन से यह जानने की इच्छा होती है, कि- कर्मों को सर्वथा क्षय करने में निपुण एवं बन्धमोक्ष का अन्वेषक पुरुष छद्मस्थ है या वीतराग-सर्वज्ञ है ?

उत्तर- इसका समाधान यह है कि- ऐसा व्यक्ति छद्मस्थ ही हो सकता है, न कि- केवली। क्योंकि- उक्त विशेषण केवली पर घटित नहीं होते हैं। इसलिए वह छद्मस्थ गीतार्थ साधु होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त ‘कुसले’ शब्द केवली और छद्मस्थ दोनों का परिचायक है। यदि उसका अर्थ यह करें कि- जिसने घातिकर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया है, उसे कुशल कहते हैं। यह कुशल शब्द तीर्थंकर या सामान्य केवली का बोधक है और जब इसका यह अर्थ करते हैं जो मोक्षाभिलाषी है और कर्मों को क्षय करने का उपाय सोचने एवं उसका प्रयोग करने में संलग्न हैं, उसे कुशल कहते हैं। तब कुशल शब्द से छद्मस्थ साधु का बोध होता है।

इसके अतिरिक्त केवली ने चारों घातिकर्मों का क्षय कर दिया है, इसलिए वह कर्मों से आबद्ध नहीं होता, परन्तु अभी तक उस में भवोपग्राही-वेदनीय, नाम गोत्र और आयु कर्म का सद्भाव है, अतः वह मुक्त भी नहीं कहलाता। इसलिए ‘कुसले’ शब्द के आगे ‘नो बद्धे न मुक्के’ शब्दों का प्रयोग किया गया है। परन्तु छद्मस्थ साधु के लिये कुशल शब्द का प्रयोग कीया जाय तब ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके उस मोक्ष पथ पर गतिशील वह साधु मिथ्यात्व एवं कषाय के उपशम से उसकी आत्मा में ज्ञान का उद्भव है, इसलिए वह संसार में परिभ्रमण करने वाले मिथ्यात्व आदि से बद्ध नहीं है; परन्तु अभी तक उसने उनको सर्वथा क्षय नहीं किया है, इसलिए वह मुक्त भी नहीं है।

अब मुमुक्षु पुरुष को किस प्रकार प्रवृत्ति करनी चाहिए, इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार

महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १० ॥ ॥ १०७ ॥ १-२-६-१०

से जं च आरभे, जं च नारभे, अनारब्धं च न आरभे, छणं छणं परिणाय
लोगसण्णं च सब्वसो ॥ १०७ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः यत् च आरभते, यत् च न आरभते, अनारब्धं च न आरभते, क्षणं क्षणं
परिज्ञाय लोकसंज्ञां च सर्वशः ॥ १०७ ॥

III सूत्रार्थ :

वह कुशल मुनी संयम को आचरता है, और संसार के कारणों को आचरता नहि
है... तथा अनारब्ध = अनाचीर्ण को आचरता नहि है... वह मुनी प्राणीवध को और अवसर
को देखकर के तथा सर्व प्रकार से लोकसंज्ञा को जान करके ॥ १०७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

उस कुशल मुनी ने आरंभ करने योग्य सभी कर्मों के क्षय का उपाय अथवा तो
संयमानुष्ठान का जो आरंभ किया है, और करता है तथा आरंभ नहि करने योग्य संसार के
कारण मिथ्यात्व-अविरति आदि का आरंभ नहि किया है... और नहि करता है... तथा संसार
के कारण मिथ्यात्व-अविरति आदि और प्राणातिपातादि अद्धारह पापस्थानक का एकांत (निश्चत)
से ही त्याग करने पर विधेय ऐसे संयमानुष्ठान का सद्भाव सामर्थ्य से हि प्रतीत होता हि है,
अतः कहते हैं कि- केवली और विशिष्ट मुनीओं ने जिस अनाचीर्णों का त्याग किया है, उनका
मुमुक्षु-साधु भी त्याग करें... और मोक्ष के उपार्यों की आचरणा का आचरण करें...

परमात्मा ने त्याग योग्य जो बावन अनाचीर्ण कहे हैं उन अनाचीर्णों का सावधानी
से त्याग करें... तथा क्षण याने हिंसा... अर्थात् जिस जिस कारणों से प्राणीवध स्वरूप हिंसा
होती है, उन उन कारणों को ज्ञ परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करें...
यहां कारण में कार्य का उपचार किया है...

तथा क्षण याने अवसर अथवा कर्तव्य काल... याने संयमानुष्ठान... उनको ज्ञ परिज्ञा
से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से आचरण करें...

तथा लोकसंज्ञा = लोक याने गृहस्थलोक तथा संज्ञा याने जो शब्दादि विषया की
आसक्ति से होनेवाली कामभोग के उपभोग की इच्छा अथवा परिग्रह संज्ञा... उनको ज्ञ परिज्ञा

से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करें...

सर्वशः याने सभी प्रकार से अर्थात् तीन योग और तीन करण से याने मन-वचन-काया से करण-करावण और अनुमोदन प्रकार से लोकसंज्ञा का त्याग करें...

इस प्रकार पूर्व कहे गये यथोक्तगुणवाले, धर्मकथाविधिज्ञ, बद्ध प्रतिमोचक, कर्मोद्घातन-खेदज्ञ, बंध और मोक्ष का अन्वेषक, सन्मार्ग में रहे हुए, कुमार्ग का त्याग करनेवाले, हिंसादि अद्वारह पाप स्थानकों के त्यागी एवं लोकसंज्ञा को जाननेवाले साधु को क्या लाभ होता है ? यह बात अब इस उद्देशक के अंतिम सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

संसार का कारण कर्म है और उनसे सदा मुक्त होना यह साधक का उद्देश्य है, लक्ष्य है। इसलिए वह मुनि कुशल कहा गया है, कि- जो संयम साधना के द्वारा कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करता है। वह प्रबुद्ध साधक मिथ्यात्व, अविरति आदि दोषों से दूर रहता है, और वह साधु पंचाचार का पालन करता हुआ अनाचीर्ण का त्याग करता है...

‘छणं-छणं’ शब्द का अर्थ है-हिंसा। अतः मुनि हिंसा का त्याग कर के संयम साधना में प्रवृत्त होता है। उसके लिए वह लोक संज्ञा आदि का भी त्याग कर देता है। लौकिक भोगोपभोग एवं परिग्रह का त्याग कर देने पर ही वह आत्म सुख का अनुभव कर सकता है।

इससे स्पष्ट हुआ कि- कर्मों को क्षय करने के लिए हिंसा आदि दोषों एवं अनाचरणीय क्रियाओं का त्याग करके जो शुद्ध संयम में प्रवृत्ति करता है, वह साधु अपना आत्म विकास करते हुए दूसरे को भी यथार्थ मार्ग बताता है।

वस्तुतः उपदेश की किसको आवश्यकता होती है और संसार में कौन परिभ्रमण करता है ? इस बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ११ ॥ ॥ १०८ ॥ १-२-६-११

उद्देशो पासगस्स नत्थि, बाले पुणो निहे कामसमणुणो असमियदुक्खे दुक्खी,
दुक्खाणमेव आवट्टं अनुपरियट्टइ त्ति वेमि ॥ १०८ ॥

II संस्कृत-छाया :

उद्देशः पश्यकस्य नास्ति, बालः पुनः निहः (स्निग्धः) कामसमनुजः
अशमितदुःखः दुःखी दुःखानामेव आवर्त्तं अनुपरिवर्त्तते इति ब्रवीमि ॥ १०८ ॥

III सूत्रार्थ :

समझदार साधु को उद्देश याने उपदेश की आवश्यकता नहि है... और जो बाल याने अज्ञानी जीव है वह निह (सरागी), कामासक्त, अशांतदुःखवाले दुःखी और दुःखों के हि आवर्त्तो में परिभ्रमणा करते हैं... ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) हे जंबू ! तुम्हे कहता हुं ॥ १०८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

नारक आदि के दुःखो के कारण कर्म है इत्यादि उद्देश याने उपदेश की आवश्यकता पश्यक याने परमार्थ दृष्टिवाले साधुओं को नहि है... इत्यादि तथा बाल याने अज्ञानी जीव निह याने हिंसावाले, अथवा स्निग्ध याने रागवाले, कामभोग की इच्छावाले, अशांतदुःखवाले, दुःखी और दुःखों के हि आवर्त्तो में परिभ्रमणा करते हैं इत्यादि... आक्षेप याने प्रश्न और परिहार याने उत्तर पूर्ववत् हि समझीयेगा... “इति” शब्द समाप्ति सूचक है और “ब्रवीमि” पद पूर्व की तरह जानीयेगा...

यहां इस छठे उद्देशक की परिसमाप्ति में सूत्रानुगम पूर्ण हुआ.. तथा सूत्रालापकनिष्पन्न निक्षेप भी पूर्ण हुआ... और सूत्र स्पर्शिनिर्मुक्ति भी पूर्ण हुइ...

अब नैगम आदि नय कहते हैं... किंतु वे अन्य जगह विस्तार से कह चूके हैं, अतः यहां हम नहि कहते हैं... तो भी संक्षेप से कहते हैं कि- सातों नय ज्ञाननय एवं क्रियानय के अंतर्गत हो जाते हैं अतः इन दो नयों को हि यहां कहते हैं... इन दो नयों में भी परस्पर पक्ष की सापेक्षता होने से, निरपेक्ष ऐसे एक एक नय मोक्ष का कारण न हो पाने के कारण से मिथ्या हि है... अतः अंधे और पंगु याने लंगडे मनुष्य की तरह परस्पर सापेक्ष नय भाव से हि इष्टकार्य याने मोक्ष पद की प्राप्ति होती है ऐसा समझीयेगा... ऐसा यहां सूत्रकार का कथन जानने में आता है... और यह हि यहां रहस्य है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में स्पष्ट कर दिया है, कि- जो यथार्थ द्रष्टा है, तत्त्वज्ञ है उसे उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि- वह अपने कर्तव्य को जानता है और अपने संयम पथ पर सम्यक्तया गति कर रहा है। इसलिए वह संसार सागर से पार होने में समर्थ है। संसार सागर को पार करने के लिए ज्ञान और क्रिया आवश्यक हैं। इनकी समन्वित साधना से ही साधु अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। इसलिए निर्वाण पद को पाने के लिए ज्ञान और चारित्र दोनों को स्वीकार करना जरूरी है।

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य यही है, कि- कषाय, राग-द्वेष एवं विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं, कि-

कषाय, राग-द्वेष एवं विषय वासना ही संसार है। क्योंकि- संसार का मूलाधार ये ही हैं। इनमें आसक्त रहने वाला व्यक्ति ही संसार में घूमता है। अतः इनका त्याग करना, विषय-वासना में प्रवृत्त योगों को उस ओर से रोक कर संयम में लगाना, यही संसार से मुक्त होने का उपाय है और यह ही लोक पर विजय प्राप्त करना है। जो व्यक्ति काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि अंतरंग शत्रुओं को जीत लेता है, उसके लिए अब कुछ भी जीतना शेष नहीं रहता। लोक में उसका कोई शत्रु नहीं है। संपूर्ण लोक-संसार उसका अनुचर-सेवक बन जाता है।

इसका तात्पर्य यह है, कि- विषय-वासना की आसक्ति का त्याग करने वाला जीव हि अनन्त सुख को प्राप्त करता है। उसमें आसक्त रहने वाला व्यक्ति असीम दुःखों को प्राप्त करता है। उसके दुःखों का कभी भी अन्त नहीं आता। अतः मुमुक्षु पुरुष को विषयों में आसक्त न होकर, संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझीयेगा।

॥ इति द्वितीयाध्ययने षष्ठः उद्देशकः समाप्तः ॥

इति लोकविजयाभिधं द्वितीयमध्ययनं समाप्तम्

५१ ५१ ५१

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. ९६. ५१ विक्रम सं. २०५८.

अथ आचाराङ्गसूत्रे प्रथमश्रुतस्कन्धे

तृतीयमध्ययनम्

卐 शीतोष्णीयः 卐

द्वितीय अध्ययन कह चूके... अब तृतीय अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... और इसका परस्पर यह संबंध है कि- प्रथम शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में अर्थाधिकार के प्रसंग में कहा था कि- शीत याने अनुकूल और उष्ण याने प्रतिकूल परिषहों को सम भाव से सहन करना चाहिये... वह बात अब यहां तृतीय अध्ययन में कहते हैं...

जैसे कि- शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में कहे गये महाव्रतों से संपन्न एवं लोकविजय नाम के द्वितीय अध्ययन में कहे गये संयमानुष्ठान में रहे हुए एवं कषाय आदि भाव लोक को जीतनेवाले मुमुक्षु साधु को कभी भी अनुकूल और प्रतिकूल परिषह प्राप्त हो, तब मन को विकृत कीये बिना हि समभाव से उन्हे सहन करें... इस संबंध से यह तृतीय अध्ययन यहां आया हुआ है... इस अध्ययन के उपक्रम निक्षेप अनुगम और नय यह चार अनुयोग द्वार होते हैं, उनमें उपक्रम द्वार में अर्थाधिकार के दो प्रकार है... १. अध्ययन अर्थाधिकार, और २. उद्देश अर्थाधिकार... उनमें अध्ययन अर्थाधिकार पहले कह चूके है... अतः अब उद्देश-अर्थाधिकार कहने के लिये निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामीजी निर्युक्ति-गाथा से कहते हैं...

नि. १९८/१९९

प्रथम उद्देशक में- असंयत जीव सोये हुए हैं... दुसरे उद्देशक में- असंयत जीव दुःखों को पाते हैं... तृतीय उद्देशक में- संयमानुष्ठान के बिना मात्र दुःखों को सहन करने से हि श्रमण नहि कहलाते हैं... और चौथे उद्देशक में- कषायों का वमन तथा पापों की विरति से हि ज्ञानी को संयम और मोक्ष होते हैं...

प्रथम उद्देशक में- अर्थाधिकार इस प्रकार कहा है कि- भाव-निद्रा में सोये हुए अर्थात् विवेक रहित ऐसे असंयत याने गृहस्थ लोगों को दोष-पाप होता है, और मोहनिद्रा का त्याग करके जागनेवाले संयत-श्रमणों को आत्म-गुण होता है...

द्वितीय उद्देशक में- यह भावनिद्रावाले असंयत = गृहस्थ लोग जिस प्रकार दुःखों का अनुभव करते हैं वह बात कहेंगे...

तृतीय उद्देशक में- संयमानुष्ठान को किये बिना मात्र दुःखों को सहन करने से हि श्रमण नहि कहलाते हैं...

चतुर्थ उद्देशक में- कषायों का वमन करना चाहिये, और पाप कर्मों की विरति करनी चाहिये... ऐसे हि विदितवेद्य याने विद्वान् साधु को हि संयम होता है और क्षपकश्रेणी के क्रम से घातिकर्मों का क्षय होने से केवलज्ञान और भवोपग्राही अघातिकर्मों के क्षय से मोक्ष होता है...

नामनिष्पन्न निक्षेप में “शीतोष्णीय” अध्ययन नाम है, अतः “शीत” एवं “उष्ण” पद के निक्षेप कहते हैं...

नि. २००

नाम-स्थापना द्रव्य और भाव यह चार निक्षेप “शीत” पदके कहेंगे... और “उष्ण” पदके भी यही चार निक्षेपे कहे जाएंगे...

यहां नाम और स्थापना सुगम होने से न कहते हुए अब द्रव्य निक्षेप शीत एवं उष्ण कहते हैं...

नि. २०१

द्रव्य से शीतल द्रव्य, द्रव्य शीत है और उष्ण द्रव्य, द्रव्य उष्ण है... तथा भाव शीत याने पुद्गल का शीत गुण और भाव उष्ण याने पुद्गल का उष्ण गुण...

तथा जीव के गुण अनेक प्रकार से है... वे इस प्रकार- ज्ञ शरीर एवं भव्य शरीर से भिन्न तद्व्यतिरिक्त द्रव्य शीत याने शीत गुणवाले जो हिम, तुषार, करा आदि बर्फ स्वरूप द्रव्य शीत... यहां गुण और गुणवाले का अभेद भाव को ध्यान में लेकर कहते हैं कि- शीत के कारण जो बर्फ आदि द्रव्य... वे द्रव्य शीत हैं... यहां अप्रधान द्रव्य शीत समझीयेगा... इसी प्रकार अग्नि आदि द्रव्य उष्ण जानीयेगा...

भाव शीत एवं भाव उष्ण पुद्गल और जीव की अपेक्षे से दो दो प्रकार से हैं... उनमें पुद्गलाश्रित भावशीत याने पुद्गल का शीत-स्पर्श गुण... यहां प्रधानता से गुण की विवक्षा करते हैं... इसी प्रकार भाव-उष्ण भी जानीयेगा... जीव के शीत एवं उष्ण स्वरूप गुण अनेक प्रकार से हैं... वे इस प्रकार- औदयिक आदि छह (६) भाव... उनमें कर्मों के उदय से प्रगट होनेवाले नारक आदि भव तथा कषाय की उत्पत्ति स्वरूप उष्ण... यह औदयिक भाव भाव-उष्ण है... तथा कर्मों के उपशम से प्राप्त सम्यक्त्व एवं विरति याने चारित्र स्वरूप औपशमिक भाव वह भावशीत है... इसी प्रकार क्षायिक भाव भी भावशीत है... क्योंकि- यह क्षायिक सम्यक्त्व एवं क्षायिक चारित्र स्वरूप है...

अथवा सभी कर्मों के दाह = विनाश के बिना जिसकी प्राप्ति न हो वह केवलज्ञानादि गुण भाव उष्ण गुण है... शेष याने बाकी के भी सभी गुण इसी विवक्षा से दो दो प्रकार के जानीयेगा...

जीव के इस शीत एवं उष्ण भाव गुणों का विवेक स्वयं निर्युक्तिकार हि प्रगट करते हैं...

नि. २०२

जीव के परिणाम स्वरूप भावशीत यहां ग्रहण करें... जीव का वह परिणाम इस प्रकार है कि- मोक्षमार्ग से पतन न हो इस प्रकार से कर्मों की निर्जरा के लिये परिषहों को समभाव से सहन करना चाहिये... तथा प्रमाद याने संयमानुष्ठान में शीथिलता अथवा प्रमादाचरण... और उपशम याने मोहनीयकर्म का उपशम... और वह सम्यक्त्व तथा सर्वविरति स्वरूप है... उपशम श्रेणी में यह उपशम भाव होता है... तथा मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक भाव होता है... तथा विरति याने प्राणातिपात आदि पापों की विरति स्वरूप विरति से युक्त सत्तरह (१७) प्रकार का संयम... तथा सुख याने सातावेदनीय कर्मों के उदय से होनेवाला साता-सुख...

परिषह का स्वरूप पहले कह चुके हैं... तथा तपश्चर्या में यथाशक्ति उद्यम... तपश्चर्या के बारह भेद हैं... तथा क्रोध आदि कषाय... शोक याने इष्ट की प्राप्ति न होना अथवा तो इष्ट के विनाश से होनेवाली आधि याने मानसिक चिंता = आर्तध्यान... तथा स्त्रीवेद-पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद स्वरूप तीन वेद... तथा अरति याने अरति मोहनीय कर्म के विपाकोदय से होनेवाली चित्त की अस्वस्थता तथा दुःख याने असाता-वेदनीय कर्म का विपाकोदय इत्यादि...

यह परिषह आदि कष्ट, पीडा-दायक होने से उष्ण है... यह गाथा का संक्षेप-अर्थ है... विस्तार से तो स्वयं निर्युक्तिकार हि कहेंगे... क्योंकि- मंद-मतिवालों को बे समझ या संशय या विपरीत समझ होना संभव है अतः इन दोषों को दूर करने के लिये स्वयं निर्युक्तिकार कहते हैं कि-

नि. २०३

स्त्री-परीषह, सत्कार परीषह, यह दोनो शीत हैं... क्योंकि- यह दोनों भाव-मन को अनुकूल हैं... और बाकी के शेष बीस (२०) परीषह उष्ण है... क्योंकि- यह सभी भावमन को प्रतिकूल हैं... अथवा तो अन्य प्रकार से परीषहों का शीत एवं उष्णत्व कहते हैं...

नि. २०४

जो परीषह तीव्र परिणामवाले हैं वे उष्ण हैं, और जो परीषह मंद परिणामवाले हैं वे शीत हैं... तीव्र याने दुःसह और परिणाम याने परिणति जिसकी हो वे परीषह उष्ण हैं और

जो परीषह मंद परिणामवाले हैं वे शीत है... यहां सारांश यह है कि- जो जो परीषह शरीर में दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं वे समभाव से सहन न होने के कारण से आधि याने मानसिक चिंता को, आर्त्तध्यान को करते हैं वे तीव्र परिणामवाले होने से उष्ण है... और जो जो परीषह मात्र शरीर को हि दुःख-पीडा देते हैं, किंतु महासत्त्वशाली पुरुष को मानसिक पीडा नहीं देते हैं वे भाव से मंद परिणामवाले हैं अतः शीत हैं... अथवा जो जो परीषह तीव्र परिणाम की प्रबलता से प्रगट होते हैं वे उष्ण, और जो परीषह मंद परिणामवाले होने के कारण से अल्प पीडा देते हैं वे शीत हैं...

परीषह के बाद शीत स्वरूप प्रमाद कहा तथा उष्ण स्वरूप तपश्चर्या का उद्यम कहा था वह बात अब आगे की निर्युक्ति-गाथा से कहते हैं...

नि. २०५

जो साधु श्रमणधर्म में प्रमाद करता है याने उद्यम नहि करता... तथा अर्थ याने धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्ण आदि में तथा उनके उपाय में उद्यम करते हैं उन्हे शीतल याने शिथिल कहते हैं... और जो श्रमणधर्म में उद्यम करते हैं उन्हें उष्ण याने उग्रविहारी कहते हैं...

अब “उपशम” पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं...

नि. २०६

क्रोध आदि कषायों के उदय के अभाव में उपशम होता है, अतः कषाय स्वरूप अग्नि के उपशम से वह साधु शीत याने शमभाववाला होता है... अर्थात् क्रोधादि की ज्वालाओं के अभाव में वह साधु परिनिर्वाण याने शांत होता है... तथा राग एवं द्वेष स्वरूप अग्नि के उपशम से वह साधु उपशांत है... तथा क्रोधादि के परिताप का उपशमन होने से वह साधु प्रसन्न सुखी है... क्योंकि- उपशांत कषायवाला हि साधु ऐसा शांत होता है... इसीलिये उपशांतकषायवाला साधु शीत होता है...

यह शीतीभूत, परिनिर्वृत्त, शांत, प्रह्लादित, उपशांतकषाय, यह सभी एक अर्थवाले पद-शब्द हैं...

अब “विरति” पद की व्याख्या कहते हैं...

नि. २०७

जीवों को अभयदान देनेवाला साधु शीत याने सुख का मंदिर है... अतः सभी दुःखों के कारण ऐसे द्वन्द्वों के विराम से सत्तरह (१७) भेदवाला संयम शीत है... तथा इससे विपरीत असंयम उष्ण है... और संयमासंयम याने देशविरति शीतोष्ण स्वरूप है... अथवा तो विवक्षा अनुसार सुख और दुःख के पर्याय = स्वरूप अन्य प्रकार से भी शीत और उष्ण होता है...

अब “सुख” पद का विवरण करते हैं...

नि. २०८

सुख याने शीत... और वह सभी द्वन्द्वों के विराम से एकांतिक अनाबाध लक्षणवाला और निरूपाधिक सुख परमार्थ दृष्टि से मुक्तिसुख हि है... अन्य नहीं... क्योंकि- यह शीत ऐसा मुक्तिसुख सभी कर्मों के उपताप के अभाव से हि होता है अतः इसे शीत कहते हैं... तथा निर्वाण याने सभी कर्मों का क्षय अथवा कर्मों के क्षय से लोकाग्र भाग पे रही हुई सिद्धशिलावाले विशिष्ट आकाश प्रदेश... अथवा वहां होनेवाला आत्मा का सुख वह निर्वाणसुख...

सुख, शीतीभूत और अनाबाध पद यह सभी निर्वाणसुख के एकार्थक पर्यायवाचक पद हैं...

इस संसार में भी साता-वेदनीय कर्म के विपाकोदय से होनेवाला सुख भी शीत है... क्योंकि- ऐसी स्थिति में भी मनः कुछ आह्लाद-प्रसन्नता को पाता है... इससे जो विपरीत है वह दुःख है, और उसे उष्ण कहते हैं...

अब “कषाय शोक आदि” पदों की व्याख्या करते हैं...

नि. २०९

तीव्र याने उग्र कषाय के विपाकोदय स्वरूप अग्नि से यह प्राणी जलता रहता है... तथा इष्ट के वियोग से उत्पन्न होनेवाले शोक से यह प्राणी पराभव पाकर शुभ व्यापार-क्रियाओं के अभाव में जलता रहता है... तथा वेद के उदय से पुरुष स्त्री को चाहता है और स्त्री पुरुष को चाहती है तथा नपुसंक प्राणी स्त्री और पुरुष दोनों को चाहता है... किंतु इच्छा पूर्ण न होने से अरति के ताप से वह प्राणी जलता रहता है... तथा च शब्द से अन्य भी भोग-उपभोग की सामग्री की प्राप्ति न होने से अरति के ताप से प्राणी जलता रहता है... इस प्रकार कषाय, शोक और वेद का उदय प्राणी को जलानेवाले होने से “उष्ण” हैं... अथवा तो संपूर्ण मोहनीय कर्म या आठों कर्म हि उष्ण हैं... और उनको भी जलानेवाला तप “उष्णतर” है...

प्रश्न- तप उष्णतर क्यों हैं ?

उत्तर- तप कषाय शोक आदि को भी जलाकर भस्म कर देता है अतः तप “उष्णतर” हैं...

आचार्यजी ने जिस अभिप्राय को लेकर द्रव्य एवं भाव भेदवाले परिषह-प्रमाद-उद्यम आदि स्वरूप शीतोष्ण कहे हैं... उस अभिप्राय को अब कहते हैं....

नि. २१०

शीत और उष्ण के स्पर्श से होनेवाली वेदना-पीडा से यह प्राणी आर्तध्यानवाला होता

है... शरीर एवं मन को जो अनुकूल है वह शीत याने सुख है तथा शरीर एवं मन को जो प्रतिकूल है वह उष्ण याने दुःख है... अतः तप, संयम एवं उपशम में तत्पर ऐसा साधु शीत एवं उष्ण स्वरूप परीषह, कषाय, वेद एवं शोक को समभाव से सहन करते हैं...

अब उपसंहार के द्वारा कहने का सारांश यह है कि- साधु शीत एवं उष्ण को समभाव से सहन करें...

नि. २११

“शीत” याने शरीर एवं मन को सुख स्वरूप परीषह, प्रमाद, उपशम और विरति आदि तथा शरीर एवं मन को दुःख देनेवाले परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, अरति इत्यादि “उष्ण” हैं उन्हें मुमुक्षु साधु समभाव से सहन करें... किंतु सुख में उत्कर्ष-अभिमान न करें एवं दुःख में विषाद-खेद न करें... परंतु उन परिषहादि को संयम-भाव से सहन करें कि- काम-विकार एवं कषायभाव आदि उत्पन्न हि न हो...

नामनिष्पन्न निक्षेप पूर्ण हुआ, अब सूत्रानुगम में स्वलनादि दोष रहित, शुद्ध उच्चार आदि गुण सहित सूत्र का उच्चार (पाठ) करें...

इति तृतीयाध्ययने उपक्रम-निक्षेप...

ॐ



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ३ उद्देशक - १

५ भावसुप्तः ५

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १०९ ॥ १-३-१-१

सुप्ता अमुणी, सया मुणिणो जागरंति ॥ १०९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सुप्ता अमुनयः, सदा मुनयः जाग्रति ॥ १०९ ॥

III सूत्रार्थ :

जो मुनी नहीं हैं वे सोये हुए हैं और मुनिलोग हमेशा जागते रहते हैं ॥ १०९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस सूत्र का इससे पूर्व के सूत्र के साथ रहे हुए संबंध को कहते हैं... वह इस प्रकार- पूर्व के सूत्र के अंत भाग में कहा था कि- इस संसार में दुःखी प्राणी दुःखों के हि आवर्त्तो में परिभ्रमणा करते हैं इत्यादि...

अन्यत्र भी कहा है कि- इस विश्व में सभी प्राणीओं को दुरंत अज्ञान-महारोग के सिवा और कोइ दुःख का कारण नहि है ऐसा मेरा मानना है... इत्यादि...

यहां सुप्त याने शयन करना... वह दो प्रकार से है... १. द्रव्य से शयन करना... २. भाव से सो जाना... उनमें द्रव्य से शयन करना याने निद्रा एवं प्रमादवाले होना... तथा भाव से शयन करना याने मिथ्यात्व और अज्ञान स्वरूप मोहानिद्रा से मूर्च्छित होना... इसलिये कहा कि- अमुनी याने मिथ्यादृष्टि प्राणी सदा सम्यग् ज्ञानवाले अनुष्ठान से रहित होने के कारण से "भावसुप्त" हैं और जो मुनी हैं वे सम्यग् बोधवाले होने से मोक्षमार्ग में चलते हैं अतः वे सर्वदा (हंमेशा) हितकी प्राप्ति एवं अहित के त्याग स्वरूप धर्मानुष्ठान में तत्पर हैं... इसीलिये वे रात्रि के दुसरे एवं तीसरे प्रहर में द्रव्य से निद्रा में होने पर भी भाव से तो जाग्रत हि हैं...

अब यह भावनिद्रा एवं जागरण के विषय में निर्युक्तिकार स्वयं गाथा कहते हैं

नि. २१२

अमुनी सदा सोये हुए हैं और मुनी रात्रि के द्वितीय एवं तृतीय प्रहर में सोये हो तब

भी जाग्रत हि हैं... यह निद्रा एवं जागरण की बात धर्माचरण को ध्यान में लेकर हि भजना स्वरूप है... सुप्त याने शयन के द्रव्य एवं भाव से दो प्रकार हैं... उनमें निद्रा से द्रव्यसुप्त की बात गाथा के अंत भाग में कहेंगे... किंतु भावसुप्त जो अमुनी याने गृहस्थ लोग हैं, वे मिथ्यात्व तथा अज्ञानवाले होने के कारण से हिंसा आदि आश्रव के द्वारों में सदा प्रवृत्त हैं... और मुनीलोग मिथ्यात्व आदि भावनिद्रा से रहित होने के कारण से तथा सम्यक्त्व आदि बोध-ज्ञान से युक्त होने के कारण से सदा भाव से जागरूक याने जाग्रत हि हैं...

यद्यपि दीर्घकाल याने जीवन पर्यंत के संयम का पालन करने में मुनी-साधु आधार स्वरूप शरीर की स्वस्थता के लिये आचार्य की अनुज्ञा से रात्रि के द्वितीय एवं तृतीय प्रहर में निद्राधीन होते हैं तब भी वे मुनी जिनाज्ञानुसार धर्मध्यानवाले होने के कारण से जागरूक याने जाग्रत हि हैं... इस प्रकार यहां धर्म को ध्यान में लेकर सुप्त एवं जागरण की अवस्था कही गइ है...

जो प्राणी द्रव्यनिद्रा में सोया हुआ है, उसमें धर्म हो या न भी हो... किंतु जो मुनी भाव से जाग्रत है वह द्रव्यनिद्रा से सोया हुआ हो तब भी उसको धर्म ध्यान होता हि है...

अथवा तो भाव से जाग्रत किंतु द्रव्य से निद्रा तथा प्रमाद से व्याप्त अंतःकरणवाले को धर्म-ध्यान भी हो सकता है... किंतु जो प्राणी द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार से सुप्त है, उसको तो कभी भी धर्म-ध्यान नहि होता है... यह भजना याने विकल्पवाला अर्थ है...

प्राणी को निद्रासे द्रव्यसुप्त अवस्था होती है, और वह निद्रा स्वरूप से हि दुरंत है... क्योंकि- थीणद्धी त्रिक याने निद्रानिद्रा प्रचलाप्रचला तथा थीणद्धी निद्रा के उदय में चरमशरीरी प्राणी को भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हि नहि होती... और यह थीणद्धी त्रिक का बंध भी (प्रथम-द्वितीय) मिथ्यात्व एवं सास्वादन गुणस्थान में अनंतानुबंधि कषाय के साथ होता है, और उनका क्षय नवमे अनिवृत्तिबादरगुणस्थानक के संख्येय भाग बीतने पर हि होता है... तथा निद्रा एवं प्रचला के बंध का अभाव भी आठवे अपूर्वकरण गुणस्थानक का संख्येय भाग बीतने पर हि होता है, और क्षय बारहवे क्षीणमोह गुणस्थानक के द्विचरम समय में होता है... तथा उदय उपशम श्रेणी में उपशांतमोह (ग्यारहवे) गुणस्थानक तक होता है, इसीलिये कहते हैं कि- निद्राप्रमाद दुरन्त हि है...

अब द्रव्यसुप्त एवं भावसुप्त जिस प्रकार से दुःखों को पाते हैं, वह बात निर्युक्तिकार कहते हैं...

नि. २१३

जैसे कि- निद्रा से सोया हुआ, मदिरा आदि से उन्मत्त, गाढ मर्म प्रहार आदि से

मूर्च्छित एवं वायु आदि दोषों से उत्पन्न हुए ग्रह दोष से पराधीन ऐसा प्राणी प्रतीकार न हो सके ऐसे अनेक दुःसह दुःखों को प्राप्त करता है... तथा भाव से सोया हुआ याने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय आदि की अवस्था में रहा हुआ प्राणीगण नरकगति आदि के दुःखों को प्राप्त करता है... यह यहां गाथार्थ कहा...

अब व्यतिरेक-दृष्टांत से उपदेश देते हुए कहते हैं कि-

नि. २१४

पूर्व कहे गये उपदेश का सार यह है कि- जीव विवेक से सुख एवं अविवेक से दुःख प्राप्त होता है... जैसे कि- सचेतन विवेकी मनुष्य घर में आग लगने पर यदि बाहर निकल जाता है तब सुख को पाता है... तथा मार्ग के विषय में भी संकट या सुरक्षितता का विवेक ज्ञान होना जरूरी है... “आदि” शब्द से अन्य भी चौर-धाडपाडु लुंटेरे आदि के भय उपस्थित होने पर भी विवेकी मनुष्य सरलता से संकट से बचकर सुखी होता है... इसी प्रकार श्रमण-साधु भी विवेकी होने से भाव से सदा जागरण अवस्था में रहता हुआ सभी कल्याण-सुखों का पात्र-मंदिर होता है...

यहां अब सुप्त एवं असुप्त के अधिकार की गाथाएं इस प्रकार है... हे मनुष्यों ! तुम सदा जाग्रत रहो... जो जागरण करता है उसकी बुद्धि एवं ज्ञान बढ़ता है... अतः कहते हैं कि- जो सोता है वह धन्य नहीं है, किंतु जो सदा जाग्रत है वह हि धन्य है... तथा... सोये हुए प्रमत्त मनुष्य का श्रुतज्ञान संशयवाला एवं स्खलनावाला होता है, जब कि- जागरण करनेवाले अप्रमत्त मनुष्य का श्रुतज्ञान निःसंदेह एवं स्थिर परिचयवाला होता है...

जहां आलस है वहां सुख नहीं है...

जहां निद्रा है वहां विद्या नहीं है...

जहां प्रमाद है वहां वैराग्य नहीं है... और

जहां आरंभ है वहां दया नहीं है...

धर्मी लोगों का जागरण कल्याण कारक है... अधर्मी लोगों का सोया रहना कल्याणकर है यह बात जिनेश्वर श्री महावीर प्रभुने वत्सदेश के राजा की बहन जयंती श्राविका के प्रश्नोत्तर में कही थी...

जो मनुष्य अजगर की तरह सोया रहता है, उसका अमृत के समान श्रुतज्ञान विनष्ट होता है, और जो मनुष्य बैल (गाय) की तरह जागरण करता है, उसका विनष्ट हुआ श्रुतज्ञान भी अमृत समान उजागर होता है...

इस प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के विपाकोदय से संविम और यतनावाला साधु रामि

के द्वितीय एवं तृतीय प्रहर में शयन करता है, तब भी वह दर्शनमोहनीय स्वरूप महानिद्रा के अभाव में जागरण अवस्थावाला हि है... और जो लोग द्रव्यनिद्रा के अभाव में जागते हों तो भी अज्ञानता के कारण से भाव से तो वे सोये हुए हैं... क्योंकि- अज्ञान हि महादुःख है... और दुःख हि प्राणीओं के अहित के लिये होते हैं यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रथम शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में आत्मा एवं कर्म के सम्बन्ध तथा पृथ्वी आदि छह (६) जीवनिकाय में जीव की सजीवता एवं उनकी हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया गया है। दूसरे अध्ययन में कषायों पर विजय प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। परन्तु कषायों का उद्भव पदार्थों के निमित्त से होता है। अच्छे और बुरे पदार्थों को देखकर तथा अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोग मिलने पर या विषम परिस्थितियों के उपस्थित होने पर भावना में, विचारों में उत्तेजना एवं अन्य विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति एवं संयोग में-भले ही वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, किंतु समभाव रखना चाहिए। प्रत्येक स्थिति में साम्यभाव को बनाए रखने वाला व्यक्ति ही कषायों पर विजय पा सकता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में यह बताया गया है कि- अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों प्रकार के परीषहों के उपस्थित होने पर राग या द्वेष न करे।

प्रस्तुत अध्ययन का 'शीतोष्णीय' नाम है। 'शीतोष्णीय' शब्द का अर्थ है- ठण्डा और गर्म। परन्तु इसके अतिरिक्त निर्युक्तिकार ने इसका आध्यात्मिक अर्थ करते हुए बताया है कि- अनुकूल परीषह, प्रमाद उपशम, विरति और सुख शीत है और प्रतिकूल परीषह, तप, उद्यम, कषाय, शोक, वेद, कामाभिलाषा, अरति और दुःख उष्ण हैं। परीषहों की गणना शीत और उष्ण दोनों में करने का कारण यह है कि- स्त्री और सत्कार परीषह मन को अनुकूल होने से शीत हैं और शेष बीस परीषह प्रतिकूल होने से उष्ण हैं। एक विचारणा यह भी है कि- तीव्र परिणामी परीषद उष्ण और मन्द परिणामी परीषद शीत है।

व्यवहार में भी, जो व्यक्ति धर्म एवं व्यवसाय के कार्य में प्रमादी-आलसी या सुस्त होता है, उसे ठण्डा और जो -परिश्रमी होता है, उसे उष्ण-तेज या गर्म कहते हैं। जब कोई व्यक्ति आवेश में होता है, तो झट कह दिया जाता है कि- यह क्रोध में जल रहा है। अतः जिस व्यक्ति के क्रोध आदि उपशांत हो गए हैं, उसे शीतल या उपशांत कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि- जो परीषह मन के अनुकूल हैं, उन्हें शीत कहा है और जो प्रतिकूल हैं, उन्हें उष्ण कहा गया है।

निर्युक्तिकार ने मोक्ष सुख को शीत एवं कषाय को उष्ण कहा है। क्योंकि- मोक्ष में

किसी प्रकार का द्वन्द नहीं है, एकान्त सुख है तथा कषाय में तपन है, दुःख है, द्वन्द है, इसलिए निर्वाण सुख शीत और कषाय उष्ण है। तात्पर्य यह है कि- सुख शीत है और दुःख उष्ण है।

प्रस्तुत अध्ययन में इसी अभ्यन्तर और बाह्य शीतोष्ण का विवेचन किया गया है। क्योंकि- श्रमण -मुनि शीत-उष्ण या अनुकूल प्रतिकूल स्पर्श, सुख-दुःख, कषाय, परीषह, वेद, कामवासना और शोक आदि के उपस्थित होने पर उन्हें सहन करता है और समभाव पूर्वक तप-संयम की साधना में संलग्न रहता है। वह अपनी साधना में सदा सजग रहता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में बताया गया है कि- श्रमण वह है-जो अपने आत्मभाव में सदा-सर्वदा विवेकपूर्वक गति करता है, वह सदा जागृत रहता है।

जागरण और सुषुप्ति जीवन की दो अवस्थाएं हैं। मनुष्य दिन भर की शारीरिक, एवं मानसिक थकान को दूर करने के लिए कुछ देर के लिए सोता है और फिर जागृत होकर अपने काम में लग जाता है। इस प्रकार सांसारिक प्राणी जागते और सोते रहते हैं। परन्तु, यहां जागरण और सुषुप्ति शब्द का प्रयोग इस साधारण अर्थ में नहीं, किंतु आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग किया गया है और इसके द्वारा मुनित्व एवं अमुनित्व का लक्षण बताया गया है। अर्थात् जो सुषुप्त हैं, वे अमुनि है वे बोध से रहित हैं और जो सदा जागते रहते हैं, वे मुनि हैं, अर्थात् वे प्रबुद्ध पुरुष हैं।

सुषुप्ति और जागरण के दो भेद हैं-१. द्रव्य और २. भाव। निद्रा लेना एवं समय पर जागृत होना द्रव्य सुषुप्ति या जागरण है और विषय, कषाय, प्रमाद, अव्रत आदि में आसक्त एवं संलग्न रहना वह भाव सुषुप्ति-निद्रा है तथा त्याग, तप एवं संयम में विवेक पूर्वक लगे रहना भाव जागरण है। असंयम, अव्रत एवं मिथ्यात्व को बढ़ाने वाली क्रिया भाव निद्रा है और संयम, व्रत एवं सम्यग्ज्ञान में अभिवृद्धि करने वाली प्रवृत्ति भाव जागरण है।

इससे स्पष्ट होता है कि- जीवन विकास के लिए भाव निद्रा प्रतिबन्धक है। क्योंकि- भाव निद्रा में उसका विवेक आवृत रहता है, इसलिए वह अपनी आत्मा का हिताहित नहीं देख पाता और अनेक पापों का संग्रह कर लेता है। आगम में अविवेक पूर्वक की जाने वाली क्रिया को पाप कर्म के बन्ध का कारण माना है। परन्तु जहां विवेक चक्षु खुले हैं, यतना के साथ प्रवृत्ति हो रही है, तो वहां पाप कर्म का बन्ध नहीं होगा और जहां विवेक चक्षु बन्द हैं, वहां पाप कर्म का बन्ध होता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि- पतन का कारण भाव निद्रा ही है। द्रव्य निद्रा इतनी हानि नहीं पहुंचाती, जितनी भाव निद्रा आत्मा का अहित करती है। अतः भाव निद्रा में निमग्न व्यक्तियों को द्रव्य से जागृत होने पर भी सुषुप्त कहा है और भाव जागरण वाले जीवों को द्रव्य निद्रा लेते समय भी जागृत कहा है क्यों कि- उसकी प्रत्येक

क्रिया संयम के लिए होती है और उसके साथ विवेक की चक्षु खुली होती है। संयम में तेजस्विता लाने के लिए वह सोता है। साधु तीसरे पहर के अंतभाग में निद्रा से मुक्त होवे।

साधु का जीवन संयम युक्त है। उसका प्रत्येक समय संयम में बीतता है। वह दिन में या रात में, अकेले में या व्यक्तियों के समूह में, सुषुप्त अवस्था में या जाग्रत अवस्था में किसी भी तरह का पाप कर्म नहीं करता, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता एवं झूठ, स्तेय आदि दोषों का सेवन भी नहीं करता। इसलिए साधु को सदा-सर्वदा जाग्रत ही कहा है। जयन्ती श्राविका के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने अधार्मिक व्यक्तियों को सदा सुषुप्त और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को सदा जागरणशील कहा है। तथा जो मनुष्य सदा पाप एवं अधर्म में संलग्न रहते हैं, उन्हें आलसी कहा है और जो सदा धर्म में, सत्कार्य में एवं आत्मचिन्तन में संलग्न रहते हैं, उन्हें दक्ष, प्रवीण, चतुर एवं जाग्रत कहा है।

भगवद्गीता में भी इसी बात को इन शब्दों में कहा गया है कि- जिसे सब लोग रात्रि समझते हैं उसमें संयमी जागता है और जब समस्त प्राणी जागते हैं तब ज्ञानवान मुनी उसे रात्रि समझकर उदासीन भाव में रहता है। तात्पर्य यह है कि- विषय-भोगों की आसक्ति हि भाव निद्रा है और उनसे विरक्ति जागरण है। अतः भोगी व्यक्ति भोगों में आसक्त होने से सदा सोए होते हैं और त्यागी व्यक्ति उनसे निवृत्त होते हैं, इसलिए वे सदा जाग्रत हि हैं। हम यों भी कह सकते हैं कि- अज्ञान हि निद्रा है और ज्ञान जागरण है।

अज्ञान एवं मोह के कारण ही मनुष्य भोगों में फंसता है और परिणाम स्वरूप वह अनेक दुःखों को प्राप्त करता है। किंतु यह अज्ञान एवं मोह अहितकर हैं, इस बात को जान कर उससे दूर रहने वाला व्यक्ति ही मुनि है। इस बात को अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ११० ॥ १-३-१-२

लोक्यंसि जाण अहियाय दुःखं, समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए,
जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्वागया भवंति ॥ ११० ॥

II संस्कृत-छाया :

लोके जानीहि अहिताय दुःखम्, समतां लोकस्य ज्ञात्वा, अत्र शस्त्रोपरतः, यस्य
इमे शब्दाश्च रूपाश्च रसाश्च गन्धाश्च स्पर्शाश्च अभिसमन्वागताः भवन्ति ॥ ११० ॥

III सूत्रार्थ :

यह बात समझो कि- लोक में दुःख अहित के लिये हि है... लोक में समता को

जानकर... वह यहां आरंभादि शस्त्र से विराम करता है... कि- जिसने यह शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्शों का सम्यग् ज्ञान से विवेक प्राप्त किया है... ॥ ११० ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस छ जीवनिकाय स्वरूप लोक में दुःखों का कारण अज्ञान है... अतः मोहनीयकर्म स्वरूप दुःखों को जानो... क्योंकि- यह दुःख नरक आदि जन्मों के संकट में पडने के लिये होता है अथवा यहां इसी जन्म में हि बंधन, वध तथा शारीरिक एवं मानसिक पीडाओं के लिये होता है... यह बात अच्छी तरह से समझीयेगा...

इन दुःखों के परिज्ञान से साधु अज्ञान स्वरूप एवं दुःखों के हेतु ऐसे द्रव्य एवं भाव निद्रा याने सोया रहने से निवृत्त होता है... तथा समय याने आचार-अनुष्ठानों को जानकर साधु पृथ्वीकायादि के शस्त्रारंभ से निवृत्त होता है...

सामान्य से लोक याने प्राणी भोगसुखों की अभिलाषा के कारण से अन्य जीवों को पीडा देने स्वरूप ऋषाय निमित्तक कर्मों का बंध करके नरकगति आदि स्थानों में उत्पन्न होता है, बाद में वहां से निकलकर सभी कर्मों के क्लेष समूहों का नाश करनेवाले धर्म के कारण स्वरूप आर्य क्षेत्र आदि में मनुष्य जन्म प्राप्त करके पुनः (दुबारा) महामोह से मोहित (मूर्च्छित) मतिवाला वह मनुष्य विषय सुखों की अभिलाषा से ऐसे ऐसे विषम कर्म करता है कि- जिस से वह आत्मा संसार से मुक्त होने के बजाय और अधिक अधिक संसार में हि डूब जाता है... ऐसा गृहस्थ जीवन का लोकाचार है, अतः मुनि उसे अच्छी तरह से जानकर अथवा समभाव याने समता को जानकर पृथ्वीकाय आदि के आरंभ स्वरूप हिंसा शस्त्रों से निवृत्त होता है...

यहां "लोकस्य" इस पद में सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है... अतः लोक याने जंतुओं में समशत्रुमित्रता अथवा स्व-पर को सम जानकर... अथवा सभी एकेंद्रिय आदि जंतुगण सदा अपने हि उत्पत्तिस्थान में रमण करने की इच्छावाले होने से मरण से डरते हैं तथा सुखों की चाहना के साथ साथ दुःखों के प्रति द्वेष करते हैं इत्यादि स्वरूप समता को जानकर वह मुनी यहां पृथ्वीकायादि छ जीवनिकाय-लोक में द्रव्य एवं भाव भेदवाले शस्त्रारंभ से निवृत्त होकर धर्म-जागरण से जगता रहता है... अथवा तो संयम के विनाशक प्राणातिपातादि आश्रव द्वार अथवा शब्दादि पांच प्रकार के कामभोग की आसक्ति स्वरूप जो जो शस्त्र हैं, उनसे उपरत याने जो निवृत्त होता है वह मुनी है...

तथा जो मुनी सभी प्राणीगण को इंद्रिय की प्रवृत्ति के कारण ऐसे मनोज्ञ याने अच्छे और अमनोज्ञ याने बुरे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का विवेक-बल से तत्त्व-दर्शन करते

हैं वे मुनी हि लोक को जानते हैं... यहां सारांश यह है कि- इष्ट याने अच्छे शब्दादि विषयों में मुनी राग नहीं करते, और अनिष्ट याने बुरे शब्दादि विषयों में मुनी द्वेष नहीं करते... ऐसा सम्यग् बोध स्वरूप विवेक उन विवेकी मुनीओं को हि होता है...

अथवा तो शब्द आदि विषय इसी जन्म में हि दुःखके लिये होते हैं... परलोक की तो अभी बात हि छोड़ो ! कहा भी है कि-

शब्द में अनुरागी हरण (मृग)

स्पर्श में अनुरागी हाथी

रस में अनुरागी मच्छलीयां

रूप में अनुरागी पतंगीये...

और गंध में अनुरागी नाग (सर्प) यहां इसी जन्म में हि विनाश को पाते हैं...

परमार्थ को नहि जाननेवाले यह पांचो प्रकार के जीव यदि एक एक इंद्रिय के विषय में अनुरागी होने से विनाश को पाते हैं, तब पांचो हि इंद्रियों के विषय में अनुरागी होनेवाला अबुध मनुष्य भस्मांतता याने मरण को हि पाता है...

अथवा... शब्द में त्रिपृष्ठ वासुदेव का शय्यापालक...

रूप में अर्जुन नाम का तस्कर याने चौर...

गंध में गंधप्रिय कुमार

रस में सौदास नाम का पुरुष

और स्पर्श में सत्यकि विद्याधर... अथवा

सुकुमारिका का पति ललितांग... मरणांत कष्ट को प्राप्त हुए...

और जन्मांतर में नारक आदि दुर्गति की पीडाओं का भय...

इस प्रकार शब्द आदि विषय इस जन्म और जन्मांतर में दुःख स्वभाववाले हैं ऐसा जानकर जो प्राणी उन शब्दादि विषयों के अनुराग का त्याग करता है, उसे कौन सा गुण प्राप्त होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

अज्ञान एवं मोह आदि से पाप कर्म का बन्ध होता है। और अशुभ कर्म का फल दुःख रूप में प्राप्त होता है। इस प्रकार सूत्रकार ने अज्ञान को दुःख का कारण बताया है और ज्ञान को दुःख से मुक्त होने का कारण कहा है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि- साधक को संयम एवं आचार के स्वरूप को जानकर उसका परिपालन

करना चाहिए। ओर शब्दादि विषयों में राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति से निवृत्त होकर ६ काय की हिंसा रूप शस्त्र का त्याग कर देना चाहिए, वास्तव में विषय भोगोपभोग के राग-द्वेष एवं हिंसा जन्य शस्त्रों का परित्याग ही मुनित्व है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'समयं' शब्द के दो अर्थ होते हैं- "समयः-आचारोऽनुष्ठानं तथा समता-समशत्रु-मित्रतां समात्मपरतां वा" अर्थात् 'समय' शब्द आचार का भी परिबोधक है और इसका अर्थ यह भी होता है कि- प्रत्येक प्राणी पर समभाव रखना।

'लोक्यंसि अहियाय दुखं' वाक्य का तात्पर्य यह है कि- अज्ञान और मोह दुःख का कारण है। मोह और अज्ञान के कारण ही जीव नरकादि योनियों में विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए नरकादि में प्राप्त होने वाले दुःखों को अहितप्रद कहा है। अतः इन दुःखों से छूटने का उपाय अज्ञान एवं मोह का त्याग करना ही है...

'अभिसमन्नागया' का अर्थ है-जिस आत्मा ने शब्दादि विषयों के स्वरूप को जान लिया है और उनमें जिस को की राग-द्वेष वाली प्रवृत्ति नहीं है, वही मुनि है और उसी ने लोक के स्वरूप को जाना है।

जो प्रबुद्ध पुरुष शब्दादि विषयों के परिणाम को जानकर उनका परित्याग कर देते हैं, उन्हें किस गुण की प्राप्ति होती है? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १११ ॥ १-३-१-३

से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पण्णाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणी त्ति वुच्चे। धम्मविऊ, उज्जू, आवट्टसोए संगमभिजाणइ ॥ १११ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः आत्मवान् ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान्, ब्रह्मवान्, प्रज्ञानैः परिजानाति लोकं, मुनिरिति वाच्यः। धर्मवित् ऋजुः आवर्त्त-श्रोतसोः सङ्गं अभिजानाति ॥ १११ ॥

III सूत्रार्थ :

वे आत्मा "मुनी" पद से वाच्य है कि- जो आत्मवान् ज्ञानवान् वेदवान् धर्मवान् ब्रह्मवान् है, तथा प्रकृष्ट ज्ञान से लोक को जानते हैं... धर्म को जाननेवाले ऋजु मुनी आवर्त्त याने संसार तथा श्रोत याने शब्दादि विषयानुराग के संग को अच्छी तरह से जानते हैं ॥ १११ ॥

IV टीका-अनुवाद :

महामोह की निद्रा से घेरे हुए इस लोक में दुःख (कर्म) अहित के लिये है, ऐसा जाननेवाला लोकसमयदर्शी, शस्त्रोपरत मुनी, शब्दादि कामगुण दुःखों के हि कारण हैं ऐसा ज्ञ परिज्ञा से अच्छी तरह जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करते हैं वह हि मुमुक्षु मुनी आत्मवान् है... ज्ञानादि स्वरूप आत्मावाला... अर्थात् शब्दादि विषयों का त्याग करके जिसने आत्मा की रक्षा की है वह मुनी आत्मवान् है... यदि ऐसा न हो तब नरक एवं ऐकेंद्रिय आदि के जन्म में आत्मा होते हुए भी आत्मा के कार्य का अभाव होने से उसे आत्मा कैसे कहेंगे ? अथवा... नरकगति आदि में उत्पन्न होने से बचाने के द्वारा जो आत्मा को जानते हैं वे आत्मवित्...

तथा यथावस्थित पदार्थ को जाननेवाले ज्ञान को जो जानता है वह ज्ञानवित्... तथा जिस से जीव आदि का स्वरूप जाना जाता है वह वेद याने आचारांग आदि आगम-शास्त्र... उन को जो जानता है वह वेदवित्... तथा दुर्गति में जा रहे जंतुओं को बचानेवाला एवं स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग स्वरूप धर्म को जो जानता है वह धर्मवित्... तथा सभी कर्ममल स्वरूप कलंक से रहित और योगिशर्म स्वरूप ब्रह्म को जो जानता है वह मुनी ब्रह्मवित् है... अथवा तो अद्वारह प्रकार के ब्रह्म को जाननेवाले... ऐसे स्वरूपवाला मुनी प्रकृष्ट मति आदि ज्ञानसे जंतुगण को या उनके आधार, ऐसे इस विश्व को यथावस्थित स्वरूप से जानता है... अर्थात् जो मुनी शब्दादि विषयों के संगका त्यागी है, वह हि यथावस्थित स्वरूप से लोक को जानता है...

अर्थात् जो आत्मवान् ज्ञानवान् वेदवान् धर्मवान् ब्रह्मवान् और व्यस्त या समस्त मति आदि ज्ञान से लोक को जानता है वह हि मुनी है... मुनी याने जगत् की तीनों कालकी अवस्थाओं को जो जाने वह हि “मुनी” पद से वाच्य होता है...

तथा धर्म याने चेतन और अचेतन द्रव्य का स्वभाव अथवा श्रुत एवं चारित्रधर्म को जो जानता है वह धर्मवित् तथा ऋजु याने ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग के अनुष्ठान में अकुटिल अर्थात् सरल... अथवा तो यथावस्थित पदार्थ के स्वरूप के बोध से अकुटिल अर्थात् ऋजु... सर्व उपाधि (भाया) से रहित एवं अवक्र हि ऋजु है...

इस प्रकार धर्मवित् तथा ऋजु मुनी क्या करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- भाव-आवर्त याने जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक और व्यसन (संकट) का जहां होना है वह संसार हि आवर्त है... कहा भी है कि- राग एवं द्वेष के कारण से मिथ्यादर्शन दुस्तर है... तथा जन्म के आवर्त में रहा हुआ यह जगत् (प्राणीगण) प्रमाद के कारण से बार बार अतिशय भ्रमण करता रहता है... तथा भाव-श्रोतः याने शब्दादि कामगुण स्वरूप विषयों की अभिलाषा... इस आवर्त और श्रोत में राग एवं द्वेष से होनेवाले संग-संबंध को मुनी यथावत्

जानता है... वह इस प्रकार- कि- यह राग एवं द्वेष का संग संसार एवं शब्दादि विषयों का कारण है... ऐसा जानकर जो मुनी संग का त्याग करता है वह हि परमार्थ से तत्त्वज्ञ है... इससे यह सारांश प्राप्त हुआ कि- संसार एवं शब्दादि विषयों के राग-द्वेषात्मक संग को जानकर जो मुनी उसका त्याग करता है वह हि मुनी आवर्त एवं श्रोतः के संग का ज्ञाता है...

अब कहते हैं कि- सोये हुए को होनेवाले दोष, एवं जागरण करनेवाले को होनेवाले गुण को जाननेवाला मुनी कौन से गुणों को प्राप्त करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

साधना के क्षेत्र में सब से पहले ज्ञान की आवश्यकता होती है। जब तक साधक को अपनी आत्मा का, लोक-परलोक का बोध नहीं है, जीव-अजीव की पहिचान नहीं है, तब तक वह संयम में प्रवृत्त नहीं हो सकता। संयम का अर्थ है-दोषों से निवृत्त होना। अतः दोषों से निवृत्त होने के लिए यह जानना आवश्यक है कि- दोष क्या है ? कौन-सी प्रवृत्ति दोषमय और कौन-सी निर्दोष प्रवृत्ति है ? इसलिए आगम में स्पष्ट कहा गया है कि- साधक पहिले ज्ञान प्राप्त करे फिर क्रिया में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र में भी मुनि-जीवन का वास्तविक स्वरूप बताया गया है। इस में यह स्पष्ट कर दिया है कि- वह ज्ञानवान हो, आत्म स्वरूप का, वेदों का ज्ञाता हो, एवं धर्म का, ब्रह्म स्वरूप का एवं मति-श्रुत आदि ज्ञान से लोक के स्वरूप का ज्ञाता हो। जो साधक इनके स्वरूप को नहीं जानता है, वह संयम का पालन भली-भांति नहीं कर सकता। अतः साधक के लिए सब से पहिले आत्म स्वरूप को जानना जरूरी है। जो साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक के स्वरूप का परिज्ञान जाता है। और आत्मा एवं लोक के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर उसकी साधना में, उसके आचरण में सहज ही गति एवं तेजस्विता आ जाती है। वह अपने आपको दोषों से बचाता चलता है। क्योंकि- वह इस बात को भली-भांति जान चुका है कि- इन दोषों में आसक्त होने के कारण ही आत्मा लोक में इधर-उधर भटकती फिरती है और विभिन्न योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करती है। इससे स्पष्ट हो गया कि- दोषों से बचने के लिए पहिले ज्ञान की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में आत्मज्ञान के बाद वेदवित् होने को कहा गया है। 'वेयवं'-'वेदवित्' का अर्थ है जिस शास्त्र के द्वारा जीवाजीव आदि के स्वरूप को जाना जाता है, उसे वेद कहते हैं। वह आचारांग आदि आगम है। अतः उनके परिज्ञाता को वेदवित् कहते हैं।

इसके बाद धर्म के स्वरूप को जानने का उल्लेख किया गया है। इसका कारण यह है कि- आचारांग आदि आगम साहित्य के द्वारा ही धर्म का स्वरूप स्पष्ट होता है। इस लिए पहिले श्रुत-साहित्य के अध्ययन का उल्लेख करके हि चारित्र-धर्म को जानने का विवेचन किया गया है।

आत्म स्वरूप, श्रुत एवं चारित्र-धर्म के स्वरूप को जानने के बाद ब्रह्म के स्वरूप का सुगमता से बोध हो सकता है। क्योंकि- ब्रह्म-परमात्मा आत्मा से भिन्न नहीं है। जब आत्मा अपने समस्त कर्म आवरणों को सर्वथा हटा देती है, तो वह परमात्मा के पद को प्राप्त कर लेती है। इसी अर्थ में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है। और ब्रह्म शब्द से १८ प्रकार के ब्रह्मचर्य को भी ग्रहण किया गया है। पहिले अर्थ में परमात्म स्वरूप को स्वीकार किया है और दूसरे अर्थ में ब्रह्मचर्य का बोध कराया है।

‘प्रज्ञान’ शब्द से मति-श्रुत आदि ज्ञान समझने चाहिए। क्योंकि- मति-श्रुत आदि ज्ञान से ही लोक के स्वरूप का बोध होता है। और इसी ज्ञान के द्वारा साधक संसार परिभ्रमण एवं विषयाभिलाषा के हेतुओं को जान लेता है। ‘आवट्टसोए संगमभिजाणइ’ में ‘संग’ शब्द संयोग का परिचायक है। शास्त्रों में संसार परिभ्रमण एवं विषयाभिलाषा का परस्पर कार्य-कारण भाव माना गया है। जब तक विषयाभिलाषा है तब तक संसार परिभ्रमण है। क्योंकि- जहां राग-द्वेष की प्रवृत्ति है वहीं जन्म-मरण की परम्परा का पोषण होता है, संसार का संवर्धन होता है। अतः संसार परिभ्रमण से छुटकारा पाने के लिए राग-द्वेष का संग छोड़ देना चाहिए।

इस प्रकार आत्मा आदि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके संयम मार्ग पर गतिशील साधक सुषुप्ति-भाव निद्रा का त्याग करके अपनी साधना में सदा सजग रहता है। क्योंकि- जागरण शील साधक ही राग-द्वेष से बच सकता है। इसलिए सुषुप्त एवं जागरण के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता ही अपने साध्य को सिद्ध कर सकता है। अतः ऐसे ज्ञाता को किस गुण की प्राप्ति होती है ? यह बात सूत्रकार महर्षि महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ११२ ॥ १-३-१-४

सीउसिणच्चाई से णिगंथे, अरइरइसहे, फरुसयं नो वेएइ, जागरे वेरोवरए, वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि, जरा-मच्चु वसोवणीए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ ॥ ११२ ॥

II संस्कृत-छाया :

शीतोष्णत्यागी सः निर्ग्रन्थः, अरतिरतिसहः, परुषतां न वेत्ति, जागरः वैरोपरतः, वीर ! एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि । जरा-मृत्युवशोपनीतः नरः सततं मूढः धर्मं न अभिजानीते ॥ ११२ ॥

III सूत्रार्थ :

जो शीत एवं उष्ण का त्यागी है वह निर्ग्रथ है... अरति एवं रति को सहन करनेवाला मुनी परुषता (कठोरता) को नहि जानतें हैं... अतः वीर ! तुं जाग एवं वैर से निवृत्त हो... इस प्रकार तुं दुःखों से मुक्त होगा... सतत जरा एवं मृत्यु के वश में रहा हुआ मूढ मनुष्य धर्म को समझ नहि सकता... ॥ ११२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

बाह्य एवं अभ्यंतर ग्रंथि से रहित, शीत एवं उष्ण का त्यागी, साता एवं दुःखों को नहि चाहनेवाला अथवा शीतोष्ण रूप परीषहों को सहन करनेवाला संयमासंयम में अरति एवं रति को सहन करनेवाला एवं कर्मों के क्षय में उद्यत वह साधु परीषह एवं उपसर्गों की पीडा दायक परुषता याने कर्कशता को मोक्षमार्ग में सहायक मानता है... अर्थात् शरीर को पीडा देनेवाली परुषता को पीडा-दायक नहि मानता... अथवा संयम या तपश्चर्या की परुषता को पीडा-दायक नहि मानता... किंतु परीषदों को प्रशमभाव से सहन करने में कर्मों के लेप दूर होते हैं ऐसा मानता हुआ, संसार से उद्विग्न मनवाला तथा निराबाध सुख को हि देखनेवाला वह मुमुक्षु साधु संयम और तप को पीडा कारक नहि मानता...

तथा असंयम और निद्रा का अपगम याने दूर हो जाने से जागरण करनेवाला वह साधु "जागर" है तथा अभिमान से उत्पन्न होनेवाला अमर्श याने ईर्ष्या के अभाव में अन्य को अपकार करने के अध्यवसाय स्वरूप वैर से वह साधु उपरत याने विराम प्राप्त करता है...

तथा वीर याने कर्मों को दूर करने की शक्तिवाले हे वीर ! आत्मा को अथवा अन्य को दुःखों से या दुःखों के कारण ऐसे कर्मों से मुक्त करो ! जो साधु यथोक्त स्वरूप से विपरीत है, तथा आवर्त्त एवं श्रोत के संग को पाया हुआ है, और अजागर याने सोया हुआ है, वह प्राणी वृद्धावस्था एवं मरण से वश बना हुआ एवं निरंतर मूढ याने महामोह से मोहित मतिवाला होने के कारण से धर्म तथा स्वर्ग एवं अपवर्ग याने मोक्षमार्ग को जानता नहि है... तथा इस संसार में ऐसा कोई स्थान हि नहि है कि- जहां जरा याने वृद्धावस्था और मरण नहि है...

प्रश्न- देवों को जरा याने वृद्धावस्था का अभाव होता है न ?

उत्तर- ना, ऐसा नहि है... क्योंकि- देवों को भी मरण के पूर्व के समय में लेश्या, बल, सुख, प्रभुत्व, और वर्ण-कांति आदि की हानि याने क्षीणता होती है... अतः इस प्रकार देवों को भी जरा याने वृद्धावस्था होती हि है...

प्रश्न- कहा भी है कि- हे भगवन् ! क्या सभी देव समान वर्ण-कांतिवाले हैं ?

उत्तर- हे गौतम ! ऐसा कभी भी नहि होता... हे भगवन् ! ऐसा क्यों ? हे गौतम ! देवों

के दो प्रकार हैं... १. पूर्वोपवर्णक, एवं २. पश्चात् उपवर्णक... उनमें जो पूर्वोपवर्णक हैं, वे विशुद्ध वर्णवाले नहीं हैं... और जो पश्चात् उपवर्णक हैं, वे विशुद्धवर्णवाले हैं... इसी प्रकार लेश्या आदि भी... क्योंकि- च्यवनकाल में सभी देवताओं को पुष्पमाला का करमाना, कल्पवृक्ष में कंपन होना, श्री एवं हीका विनाश... वस्त्रों में जीर्णता, मन में दीनता, शरीर में तंद्रा, कामराग से अंग की विकृत चेष्टा, दृष्टि में भ्रम होना, शरीर में कंपन और चित्त में अरति का होना संभवित है...

हां ! यदि ऐसा हि है, कि- सभी जीव जरा एवं मृत्यु के वश में हि हैं... अतः उन्हें देखकर क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

साधक का लक्ष्य है-मोक्ष अर्थात् कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होना। इसी लक्ष्य को, साध्य को सिद्ध करने के लिए वह साधना करता है। जब साधक अपने साध्य में तन्मय होता है, तो उसे उस समय बाह्य संवेदन की अनुभूति नहीं होती। क्योंकि- अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों का अनुभव मन के द्वारा होता है। जब इन्द्रियों के साथ मन का संबन्ध जुड़ा होता है, तो हमें उसके द्वारा अच्छे-बुरे विषयों का अनुभव एवं उससे सुख-दुःख का संवेदन होता है। परन्तु जब मन का सम्बन्ध परमात्मा के साथ जुड़ा होता है, वह अपने लक्ष्य में तन्मय होता है, तो उस समय उसे इन्द्रियों के साथ विषयों का संबन्ध होते हुए भी उसकी अनुभूति नहीं होती, सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता।

आगमों में भी वर्णन आता है कि- साधु दिन के तीसरे पहर में भिक्षा के लिए जाते थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि- उनको गर्मी नहीं लगती थी। उष्णता का स्पर्श तो होता था, परन्तु मन आत्मा संयम-साधना में संलग्न होने के कारण उस कष्ट की अनुभूति नहीं होती थी। कभी-कभी चिन्तन में इतनी तन्मयता हो जाती है, कि- उन्हें पता ही नहीं लगता कि गर्मी पड़ रही है या नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि- जब साधक अपने लक्ष्य या साध्य को सिद्ध करने में तन्मय हो जाता है, तो उस समय वह अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषह को आसानी से सहन कर लेता है।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि- मोक्ष की तीव्र अभिलाषा रखने वाला साधु शीतोष्ण परीषह को समभाव पूर्वक सहन कर लेता है। और वह वैर-विरोध से निवृत्त होकर संयम साधना में संलग्न हो जाता है। और इस प्रक्रिया के द्वारा वह समस्त कर्म बन्धन तोड़कर मुक्त हो जाता है और अन्य प्राणियों को मोक्ष का मार्ग बताने में समर्थ होता है।

इसके विपरीत जिसका मन साधना में नहीं लगा है, जिसके समक्ष कोई लक्ष्य नहीं

है; और जिसके मन में परमात्मा की तन्मयता एवं एकरूपता नहीं है, वह मोह के वश संसार में प्ररिभ्रमण करता है। विषयों की आसक्ति एवं मोह के कारण वह धर्म के स्वरूप को नहीं समझ पाता; इसलिए वह बार-बार जन्म-मरण के प्रवाह में बहता हुआ विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “सिउसिणच्चाई” पद का पांचों आचार के अनुसार भी अर्थ किया जाता है। वह इस प्रकार है-

ज्ञानाचार विषयक-आगम, ग्रंथ आदि को मन्दता से पढ़ना शीत कहा जाता है और अतिशीघ्रता से पढ़ना उष्ण। ये दोनों दोष हैं, अतः अतिमन्द एवं अतिशीघ्रता का त्याग करके आगम आदि को ज्ञानाचार की पद्धति से पढ़ना चाहिए।

२-दर्शनाचार विषयक दर्शन परीषह शीत कहा है और आक्रोश आदि को उष्ण। अथवा सत्कार आदि परीषह को शीत और वध परीषह को उष्ण कहा है इन सब परीषहों को शान्तभाव से सहन कर लेना चाहिए।

३-चारित्र्याचार विषयक-शीतोष्ण-अनुकूल या प्रतिकूल स्पर्शों के द्वारा संयम से विचलित नहीं होना।

४-तपाचार विषयक-आगम में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ तप कहा है। अतः उसकी सुरक्षा के लिए शीतोष्ण स्पर्श वाली योनि (स्त्री) से सम्बन्ध न करे।

५-वीर्याचार विषयक-मन्दगति को शीत और अति शीघ्र गति को उष्ण कहा है। साधु को अति मन्द एवं शीघ्र गमनागमन का त्याग कर देना चाहिए किंतु ईर्यासमिति से गमनागमन करना चाहिये... इस के अतिरिक्त पंडितवीर्य ज्ञानबल को शीत और बालवीर्य-अज्ञान को उष्ण कहा है। प्रथम का फल निर्वाण है और द्वितीय का संसार परिभ्रमण। अतः बालवीर्य का परित्याग करके ज्ञान की साधना में संलग्न होना चाहिए।

‘फरूसयं नो वेएइ’ का अर्थ है-मोक्षाभिलाषी पुरुष कठोर परीषहों को दुःख रूप नहीं; किंतु मोक्ष का हेतु मानता है। यदि तप साधना से शरीर में कोई वेदना हो जाए तब शान्तभाव से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है।

‘वेरोवरए’ का अर्थ है-वैर से निवृत्त होना। वैर से निवृत्त व्यक्ति ही आत्म विकास के पथ पर आगे बढ़ सकता है और निर्वैरता के कारण ही वह अपनी संयम-साधना में सदा सजग रहता है।

‘दुक्खा पमुक्खसि’ इस पद का तात्पर्य यह है कि- वैर-विरोध से निवृत्त व्यक्ति ही

समस्त दुःखों से मुक्त हो सकता है। इसके विपरीत वैर-विरोध में फंसा हुआ व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है।

मनुष्य जरा और मृत्यु के प्रहारों से प्रताड़ित हो रहा है। इससे बचने के लिए मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए ? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं-

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ११३ ॥ १-३-१-५

पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं पास, आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा माई पमाई पुण एइ गळ्भं, उवेहमाणो सद्धरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणापमुच्चइ, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मोहिं, वीरे आयगुत्ते खेयणणे, जे पज्जवजायसत्थस्स खेयणणे से असत्थस्स खेयणणे। जे असत्थस्स खेयणणे से पज्जवजायसत्थस्स खेयणणे। अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ। कम्मुणा उवाही जायइ, कम्मं च पडिलेहाए ॥ ११३ ॥

II संस्कृत-छाया :

दृष्ट्वा आतुरप्राणान् अप्रमत्तः परिव्रजेत्। मत्वा च मतिमान्, पश्य आरम्भजं दुःखं इदमिति ज्ञात्वा। मायी प्रमादी पुनः एति गर्भम्। उपेक्षमाणः शब्द-रूपेषु ऋजुः माराभिशङ्की मरणात् प्रमुच्यते। अप्रमत्तः कामैः, उपरतः पापकर्मभिः, वीरः आत्मगुप्तः (गुप्तात्मा) खेदज्ञः। यः पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः, सः अशस्त्रस्य खेदज्ञः। यः अशस्त्रस्य खेदज्ञः सः पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः। अकर्मणः व्यवहारः न विद्यते। कर्मणा उपाधिः जायते। कर्म च प्रत्युपेक्ष्य ॥ ११३ ॥

III सूत्रार्थ :

आतुर प्राणीओं को देखकर मतिमान् साधु अप्रमत्त होता हुआ विचरे... देखो ! यह आरंभ से होनेवाले दुःख हैं... जैसे कि- मायावाले एवं प्रमादी प्राणी बार बार गर्भावस्था को पाते हैं... तथा शब्द रूप आदि में उपेक्षा रखनेवाले एवं मरण से उद्वेग धारण करनेवाले ऋजु साधु मरण से मुक्त होते हैं... काम-विकारों में अप्रमत्त रहें... और पापकर्मों से निवृत्त बनें... ऐसा वीर पुरुष हि गुप्तात्मा है तथा खेदज्ञ है... तथा जो पर्यवजातशस्त्र का खेदज्ञ है वह अशस्त्र का खेदज्ञ है, और जो अशस्त्र का खेदज्ञ है वह पर्यवजातशस्त्र का खेदज्ञ है... अकर्मा (मुक्त) आत्मा को व्यवहार नहि होता है, कर्मों से हि उपाधि होती है, अतः कर्मों की प्रत्युपेक्षणा करके ॥ ११३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

भाव से जागरण करनेवाला साधु भावस्वाप से उत्पन्न होनेवाले शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से आतुर याने कर्तव्यमूढ (विवेकशून्य) और दुःख समुद्र में डूबे हुए द्रव्य प्राण धारण करनेवाले प्राणीओं को देखकर अप्रमत्त होकर संयमानुष्ठान करे...

हे मतिमान् साधु ! भावसुप्त ऐसे आतुर प्राणीओं को देखो ! और जागरण के गुण तथा सोये रहने के दोषों को जानकर सोये रहने की बुद्धी-इच्छा न करें... तथा आरंभ याने सावध (पापवाले) क्रियानुष्ठान से उत्पन्न होनेवाले दुःख और दुःखों के कारण कर्म को जानकर निरारंभ बनकर आत्महित में जागरण कर... वह दुःख (कर्म) सभी जीवों को प्रत्यक्ष हि है... और आरंभ में प्रवृत्त सभी प्राणीगण को अनुभव में आता है...

जो जीव विषय एवं कषाय से युक्त होने से भावसायी है वह क्या प्राप्त करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- मायावाला याने क्रोधादि कषायवाला मद्य आदि प्रमादवाला वह प्राणी नारक के दुःखों का अनुभव करके पुनः तिर्यच गति में गर्भावस्था को प्राप्त करता है...

जो प्राणी कषाय रहित है तथा प्रमाद रहित है वह कैसा होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- शब्द आदि में होनेवाले राग एवं द्वेष की उपेक्षा करता है, तथा ऋजु याने यतनावाला यति-साधु होता है... साधु परमार्थ से ऋजु याने सरल होता है... और अन्य प्राणी यतनावाले न होने के कारण से स्त्री आदि पदार्थों को विपरीत प्रकार से देखते हैं अतः वे वक्र हैं...

तथा वह ऋजु साधु शब्दादि की उपेक्षा करने के साथ साथ मार याने मरण से सदा अभिशंकी याने उद्विग्न रहता है अतः वह साधु ऐसा धर्मानुष्ठान करता है कि- मरण से सर्वथा मुक्ति हो... वह साधु शब्दादि-कामगुणों के प्रसंग में अप्रमत्त रहता है, और कामभोग के हेतुभूत पापकर्मों से उपरत याने विरमण करता है... अर्थात् मन वचन एवं काया से निवृत्त होता है... ऐसा वह वीर साधु गुप्तात्मा होता है...

प्रश्न- गुप्त कौन होता है ?

उत्तर- जो खेदज्ञ है वह गुप्त होता है...

प्रश्न- जो खेदज्ञ है उसे कौनसा गुण प्राप्त होता है ?

उत्तर- जो खेदज्ञ है वह शब्दादि विषयों के पर्यव याने पर्याय में होनेवाले शस्त्रारंभ... अर्थात् शब्दादिगुणों की प्राप्ति के लिये जीवों के उपघात कारक सावधानुष्ठान का खेदज्ञ याने ज्ञाता होता है... और जो पर्यवजातशस्त्र का खेदज्ञ है वह अशस्त्र याने निरवद्य (निर्दोष) अनुष्ठान स्वरूप संयम का खेदज्ञ होता है... तथा जो अशस्त्र याने संयम का खेदज्ञ

है वह पर्यवजातशस्त्र का खेदज्ञ है...

यहां सारांश यह है कि- शब्दादि के इष्ट पर्याय की प्राप्ति एवं अनिष्ट पर्याय के परिहार के लिये आरंभ स्वरूप शस्त्र को जो साधु जानता है वह साधु जीवों का घात न हो, ऐसा तथा आत्मा (स्व) एवं अन्य को उपकारक अशस्त्र ऐसे संयम को भी जानता है... इस प्रकार शस्त्र और अशस्त्र को जाननेवाला हि आरंभ का हेय = परिहार और संवर का उपादेय = प्राप्ति-स्वीकार करता है... क्योंकि- ज्ञान का फल हेयोपादेय स्वरूप आचरण हि है...

अथवा तो- शब्दादि पर्यायों से या उन शब्दादि से होनेवाले राग-द्वेष के पर्यायों से आत्मा में जो ज्ञानावरणीयादि कर्मबंध होता है... और उन कर्मों को जलानेवाले शस्त्र-अग्नि स्वरूप तपश्चर्या का खेदज्ञ है, अर्थात् तपश्चरण में निपुण है... तथा तपश्चर्या के ज्ञानानुष्ठान से वह अशस्त्र याने संयम का खेदज्ञ है...

अब उस संयम-तप से एवं आश्रवों के निरोध से अनादि भव से प्राप्त हुए कर्मों का क्षय होता है... अब कर्मों के क्षय से जो अवस्था प्राप्त होती है वह कहते हैं... आठ प्रकार के कर्मों के क्षय से आत्मा अकर्मा होता है, अतः उसको व्यवहार नहि होता... व्यवहार याने आत्मा का नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव स्वरूप जन्म तथा पर्याप्तक, अपर्याप्तक, बाल, कुमार इत्यादि अवस्थाएं नहि होती...

तथा जो आत्मा सकर्मा है वह नारक आदि व्यवहार वाला होता है... उपाधि याने व्यपदेश-कथन... अर्थात् ज्ञानावरणीयादि कर्मों के कारण से हि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मनःपर्यवज्ञानवाला प्राणी मंदमति या तीक्ष्णमति कहलाता है... तथा चक्षुर्दर्शनी एवं अचक्षुर्दर्शनी निद्रालु इत्यादि कहलाता है... इसी प्रकार यह प्राणी कर्मों के कारण से हि सुखी, दुःखी, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि (मिश्र), स्त्री, पुरुष, नपुंसक, कषायी इत्यादि... तथा सोपक्रमायुष्क, निरूपक्रमायुष्क, अल्पायुष्क इत्यादि... तथा नारक, तिर्यंच, ऐकेंद्रिय, बेइंद्रिय, इत्यादि... पर्याप्तक, अपर्याप्तक, सुभग, दुर्भग इत्यादि... तथा उच्चगोत्र, नीचगोत्र, कृपण, त्यागी, निरूपभोग, निर्वीर्य, इत्यादि प्रकार से यह प्राणी कर्मों के कारण से हि उपाधि को प्राप्त करता है...

हां ! यदि ऐसा हि है, तो अब क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि- कर्मों की पर्यालोचना करें... अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि कर्म के प्रकृतिबंध स्थितिबंध रसबंध एवं प्रदेशबंध की विचारणा करें... तथा उन कर्मों की सत्ता एवं उन कर्मों के विपाकोदयवाले प्राणी जिस प्रकार भावनिद्रा से सोते हैं, उस प्रकार को जानकर के अकर्मता के उपाय स्वरूप भाव जागर में प्रयत्न करें...

तथा उन कर्मों का क्षय इस क्रम से होता है... जैसे कि- आठ कर्मवाला प्राणी अपूर्वकरण-क्षपकश्रेणी के क्रम से मोहनीय कर्म का क्षय करके जघन्य से और उत्कृष्ट से भी अंतर्मुहूर्त्तकाल पर्यंत सात कर्मवाला क्षीणमोह गुणस्थानक में होता है... तथा शेष (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अंतराय) तीन घातिकर्मों के क्षय से सयोगी केवली गुणस्थानक में आत्मा चार अघाति कर्मों की सत्तावाला होता है... उसका काल जघन्य से अंतर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि वर्ष पर्यंत... उसके बाद पांच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण कालवाली शैलेशी-अवस्था याने अयोगी केवली गुणस्थानक का अनुभव करके वह प्राणी अकर्मा (सिद्ध-बुद्ध-मुक्त) होता है...

अब आठ कर्मों की १५८ उत्तर कर्म प्रकृतियां की सत् एवं असत् अर्थात् सत्ता और कर्म क्षय का विधान करते हुए कहते हैं कि- ज्ञानावरणीय की पांच (५) प्रकृतियां तथा अंतराय कर्म की पांच (५) प्रकृतियां की सत्ता चौदह (१४) जीव स्थानक में मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक से लेकर क्षीणमोह पर्यंत के बारह गुणस्थानक में (सत्ता) होती है...

तथा दर्शनावरणीय कर्म की नव (९) प्रकृतियां है, उनके तीन सत्ता स्थानक होते हैं... उनमें पांच निद्रा एवं चार दर्शनावरणीय सत्ता (१४) जीवस्थानक में मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक से लेकर नववे (९) अनिवृत्तिबाँदर गुणस्थानक के संख्येय भाग पर्यंत होती है... (१) उसके बाद कितनेक संख्येय भाग बीतने पर थीणद्धि-त्रिक का क्षय होनेसे छह (६) कर्म की सत्ता होती है... (२) उसके बाद क्षीणकषाय नामक बारहवे गुणस्थानक के द्विचरम-समय में निद्रा एवं प्रचला के क्षय से चार कर्मों की सत्ता होती है... ३. और उन शेष चार कर्मों की सत्ता का क्षय बारहवे गुणस्थानक के अंत में होती है...

अब वेदनीय कर्म के सत्तास्थान दो (२) हैं... उनमें साता एवं असाता दोनों कर्म की सत्ता का पहला स्थान चौदहवे अयोगी केवली गुणस्थानक के द्विचरम समय पर्यंत है, और दुसरा सत्ता स्थान मात्र अंतिम समय में हि होता है, और वहां साता या असता कोई भी एक कर्म की सत्ता होती है...

अब मोहनीय कर्म के पंद्रह (१५) सत्तास्थान हैं... वे इस प्रकार- क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि आत्मा को सोलह कषाय, नव नोकषाय एवं दर्शन मोहनीय के तीन = अट्टाइस (२८) कर्मों का पहला सत्तास्थान... उनमें सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का सत्ता में से उद्वलन होने से मिश्र-दृष्टि आत्मा को सत्ताइस (२७) कर्मों का द्वितीय सत्तास्थान है... तथा सम्यक्त्व मोहनीय एवं मिश्रमोहनीय, दोनों कर्मों का सत्ता में से उद्वलन हो, तब मिथ्यादृष्टि आत्मा को छब्बीस (२६) कर्मों का तृतीय सत्तास्थान होता है... तथा सम्यग्दृष्टि को अट्टाइस (२८) कर्मों की सत्ता में से अनंतानुबंधि चार कषायों का उद्वलन या क्षय होने से चोबीस (२४)

कर्मों का चौथा सत्तास्थान... तथा मिथ्यात्व मोहनीय का क्षय होने से तेइस (२३) कर्मों का पांचवा सत्तास्थान... और मिश्र मोहनीय का क्षय होने पर बाइस (२२) कर्मों का छट्टा सत्तास्थान होता है...

तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि को दर्शन सप्तक का क्षय होने से इक्कीस (२१) कर्मों का सातवां सत्तास्थान... और अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण ४+४=८ कषायों का सत्ता में से क्षय होनेसे तेरह (१३) कर्मों का आठवां सत्तास्थान होता है... तथा नपुंसकवेद का क्षय होने से बारह कर्मों का नववां सत्तास्थान... तथा स्त्रीवेद का क्षय होने से ग्यारह (११) कर्मों का दशवां सत्तास्थान होता है... एवं हास्यषट्क (६) का क्षय होने से पांच (५) कर्मों का ग्यारहवा सत्तास्थान... और पुरुषवेद का क्षय होने से चार कर्मों का बारहवा सत्तास्थान होता है... तथा संज्वलन क्रोध के क्षय से तीन कर्मों का तेरहवा, संज्वलन मान के क्षय से दो कर्मों का चौदहवा, एवं संज्वलन माया के क्षय से एक कर्म का पंद्रहवां (१५) सत्तास्थान होता है... और शेष एक संज्वलन लोभ का भी क्षय हो तब मोहनीयकर्म की सत्ताका सर्वांश क्षय होने से मोहनीयकर्म का अभाव हो जाता है...

अब आयुष्य कर्म का सामान्य से दो सत्तास्थान होते हैं... वे इस प्रकार- परभव के आयुष्य का बंध होते समय एवं बंध होने के बाद दो आयुष्य की सत्ता होती है अतः यह पहला सत्ता स्थान... एवं जब तक परभव के आयुष्य का बंध नहीं होता है तब तक वर्तमान भव के एक आयुष्य की सत्तावाला दुसरा सत्तास्थान...

अब नाम-कर्म के बारह सत्तास्थान होते हैं... वे इस प्रकार

पहला	-	९३ कर्म	सातवां	-	७९ कर्म
दुसरा	-	९२ कर्म	आठवां	-	७८ कर्म
तीसरा	-	८९ कर्म	नववां	-	७६ कर्म
चौथा	-	८८ कर्म	दशवां	-	७५ कर्म
पांचवा	-	८६ कर्म	ग्यारहवां	-	९ कर्म
छट्टा	-	८० कर्म	बारहवां	-	८ कर्म...

उन में पहले सत्तास्थान में त्र्यानबे (९३) कर्म इस प्रकार से होते हैं...

४	गति	६	संहनन (संधयण)
५	जाति	५	वर्ण
५	शरीर	२	गंध
५	संघातन	५	रस

५	बंधन	८	स्पर्श
६	संस्थान	४	आनुपूर्वी
३	अंगोपांग	२	विहायोगति
३३	+	३२	= ६५

६ अगुरुलघु-१, उपघात-२, पराघात-३, उच्छ्वास-४, आतप-५ और उद्योत-६...

२०	१	प्रत्येक शरीर	११	साधारण शरीर
	२	त्रस	१२	स्थावर
	३	शुभ	१३	अशुभ
	४	सुभग	१४	दुर्भग
	५	सुस्वर	१५	दुःस्वर
	६	सूक्ष्म	१६	बादर
	७	पर्याप्तक	१७	अपर्याप्तक
	८	स्थिर	१८	अस्थिर
	९	आदेय	१९	अनादेय
	१०	यशःकीर्ति	२०	अयशः कीर्ति...

२ निर्माण नाम कर्म एवं तीर्थकर नाम कर्म...

$$६५ + ६ + २० + २ = ९३$$

- (१) यह त्र्यानबे (९३) कर्मों का पहला सत्तास्थान होता है...
- (२) तीर्थकर नाम कर्म के अभाव में ९२ कर्मों का दुसरा सत्तास्थान
- (३) पूर्वोक्त ९३ कर्मों में से आहारक चतुष्टय (४) याने १. आहारक शरीर, २. आहारक अंगोपांग, ३. आहारक संघातन, ४. आहारक बंधन... इन चार कर्मों के अभाव में ८९ कर्मों का तीसरा...
- (४) इन ८९ कर्मों में से तीर्थकर नामकर्म के अभाव में ८८ कर्मों का चौथा सत्तास्थान होता है...
- (५) इन ८८ कर्मों में से देवगति एवं देवानुपूर्वी का उद्वलन हो तब ८६ कर्मों का पांचवा सत्तास्थान...

अथवा तो- ८० कर्मों की सत्तावाला प्राणी यदि नरकगति प्रायोग्य कर्मबंध करता है तब नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, वैक्रिय संघातन एवं वैक्रिय बंधन... यह छह (६) कर्मों का बंधन करने पर भी ८६ कर्मों का सत्तास्थान होता है...

अथवा तो ८२ कर्मों की सत्तावाला प्राणी देवगति प्रायोग्य बंध करता है तब भी ८६

कर्मों का सत्तास्थान होता है...

- (६) इन ८६ कर्मों में से नरकद्विक (नरकगति-आनुपूर्वी) २, एवं वैक्रिय चतुष्टय (४) का उद्वलन हो तब ८० कर्मों की सत्ता का छद्म सत्तास्थान होता है...
- (७) तथा इन ८० कर्मों में से मनुष्यगति एवं मनुष्यानुपूर्वी का उद्वलन हो तब ७८ कर्मों का सातवा सत्तास्थान होता है... यह सात सत्तास्थान क्षपकश्रेणी के अभाववाले आत्मा को होते हैं...

अब क्षपकश्रेणी में रहे हुए आत्मा के सत्तास्थान कहते हैं... वे इस प्रकार-

(१) पूर्वोक्त ९३ कर्मों में से-	नरकगति नरकानुपूर्वी	-	२
	तिर्यचगति तिर्यच-आनुपूर्वी	-	२
	एकेंद्रिय-बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चउरिंद्रिय जाति...	-	४
	आतप और उद्योत...	-	२
			= १०

११ स्थावर, १२ सूक्ष्म, १३ साधारण... यह नरकगति एवं तिर्यचगति प्रायोग्य तेरह (१३) कर्मों का सत्ता में से क्षय होने से ८० कर्मों का पहला सत्तास्थान...

- (२) पूर्वोक्त ९२ कर्मों में से यही तेरह (१३) कर्मों की सत्ता का क्षय हो तब ७९ कर्मों का दुसरा सत्तास्थान होता है...
- (३) तथा ९३ कर्मों में से आहारक चतुष्टय के अभाव में जो ८९ कर्मों का सत्तास्थान हमने कहा था, उसमें से यही तेरह (१३) कर्मों की सत्ता का क्षय हो तब ७६ कर्मों का तीसरा सत्तास्थान होता है...
- (४) तथा तीर्थकर नामकर्म के अभाववाला जो ८८ कर्मों का सत्तास्थान कहा था, उसमें से भी यही तेरह (१३) कर्मों की सत्ताका क्षय हो तब ७५ कर्मों का चौथा सत्तास्थान होता है...
- (५) पूर्वोक्त ८० या ७६ कर्मों की सत्तावाले तीर्थकर केवली भगवान् चौदहवे अयोगी केवली गुणस्थानक के द्विचरम समय के अंतिम भाग में नव कर्मों को छोड़कर शेष ७१ या ६७ कर्मों की सत्ता का क्षय करते हैं तब तीर्थकर केवली भगवान् को शैलेशी याने चौदहवे गुणस्थानक के अंतिम समय में नव (९) कर्मों की सत्ता होती है... वे इस प्रकार-

१. मनुष्यगति, २. पंचेंद्रिय जाति, ३. त्रस, ४. बादर, ५. पर्याप्तक, ६. सुभग, ७. आदेय, ८. यशःकीर्ति तथा ९. तीर्थकरनाम कर्म...

- (६) इन नव (९) कर्मों में से यदि वह पुन्यात्मा तीर्थकर नहि है, किंतु सामान्य केवली

भगवान् है तब उन्हें शैलेशी के अंतिम समय में तीर्थकर नामकर्म के अभाव में आठ (८) कर्मों की सत्ता होती है... और अंतिम समय में यह आठ कर्मों की सत्ता का क्षय होने से वह पुन्यात्मा अशरीरी, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है...

अब गोत्रकर्म के सामान्य से दो सत्तास्थान हैं... उच्चगोत्र एवं नीचगोत्र (दोनों) की सत्ता के सद्भाव में पहला सत्तास्थान... तथा तेउकाय (अग्नि) एवं वाउकाय (वायु) जीव जब उच्चगोत्र का उद्वलन करता है तब कालंकली व्याकुल -अवस्था में उन्हें मात्र एक नीचगोत्र की सत्ता होती है... यह दुसरा सत्तास्थान... अथवा तो- अयोगी केवली भगवान् अंतिम समय में जब नीचगोत्र की सत्ता का क्षय करते हैं तब उन्हें मात्र एक उच्चगोत्र की सत्ता होती है...

इस प्रकार गोत्रकर्म में जब दोनो गोत्र की सत्ता होती है तब दो गोत्रकर्मवाला पहला सत्तास्थान... तथा दो प्रकार के गोत्रकर्म में से जब कोई भी एक ही प्रकार का गोत्रकर्म सत्ता में होता है तब दुसरा सत्तास्थान...

इस प्रकार आठों कर्मों के उत्तर भेद १४८ कर्म प्रकृतियों के स्वरूप को जान-समझकर, उनकी सत्ता के विच्छेद के लिये हि साधु सदा प्रयत्न करे...

V सूत्रसार :

संसार परिभ्रमण का मूल कारण राग-द्वेष जन्य प्रवृत्ति है। प्रमादी व्यक्त कषायों के वश होकर आरम्भ-हिंसा करता है और परिणाम स्वरूप अशुभ कर्मों का बन्ध करके नरक, तिर्यच आदि गतियों में अनेक प्रकार के दुःखों का संवेदन करता है। इस प्रकार व्यक्ति शब्दादि विषयों में आसक्त होकर हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्त होकर जन्म, जरा और मृत्यु के प्रवाह में बहता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि- हिंसा जन्य प्रवृत्ति में प्रवर्तमान व्यक्ति दुःखों के महागर्त में जा गिरता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- समस्त दुःखों का मूल स्रोत हिंसाजन्य प्रवृत्ति है। हम यों भी कह सकते हैं कि- जो व्यक्ति संयम से विमुख है, शब्दादि विषयों में आसक्त है, वह आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का बन्ध करता है और परिणाम स्वरूप विभिन्न योनियों में जन्म-जरा और मरण को प्राप्त करता है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति अप्रमत्त है; जागरणशील है, विवेकशील है, संयम-असंयम का परिज्ञाता है, वह आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त नहीं होता। उसकी प्रत्येक क्रिया संयम से युक्त होती है और वह प्रतिक्षण जागरूक रहता है, विवेक के साथ साधना में प्रवृत्त होता है, अतः वह पाप कर्म का बन्ध नहीं करता। परन्तु संयम एवं तप के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन आबद्ध कर्मों की निर्जरा करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन

कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, अतः मुमुक्षु का कर्तव्य है कि- असंयम से निवृत्त होकर संयम में प्रवृत्ति करे।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे पज्जवज्जायसत्थस्स खेयन्ने' का अर्थ है- जो व्यक्ति शब्दादि विषयों की आकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं एवं उसके परिणाम का ज्ञाता है वही विशुद्ध संयम का परिज्ञाता हो सकता है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का हेतुहेतुमद्भाव से वर्णन किया है। अर्थात् जो व्यक्ति संसार परिभ्रमण के कारणों का परिज्ञाता है; वह मोक्ष पथ का भी ज्ञाता हो सकता है।

'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ' का अर्थ है-मोक्ष मार्ग पर गतिशील साधक समस्त कर्म बन्धनों को तोड़ देता है। अतः आठ कर्मों से मुक्त वह व्यक्ति फिर से संसार में नहीं आता। इससे यह स्पष्ट कर दिया है कि- कर्म बन्धन से मुक्त आत्मा फिर से संसार में अवतरित नहीं होती - कर्म युक्त आत्मा ही जन्म-मरण के प्रवाह में बहती रहती है। कर्म रहित आत्मा जन्म ग्रहण नहीं करती है। क्योंकि- जन्म-मरण का मूल कारण कर्म है और सिद्ध अवस्था में कर्म का सर्वथा अभाव है। वस्तुतः कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में रमण करती है; फिर वह संसार में नहीं भटकती है।

अतः मुमुक्षु को कर्मों की मूल एवं उत्तर प्रकृतियों को सर्वथा क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार कहते हैं-

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ ११४ ॥ १-३-१-६

कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे, तं परिण्णाय मेहावी, विडत्ता लोणं, वंता लोणसण्णं, से मेहावी परिक्कमिज्जासि त्तिबेमि ॥ ११४ ॥

II संस्कृत-छाया :

कर्ममूलं च यत् क्षणं, प्रत्युपेक्ष्य सर्वं समादाय, द्वाभ्यां अन्ताभ्यां अदृश्यमानः, तं परिज्ञाय मेधावी, विदित्वा लोकं, वान्त्वा लोकसंज्ञां, सः मेधावी पराक्रमेत इति ब्रवीति ॥ ११४ ॥

III सूत्रार्थ :

क्षण याने हिंसा कर्ममूलक हि है... अतः कर्म और कर्म मुक्ति के सभी उपदेश को ग्रहण करके राग एवं द्वेष से अलिप्त होकर उन कर्मों की परिज्ञा करके मेधावी साधु लोक को जानकर, लोकसंज्ञा को छडकर वह मेधावी साधु संयमानुष्ठान में पराक्रम करें... ऐसा मैं

सुधर्मस्वामी हे जंबू ! तुम्हें कहता हूँ... ॥ ११४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

कर्मों के मूल कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग हैं, और कर्मों का मूल हिंसा है... अतः प्राणीओं के वध स्वरूप हिंसा को अच्छी तरह से समझकर त्याग करे... अर्थात् जिस समय प्रमाद के कारण से कर्मों का ग्रहण हो, उसी समय सावधान होकर कर्मबंध का निवारण करें... यहां सारांश यह है कि- अज्ञान एवं प्रमाद आदि से जिस समय कर्मबंध के कारण-भूत क्रिया हो जाय, उसी समय सचेतनवाला होकर कर्मबंध के कारण स्वरूप उन अशुभक्रियाओं का त्याग करें... इस प्रकार कर्म का स्वरूप एवं कर्म के विपक्ष ऐसे संवरभाव के उपदेश को ग्रहण करके राग एवं द्वेष से दूर होकर अथवा कर्मबंध के कारणभूत राग आदि को ज्ञ परिज्ञासे जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करें...

तथा राग आदि से मोहित (मूर्च्छित) लोक समूह को अथवा विषय-कषाय स्वरूप लोक को शास्त्रदृष्टि से जानकर एवं विषयों की पिपासा स्वरूप संज्ञा अथवा तो धन्य-धान्य आदि के ग्रहण के आग्रह स्वरूप संज्ञा का वमन (त्याग) करके वह मेधावी याने धर्मानुष्ठान की मर्यादा में रहा हुआ साधु संयमानुष्ठान में उद्यमवाला होकर विषयपिपासा को अथवा काम-क्रोधादि अंतरंग षड् अरिवर्ग को अथवा तो आठों प्रकार के कर्मों का निरोध करें... “इति” पद यहां उद्देशक की परिसमाप्ति का सूचक है, एवं ब्रवीमि याने मैं (सुधर्मस्वामी) हे जंबू ! भगवान् वीर परमात्मा के मुख से जो सुना है वह तुम्हें कहता हूँ।

V सूत्रसार :

कर्म बन्ध के मूल कारण ५ हैं- १. मिथ्यात्व, २. अव्रत, ३. कषाय, ४. प्रमाद और ५. योग। इनके कारण ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इस बात को जिनेश्वर भगवान ने अपने उपदेश में स्पष्ट कर दिया है और उससे मुक्त होने का मार्ग भी बताया है। अतः भगवान के उपदेश को हृदयंगम करके मुमुक्षु पुरुष को जिनाज्ञा के अनुरूप आचरण करना चाहिए। संसार के वास्तविक स्वरूप को समझकर राग-द्वेष से निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिए।

राग-द्वेष कर्म बन्ध के बीज हैं। इसलिए मुख्य रूप से इन के त्याग का उपदेश दिया गया है। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देता है, उनका सर्वथा उन्मूलन कर देता है, फिर वह कर्म बन्धन नहीं करता है और परिणाम स्वरूप जन्म-मरण आदि समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में ‘अंत’ शब्द राग-द्वेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अतः बुद्धिमान पुरुष

को चाहिए कि- वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य का आराधन करके आत्मा को कर्ममल से मुक्त बनाने का प्रयत्न करे।

यहां 'मेधावी' शब्द का तात्पर्य यह है कि- जो पुरुष मर्यादा में स्थिर रहता है, वही आत्म विकास कर सकता है, संयम में प्रवृत्त हो सकता है। अतः ऐसा व्यक्ति ही वास्तव में पंडित एवं बुद्धिमान होता है

'तिबेमि' का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिए।

॥ इति तृतीयाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

५१ ५१ ५१

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सानिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भड्डारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. ९६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ३ उद्देशक - २

क्र दुःखानुभवः क्र

प्रथम उद्देशक पूर्ण हुआ... अब द्वितीय उद्देशक का प्रारंभ कर रहे हैं... यहां प्रथम एवं द्वितीय उद्देशक में परस्पर यह संबंध है कि- प्रथम उद्देशक में भावसुप्त का स्वरूप कहा था, और यहां उन प्राणीओं को भावस्वाप के विपाकफल स्वरूप असाता कहेंगे... इस परस्पर के संबंध से आये हुए इस सूत्र के सूत्रानुगम में प्राप्त सूत्र का संहितादि पद्धति से शुद्ध उच्चार के साथ पाठ करना चाहिये... और वह सूत्र यह है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ ११५ ॥ १-३-२-१

जाइं च वुद्धिं च इहऽज्ज ! पासे, भूएहिं जाणे पडिलेह सायं ।
तम्हाऽतिविज्जे परमंति नच्चा, संमत्तदंसी न करेइ पावं ॥ ११५ ॥

II संस्कृत-छाया :

जातिं च वृद्धिं च इह आर्य ! अद्य पश्य, भूतैः जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातम् ।
तस्मात् अतिविद्यः परमं इति ज्ञात्वा सम्यक्त्वदर्शी न करोति पापम् ॥ ११५ ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में जन्म एवं वृद्धि आज हि देख अथवा हे आर्य ! जन्म एवं वृद्धि को यहां देखो... तथा जीवों के साथ आत्मा की तुलना करके साता को जानो ! इस प्रकार से विद्यावाले (सम्यग्दृष्टि प्राणी) परम तत्त्व को जानकर पाप नहि करते... ॥ ११५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस मनुष्य लोक स्वरूप संसार में जाति याने प्रसूति = जन्म और वृद्धि याने बाल, कुमार, यौवन और वृद्धावस्था पर्यंत की वृद्धि को कालक्षेप किये बिना आज हि देखो ! यहां सारांश यह है कि- जन्म पाये हुए मनुष्य को वृद्धावस्था में शारीरिक एवं मानसिक जो दुःख होते हैं उन्हें विवेकचक्षु से आज हि देखो !

कहा भी है कि- जन्म लेते हुए एवं मरते हुए जंतु को इतना सारा दुःख (पीडा) होता है कि- उस दुःख से संतप्त वह प्राणी अपने जन्म को याद हि नहि करता है...

मां के गर्भ में विरस रस को ग्रहण करता हुआ प्राणी गर्भकाल पूर्ण होने पर जन्म के समय योनिमुख से बाहर आता है तब वह जंतु (मनुष्य) माता को और अपने खुद को अतुल वेदना को उत्पन्न करता है... तथा वृद्धावस्था में वह मनुष्य दीन-हीन स्वर (आवाज) वाला और चित्त के विपर्यासवाला, दुर्बल और दुःखी वह मनुष्य मरणात्मक अंतिम दशा (अवस्था) को प्राप्त करता है... इत्यादि...

भगवान् श्री वर्धमान स्वामीजी अपने प्रथम शिष्य इंद्रभूति गौतम गणधर को कहते हैं कि- हे आर्य ! जन्म एवं वृद्धि के कारण कर्म के कार्य स्वरूप दुःख को जानो... समझो... तथा धर्मानुष्ठान से पुनः जन्म जरा आदि न हो ऐसा प्रयत्न करो...

तथा चौदह प्रकार के जीव स्थानकों के साथ अपने आत्मा के साता की तुलना करो... जैसे कि- हे आत्मन् ! तुझे सुख प्रिय है वैसा ही अन्य जीवों को भी सुख प्रिय है तथा जिस प्रकार तू दुःखके प्रति द्वेष रखता है वैसा ही अन्य जीव भी दुःखों के प्रति द्वेष ही रखते हैं... ऐसा जानकर अन्य जीवों को असाता याने दुःख-पीडा न दे... ऐसा करने से ही तू जन्म जरा आदि के दुःखों को नहि प्राप्त करेगा... कहा भी है कि- हे आत्मन् ! जिस प्रकार तुझे इष्ट विषय सुख है, और अनिष्ट विषय दुःख है... इसी ही प्रकार अन्य जीवों को भी है अतः अन्य प्राणीओं को अप्रिय हो, ऐसा आचरण न करें...

हां, यदि ऐसा है, तो अब क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- जन्म, वृद्धि, सुख एवं दुःखों को देखकर अतिशय विद्यावाले साधु परम याने मोक्ष अथवा मोक्षमार्ग ज्ञानादि को जानकर सावद्य पापाचरण पाप न करें...

अब कहते हैं कि- पाप का मूल स्नेहपाश याने रागानुबंध है, अतः इस स्नेहपाश को दूर करने के लिये सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे।

V सूत्रसार :

प्रथम उद्देशक में भाव सुप्त एवं जागरणशील पुरुष के स्वरूप को बताया गया है। इस उद्देशक में आतंकदर्शी-अर्थात् नरक आदि दुर्गति में प्राप्त होने वाले दुःखों को देखनेवाला साधु कभी भी पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। किंतु भाव निद्रा में सुप्त पुरुष ही पाप की ओर प्रवृत्त होता है। इसलिए प्रायः वह भावसुप्त-मनुष्य दुःखों एवं असातावेदनीय-कर्म का संवेदन करता है।

प्रस्तुत सूत्र में इस बात पर जोर दिया गया है कि- साधक सब से पहिले जन्म-जरा एवं मृत्यु के स्वरूप तथा जीवों के स्वभाव को जाने। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि- जन्म-जरा एवं मरण कर्म जन्य हैं और आरम्भ हिंसा आदि दोषों का सेवन करने से कर्म का बन्ध

होता है। क्योंकि- हिंसा से दूसरे प्राणियों को कष्ट होता है, दुःख होता है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं। अतः उन्हें कष्ट देना, परिताप देना, पीड़ा पहुंचाना पाप है। इस से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप जीव जन्म-मरण के प्रवाह में प्रवहमान होता है तथा विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है।

अतः जन्म-जरा के स्वरूप एवं जीवों के स्वभाव का ज्ञाता प्रबुद्ध पुरुष आरंभ-समारंभ से बचने का प्रयत्न करता है। सम्यग्दृष्टि जीव पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि- पाप कर्म में आसक्ति तब तक रहती है, जब तक आत्मा में सदज्ञान की ज्योति नहीं जगती। अतः पाप का कारण अज्ञान है। मिथ्यादृष्टि आरंभ-समारंभ में संलग्न रहता है, आसक्ति रहता है और हार्दिक इच्छा पूर्वक उसमें प्रवृत्ति करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव पापाचरण को अच्छा नहीं मानता... वह कभी परिस्थितिवश उसमें प्रवृत्त होता है, फिर भी वह अंतःकरण-भावना से उस कार्य को त्याज्य ही समझता है।

चौथे गुणस्थान से जीवका विकास आरम्भ होता है। इस गुणस्थान को स्पर्श करते ही मिथ्यादर्शन की क्रिया रूक जाती है। पांचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान की क्रिया नहीं लगती, छठे गुणस्थान में परिग्रह की क्रिया नहीं लगती, और वीतराग गुणस्थान में केवल ईर्ष्यापथिकी क्रिया लगती है और अयोगिगुणस्थान में कोई क्रिया नहीं लगती। इससे स्पष्ट है कि- पाप कर्म का बन्ध छठे गुणस्थान में रूकता है। छठे गुणस्थान में अप्रत्याख्यान एवं परिग्रह-आसक्ति का अभाव रहता है। परन्तु पांचवें गुणस्थान में पदार्थों के प्रति आसक्ति का पूर्ण त्याग नहीं होता और चौथे गुणस्थान में जीव आसक्ति को त्याज्य समझता है, परन्तु वह उसका आंशिक त्याग भी नहीं कर सकता। इसलिए चौथे एवं पांचवें गुणस्थान में रहा हुआ जीव आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नहीं होता। परन्तु उसकी भावना निवृत्त होने की रहती है इसलिए यह कह गया है कि- सम्यग्दृष्टि जीव पाप कर्म में प्रवृत्ति नहीं करता है।

निष्कर्ष यह निकला कि- दुःखों से बचने के लिए ज्ञान का होना ज़रूरी है। प्रबुद्ध-ज्ञानी पुरुष ही पापों से बच सकता है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि- “भूएहि जाणे पडिलेह सायं” इसका तात्पर्य यह है कि- जो यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष के स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने की साधना में संलग्न रहता है, वह पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि- वह पाप कर्म के दुष्फल-दुःखद परिणाम से परिचित होता है।

इससे स्पष्ट होता है कि- सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर साधक अपने आपको सदा पाप कर्म से निवृत्त करने का प्रयत्न करता है। वह पाप कर्म के दुःखद परिणामों को जानकर उनसे बचने के लिए धर्म का आचरण करता है, संयम साधना में संलग्न होता है। हमें यों कहना चाहिए कि- सम्यग्दृष्टि आत्माभिमुखी होता है।

पाप कर्म की उत्पत्ति का कारण राग-स्नेह है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य विभिन्न दुष्कर्मों में प्रवृत्त होता है। अतः मुमुक्षु को राग भाव का त्याग करना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ ११६ ॥ १-३-२-२

उम्मुञ्च पासं इह मच्चिहं, आरंभजीवी उभयानुपस्सी।

कामेषु गिद्धा निचयं करंति, संसिच्चमाणा पुनरिति गर्भं ॥ ११६ ॥

II संस्कृत-छाया :

उम्मुञ्च पासं इह मर्त्यैः, आरंभजीवी उभयानुदर्शी। कामेषु गृद्धा निचयं कुर्वन्ति, संसिच्चमानाः पुनः यन्ति (उपयान्ति) गर्भम् ॥ ११६ ॥

III सूत्रार्थ :

इस मनुष्यलोक में मनुष्यों के साथ पाश-मायाजाल का त्याग करें... क्योंकि- अज्ञानी मनुष्य आरंभजीवी है तथा इस जन्म के एवं जन्मांतर के दुःखों को देखते नहीं हैं... अतः कामभोग में आसक्त वे कर्मबंध करते हैं, और उन कर्मों के उदय से पुनः गर्भावस्था को प्राप्त करते हैं ॥ ११६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

चार प्रकार के कषाय एवं शब्दादि पांच विषयों से मुक्त होने में समर्थ ऐसे इस मनुष्यलोक में अज्ञानी मनुष्यों के साथ द्रव्य एवं भाव भेदवाले पाश याने मायाजाल को दूर करें... क्योंकि- अज्ञानी मनुष्य कामभोग की लालसावाले हैं, अतः उन कामभोगों की प्राप्ति के लिये हिंसा आदि पापारंभ करते हैं... इसीलिये हि कहते हैं कि- महा आरंभ एवं महापरिग्रह से हि जीवन के उपाय की कल्पना करनेवाले, उभय याने शारीरिक एवं मानसिक अथवा तो इस जन्म एवं जन्मांतर के भोगोपभोगों को देखनेवाले लोग काम याने इच्छा, और मदन अर्थात् कामविकार में आसक्त होकर कर्मों का बंध करते हैं... तथा कामभोग की इच्छा से उत्पन्न किये हुए कर्मों के द्वारा एक गर्भ से अन्य गर्भ में जाते हैं अर्थात् संसार चक्रवाल में अरघट्ट-घटीयंत्र के न्याय से पर्यटन करते रहते हैं... यह यहां सारांश है...

तो अब जो आत्मा अनिभूत याने अशांत है, वह कैसा होता है ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

आगम में राग-द्वेष को कर्म का मूल बीज बताया है। अतः प्रस्तुत सूत्र में राग-स्नेह बन्धन के त्याग का उपदेश दिया गया है। क्योंकि- जिस व्यक्ति के प्रति अनुराग होता है, मोह होता है तो उसके लिए मनुष्य अच्छे बुरे किसी भी कार्य को करने में संकोच नहीं करता। इसके लिए वह आरम्भ समांरंभ एवं विषय वासना में सदा आसक्त रहता है और इससे पाप कर्म का संचय एवं प्रगाढ़ बन्ध करता है, परिणाम स्वरूप बार-बार गर्भ में जन्म ग्रहण करता है।

अतः हे आर्य ! तू कर्म एवं जन्म-मरण के मूलकारण राग भाव या स्नेह बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न कर। और सावधान होकर संयम मार्ग पर गति कर।

जाँ व्यक्ति विना सोच-विचार, अविचक पूर्वक काम करते हैं, उनके संसर्ग से क्या होता है ? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ ११७ ॥ १-३-२-३

आवि से हासमासज्ज, हंता नंदीत्ति मण्णइ ।

अलं बालस्स संगेण, वैरं वहेइ अप्पणो ॥ ११७ ॥

II संस्कृत-छाया :

अपि सः हास्यमासाद्य, हन्त ! नन्दी इति मन्यते। अलं बालस्य सङ्गेन, वैरं वर्धयति आत्मनः ॥ ११७ ॥

III सूत्रार्थ :

कभी वह हास्य को प्राप्त करके, प्राणीओं के वध को क्रीडा समझता है... इसलिये कहते हैं कि- बाल याने अज्ञानी जीवों की संगति से क्या ? क्योंकि- ऐसा करने से तो अपने आत्मा का हि वैर-भाव बढ़ाता है ॥ ११७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

ही याने लज्जा तथा भय आदि निमित्त से होनेवाला चित्त का विप्लव याने हल्ला-गुल्ला, वह हास्य है... ऐसे हास्य के साथ वह कामासक्त प्राणी अन्य प्राणीओं का वध करके खुस होता है... और महामोह के कारण से अशुभ अध्यवसायवाला वह कहता है कि- यह सभी पशुगण मृगया याने शिकार के लिये बनाये गये हैं, और शिकार करना यह हम लोगों की क्रीडा हि है... इस प्रकार मृषावाद, अदत्तादान आदि पापाचरण में भी स्वयं समझ लीजियेगा...

इसीलिये कहते हैं कि- बाल याने अज्ञानी जीवों को प्राणातिपात आदि स्वरूप पापाचरण का संग अथवा विषय और कषाय का संग अच्छा नहि है... अर्थात् अज्ञानी जीव हास्य आदिका संग न करे यह हि उसके लिये अच्छा है... क्योंकि- हास्य आदि के संग से वह अज्ञानी प्राणी अन्य पुरुष आदि के वध से उत्पन्न होनेवाले अपने वैर को बढ़ाता है... जैसे कि- गुणसेन राजकुमार ने हास्य-विनोद को लेकर विविध प्रकार के उपायों से अग्निशर्मा का उपहास करने से नव भव पर्यंत के वैर-भाव को बढ़ाया था... इसी प्रकार अन्य जीवों के संबंध में भी विषयों के संग से होनेवाले वैरानुबंध को स्वयं हि जानीयेगा...

हां ! यदि ऐसा है, तो अब क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- हास्य एवं अज्ञान से आत्मा में वैर भाव बढ़ता है। क्योंकि- हास्य एवं अज्ञान के वश मनुष्य हिंसा आदि पाप कार्य में प्रवृत्त होता है और उसमें आनन्द एवं प्रसन्नता का अनुभव करता है। परन्तु मरने वाला प्राणी उस दुःख से बचने के लिए पूरा प्रयत्न करता है, अपनी सारी शक्ति लगा देता है। कारण यह है कि- सभी प्राणी जीने के इच्छुक हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसलिए हम देखते हैं कि- वध बंधन एवं, बलिदान के स्थान पर या किसी अन्य स्थान में मारने के लिए लाए हुए बकरे आदि पशुओं को जब मारा जाता है, तो वे उसके कठोर बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। उनकी इस चेष्टा को रोकने के लिए घातक के मन में क्रूरता और अधिक उग्र रूप धारण करती है और प्रतिक्षण द्वेष-भाव बढ़ता है। उधर मरने वाले प्राणी के मन में भी प्रतिफल-बदले की भावना उदबुद्ध होती है-भले ही वह दुर्बल होने के कारण अपनी चेष्टा में सफल नहीं होता, परन्तु प्रतिशोध की भावना उसके मन में रहती है। इस प्रकार दोनों व्यक्ति वैर भाव का अनुबन्ध कर लेते हैं। इससे यह कहा गया कि- ऐसा अज्ञानी व्यक्ति एवं उसका संसर्ग करने वाला व्यक्ति भी वैर भाव को बढ़ाता है।

कुछ लोग केवल विनोद एवं शौर्य प्रदर्शन के लिए शिकार करके प्रसन्न होते हैं। कुछ लोग वेद विहित यज्ञों में एवं देवी-देवताओं को तुष्ट करने के लिए पशुओं का बलिदान करके आनन्द मनाते हैं। इस प्रकार स्वर्ग एवं पुत्र-धन आदि की प्राप्ति तथा शत्रुओं के नाश के लिए या धर्म के नाम पर भूक एवं असहाय प्राणी की हिंसा करना, धर्म की पवित्र मानी जाने वाली वेदी को निरपराधी प्राणियों के खून से रंग कर आनन्द मनाना भी पतन की पराकाष्ठा है, अतः आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट बाल-भाव अज्ञान हि है। इस अज्ञान से हि आत्मा अधः पतन के महागर्त में गिरता है।

इन सब पाप कार्यों का मूल कारण विषय-कषाय है। अतः मुमुक्षु पुरुष को विषय-कषाय का परित्याग करके पाप कर्म से सर्वथा निर्वृत हो जाना चाहिए। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ ११८ ॥ १-३-२-४

तम्हाऽतिविज्जो परमं ति नच्छा, आयंकदंसी न करेइ पावं ।

अग्रं च मूलं च विगिंच धीरे, पलिच्छिंदिया णं णिक्कमदंसी ॥ ११८ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्मात् अति विद्वान्, परमं इति ज्ञात्वा, आतङ्कदर्शी न करोति पापम् ।

अग्रं च मूलं च त्यज धीर ! परिच्छेद्य निष्कर्मदर्शी ॥ ११८ ॥

III सूत्रार्थ :

इसीलिये विद्वान् मुनी परम याने मोक्ष पद को जानकर, आतंकदर्शी ऐसा वह मुनी पाप न करे... हे धीर ! अग्र एवं मूल का त्याग करके, कर्मों के बंधनों को छेद कर निष्कामदर्शी बनो... ॥ ११८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जिस कारण से बाल के संग करनेवाले वैर को बढ़ाते हैं, तस्मात् विद्वान् मुनी सर्वसंवर स्वरूप मोक्ष-पद परम है ऐसा जानकर, अथवा तो सर्वसंवर स्वरूप चारित्र्य या सम्यग्ज्ञान या सम्यग्दर्शन परम है ऐसा जानकर, आतंक याने नरक आदि के दुःख को देखनेवाला वह मुनी पाप के अनुबंधवाले कर्म नहीं करता... उपलक्षण से, अन्य के द्वारा पाप-कार्य करवाता नहीं है, अन्य के पापकार्यों की अनुमोदना भी नहीं करता किंतु वह मुनी अग्र याने चार अघाति कर्म तथा मूल याने चार घातिकर्म अथवा तो मोहनीय कर्म मूल है और शेष सात कर्म अग्र है... अथवा तो मिथ्यात्व मूल है, और शेष सभी कर्म अग्र है... अतः इन अग्र एवं मूल का त्याग करे अर्थात् आत्मा से उन्हें दूर करो... सारांश यह है कि- अभी पुद्गल स्वरूप कर्मों का संपूर्ण विनाश तो संभवित है हि नहीं, किंतु अपने आत्मा से दूर वे तो हो सकते हैं...

तथा आगमसूत्र में भी कहा है कि- हे भगवन् ! जीव आठ कर्म प्रकृतियां कैसे बांधते हैं ? हे गौतम ! ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से दर्शनावरणीय कर्म को बांधता है, तथा दर्शनावरणीय कर्म के उदय से दर्शन मोहनीय कर्म को बांधता है, और दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव मिथ्यात्व मोहनीय कर्म को बांधता है, और मिथ्यात्व के उदय से हि जीव आठों

कर्म प्रकृतियों का बंध करते हैं... तथा आठों कर्मप्रकृतियों का क्षय भी मोहनीय के क्षय बिना अशक्य हि है... कहा भी है कि- जिस प्रकार सेनापति के विनाश होने में हि सेना का क्षय होता है, उसी प्रकार मोहनीय के क्षय होने से हि शेष सभी कर्मों का क्षय होता है... इत्यादि...

अथवा मूल याने असंयम, कर्म अथवा संसार-वास तथा अग्र याने संयम-तप, या मोक्ष... हे धीर ! पुरुष ! तुम ऐसा जानो कि- मूल दुःख का कारण है, तथा अग्र सुख का कारण है... धीर याने जो संकट से क्षोभ न पावे, अथवा जो विवेक से विराजित है, वह धीर... अतः धीर पुरुष तप एवं संयम के द्वारा रागादि बंधन या उनके कार्य स्वरूप कर्मों का छेद करके निष्कर्मदर्शी होता है... अर्थात् आत्मा को कर्मों से भिन्न देखनेवाला, अथवा कर्मों के आवरण का दूर होने से निष्कर्मी ऐसा वह धीर मुनी सर्वदर्शी केवलज्ञानी होता है...

जो मुनी निष्कर्मदर्शी होता है, वह अन्य कौन से गुणों को प्राप्त करता है ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रबुद्ध पुरुष पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है। प्रबुद्ध पुरुष वह है, जो लोक के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जो इस बात को भली-भांति जानता है कि- यह जीव आरम्भ-समारम्भ आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त होकर कर्म का संग्रह करता है और उसके परिणाम स्वरूप नरकादि लोक में विभिन्न दुःखों का संवेदन करता है। इसके साथ वह यह भी जान लेता है कि- जीव आरम्भ आदि दोष जन्य प्रवृत्ति से निवृत्त निष्कर्म बन जाता है और वह हि मार्ग मोक्षमार्ग कहलाता है। अतः लोक एवं मोक्ष के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला साधक ही प्रबुद्ध पुरुष कहलाता है। और वह यथार्थद्रष्टा पाप कार्य के दुःखद परिणामों को जानता है, इसलिए वह पाप कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'अगं च मूलं च.....' पाठ इस बात को स्पष्ट कर रहा है कि- भगवान महावीर या जैन दर्शन का मूल लक्ष्य संसार वृक्ष के पत्तों को ही नहीं, किंतु उसकी जड़ को उखाड़ने का रहा है। उन्होंने अग्र भाग को भी समाप्त करने की बात कही है... परन्तु साधक का लक्ष्य केवल शाखा-प्रशाखाओं का नाश तक ही नहीं, किंतु उस विषाक्त वृक्ष को जड़ से उन्मूलन करने का है। जैन दर्शन मात्र ऊपर ऊपर से ही कांट-छांट करने का पक्षपाती नहीं है, वह जड़ मूल से संसार-वृक्ष का नाश करने का उपदेश देता है।

मूल कर्म चार हैं-ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म क्योंकि- ये आत्मा के अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतचारित्र सुख और अनंत वीर्य-शक्ति को ढकने वाले हैं। शेष चार कर्म-वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म आत्मा के मूल गुणों को प्रभावित नहीं

करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि- आत्मा के मूल गुणों के घातक पहिले चार कर्म हैं, इसलिए उन्हें घातिकर्म कहते हैं। उनके नाश का अर्थ है-संसार का नाश। मूल कर्मों के क्षय होते ही शेष कर्म आयुष्य कर्म की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यह जीव पूर्णतः निष्कर्म-कर्म आवरण से रहित बन जाता है।

निष्कर्म जीव किस गुण को प्राप्त करता है इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ ११९ ॥ १-३-२-५

एस मरणा पमुच्चड, से हु दिडुभए मुणी, लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए कालकंखी परिव्वए... बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ॥ ११९ ॥

II संस्कृत-छाया :

एषः मरणात् प्रमुच्यते, सः एव दृष्टभयः मुनिः, लोके परमदर्शी विवित्तजीवी उपशान्तः समित्तः सहितः सदा यतः, कालाकाङ्क्षी परिव्रजेत्। बहु च खलु पापं कर्म प्रकृतम् ॥ ११९ ॥

III सूत्रार्थ :

यह मुनी मरण से मुक्त होता है... वह हि मुनी दृष्टभय है तथा लोक में परमदर्शी, विवित्तजीवी, उपशांत, समितिवाला, ज्ञानादि से सहित एवं सदा यतनावाला है, तथा काल याने मरण की आकांक्षावाला वह प्रव्रज्या का पालन करता है... क्योंकि- इस आत्मा ने निश्चित हि बहोत सारे कर्म बांधे हुए है ॥ ११९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

यह पूर्वोक्त स्वरूपवाला मूलाग्रह का रेचक, तथा निष्कामदर्शी मुनी मरण से मुक्त होता है, अर्थात् अब आयुष्य कर्म का बंध नहि करता है... अथवा तो आजवंजवीभाव से (आवगमन से) या आवीची-मरण से मुक्त होता है... क्योंकि- संपूर्ण संसार के प्राणीगण आवीची-मरण से सतत मरते हि रहते हैं, ऐसे मरण से यह मुनी मुक्त होता है, अर्थात् मोक्षपद पाता है... तथा उस मुनीने संसार के सात प्रकार के भयों को अच्छी तरह से देखा-समझा है तथा लोक में अर्थात् चौदह राज प्रमाण धर्मास्तिकायादि द्रव्यो के आधार स्वरूप लोक में अथवा तो चौदह प्रकार के गुणस्थानक में परम याने मोक्ष, तथा मोक्ष के कारण स्वरूप संयम को देखनेवाला वह मुनी है... तथा विवित्त याने द्रव्य से स्त्री, पशु एवं पंडक = नपुंसकवाली

शय्यादि से रहित वसति = उपाश्रय में तथा भाव से राग-द्वेष रहित, संक्लेश रहित जीवन जीनेवाले वह मुनी विविक्तजीवी है... तथा पांच इंद्रिय एवं मन (नोइंद्रिय) के विकारों के उपशम से उपशांत... तथा जो मुनी उपशांत होते हैं वे पांच समिति से गन्तव्य ऐसे मोक्षमार्ग में समिति = गमन करनेवाले हैं... तथा सम्यग्ज्ञान आदि से सहित है... और जो मुनी ज्ञानादि से सहित है वह सदा अप्रमादी अर्थात् यतनावाले होते हैं...

प्रश्न- यहां कहे गये विविक्तजीवी आदि गुण कब तक रहते हैं ?

उत्तर- कालाकाङ्क्षी याने जीवन पर्यंत... काल याने मृत्युकाल... अर्थात् आयुष्यक्रम से आये हुए पंडित मरण पर्यंत सर्व प्रकार से प्रव्रज्या का पालन करे... याने विविक्तजीवी इत्यादि गुणवाला वह मुनी जीवनपर्यंत संयमानुष्ठान में उद्यम करे...

प्रश्न- हां ! ठीक है, ऐसा हि करें... किंतु क्यों ?

उत्तर- मूल एवं उत्तर प्रकृति भेदवाले तथा प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभाव (रस) बंध तथा प्रवेशबंध स्वरूप, तथा बंध, उदय तथा सत्ता-व्यवस्थावाले, तथा बद्धस्पृष्ट-निद्धत्त-निकाचित्त-अवस्था को प्राप्त कीये हुए कर्म थोड़े काल-समय में क्षय नहि होते, अतः वह मुनी कालाकाङ्क्षी अर्थात् उन कर्मों के क्षय के लिये पंडित मरण पर्यंत संयमानुष्ठान में उद्यम करते हैं...

अब कर्मों के बंधस्थान की अपेक्षा से बहोत सारे मूल एवं उत्तर प्रकृतियों का स्वरूप दिखाते हैं... जैसे कि-

१. सभी मूल कर्म प्रकृतियों का बंध करनेवाला प्राणी जीवन में एकबार अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत अष्टविध बंधक होता है...
२. तथा आयुष्य कर्म को छोड़कर वह प्राणी जीवनभर सप्तविध बंधक होता है... उसका काल... जघन्य से अंतर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त न्यून पूर्वकोटिवर्ष के तृतीय भाग अधिक तैंतीस (३३) सागरोपम पर्यंत का काल...
३. तथा- सूक्ष्मसंपराय (दशवे) गुणस्थानक में मोहनीय कर्म के बंध का अभाव होता है अतः आयुष्य एवं मोहनीयकर्म के सिवा षड्विध छह (६) कर्मों के बंधक हैं... और इसका काल जघन्य से एक समय, और उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त काल है...
४. तथा उपशांतमोह-क्षीणमोह एवं सयोगी केवलीओं को सात कर्मों के बंधका अभाव होता है, अतः मात्र एक साता-वेदनीय का बंध करनेवालों को एकविध कर्मबंध स्थानक होता है... और वह जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटिवर्ष पर्यंत एक कर्म का बंध होता रहता है...

अब आठों कर्मों के उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थानक कहते हैं... उनमें प्रथम ज्ञानावरणीय एवं अंतराय कर्म के पांच-पांच कर्म प्रकृतियों का एक हि बंधस्थानक है... क्योंकि- वे ध्रुवबंधी है... तथा दर्शनावरणीय कर्म के तीन बंधस्थानक हैं... उनमें पांच निद्रा एवं चार दर्शन इन नव प्रकृतियों का ध्रुवबंधी होने के कारण से प्रथम नवविध-बंधस्थानक है... ॥१॥ तथा अनंतानुबंधि-कषाय के साथ शीणद्धी-त्रिक के बंध का अभाव होता है अतः षड्विध बंध का दुसरा स्थान है... ॥२॥ तथा अपूर्वकरण गुणस्थानक के संख्येय भाग बीतने पर निद्रा एवं प्रचला के बंध का अभाव होता है, तब चतुर्विध बंधका तीसरा स्थान... ॥३॥ तथा वेदनीय कर्म का एक हि बंधस्थानक होता है... क्योंकि- साता और असाता परस्पर विरोधि होने के कारण से दोनों का एक साथ बंध हो नहि सकता...

तथा मोहनीय कर्म के बंधस्थानक दश (१०) हैं... वे इस प्रकार- मिथ्यात्व गुणस्थानक में बाइस (२२) कर्मों का बंध होता है... १. मिथ्यात्व... सोलह कषाय $१+१६=१७$ कोइ भी एक वेद = १८ हास्य-रति या शोक-अरति = $१८+२=२०$ तथा भय और जुगुप्सा $२०+२=२२$... ॥१॥ इन बाइस (२२) कर्मों में से मिथ्यात्व के बंध का अभाव होता है तब सास्वादन गुणस्थानक में इक्कीस (२१) कर्मों का बंध होता है ॥२॥ तथा इन हि इक्कीस कर्मों में से अनंतानुबंधि चार कषाय के बंध का अभाव होता है, तब मिश्र एवं अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक में सत्तरह (१७) कर्मों का बंध होता है... ॥३॥ तथा देशविरति-गुणस्थानक में अप्रत्याख्यानीय चार कषायों के बंध का अभाव होने से तेरह (१३) कर्मों का बंध होता है ॥४॥ तथा छठे सातवे एवं आठवे गुणस्थानक में प्रत्याख्यानीय चार कषायों के बंध का अभाव होने से वहां नव (९) कर्मों का बंध होता है ॥५॥ तथा आठवे गुणस्थानक के अंतिम भाग में हास्य-रति तथा भय-जुगुप्सा के बंध का अभाव होता है, तब पांच (५) कर्मों का बंध होता है ॥६॥ उसके बाद अनिवृत्तिकरण नाम के नववें गुणस्थानक के संख्येय भाग बीतने पर पुरुषवेद के बंध का अभाव होता है तब चार (४) कर्मों का बंध होता है ॥७॥ तथा इसी नववे गुणस्थानक में क्रमशः संख्येय-संख्येय भाग बीतने पर अनुक्रम से संज्वलन क्रोध, मान, माया एवं लोभ के बंध का अभाव होता है तब तीन कर्म का, दो कर्म का एवं एक कर्म का बंध होता है... और अनिवृत्तिकरण के अंतिम भाग में संज्वलन लोभ के भी बंधका अभाव होता है, तब मोहनीय कर्म के बंध का संपूर्णतया अभाव होता है...

तथा आयुष्य कर्म के चार कर्म प्रकृतियों में से कोइ भी एक का हि बंध होता है... क्योंकि- वे परस्पर विरोधि हैं अतः चारों का एक साथ बंध हो नहि सकता...

अब नाम-कर्म के आठ बंध स्थानक हैं... वे इस प्रकार- तिर्यच गति प्रायोग्य तेइस

(२३) कर्मों के बंध का पहला बंधस्थान मिथ्यादृष्टि को होता है... वे तेइस (२३) कर्म इस प्रकार हैं...

१. तिर्यच गति	११. तिर्यच-आनुपूर्वी
२. एकेन्द्रिय गति	१२. अगुरुलघु
३. औदारिक शरीर	१३. उपघात
४. तैजस शरीर	१४. स्थावर
५. कार्मण शरीर	१५. बादर या सूक्ष्म
६. हुंडक संस्थान	१६. अपर्याप्तक
७. वर्ण-	१७. प्रत्येक या साधारण
८. गंध-	१८. अस्थिर
९. रस-	१९. अशुभ
१०. स्पर्श-	२०. दुर्भग

२१. अनादेय २२. अपयशः २३. निर्माणनाम कर्म...
१. यह तेइस कर्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तक के प्रायोग्य हैं... ॥१॥

२. इन तेइस (२३) कर्मप्रकृतियों में पराघात और उच्छ्वास तथा अपर्याप्त के स्थान में पर्याप्तनामकर्म को जोड़ने से २५ कर्मप्रकृतियों का दुसरा यह बंध स्थान पर्याप्त एकेन्द्रिय प्रायोग्य है ॥२॥

३. तथा पूर्वोक्त २५ कर्मप्रकृतियों में आतप या उद्योत जोड़ने से तथा बादर और प्रत्येक नामकर्म के बंध स्वरूप छब्बीस (२६) कर्मों का तीसरा बंधस्थान है ॥३॥

४. तथा देवगति प्रायोग्य अट्टाइस (२८) कर्मों को बांधनेवालों को चौथा बंधस्थान जानीयेगा... वे इस प्रकार-

१. देवगति	१५. पराघात
२. पंचेन्द्रिय जाति	१६. उच्छ्वास
३. वैक्रिय शरीर	१७. शुभ विहायोगति
४. तैजस शरीर	१८. त्रस
५. कार्मण शरीर	१९. बादर
६. समचतुरस्र संस्थान	२०. पर्याप्तक
७. वैक्रिय अंगोपांग	२१. प्रत्येक
८. वर्ण	२२. स्थिर या अस्थिर
९. गंध	२३. शुभ या अशुभ

१०. रस	२४. सुभग
११. स्पर्श	२५. सुस्वर
१२. देव आनुपूर्वी	२६. आदेय
१३. अगुरुलघु	२७. यशःकीर्त्ति या अयशः कीर्त्ति
१४. उपघात	२८. निर्माण नामकर्म ॥४॥

५. यह हि २८ कर्मों में तीर्थकर नामकर्म जोडनेसे २९ कर्मों का पांचवा बंधस्थान देवप्रायोग्य हि है ॥५॥

६. अब त्रीस (३०) कर्मों का छट्टा बंधस्थान कहते हैं...

१. देवगति	१६. उपघात
२. पंचेंद्रियजाति	१७. पराघात
३. वैक्रिय शरीर	१८. उच्छ्वास
४. आहारक शरीर	१९. शुभ विहायोगति
५. वैक्रिय अंगोपांग	२०. त्रस
६. आहारक अंगोपांग	२१. बादर
७. तैजस शरीर	२२. पर्याप्तक
८. कार्मण शरीर	२३. प्रत्येक
९. समचतुरस्र संस्थान	२४. स्थिर
१०. वर्ण	२५. शुभ
११. गंध	२६. सुभग
१२. रस	२७. सुस्वर
१३. स्पर्श	२८. आदेय
१४. देव आनुपूर्वी	२९. यशःकीर्त्ति
१५. अगुरुलघु	३०. निर्माणनामकर्म...

देवगति प्रायोग्य यह ३० कर्मों का छट्टा बंधस्थान है... ॥६॥

७. तथा तीर्थकर नामकर्म के साथ पूर्वोक्त ३० याने इकतीस (३१) कर्मों का सातवा बंधस्थान है... इन (सात) बंधस्थानों के ऐकेंद्रिय, बेइंद्रिय, तेइंद्रिय और नरकगति आदि के भेद से बहोत प्रकार होते हैं, वे कर्मग्रंथ से जानीयेगा...

८. तथा अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानकों में देवगति प्रायोग्य बंध का अभाव होने के बाद मात्र एक हि यशःकीर्त्ति नामकर्म के बंध स्वरूप एकविध बंध का आठवा

बंधस्थान है... यहां से आगे नामकर्म के बंध का अभाव हि है...

अब- गोत्रकर्म का सामान्य से उच्च या नीचगोत्र का एक हि बंधस्थान है... क्योंकि-परस्पर विरोध होने से उच्चगोत्र और नीचगोत्र दोनो कर्म एक साथ बंधते हि नहि हैं...

इस प्रकार बंधस्थानों को बतलाने के द्वारा संक्षेप से कर्मों का बहोत-पना बतलाया... अतः इन बहोत सारे आत्मा में रहे हुए कर्मों को, उनके कार्य-फल के माध्यम से जान-समझकर, उन कर्मों को आत्मा से दूर करना चाहिये...

प्रश्न- हां ! यदि ऐसा है, तो उन कर्मों को दूर करने के लिये क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

जन्म-मरण कर्मजन्य है। आयु कर्म के उदय से जन्म होता है और क्षय होने पर मृत्यु होती है। फिर आयु कर्म उदय होने पर अभिनव योनि में जन्म होता है वहां भी आयुष्य का क्षय होते ही वह उस योनि के भौतिक शरीर को वहीं छोड़ कर चल देता है। इस प्रकार वह जीव बार-बार जन्म मरण के प्रवाह में बहता है और बार-बार गर्भाशय एवं विभिन्न योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करता है। अतः जब तक कर्मबन्ध का प्रवाह चालू है, तब तक आत्मा काल-चक्र से मुक्त नहीं होता। अतः मृत्यु पर विजय पाने के लिए जन्म के कारण कर्म का क्षय करना जरूरी है। जब जीव निष्कर्म हो जाता है; तब फिर वह मृत्यु के दुःख से मुक्त हो जाता है। कारण कि- निष्कर्म आत्मा का जन्म नहीं होता और जब जन्म नही होता-तो फिर मृत्यु का तो प्रश्न ही नहीं उठता। मृत्यु जन्म के साथ लगी हुई है। हम यों भी कह सकते हैं कि- जन्म का दूसरा रूप मृत्यु है। मनुष्य जिस क्षण जन्म लेता है, उसके दूसरे क्षण ही वह मृत्युकी ओर पांव बढ़ाने लगता है। इसलिए निष्कर्म बनने का अर्थ है-जन्म और मरण की परम्परा को सदा-सर्वदा के लिए समाप्त कर देना।

इसलिए साधक को सब से पहिले निष्कर्मदर्शी बनना चाहिए। उसकी दृष्टि, भावना एवं विचार-चिन्तन निष्कर्म बनने की ओर ही होनी चाहिए। जब मन में निष्कर्म बनने की भावना उद्बुद्ध होगी, तब ही वह उस ओर पांव बढ़ा सकेगा और उस मार्ग में आने वाले प्रतिकूल एवं अनुकूल साधनों को भली-भांति जान सकेगा। इसी दृष्टि को सामने रख कर कहा गया है कि-वह साधु सप्त भय एवं संयम भार्ग का दृष्टा है। उनके स्वरूप एवं परिणाम को भली-भांति जानता है। इसलिए उसे -परमदर्शी अर्थात् सर्व श्रेष्ठ मोक्ष मार्ग का द्रष्टा कहा है।

वह ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न साधक आचार से भी सम्पन्न होता है। वह एकांत शांत एवं निर्दोष स्थान में ठहरता है और अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित होने पर

भी राग-द्वेष नहीं रखता हुआ समभाव से संयम साधना में संलग्न रहता है। सदा उपशांत भाव में निमज्जित रहता है। और पांच समिति से युक्त होकर तप संयम के द्वारा पूर्व में बन्धे हुए पाप कर्मों का क्षय करने में सदा यत्नशील रहता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'परमदंसी' पद से यह अभिव्यक्त किया गया है कि- साधक सम्यग्दर्शन और ज्ञान से सम्पन्न होता है। 'समिह' शब्द चारित्र का परिचायक है और 'विविक्तजीवी' और 'परिव्वह' शब्द तप एवं वीर्य आचार के संसूचक हैं। इस प्रकार इस सूत्र में साधक का जीवन ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य पांचों आचार से युक्त पंचाचार स्वरूप बताया गया है।

सांख्य दर्शन आत्मा को कर्म से आबद्ध नहीं मानता है। उसके विचार में आत्मा शुद्ध है, इसलिए बन्ध एवं मोक्ष आत्मा का नहीं किंतु प्रकृति का होता है। परन्तु वस्तुतः संसारी आत्मा बन्धन रहित नहीं है। क्योंकि- वह निष्कर्म नहीं, किंतु कर्मयुक्त है। 'बहु पावं कम्मं पगडं' इस पाठ से इसी बात को स्पष्ट किया गया है कि- वह बहुत पापकर्म से आबद्ध है।

अतः निष्कर्म होने के लिये व्यक्ति को पापकर्मों का सर्वथा क्षय कैसे करना चाहिए ? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ १२० ॥ १-३-२-६

सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं जोसइ ॥ १२० ॥

II संस्कृत-छाया :

सत्ये धृतिं कुरुध्वम्, अत्र उपरतः मेधावी, सर्वं पापं कर्मं ज्ञोषयति ॥ १२० ॥

III सूत्रार्थ :

सत्य याने संयम में धृति करो... यहां संयम में रहा हुआ मेधावी साधु सभी पाप कर्मों का क्षय करता है ॥ १२० ॥

IV टीका-अनुवाद :

सत्य याने सत् का हित वह सत्य याने संयम... उन संयम में धृति करो... अथवा सत्य याने जिनेश्वरों का आगम... क्योंकि- आगम शास्त्र वस्तु के यथावस्थित स्वरूप को कहते हैं... अतः परमात्मा की आज्ञा में धृति करें अर्थात् कुमार्ग का परित्याग करें... तथा इस संयम में अथवा परमात्मा के वचन में अवस्थित याने रहा हुआ मेधावी तत्त्वदर्शी साधु संसार के परिभ्रमण के हेतु ऐसे सभी पाप कर्मों का क्षय करता है... इस प्रकार यहां अप्रमाद कहा...

अब अप्रमाद का प्रत्यनीक याने शत्रु स्वरूप प्रमाद है... अतः विषय-कषाय आदि प्रमाद से प्रमत्त प्राणी को क्या फल प्राप्त होता है ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहेंगे...

V सूत्रसार :

इस बात को हम देख चुके हैं कि- हिंसा, असत्य, असंयम आदि दोषों से पाप कर्म का बन्ध होता है। और संयम से पाप कर्म का प्रवाह रुकता है एवं उसके साथ सत्य एवं तप आदि सद्गुण होने से पूर्व बन्धे हुए पाप कर्म का क्षय भी होता है। इस प्रकार संयम की साधना-आराधना से जीव कर्मों का आत्यंतिक क्षय कर देता है। इससे स्पष्ट हुआ कि- संयम साधना का फल निष्कर्म-कर्म रहित होना है।

‘एत्थोवरए’ पद का अर्थ है-भगवान के वचनों पर विश्वास करके संयम में जो रत है-संलग्न है। और ‘सव्वं पावं कम्मं झोसइ’ का तात्पर्य है- समस्त अवशिष्ट पाप कर्मों का क्षय करना। अतः निष्कर्म बनने के लिए साधक को धैर्य के साथ सत्य संयम का परिपालन करना चाहिए।

जो संयम का परिपालन नहीं करते हैं। उन प्रमादी जीवों की स्थिति का चित्रण करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ १२१ ॥ १-३-२-७

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पुरिण्णए, से अण्णवहाए, अण्णपरियावाए, अण्णपरिग्गहाए, जणवयवहाए, जणवयपरियावाए, जणवयपरिग्गहाए ॥ १२१ ॥

II संस्कृत-छाया :

अनेकचित्तः खलु अयं पुरुषः, सः केतनं अर्हति पूरयितुम्। सः अन्यवधाय, अन्यपरितापाय, अन्यपरिग्रहाय, जनपदवधाय, जनपदतापाय, जनपदपरिग्रहाय ॥ १२१ ॥

III सूत्रार्थ :

निश्चित हि अनेकचित्तवाला यह पुरुष है... वह केतन याने समुद्र को धन प्राप्ति के लिये तैरता है, तथा वह अन्य जीवों के वध के लिये, परिताप के लिये एवं दास-दासी एवं पशुओं के परिग्रह के लिये प्रयत्न करता है... तथा जनपद याने देश के लोगों के वध के लिये, परिताप के लिये एवं परिग्रह के लिये विविध युद्ध आदि उपद्रव करता है... ॥ १२१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

अनेक चित्त याने कृषि करं, कि- व्यापार करं, कि- सेवा (सर्विस) करं इत्यादि अनेक विकल्पों से भरे हुए चित्तवाला यह सामने प्रत्यक्ष रहा हुआ संसारी प्राणी = पुरुष... क्योंकि- संसार सुख के अभिलाषीओं को सदा अनेक चित्त होते हैं... यहां पूर्व कहे हुए “दधिघटिका” तथा “कपिल-दरिद्र” का दृष्टांत कहीयेगा... इस प्रकार अनेक चित्तवाला वह मनुष्य केतन याने द्रव्यकेतन और भावकेतन... द्रव्यकेतन याने चालिनी परिपूर्णक और समुद्र... तथा भावकेतन याने लोभ-इच्छा... अर्थात् किसीने भी न किया हो ऐसा समुद्र के पार जाकर धन प्राप्ति के लिये उद्यम करता है... क्योंकि- लोभी मनुष्य शक्य और अशक्य के विचार में असमर्थ होने से अशक्य कार्यों में भी प्रवृत्त होता है... तथा वह अपने लोभ कषाय से होनेवाली इच्छाओं को पूर्ण करने में व्याकुल मतिवाला मनुष्य अन्य प्राणीओं का वध करता है, अन्य जीवों को शारीरिक एवं मानसिक संताप होता है, तथा द्विपद याने दास, दासी तथा चतुष्पद याने गाय, बैल, हाथी, घोड़े इत्यादि का परिग्रह करता है... तथा जनपद याने देश... और देश में रहनेवाले राजा और प्रजा आदि... अर्थात् वह लोभी मनुष्य भगध आदि जनपद याने देश के राजा तथा प्रजा आदि का वध करता है, परिताप-संताप देता है तथा परिग्रह करता है...

क्या लोभवाले यह लोग मात्र वध आदि क्रियाएं ही करते रहते हैं कि- और भी कुछ करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे।

V सूत्रसार :

कषाय आत्म गुणों के नाशक है। क्रोध प्रीति का, मान विनय का और माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी गुणों का विनाश करता है। क्रोधादि एक-एक आत्म गुण के नाशक हैं; परन्तु लोभ इतना भयंकर शत्रु है कि- वह गुण मात्र को नष्ट कर देता है। लोभ के नशे में मनुष्य इतना बेईमान हो जाता है कि- वह अच्छे-बुरे कार्य का भेद ही नहीं कर पाता। वह न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है। लोभी मनुष्य अपनी अनन्त तृष्णा के गढ़े को भरने के लिए रात-दिन दुष्प्रवृत्तियों में लगा रहता है।

लोभ आत्मा के अध्यात्मिक विकास में प्रतिबन्धक चट्टान है। इसलिए मुमुक्षु को लोभ के स्वरूप एवं उसके परिणाम को जानकर उसका त्याग कर देना चाहिए। इसी बात का उपदेश देते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ १२२ ॥ १-३-२-८

आसेवित्ता एतं अट्टं इच्छेवेगे समुद्रिया, तम्हा तं बिडयं नो सेवे, निस्सारं पासिय नाणी, उववायं चवणं नच्चा, अणणं चर माहणं, से न छणे, न छणावए, छणंतं

नाणुजाणइ, निव्विंद नदिं, अरण पयासु, अणोमदंसी निसण्णे पावेहिं कम्मोहिं ॥ १२२ ॥

II संस्कृत-छाया :

आसेव्य एतद् अर्थ इति एव एके समुत्थिताः, तस्मात् तं द्वितीयं न आसेवेत, निःसारं दृष्ट्वा ज्ञानी, उपपातं च्यवनं ज्ञात्वा, अनन्यं चर माहण = मुनिः। सः न क्षणुयात्, न अपि अपरं घातयेत्, घातयन्तं वा न समनुजानीयात्। निर्विन्दस्व नन्दीं, अरक्तः प्रजासु, अनवमदर्शी निषण्णः पापेभ्यः कर्मभ्यः ॥ १२२ ॥

III सूत्रार्थ :

यहां पूर्व के सूत्र में कहे गये कार्यों को करके कोइक भरत चक्रवर्ती जैसे लोग मुक्त होते हैं... इसलिये दुबारा असंयम न सेवें... संसार को निःसार देखकर ज्ञानी मुनी जन्म एवं मरण को जानकर मोक्षमार्ग में हि विचरे... वह न किसी का वध करे, न तो अन्य के द्वारा वध करावे तथा वध करनेवाले अन्य की अनुमोदना भी न करे... तथा कामभोग विषय से होनेवाले हर्ष में निर्वेद पाएं, स्त्रीजनों में आसक्त न रहें, तथा अहीनदर्शी वह मुनी पाप-कर्मों से निवृत्त हो ॥ १२२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस प्रकार पूर्वोक्त धन एवं उसके लिये अन्य जीवों का वध, परित्राप एवं परिग्रह आदि का सेवन करके लोभ-इच्छा की पूर्णता करके कितनेक भरत-चक्रवर्ती आदि मन-वचन एवं काया के अच्छे योग से संयमानुष्ठान में रहकर उसी हि जन्म में सिद्ध होते हैं अर्थात् संयमानुष्ठान से आत्मा को अप्रमत्त बनाकर कामभोग एवं हिंसादि आश्रवों के द्वारों का त्याग करने के बाद कभी अशुभ कर्मों के उदय से भोगोपभोग की इच्छा हो तो भी मृषावाद अथवा असंयम का सेवन न करें... क्योंकि- विषय भोग के लिये हि प्राणी असंयम करता है... किंतु वे शब्दादि विषय निःसार हि है... सार उसे कहते हैं कि- जिस विषय के आसेवन से तृप्ति हो... परंतु विषयभोगों के उपभोग से प्राणी को कभी भी तृप्ति नहि होती है, इसलिये विषयभोग निःसार है... उन विषयभोगों को निःसार देखकर तत्त्वज्ञ ज्ञानी मुनी कभी भी विषयों की अभिलाषा न करे... मात्र मनुष्यों को हि नहि, किंतु देवों के भी विषयभोग अनित्य हि है तथा जीवन भी नित्य नहि है... क्योंकि- देवों को भी उपपात याने जन्म तथा च्यवन याने मरण का होता हि है, अतः उनके उपपात एवं च्यवन को देखकर - जानकर विषयों का संग न करें...

हां ! अब सभी विषयसमूह निःसार है, अथवा संपूर्ण संसार असार है तथा संसार के सभी स्थान भी अशाश्वत है, तो अब क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- मोक्षमार्ग स्वरूप सम्यग्ज्ञानादि का मुनी आचरण करे...

तथा मोक्षमार्ग अनन्यसेवी अर्थात् मोक्षमार्ग का हि आसेवन करनेवाला वह मुनी कीसी भी प्राणी का वध न करे, अन्य के द्वारा प्राणी-वध न करवावे, तथा प्राणीवध करनेवाले अन्य की अनुमोदना न करे... तथा चतुर्थ महाव्रत की सिद्धि के लिये उपदेश देते हैं कि- विषय भोग से होनेवाले वैषयिक प्रमोद-हर्ष को अच्छा न माने, किंतु जुगुप्सा करे, तथा स्त्रीओंके प्रति राग न करे... किंतु ऐसा विचार करे कि- यह विषयभोग किंपाक (विष) वृक्ष के फल के उपभोग के समान है, अतः स्त्रीओं के भोगोपभोग के लिये परिग्रह के आग्रह से पराङ्मुख रहे... अर्थात् उत्तम-धर्म के पालन के लिये मिथ्यात्व, अविरति आदि का त्याग करके सम्यग्दर्शनज्ञान एवं चारित्रवाला होकर स्त्रीओं से होनेवाले वैषयिक प्रमोद-हर्ष की जुगुप्सा करे... तथा अनवमदर्शी याने उत्तम धर्म को देखनेवाला वह मुनी पापो के कारणभूत पापकर्मों से या पापाचरण स्वरूप कार्यों से निवृत्त हो...

V सूत्रसार :

मनुष्य चलते-चलते गिरता भी है और उठता भी है। ऐसा नहीं है कि- जो गिर गया वह गिरने के बाद कभी उठता ही नहीं है। यही स्थिति आध्यात्मिक जीवन की है। हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्त आत्मा पतन के गर्त में गिरती जाती है। परन्तु अपने आप को संभालने के बाद वह पतन के गर्त से बाहिर निकल कर विकास के पथ की ओर बढ़ सकती है; अपना उत्थान कर सकती है। सिद्धत्व को भी प्राप्त कर सकती है। बस; आवश्यकता इस बात की है कि- वह दोषों को दोष समझकर उनका परित्याग कर दे, अपने मन, वचन एवं शरीर को से हटा ले। इस प्रकार विचार एवं आचार में परिवर्तन होते ही जीवन बदल जाता है, मनुष्य पापी से धर्मात्मा बन जाता है। इसी अपेक्षा से कहा गया है कि- पापी से नहीं पापों से घृणा करनी चाहिए और पापों का ही तिरस्कार करना चाहिए। क्योंकि- आज जो पापी है, आने वाले दिनों में धर्मात्मा भी बन सकता है। इसलिए बुरे एवं अच्छे का आधार व्यक्ति नहीं, आचरण है।

प्रस्तुत सूत्र में भी यह बताया गया है कि- कई लोग लोभ वश पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं, दोषों का आसेवन करते हैं, परन्तु उसी जीवन में जागृत होकर जब उनका परित्याग करते हैं तब फिर उन परित्यक्त भोगों एवं दोषों की ओर घूमकर देखते भी नहीं। क्योंकि- वे उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो चुके हैं। उन्होंने यह जान लिया है कि- ये भोग-विलास दुःख के कारण हैं और अस्थायी हैं। यहां तक कि- देवों के भोग विलास भी स्थायी नहीं हैं। वे देव भी मृत्यु की चपेट में आकर अपनी स्थिति से गिर जाते हैं।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि- वैषयिक भोग स्थिर नहीं है। ऐश्वर्य एवं भोगों की दृष्टि से देव यद्यपि मनुष्य से अधिक संपन्न है। सामान्य देवों की भौतिक सम्पत्ति के समक्ष चक्रवर्ती

का वैभव भी तुच्छ सा प्रतीत होता है। ऐसे महाकृद्धि वाले एवं ऐश्वर्य सम्पन्न देवों के भोग भी सदा नहीं रहते; तो मनुष्य के लिए अभिमान करने जैसी बात ही क्या है ? इस प्रकार भोगों की असारता, अस्थिरता एवं पूर्ति न होना तथा उनके दुःखद परिणाम को जानकर मुमुक्षु पुरुष विषय-भोगों में आसक्त नहीं होते और वासना से सदा दूर रहते हैं।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ॥ १२३-१२४ ॥ १-३-२-९/१०

कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे निरयं महंतं ।

तम्हा य वीरे विरे वहाओ, छिंदिज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ १२३ ॥

गंथं परिणाय इहज्ज ! धीरे, सोयं परिणाय चरिज्ज दंते ।

उम्मज्ज लब्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारभिज्जासि त्तिवेमि ॥१२४॥

II संस्कृत-छाया :

क्रोधादिमानं हन्यात् च वीरः, लोभस्य पश्य नरकं महान्तम् ।

तस्मात् च वीरः विरतः वधात्, छिन्द्यात् स्रोतः लघुभूतकामी ॥ १२३ ॥

ग्रन्थं परिज्ञाय इह आर्य ! धीरः, श्रोतः परिज्ञाय चरेत् दान्तः । उन्मज्जेत् लब्ध्वा

इह मनुष्येषु, न प्राणिनां प्राणान् समारभेथाः इति ब्रवीमि ॥ १२४ ॥

III सूत्रार्थ :

वीर पुरुष क्रोधादि मान का नाश करे, तथा लोभ के फल स्वरूप महान् नरक को देखे... अतः वीर मुनी प्राणीबन्ध से विरत होकर, मोक्षानुगामी वह भावस्रोत याने कर्मबन्ध के कारणों का तथा शोक का त्याग करे...

ग्रंथि को जानकर यहां हे आर्य ! धीर और दांत ऐसे आप संसारस्रोत को जानकर संयम अनुष्ठान का आचरण करें... तथा मनुष्य जन्म में संयमानुष्ठान को प्राप्त करके उद्यम करें किंतु प्राणी के प्राणों का समारंभ याने विनाश न करें इति इस प्रकार मैं (सुधर्मास्वामी) हे जंबू ! तुम्हें कहता हूं ॥ १२४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

क्रोध है आदि जिस में ऐसे क्रोधादि कषाय... तथा जो माया जाये वह मान... अनंतानुबन्धि आदि अर्थात् क्रोध आदि कषायों के माप-प्रमाण... अथवा क्रोध आदि के कारण ऐसा जो मान=गर्व, उसका वीर पुरुष विनाश करे... इस प्रकार द्वेष का विनाश कहकर अब

राग के विनाश के लिये कहते हैं कि- अनंतानुबंधि आदि चार प्रकार के लोभ की स्थिति एवं फल=विपाक को देखकर... अर्थात् मिथ्यात्व से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानक पर्यंत की छोटी-बड़ी स्थिति... तथा अप्रतिष्ठान-नरकावास याने सातवी नरक पर्यंत के महान् दुःख स्वरूप कर्मविपाक-फल को देखकर क्योंकि- आगमसूत्र में भी कहा है कि- मत्स्य एवं मनुष्य सातवी नरकपृथ्वी में उत्पन्न होते हैं... अर्थात् महालोभवाले वे सातवी नरक में उत्पन्न होते हैं अतः वह वीर मुनि लोभ के कारणभूत प्राणीवध से विरत (निवृत्त) होता है, तथा भावस्रोत याने कर्मबंध के कारणों का अथवा शोक का विच्छेद करता है तथा लघुभूतकामी याने मोक्षमार्ग में गमन करता है, अर्थात् संयमानुष्ठान में प्रवृत्त होता है...

और भी अधिक उपदेश देते हुए कहते हैं कि- बाह्य एवं अभ्यंतर भेद स्वरूप परिग्रह की ग्रंथि को ज्ञ परिज्ञा से जान-समझकर धीर-पुरुष आज हि अर्थात् कालक्षेप किये बिना प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग करें... तथा विषयभोगों की आसक्ति स्वरूप संसार के स्रोत याने अनादिकाल के जन्म-मरण स्वरूप प्रवाह को जानकर पांच इंद्रियां एवं मन के दमन के द्वारा संयम पालें... तथा मिथ्यात्व आदि शैवाल से आच्छादित इस संसार स्वरूप द्रह-सरोवर में जीव स्वरूप कच्छुआ धर्मश्रवण, श्रद्धा एवं संयमवीर्य स्वरूप उन्मज्जन को प्राप्त करके... क्योंकि- मनुष्य जन्म के सिवा और कहीं संपूर्ण मोक्षमार्ग के आचरण का संभव हि नहि है... अतः प्राणीओं के पांच इंद्रियां, मनबल, वचनबल एवं कायबल तथा श्वासोच्छ्वास एवं आयुष्य स्वरूप दश प्राणों का उपघात हो ऐसा अनुष्ठान याने आचरण मुनी न करें... “इति” समाप्ति सूचक है तथा “ब्रवीमि” याने मैं सुधर्मस्वामी हे जंबू ! जैसा वीर प्रभु के मुख से सुना है वैसा हि मैं तुम्हें कहता हूं।

V सूत्रसार :

क्रोध, मान, माया और लोभ आत्मा को संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं। इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है। कषाय शब्द कष+आय से बना है। ‘कष’ का अर्थ है- संसार और आय का अर्थ है- लाभ। जिस क्रिया से संसार की अभिवृद्धि हो उसे कषाय कहते हैं... यह कषाय मोह कर्म के उदय का परिणाम है और सब कर्मों में मोह कर्म को प्रधान माना गया है। अतः साधक को सबसे पहिले कषायों का नाश करना चाहिए। क्योंकि- यह कषाय हि नरक एवं महादुःखों का कारण हैं। इसलिए साधक को कर्म आगमन के भाव स्रोत ऐसे कषायों को मूल से हि नष्ट कर देना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में लोभ को स्पष्ट रूप से नरक का कारण बताया है। क्योंकि- लोभ समस्त गुणों का विनाशक है और छद्मस्थ अवस्था के अन्तिम चरण तक उसका अस्तित्व रहता है। उसका क्षय करने पर ही आत्मा लघुभूत होता है और सर्व घातिकर्मों को क्षय कर के शेष कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करने की ओर बढ़ता है और आयुर्कर्म के क्षय के साथ

समस्त कर्मों का क्षय करके निर्वाण पद को प्राप्त कर लेता है।

इसलिए हे आर्य ! द्रव्य एवं भाव ग्रंथि-गांठ को जानकर और शोक एवं दुःख के कारण का भी परिज्ञान करके संयम मार्ग में प्रवृत्त होना चाहिए, परिग्रह एवं वासना में गम्यमान इन्द्रियों एवं मन का दमन करना चाहिए; उसे उस मार्ग से हटाकर संयम-साधना में संलग्न करना चाहिए। इस प्रकार संसार के स्वरूप का भली-भांति अवलोकन कर के उससे पार होने का प्रयत्न करना चाहिए।

संसार से पार होने का साधन-संयम मनुष्य जन्म में ही मिल सकता है। इस मानव शरीर के द्वारा ही आत्मा सर्व बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अतः ऐसे श्रेष्ठ साधन को-मानव जीवन को प्राप्त करके साधक को फिर से संसार बढ़ाने के साधन-हिंसा आदि पापाचरण में प्रवृत्त नहि होना चाहिए... आरम्भ-समारम्भ की प्रवृत्ति का त्याग करके संयम साधना में प्रवृत्त होना चाहिए।

‘तिबेमि’ का अर्थ पूर्वोक्त समझें।

॥ इति तृतीयाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

❀ ❀ ❀

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्गोप्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भवानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ३ उद्देशक - ३

क्र संयमानुष्ठानम् क्र

दूसरा उद्देशक पूर्ण हुआ... अब तीसरे उद्देशक का आम्श करते हैं, यहां दुसरे और तीसरे उद्देशक में परस्पर यह संबंध है कि- दुसरे उद्देशक में “दुःख का स्वरूप और उस दुःखों को समभाव से सहन करना च.डिये” ऐसा कहा था... क्योंकि- संयमानुष्ठान के अभाव में मात्र दुःखों को सहन करनेसे हि श्रमण नहि होता, अथवा संयमानुष्ठान के अभाव में मात्र पाप न करने मात्र से भी श्रमण नहि होता है इत्यादि पूर्वके उद्देशक के अर्थाधिकार में निर्दिष्ट जो किया है वह बात अब कहते हैं... इस संबंध से आये हुए इस उद्देशक के सूत्र को सूत्रानुगम के प्रसंग में संहितादि विधि से शुद्ध उच्चार करना चाहिये...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १२५ ॥ १-३-३-१

संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता, नवि घायए, जमिणं अण्णमण्ण-वित्तिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया ? ॥ १२५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सन्धिं लोकस्य ज्ञात्वा, आत्मनः बहिः पश्य, तस्मात् न हन्ता, न घातयेत्, यदिदं अन्योऽन्य-विचिकित्साया प्रत्युपेक्ष्य न करोति पापं कर्म, किं तत्र मुनिः कारणं स्यात् ? ॥ १२५ ॥

III सूत्रार्थ :

लोक की संधि को जानकर, आत्मा के बाहर देखो... जीवों का वध न करे, तथा वध न करावे, जो यह अन्योऽन्य की विचिकित्सा को देखकर के पाप कर्म करता नहि है, तो क्या यहां मात्र “मुनी है” यह हि कारण है ?

IV टीका-अनुवाद :

संधिं द्रव्य एवं भाव भेद से दो प्रकार से है... द्रव्यसंधि याने दिवार-भीत के छिद्र... भावसंधि याने कर्म के छिद्र... अतः उदय में आये हुए दर्शन मोहनीय का क्षय तथा शेष

दर्शन मोहनीय का उपशम... यह सम्यक्त्व की प्राप्ति के लक्षण स्वरूप भावसंधि है... अथवा चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम स्वरूप भावसंधि को जानकर प्रमाद करना अच्छा नहि है... जैसे कि- कारागृह (केदखाने) में बंध कीये हुए मनुष्य को दिवार या बेडीके छिद्र को प्राप्त करके प्रमाद = आलस करना अच्छा नहि माना है... इसी प्रकार मुमुक्षु मुनी को भी कर्म-विवर याने छिद्र को प्राप्त करके एक लव (लगभग एक मिनिट) मात्र भी पुत्र-स्त्री आदि संसार के भोगोपभोगों का व्यामोह याने अनुराग कल्याण कारक नहि है...

अथवा तो संधि याने संधान (अनुसंधान) वह भावसंधि याने ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अध्यवसाय का अशुभकर्मों के उदय से तुटना (खंडन) होता है, तब पुनः संधान करना याने जब कभी पुनः जोड देना... इस क्षायोपशमिक भावलोक का अर्थात् ज्ञान-दर्शन चारित्र योग्य भावलोक में भावसंधि को जानकर के उसके निरतिचार पालन के लिये प्रयत्न करें... अथवा तो- संधि याने धर्मानुष्ठान का अवसर... उसे जानकर लोक याने जीवों के समूह को दुःख हो ऐसे पापाचरण अर्थात् कार्य मुनी न करें...

किंतु सभी जीवों में अपने आत्मा की तुलना करें... जैसे कि- मुझे सुख इष्ट है एवं दुःख अनिष्ट है, वैसे हि अन्य जीवों को भी सुख प्रिय है, एवं दुःख अप्रिय है... ऐसा देखो... जानो... समझो... इस प्रकार आत्म तुल्य सभी जीवों को समझें क्योंकि- सभी जीव दुःख के द्वेषी हैं और सुख को चाहते हैं अतः उनका वध न करें तथा विविध प्रकार के शस्त्रों के द्वारा या अन्य जीवों के द्वारा भी प्राणीवध न करवायें...

यद्यपि पाखंडी, तापस आदि स्थूल (बड़े) जीवों को स्वयं नहि मारते, तो भी औद्देशिक एवं सन्निधि आदि के परिभोग-उपभोग की अनुमति देकर, अन्य जीवों के द्वारा प्राणीवध करवाते हैं... इसीलिये कहते हैं कि- मात्र स्वयं पापाचरण न करने मात्र से हि श्रमण नहि हो सकते हैं... जैसे कि- कितनेक श्रमण परस्पर एक-दुसरे की लज्जा या आशंका को लेकर पापकार्य नहि करते... तो अब यहां प्रश्न यह होता है कि- पापाचरण न करने का कारण क्या है ? क्या “मुनि हैं” इस कारण से पापकर्म नहि करते ? अथवा तो पापाचरण के यथोक्त निमित्त उपस्थित न होने से पापकर्म नहि करते ? हां ! यदि ऐसा है और इतने मात्र से उसे मुनि कहते हैं... तो अब यहां सूत्र-सिद्धांत कहता है कि- वह सच्चा मुनी नहि है... क्योंकि- मुनिभाव का कारण द्रोह के अभाववाला अध्यवसाय हि है... और वह उस मुनि के आत्मा में नहि है...

अब यहां शिष्य प्रश्न करते हैं कि- परस्पर के आशंका से भी “आधाकर्म” आदि का त्याग करनेवाले क्या मुनिभाव को प्राप्त करते हैं या नहि ? आचार्यजी प्रश्न के उत्तर देते हुए कहते हैं कि- पापाचरण को त्याग करनेवाले हे शिष्य ! सुनो... उपाधि स्वरूप हेय =

त्याज्य पापाचरण का त्याग हि मुनिभाव का सच्चा कारण है... क्योंकि- शुभ अंतःकरण के परिणामवाले व्यापार से हि क्रियानुष्ठान करनेवाले को हि मुनिभाव होता है, अन्यथा याने यदि ऐसा नहि है, तब मुनिभाव भी नहि हो सकता... यह बात यहां निश्चयनय के अभिप्राय से कही है, किंतु व्यवहारनय के अभिप्राय से तो- जो सम्यग्दृष्टि मुनी पांच महाव्रतों को धारण करके, उनके निर्वहन में यद्यपि प्रमाद करे किंतु अन्य समान सामाचारीवाले साधु की लज्जा से एवं आराध्य गुरुजी के भय से, अथवा तो कोइक गौरव से हि आधाकर्म आदि का त्याग करने के साथ साथ पडिलेहण आदि संयम का क्रियानुष्ठान करता है, अथवा तो तीर्थ याने जिनशासन के उद्भासन याने प्रभावना के लिये मासक्षण तथा आतापना आदि, कि- जिन्हें श्रद्धालु लोगों जानते-समझते हैं, उन्हें यदि वह मुनी करता है, तो अब यहां ऐसे क्रियानुष्ठानों में उसका मुनिभाव हि कारण है... क्योंकि- उस मुनि के तपश्चर्यादि गुरुनिर्दिष्ट धर्मानुष्ठान (व्यापार) से शुभ अध्यवसाय की प्राप्ति हो सकती है...

इस प्रकार शुभ अंतःकरण के अभाववाले को भी अपेक्षा से मुनिपने का सद्भाव एवं असद्भाव कहा... तो अब निश्चय से मुनिभाव कैसे हो ? इस प्रश्नका उत्तर सूत्रकार महर्षि आगेके सूत्र से कहेंगे।

V सूत्रसार :

द्वितीय उद्देशक में कष्ट सहिष्णुता का उपदेश दिया गया है। साधु को कठिन परीषह उत्पन्न होने पर भी धबराना नहीं चाहिए और कष्ट से विचलित होकर प्राणियों की हिंसा एवं अन्य पाप कार्य भी नहीं करने चाहिए। अहिंसा की इस विराट भावना को जीवन में साकार रूप देने के लिए आत्मदृष्टि को विशाल बनाने की आवश्यकता है। अपने अंतःकरण में समस्त प्राणियों के हित एवं सुख का साक्षात्कार करना जरूरी है। जो व्यक्ति समस्त प्राणियों की आत्मा को अपनी आत्मा के समान देखता है और यह समझता है कि- प्रत्येक प्राणी जीना चाहते हैं, सुख चाहते हैं, व्याघात एवं दुःखों से बचना चाहते हैं, वही मुमुक्षु व्यक्ति हिंसा आदि दोषों से मुक्त-विमुक्त हो सकता है।

अतः हिंसा आदि दोषों से बचने के लिए आत्मद्रष्टा बनना चाहिए। क्योंकि- आत्मा ही हमारे दुःख-सुख का, मुक्ति एवं बन्धन का आधार है। वस्तुतः देखा जाए तो आत्मा ही हमारा मित्र है और शत्रु भी है। अतः जीवन विकास के लिए सहयोगी मित्रों को बाहिर ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। मैत्री का अनन्त सागर अपने अन्दर ही लहर-लहर कर लहरा रहा है। उसका साक्षात्कार करने के लिए आवश्यकता इस बात की- है कि- हम अन्तर्द्रष्टा बनें। यह हि बात प्रस्तुत उद्देशक में बताई गई है।

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- मुनि संधि का परिज्ञाता है। संधि शब्द का सामान्य रूप से जोड़ना अर्थ होता है। संधि भी दो प्रकार की मानी गई है- १. द्रव्य सन्धि और २. भाव सन्धि।

दीवार आदि में छिद्र का होना द्रव्य सन्धि कहलाता है। और कर्म विवर को भाव सन्धि कहते हैं। भाव सन्धि भी तीन प्रकार की है-१. सम्यग्दर्शन, २. सम्यग्ज्ञान और ३. सम्यक्चारित्र की प्राप्ति।

१-उदय में आए हुए दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय या क्षयोपशम और शेष का उपशमन करके सम्यक्त्व को प्राप्त करना भी भाव सन्धि है। इससे मिथ्यात्व का छिद्र रुक जाता है।

२-ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। इससे आत्मदृष्टि का अंधापा दूर होता है। अतः आत्मा आत्मद्रष्टा बन जाता है।

३-चारित्रमोहनीय कर्मका देशतः या सर्वतः क्षयोपशम करने से आत्मा को देश एवं सर्व चारित्र-श्रावकत्व एवं साधुत्व की प्राप्ति होती है इससे अव्रत के द्वार बन्द हो जाते हैं।

‘सन्धि’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है-‘सन्धनम् सन्धिः- अर्थात् स्खलित होते हुए ज्ञान; दर्शन, चारित्र का पुनः संयोजन करना भाव सन्धि है।

सन्धि का अर्थ अवसर भी किया जाता है। संध्या एवं उषा काल को-दिन की समाप्ति एवं रात के प्रारम्भ तथा रात की समाप्ति एवं दिन के उदय का संयोग काल होने से सन्धि काल कहलाते हैं। इसी प्रकार अधर्म या अज्ञान रूप निशा का अवसान और धर्म या ज्ञान स्वरूप आत्म विकास का उदय काल होने से उसे भाव सन्धि कहा है। इस दृष्टि से धर्म-अनुष्ठान के अवसर को जानना एवं मोक्षमार्ग में जुड़ने को भी भाव सन्धि का परिज्ञान करना कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में ‘सन्धि’ शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। क्योंकि- ज्ञानावरण दर्शनावरण एवं दर्शन और चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होने पर ही आत्मा में धर्म की भावना उदबुद्ध होती है और मनुष्य अपने अन्दर झांकने लगता है-आत्मद्रष्टा बनता है। यहीं से जीवन का अभ्युदय आरम्भ होता है। वह अपनी आत्मा के समान ही दूसरे प्राणियों की आत्मा को देखने लगता है और उसे यह अनुभूति होती है कि- प्रत्येक प्राणी को सुख प्रिय है एवं दुःख अप्रिय है।

जब व्यक्ति आत्मद्रष्टा होता है तो वह स्वतः हिंसा आदि दोषों से निवृत्त हो जाता है। उसे हिंसा आदि दोषों से बचने के लिए व्यवहार; भय और लज्जा की अपेक्षा नहीं रहती।

परन्तु जिस व्यक्ति की अन्तर दृष्टि कुछ धूमिल है, वह एक दूसरे के भय एवं लज्जा से हिंसा आदि पाप कर्म का सेवन नहीं करता है। तो वहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि- क्या उसमें मुनित्व है? इसका समाधान अपेक्षा से नकार की भाषा में दिया गया है।

मुनित्व का सम्बन्ध भावना से है। आगम में बताया गया है कि- जो व्यक्ति वस्त्र; गन्ध, अलंकार, स्त्री आदि भोगोपभोग के साधनों का उपभोग करने में स्वतन्त्र न होने के कारण भोग नहीं करता है; परन्तु उसके मन में भोगेच्छा अवशेष है, तो वह त्यागी नहीं है, उसे मुनि नहीं कह सकते।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि- मुनित्व भाव पूर्वक किए गए त्याग में है। केवल लोक लज्जा या लोकभय की दृष्टि से किसी पाप में प्रवृत्त नहीं होना ही मुनित्व नहीं है।

निश्चय नय की अपेक्षा से मुनित्व आत्मा में राग-द्वेष के त्याग एवं सब प्राणियों के प्रति समानता के भाव में है। परन्तु यह अन्तर्दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति नहीं देख सकता। इसका साक्षात्कार सर्वज्ञ या स्वयं आत्मा ही कर सकता है। साधारणतः मनुष्य व्यवहार को ही देख सकता है। इस दृष्टि से निश्चय के साथ व्यवहार का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरत चक्रवर्ती को गृहस्थ के वेश में आरिसा भवन-कांच के महल में केवल ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसके बाद उन्होंने गृहस्थ लिंग का परित्याग करके मुनि वेश को स्वीकर किया। यह कार्य केवल व्यवहार का पालन मात्र है। इससे व्यवहार शुद्धि बनी रहती है। क्योंकि- व्यवहार भी भाव या निश्चय शुद्धि का साधन एवं परिचायक है।

इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि- व्यवहार के साथ निश्चय और निश्चय के साथ व्यवहार का सम्बन्ध जुड़ा रहे। लोक मर्यादा के साथ आत्म भावना धूमिल न पड़ने पाए। आत्मा के उज्ज्वल; समुज्ज्वल प्रकाश में व्यवहारिकता का परिपालन करना ही मुनित्व है। जहां आत्मज्योति दीप्त नहीं है, वहां केवल व्यवहारिकता को निभाने में मुनित्व का अभाव है, परन्तु आत्मभाव की सापेक्षता में यदि पंचाचार का व्यवहार किया जाता है, तब मुनित्व की संभावना मानी जाती है।

मुनित्व भाव की साधना को सफल बनाने के लिए साधक को किस भाव की सापेक्षता करनी चाहिए ? इसका उपदेश देते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २-३ ॥ ॥ १२६-१२७ ॥ १-३-३-२/३

समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसायए ।

अणण्ण-परमं नाणी, नो पमाए कयाइ वि ॥

आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाइ जावए ।

विरागं रूवेहिं गच्छिज्जा महया खुड्डएहि य ॥ १२६ ॥

आगइं गइं परिण्णाय दोहिं वि अंतेहिं अदिस्स-माणेहिं से न छिज्जइ, न भिज्जइ, न डज्जइ, न हम्मइ कंचणं सब्वलोए ॥ १२७ ॥

II संस्कृत-छाया :

समतां तत्र उत्प्रेक्ष्य आत्मानं विप्रसादयेत् ।
अनन्य-परमं ज्ञानी, न प्रमादयेत् कदाचिदपि ॥

आत्मगुप्तः सदा वीरः यात्रामात्रायां यापयेत् ।
विरागं रूपेषु गच्छेत् महता क्षुल्लकेषु च ॥ १२६ ॥

आगतिं गतिं परिज्ञाय, द्वाभ्यामपि अन्ताभ्यां अदृश्यमानाभ्यां सः न छिद्यते, न भिद्यते, न दह्यते, न हन्यते केनचित् सर्व लोके ॥ १२७ ॥

III सूत्रार्थ :

समता को देखकर उसमें आत्मा को विविध प्रकार से प्रसन्न करें... और ज्ञानी मुनी अनन्य परम याने संयम में कभी भी प्रमाद न करें... तथा सदा आत्मगुप्त वीर मुनी संयमयात्रा की मात्रा से संयम का पालन करें... महान् या क्षुद्र रूप-सौंदर्य में विरक्त रहें... ॥ १२६ ॥

तथा आगति एवं गति को जानकर के राग एवं द्वेष से अलिप्त रहा हुआ वह मुनि पुरे विश्व में किसी से भी न छेदा जाता है, न भेदा जाता है, न जलाया जाता है, एवं न मारा जाता है... ॥ १२७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

समभाव स्वरूप समता का पर्यालोचन (चितन) करके समता में रहा हुआ मुनि जो जो संयमानुष्ठान करता है, तथा जिस कीसी लज्जा आदि प्रकार से अनेषणीय का त्याग करता है तथा जनविदित उपवास आदि तपश्चर्या करता है वह सब मुनिभाव का कारण है... यह यहां भावार्थ है... अथवा समय याने आगम-सूत्र, सिद्धांत, अर्थात् आगमसूत्र का पर्यालोचन करके आगमोक्त विधि से जो कुछ अनुष्ठान करता है वह सब मुनिभाव का कारण है... अतः उन आगमो के पर्यालोचन से या समता के अवलोकन से अपने आत्मा को विविध प्रकार के इंद्रियप्रणिधान तथा अप्रमाद आदि उपायों से प्रसन्न करें... क्योंकि- संयम में रहे हुए को हि आत्मप्रसन्नता होती है... अतः संयम में अप्रमादवाले होइयेगा...

तथा जिससे अन्य कोई परम याने श्रेष्ठ नहि है ऐसा अनन्य-परम याने संयम... उस

संयम में परमार्थ को जाननेवाले ज्ञानी साधु कभी भी प्रमाद न करें... तथा आत्मगुप्त याने इंद्रिय एवं नोइंद्रिय याने मनसे गुप्त ऐसा वह अप्रमादी मुनी सदा संयमयात्रा की मात्रा याने आहार-वस्त्रादि की मर्यादा के द्वारा अपने आत्मा का निर्वाह करें, अर्थात् विषय-कषायों की उदीरणा कीये बिना हि संयम के आधारभूत देह का प्रतिपालन हो ऐसा करें...

कहा भी है कि- आहार के लिये अनिष्ट कार्य करें... क्योंकि- आहार से प्राणो का संधारण होता है... तथा तत्त्वजिज्ञासा के लिये हि प्राणो को धारण करना चाहिये... तथा पुनः जन्म न हो, इसके लिये तत्त्व को जानना चाहिये... अब वह आत्मगुप्तता कैसे हो ? ऐसा यदि प्रश्न हो, तो उत्तर स्वरूप आगे का सूत्र कहतें हैं...

राग का अभाव वह विराग... अर्थात् आंख के विषय में आनेवाले अच्छे या बुरे रूप में विरक्त रहें... यहां रूप शब्द से पांचों इंद्रियों के विषय जानीयेगा... क्योंकि- पुद्गलों का रूप-गुण हि आत्मा को अधिक आक्षेप याने आकर्षित करता है... इसलिये रूप का ग्रहण कीया है... यहां सारांश तो यह है कि- पांचो इंद्रियों के शब्दादि विषयों में विरक्त रहें... महान् याने देवी-देवताओं के रूप में तथा क्षुल्लक याने मनुष्य के रूप में सर्वत्र विराग भाव को धारण करें... अथवा तो देवता आदि गति के जीवों में बहोत अच्छा या सामान्य कोई भी प्रकार के रूप में राग न करें...

नागार्जुनीय-मतवाले तो कहतें हैं कि- पांचो इंद्रियों के अच्छे या बुरे दोनो प्रकार के विषयों में वह मुनी राग एवं द्वेष से लिप्त नहि होता है, कि- जो मुनी उनके तात्त्विक स्वरूप को अच्छी तरह से जानतें हैं...

शब्दादि पांचों विषयों में भी इष्ट एवं अनिष्ट स्वरूप दो प्रकार हैं, और उन दोनो में भी हीन, मध्यम एवं उत्कृष्ट भेद होतें हैं... अतः उन विषयों को भाव याने परमार्थ से अच्छी तरह से जाननेवाले मुनी पाप कर्म से एवं राग-द्वेष से लिप्त नहि होता है... क्योंकि- मुनी उन विषयों में राग-द्वेष नहि करता है...

तथा आगति याने आगमन, और गति याने गमन... और वह आगति और गति तिर्यच एवं मनुष्य में चार प्रकार की होती है, तथा देव एवं नारक में दो प्रकार की होती है... वे इस प्रकार- देव-मनुष्य तिर्यच और नारक जीव मनुष्य एवं तिर्यच गति में आतें हैं, और तिर्यच तथा मनुष्य भरकर चारों गति में जातें हैं... तथा देव एवं नारक मनुष्य तथा तिर्यच गति में हि आतें हैं तथा तिर्यच एवं मनुष्य हि देव तथा नरक गति में उत्पन्न होतें हैं... मात्र मनुष्य गति के जीवों की एक और यह विशेषता है कि- वे सभी कर्मों का क्षय कर के मोक्षगति को भी पा शकतें हैं...

अतः संसार में जीवों की आगति एवं गति को जानकर तथा इस संसार में अरघट्ट-घटी-यंत्र न्याय को भी जानकर, तथा मनुष्य गति में हि मोक्षगति प्राप्ति का सद्भाव है ऐसा देखकर वह मुनी आत्मभाव के अंत याने विनाश के कारण ऐसे राग तथा द्वेष से दूर रहता है, अतः उस मुनी का तरवार आदि से छेद नहि होता है, कुंत याने भाले, बरछी आदि से भेद याने टुकड़े नहि होते हैं... तथा अग्नि आदि से जलना नहि होता है तथा नरकगति और नरकानुपूर्वी के द्वारा बार बार वध भी नहि होता है...

अर्थात् यहां सारांश यह है कि- राग एवं द्वेष के अभाव में प्राणी सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है, और ऐसी मुक्त-दशा में छेदन-भेदनादि का संभव हि नहि है... तथा इस लोक में भी राग-द्वेष के अभाव के कारण से उस मुनी को कोई भी मनुष्य छेदन, भेदन, आदि दुःख नहि देते हैं...

इस प्रकार आगति एवं गति के परिज्ञान से राग-द्वेष का अभाव होता है, और राग-द्वेष के अभाव से छेदन-भेदन आदि संसार के दुःखों का भी अभाव होता है...

कितनेक लोग मात्र वर्तमानकाल को हि देखनेवाले होते हैं... वे यह नहि सोचते कि- हम कहां से आये हैं...? कहां जाएंगे...? और वहां हमें क्या प्राप्त होगा ? इत्यादि विचारते नहि है इसीलिये हि वे संसार में परिभ्रमण का अनुभव करते है... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे।

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि- जिस साधक के जीवन में समता समभाव है, जो आगम के अनुरूप संयम साधना में संलग्न है और जो इन्द्रिय एवं नो-इन्द्रिय-मन का गोपन करके अपनी आत्मा में केन्द्रित होता है-आत्मद्रष्टा बनता है, वह हि मुनि है। इससे स्पष्ट है कि- मुनित्व की साधना केवल मुनि-वेश में नहीं, किंतु मुनिवेश के साथ अन्तर्वृत्ति को बदलने में है। जब तक अन्तःकरण में विषय-वासना एवं राग-द्वेष की आग प्रज्वलित है; तब तक बाहिर के त्याग एवं मात्र साधु-वेष के धारण का विशेष मूल्य नहीं है। क्योंकि- मुनित्व वासना, ममता एवं आसक्ति के त्याग में है, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में समभाव एवं सहिष्णुता को बनाए रखने में हि मुनित्व है।

संयम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है क्योंकि- इस की साधना में स्व और पर का हित रहा हुआ है। इसमें किसी भी प्राणी को पीड़ा पहुंचाने, कष्ट देने या मन को आघात पहुंचाने के भाव नहीं रहते। संयमी पुरुष के मन में सब प्राणियों के प्रति समता का भाव रहता है उसकी दृष्टि में विकार एवं वासना नहीं रहती वह मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में रखता

है। इसलिए वह साधु मनुष्य-स्त्री एवं देवी के रूप सौंदर्य को देखकर कभी भी काम-वासना के प्रवाह में नहीं बहता है।

शब्दादि पांचों विषय मानव को भटकाने वाले हैं। परन्तु उनमें रूप की प्रधानता है। क्योंकि- मानव का मन सौंदर्य को देखकर कभी-कभी पागल हो उठता है, पुद्गलों के रूप को देखते हुए थकान लगने पर भी कुदृष्टि के कारण से चाहता रहता है, क्योंकि- शब्दादि विषयों में रूप अधिक आकर्षक है। परन्तु, इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि- अनर्थ का मूल राग-द्वेष है, अर्थात् रूप के प्रति आसक्ति है।

यदि जीवन में राग-द्वेष या आसक्ति नहीं है, तो जीवन के साथ विषयों का सम्बन्ध होने पर भी कर्मबन्ध नहीं होता है। जो समभाव पूर्वक संयम साधना में संलग्न है, उसको पाप कर्म का बन्ध नहीं होता। क्योंकि- वह रूप आदि विषयों में मुग्ध एवं आसक्त नहीं होता। अतः समभाव की साधना ही मुनित्व की साधना है। इस साधना में प्रवर्तमान साधक किसी भी प्राणी का छेदन भेदन एवं अवहनन नहीं करता है। अतः अन्य व्यक्ति भी उसका छेदन-भेदन एवं अवहनन नहि करते...

हिंसा में प्रवृत्त होने का कारण राग-द्वेष है। राग द्वेष से निवृत्त व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता, इसलिए वह संसार में परिभ्रमण भी नहीं करता है। किंतु क्रमशः चार गति के आवागमन को समाप्त कर देता है। अतः साधक को गति-आगति के स्वरूप को जानना चाहिए। उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता मुनि ही संसार में गमनागमन के दुःखों से बच सकता है। लोक में चार 'गति' मानी गई हैं-नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव। संसारी प्राणी अपने-अपने कृत कर्म के अनुसार इन गतियों में गमनागमन करते हैं।

इसके अतिरिक्त मोक्ष पांचवीं गति मानी गई है। मनुष्य संयम-साधना के द्वारा मोक्ष में जा सकता है; मोक्ष में जाने के बाद पुनः संसार में आना नहीं होता। क्योंकि- वहां आत्मा की शुद्ध अवस्था रहती है, मोक्ष-गति में जानेवाले जीव को कर्म एवं कर्म जन्य उपाधि नहीं रहती। इसलिए वह फिर से जन्म नहीं लेता। मानव ही उत्कृष्ट संयम-साधना के द्वारा सर्व कर्मों को नष्ट करके मोक्ष गति में जा सकता है। अतः मोक्ष गति मनुष्य भव की अपेक्षा से पांचवी गति मानी गई है।

राग-द्वेष से रहित आत्मा को किसी के द्वारा छेदन-भेदन आदि का भय नहीं रहता, क्योंकि- वह स्वयं निर्भय होकर समस्त प्राणी जगत को अभयदान देता है।

जो व्यक्ति लोक एवं गति-आगति के स्वरूप को नहीं जानते हैं अथवा जिन्हें यह ज्ञात नहीं है कि- हम कहां से आए हैं ? हमें कहां जाना है ? तथा हमें किस वस्तु की प्राप्ति होगी ? वही व्यक्ति संसार में दुःखों का अनुभव करता है। इसी बात को स्पष्ट करते

हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४-५ ॥ ॥ १२८-१२९ ॥ १-३-३-४/५

अवरेण पुब्विं न सरंति एगे, किमस्स तीयं किं वाऽऽगमिस्सं ।
भासंति एगे इह भाणवाओ, जमस्स तीयं तमागमिस्सं ॥ १२८ ॥

नाईयमट्ठं न य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तहागया उ ।
विहुयकप्पे एयाणुपस्सी, निज्झोसयित्ता खवगे महेसी ॥ १२९ ॥

II संस्कृत-छाया :

अपरेण पूर्वं न स्मरन्ति एके, किमस्य अतीतं किं वाऽऽगमिष्यति ।
भाषन्ते एके इह मानवा, यदस्य अतीतं तद् आगमिष्यति ॥ १२८ ॥

नाऽतीतमर्थं न च आगमिष्यत्, अर्थं नियच्छन्ति तथाऽऽगता तु ।
विधूतकल्पः एतदनुदर्शी, निज्झोषयिता क्षपकः महर्षिः ॥ १२९ ॥

III सूत्रार्थ :

कितनेक लोग अपर (वर्तमान) के साथ पूर्व एवं पश्चिम काल को याद नहि करते कि- इसका भूतकाल कैसा था और भविष्यकाल कैसा होगा... किंतु यहां कितनेक मनुष्य कहते हैं कि- जैसा भूतकाल गया वैसा हि भविष्यकाल आयेगा... ॥ १२८ ॥

जो सर्वज्ञ हैं वे वस्तु-पदार्थ के भूतकाल एवं भविष्यत्काल के साथ वर्तमान-काल को ग्रहण करते हैं क्योंकि- वस्तु तो वस्तु हि है उसके मात्र पर्याय हि बीतते हैं और नये पर्याय आते हैं... इस प्रकार कल्पातीत सर्वज्ञ प्रभु क्षपक महर्षी इस तत्त्वदृष्टि से कर्मों का विनाश करते हैं ॥ १२९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

कितनेक लोग भविष्यत्-काल के साथ पूर्व के भूतकाल को याद नहि करते... तथा मोह एवं अज्ञान से आच्छादित मतिवाले अन्य लोग यह नहि सोचते कि- इस जीव को भूतकाल में नरक आदि के दुःख तथा मनुष्य जन्म में बाल्यावस्था कुमारावस्थादि में दुःख आदि हुए तथा भविष्यकाल में सुखाभिलाषी और दुःख के द्वेषी इस जीव को वृद्धावस्था मरण अवस्था एवं जन्मांतर में कौन से दुःख आयेंगे... ? इत्यादि हां ! यदि भूतकाल एवं भविष्यत्काल का पर्यालोचन = चिंतन करे तो संसार में रति याने राग न हो... कहा भी है

कि- मैं कहां से आया हूं तथा यहां से पुनः कहां जाना है... इत्यादि यदि प्राणी सोचता है... विचार-चिंतन करता है तब कौन ऐसा प्राणी है, कि- जिसको संसार से निर्वेद न हो ? संसार से विरक्ति न हो ?

तथा मिथ्याभिमानी कितनेक लोग ऐसा कहते हैं कि- इस मनुष्य लोक में अथवा संसार में यह प्राणी भूतकाल में स्त्री, पुरुष, नपुंसक, सौभाग्य, दुर्भाग्य, कुत्ते, शियाल, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि भेदवाली अवस्थाओं को पाया है तथा पुनः भी अन्य जन्मों में अनुभव की हुई यह सभी अवस्थाएं भविष्यत्काल में प्राप्त होगी...

अथवा तो अपर याने नहि है इससे पर याने श्रेष्ठ वह अपर याने संयम... इस संयम से वासित चित्तवाले प्राणी पूर्वकाल में अनुभव कीये हुए विषय भोगों के उपभोग आदि को याद नहीं करते... तथा कितनेक राग-द्वेष से मुक्त संयम-साधु भविष्यत्काल में दिव्य-देवीओं के भोगोपभोग की भी कामना नहीं करते...

तथा कितनेक अज्ञ जीव को भूतकाल में कौन से दुःख प्राप्त हुए हैं तथा भविष्यत्काल में भी कौन कौन-दुःखादि प्राप्त होंगे इत्यादि याद नहीं करते... अथवा तो भूतकाल में कितना काल बीत गया है, तथा भविष्यत्काल में कितना काल आयेगा... इत्यादि भी याद नहि करते... यहां विषयभोग की आसक्ति हि मुख्य कारण है...

यहां राग-द्वेष रहित केवलज्ञानी अथवा चौदपूर्वी लोकोत्तर पुरुष कहते हैं कि- यह संसार एवं जीव अनादि-अनंत है अतः इस संसार में जीव को भूतकाल में, अनंत शरीर एवं अनंत शोक-दुःखादि प्राप्त हुए हैं, तथा भविष्यत्काल में भी जब तक कर्म है तब तक यह सब प्राप्त होंगे...

अन्य आचार्य पुनः ऐसा कहते हैं कि- प्राणी अन्य जन्मों के साथ पूर्व के बीते हुए जन्मों को याद नहीं करते... कि- किस प्रकार भूतकाल में सुख-दुःखादि प्राप्त हुए तथा किस कारण से पुनः भविष्यत्काल में सुखदुःखादि प्राप्त होंगे... तथा कितनेक लोग पुनः ऐसा कहते हैं कि- जिस प्रकार राग एवं द्वेष से होनेवाले कर्मों से बंधे हुए प्राणी को उन कर्मों के विपाक याने फल का अनुभव करते हुए इस संसार में जो भूतकाल बीत चुका है, वैसा हि सुख-दुःखादि का अनुभव भविष्यत्काल में भी होगा...

अथवा प्रमाद, विषय और कषाय आदि से शुभाशुभ कर्मों को बांधकर यह प्राणी इष्ट एवं अनिष्ट विषय-भोगों का अनुभव करता हुआ सोचता है कि- जिस प्रकार यह संसार भूतकाल में बीता है वैसा हि भविष्यत्काल में भी बीतेगा... किंतु जो मुमुक्षु जीव संसार समुद्र के किनारे पे रहे हुए हैं वे हि पूर्वकाल एवं उत्तरकाल को जानते हैं इत्यादि बात सूत्रकार महर्षि

आगे के सूत्र से कहेंगे...

अपुनरावृत्ति स्वरूप सिद्धशिला पर जो पहुंचे हुए हैं वे तथागत याने सिद्धात्माएं... अथवा तथागत याने ज्ञेय पदार्थों को जाननेवाले सर्वज्ञ प्रभु... वे अतीत अर्थ को अनागत स्वरूप नहीं देखते तथा जो अनागत है उन्हें अतीत स्वरूप नहि ग्रहण करते किंतु यथार्थ रूप से हि ग्रहण करते हैं, क्योंकि- अर्थ याने वस्तु के परिणाम विचित्र हि हैं... तथा पर्याय स्वरूप अर्थ, द्रव्यार्थ रूप से तो एक हि है...

अथवा तथागत याने राग-द्वेष के अभाव से संयतात्मा-साधु विषयभोगादि अतीत अर्थ को तथा देवीओं के विषयभोग आदि अनागत अर्थ को भी याद नहीं करते और अभिलाषा भी नहीं करते... जैसे कि- मोह के उदय से कितनेक संसारी जीव मोहमूढता से पूर्वकाल के विषय भोगों को याद करते हैं तथा भविष्यत्काल के भोगोपभोगों की अभिलाषा करते हैं, जैसे विरक्त साधु-संत नहीं करते... तथा मोक्ष-मार्ग में चलनेवाले सभी साधु-मुनी भी ऐसे हि होते हैं यह बात अब कहते हैं... विद्युत-कल्प याने विविध प्रकार से आठों प्रकार के कर्मों को कल्प याने आचार के द्वारा जिन्होंने आत्मा में से दूर कीये हैं ऐसे विद्युतकल्पवाले साधु-श्रमण अतीत एवं अनागतकाल के विषय-भोगों के अभिलाषी नहीं होते... किंतु संवरभाव से वे साधु-श्रमण पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करता है, या क्षय करेंगे...

यहां सारांश यह है कि- कर्मों के क्षय के लिये उद्यत तथा संसार के भोग एवं दुःखों के विकल्पाभास को दूर करनेवाले धर्मध्यानवाले या शुक्लध्यानवाले महायोगीश्वर महामुनी को जो गुण-लाभ होता है, वह सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

मोह एवं अज्ञान से आवृत्त आत्मा अपने स्वरूप को नहीं जान सकती। वह न अपने पूर्व भव को देख सकती है और न भविष्य के स्वरूप को जान सकती है। इसलिए अज्ञानी लोग आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न कल्पनाएं करते रहते हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि- पुरुष सदा पुरुष ही बनता है और स्त्री-स्त्री ही बनती है। परन्तु यह मान्यता असत्य है। क्योंकि- पर्यायें सदा परिवर्तनशील हैं। उनमें सदा एक रूपता नहीं रहती। सर्वज्ञ परमात्मा इस बात को प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिए कहा गया है कि- तथागत-सर्वज्ञ अतीत और अनागत काल की पर्यायों को एक रूप से स्वीकार नहीं करते। और वे भूत एवं भविष्य काल के भोगों में आसक्त नहि होते हैं और विषयभोगों की आकांक्षा भी नहि रखते हैं। क्योंकि- उन्होंने आकांक्षा के उत्पादक राग-द्वेष का ही समूल क्षय कर दिया है।

‘तथागत’ शब्द का अर्थ है-सर्वज्ञ। इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि-“जो पुनरावृत्ति से रहित है और जो पदार्थ को यथार्थ स्वरूप-पूर्ण रूप से जानते है,” उन्हें तथागत

कहते हैं-अरिहंत, सिद्ध और सर्वज्ञ को तथागत कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'विहय कप्पे-विधूत कल्पः' का अर्थ है-अष्टकर्मों को आत्मा के पृथक् करने वाला व्यक्ति।

कर्म क्षय करने के लिए उद्यत मुनि जब धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान में निमग्न होता है, तब उसे शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती। उस समय उसकी जो स्थिति होती है- उसका वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ १३० ॥ १-३-३-६

का अरई ? के आणंदे ? इत्थं पि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिच्चज्ज आलीणगुत्तो परिव्वए, पुरिसा ! तुमं चेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ? ॥ १३० ॥

II संस्कृत-छाया :

का अरतिः ? को वा आनन्दः ? अत्रापि अग्रहः चरेत् । सर्वं हास्यं परित्यज्य आलीनगुप्तः परिव्रजेत् । हे पुरुष ! त्वं एव तव मित्रम्, किं बहिः मित्रमिच्छसि ? ॥ १३० ॥

III सूत्रार्थ :

क्या अरती ? और क्या आनंद ? साधु-मुनी यहां भी गृद्धि-आसक्ति का त्याग कर विचरें... सभी हास्यका त्याग करके कूर्म की तरह आलीनगुप्त होकर प्रव्रज्या का पालन करें... हे पुरुष ! तुं हि तुम्हारे मित्र हो... क्यों बाहर के मित्र को चाहते हो ? ॥ १३० ॥

IV टीका-अनुवाद :

अरती याने इष्ट की प्राप्ति के विनाश से चित्त में होनेवाला विकार... और आनंद याने अभिलषित अर्थ-वस्तु की प्राप्ति... किंतु धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के अध्यवसाय से अन्तरात्म के ध्येयवाले योगिजनों के चित्त में अरती और आनंद के उपादान कारणों का हि अभाव है... इसलिये योगिजनों को प्रतिकूलता में क्या अरती ? और अनुकूलता में क्या आनंद ? अर्थात् सामान्य जनों के चित्त में जो अरती एवं आनंद होते हैं, ऐसे भाव योगिजनों के चित्त में कदापि नहि होते...

हां ! यदि योगिजनों को अरति और आनंद है, तो फिर असंयम में अरती एवं संयममें आनंद... यह यहां अनुमत है... अतः इस अभिप्राय से अरती और आनंद न करना चाहिये

यह बात नहि चाहते हुए भी प्राप्त तो हुए है न ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- ना ! नहि, क्योंकि- आपने हमारा अभिप्राय समझा नहि है... हमने यहां संसार के वस्तु संबंधित अरति एवं रति में आनंद स्वरूप अशुभ अध्यवसाय का हि निषेध कहा है... असंयम में अरती एवं संयम में रति तो आत्मशुद्धि के लिये करनी हि चाहिये... यह यहां सारांश है... क्योंकि- यहां असंयम में अरति एवं संयम में रति याने आनंद आत्मशुद्धि के कार्य में उपद्रव स्वरूप नहि है, किंतु उपकारक हि है...

तथा आग्रह याने गृद्धि-आसक्ति जिसको नहि है ऐसा अग्रह मुनी प्रब्रज्या का पालन करें... यहां सारांश यह है कि- शुक्लध्यान के पूर्व काल में कोइक निमित्त से धर्म-ध्यानवाले मुनी को संयम में अरति और असंयम में कभी आनंद हो, तो भी उनको आग्रह के ग्रह का अभाव होने से वे मुनित्व के योग्य है... तथा सभी प्रकार के हास्य के स्थानों का त्याग करके आलीन याने इंद्रियों के विषय-विकारों के निरोध स्वरूप मर्यादा में लीन तथा मन-वचन एवं काया के अशुभ-कार्यों के निरोध स्वरूप गुप्त... अर्थात् कच्छुए की तरह संकुचित देहवाला वह साधु संयमानुष्ठान स्वरूप प्रब्रज्या का पालन करें... क्योंकि- संयमानुष्ठान की सफलता आत्म-पुरुषार्थ से हि है,

इसीलिये तो कहते हैं कि- हे पुरुष ! तूं हि तुम्हारे मित्र हो... सामान्यतया घर, पुत्र, पत्नी, धन, धान्य, सुवर्ण इत्यादि के त्याग से अकिंचन एवं तृण तथा मणी-मोती, लेष्टु याने पत्थर और सुवर्ण (सोने) में सम-दृष्टिवाले मुमुक्षु-साधु को भी उपसर्ग एवं परीषहों से जब मति व्याकुल होती है तब कभी कभी मित्र की आशंसा याने इच्छा होती है, अतः उस इच्छा को दूर करने के लिये कहते हैं कि- हे पुरुष ! पुर याने शरीर में जो रहे वह पुरुष... अर्थात् प्राणी... जंतु... जीव... यहां हे पुरुष ! कहकर जीव को हि आमंत्रण कर रहें हैं क्योंकि- जीव हि उपदेश के योग्य है, तथा संयमानुष्ठान के लिये समर्थ भी है... अतः संसार से उद्विग्न अथवा विषय-कामना में रहे हुए मुमुक्षु आत्मा को कोइक आचार्य म. हितशिक्षा स्वरूप अनुशासन करते हैं...

अथवा अन्य साधुजन आदि भी जनता को हितशिक्षा देते हुए कहते हैं कि- हे जीव ! अच्छे अनुष्ठान करनेवाला तूं हि तुम्हारा मित्र है... और विपर्यय याने बुरे आचरण करनेवाला तूं हि तुम्हारा शत्रु है... तो फिर अब बाहर मित्र को क्यों चाहते हो ? क्यों दुंढते हो ? क्योंकि- मित्र वह है कि- जो उपकारक है... किंतु वह आत्मा का उपकारक तो पारमार्थिक आत्यंतिक एवं एकांतिक गुणवाले एवं सन्मार्ग में रहे हुए अपने आप के आत्मा को छोडकर अन्य किसी से भी वह उपकार होना शक्य नहि है... तथा संसार हेतुभूत पाप के कार्यों में सहायक होनेवाले जो उपकारी दिखते हैं वे मित्र नहि है, किंतु मित्र के आभास वाले हि है, क्योंकि- महा संकट की प्राप्ति हो ऐसे संसार-समुद्र में पतन के हेतु होने से वे मित्र नहि, किंतु शत्रु हि है...

यहां सारांश यह है कि- अप्रमत्त आत्मा हि आत्मा का मित्र है... क्योंकि- ऐसा हि मित्र आत्मा को आत्यंतिक याने सर्व प्रकार से, एकांतिक याने निश्चित रूप से, एवं परमार्थ याने वास्तविक आत्म-सुख की प्राप्ति में हेतु बनता है... और विपर्यय याने प्रमादी आत्मा से आत्मा को विपर्यय याने भोक्षसुख नहीं किंतु संसार के दुःख हि प्राप्त होते हैं... इसीलिये सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि- बाहर मित्र को मत (न) ढुंढीयेगा... और जो यह बाह्य मित्र एवं शत्रु का विकल्प है, वह अदृष्ट याने कर्म के उदय-निमित्त है, अतः औपचारिक हि है, वास्तविक नहि...

कहा भी है कि- उन्मार्ग में चलनेवाला आत्मा अपने आत्मा का शत्रु है एवं सन्मार्ग में चलनेवाला आत्मा अपने आत्मा का मित्र है, अतः मित्र स्वरूप आत्मा हि आत्मा को सुख का कारण होता है, एवं शत्रु स्वरूप आत्मा हि आत्मा के दुःख का कारण बनता है... क्योंकि- क्रोधी बलवान शत्रु प्राणी का अधिक से अधिक एक हि भरण करता है, जब कि- प्रमादी आत्मा स्वरूप भावशत्रु तो इस आत्मा को अनंत मरण एवं अनंत जन्म में हेतु बनाता है...

अतः जो जीव निर्वाण याने मोक्ष की प्राप्ति के ब्रतों का आचरण करता है वह हि आत्मा अपने आत्मा का मित्र है... तो अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि- ऐसा कैसे जानें कि- यह आत्मा हि आत्मा का मित्र है ? तथा ऐसा होने पर आत्मा को क्या फल मिलता है ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

जीवन में मन-वचन-काय के योगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। क्योंकि- यह योग कर्म बन्धन के भी कारण हैं। और निर्जरा के भी कारण है। जब योगों की प्रवृत्ति विषय-वासना में होती है, तो उनसे पाप कर्म का बन्ध होता है और जब इन योगों को बाह्य पदार्थों से हटाकर संयम में, धर्म ध्यान एवं सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन में लगाते हैं, तो ये निर्जरा के कारण बन जाते हैं। क्योंकि- उस समय साधक की प्रवृत्ति आत्माभिमुख होती है। उसे इस बात का कोई ध्यान ही नहीं रहता कि- बाहिर क्या कुछ हो रहा है ? जिस समय वह आत्म चिन्तन में संलग्न रहता है, उस समय उसे शारीरिक अनुभूति भी नहीं होती है। इसलिए उसे यह भान नहीं रहता कि- दुःख एवं आनन्द क्या है ?

जिस समय गजसुकुमाल मुनिके सिर पर सोमल ब्राह्मण ने प्रज्वलित अंगारे रखे तब उसको तीव्र वेदना हुई होगी; इसकी हम कल्पना कर सकते हैं। परन्तु उनका चिन्तन आत्म स्वरूप में था, इसलिए उन्हें उसकी अनुभूति नहीं हुई।

मनुष्य जब देहाभिमुख होकर सोचता है तो उसे अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में आनन्द एवं अरति (दुःख) की अनुभूति होती है। उस से उसके मन में राग-द्वेष की भावना जागृत होती है, और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण बढ़ता है। परन्तु साधक जब आत्माभिमुख होता है। तब वह धर्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान में संलग्न होता है अतः उस समय उसे आनन्द एवं अरति का प्रसंग उपस्थित होने पर भी उसका संवेदन नहीं होता। क्योंकि- उस समय योगों की प्रवृत्ति धर्मध्यान एवं सूत्रार्थ के चिन्तन में लगी होती है, अतः साधक को आत्म अनुभूति के अतिरिक्त अन्य अनुभूति नहीं होती। दूसरा कारण यह है कि- रति एवं अरति मोह जन्य है और वहां मोह कर्म का क्षयोपशम होने के कारण उभय विकारों की अनुभूति को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता।

इससे स्पष्ट हो गया कि- जब साधक आत्म चिन्तन में तल्लीन होता है, तब उसे पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है और ऐसी स्थिति में ही धर्म ध्यान एवं सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन में तेजस्विता आ पाती है। आगम में भी कहा गया है कि- जब साधक का मन शुभ लेश्या; शुभ अध्यवसाय, एवं आत्म चिन्तन में लगा होता है तथा उसे जिनवचनों में या आत्म-चिन्तन में अनुराग होता है; अपने योगों को आत्म चिन्तन हि में अर्पित कर देता है; तब उसे धर्मध्यान कहते हैं।

धर्म ध्यान हि योगों के प्रणिधान का साधन है और इसी साधना के बल से साधक एक दिन शुक्ल ध्यान के द्वारा योगों का निरोध कर अयोगि अवस्था को भी प्राप्त करता है और समस्त कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर निर्वाण पद को प्राप्त करता है, अर्थात् अपने साध्य को पा लेता है। क्योंकि- धर्म ध्यान एवं आत्म-चिन्तन, मनन हि साध्य सिद्धि का साधन हैं। इसलिए साधक को हास्य आदि का परित्याग करके तथा विषय-वासना से मन एवं इन्द्रियों का गोपन करके, धर्म ध्यान एवं सूत्रार्थ के चिन्तन-मनन में संलग्न होना चाहिए।

इसका निष्कर्ष यह है कि- मनुष्य को अपनी आत्मा पर निर्भर रहना चाहिए। क्योंकि- आत्मा में हि अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना विकास करने में वह आत्मा हि समर्थ है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया है कि- हे पुरुष-आत्मन् ! तू ही अपना मित्र है। फिर अपने को छोड़कर बाहिर मित्रों को क्यों दूँदता फिरता है ? तुझे अपनी शक्ति को पाने के लिए बाहिर नहीं, अपने अंदर ही झाकने की आवश्यकता है। तू अपनी दृष्टि को बाहिर से हटाकर अपने अंदर मोड़ ले, फिर अनन्त ज्ञान-दर्शन की ज्योति से तू झगमगा उठेगा, तेरे अंदर ही अनन्त सुख का सागर लहर-लहर कर लहराता दिखाई देगा और तेरे जीवन के कण कण में अनन्त शक्ति का संचार होने लगेगा। यह ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय तेरे भीतर ही निहित है। इसे प्रकट करने के लिए अन्तर्द्रष्टा अर्थात् आत्म चिंतन के द्वारा आत्मा में संलग्न होने की आवश्यकता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'पुरुष' को सम्बोधित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि- धर्म

ध्यान एवं अत्म चिन्तन का अधिकारी पुरुष याने आत्मा ही है।

आत्म चिन्तन की पूर्व भूमिका का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ १३१ ॥ १-३-३-७

जं जाणिज्जा उच्चालइयं तं जाणिज्जा दूरालइयं, जं जाणिज्जा दूरालइयं तं जाणिज्जा उच्चालइयं। पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्ज, एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्टिए मेहावी मारं तरइ, सहिओ धम्ममायाय सेयं समणुपस्सइ ॥ १३१ ॥

II संस्कृत-छाया :

यं जानीयात् उच्चालयितारं तं जानीयात् दूरालयिकम्, यं जानीयात् दूरालयिकं तं जानीयात् उच्चालयितारम्। हे पुरुष ! आत्मानमेव अभिनिगृहाण, एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि। हे पुरुष ! सत्यमेव समभिजानीहि, सत्यस्य आज्ञया सः उपस्थितः मेधावी मारं तरति, सहितः धर्म आदाय श्रेयः समनुपश्यति ॥ १३१ ॥

III सूत्रार्थ :

जो पुरुष कर्मों का छेद करता है वह मोक्षपद पाता है, और जो पुरुष मोक्षपद पाता है वह कर्मों का विच्छेद करता है... इसलिये हे पुरुष ! तू अपने आत्मा का हि निग्रह कर... इस प्रकार दुःखों से मुक्त हो जाओगे... हे पुरुष ! सत्य को हि जानो... सत्य की आज्ञा से उपस्थित वह मेधावी मुनी संसार को तैरता है और हितवाला ऐसा वह मुनी धर्म को ग्रहण करके श्रेय=कल्याण को देखता है ॥ १३१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

उच्चालयिता याने कर्म और विषयों के संग को जो पुरुष दूर करता है वह हि पुरुष दूरालयिक याने सभी हेय धर्मवाले पदार्थों से दूर ऐसा मोक्ष पद या मोक्षमार्ग... अर्थात् मोक्षमार्ग में चलनेवाला है... हेतु और हेतुमत् भाव की दृष्टि से एवं गत-प्रत्यागत रीति से कहते हैं कि- जो पुरुष मोक्षमार्ग में चलता है वह कर्मों को और आश्रव के द्वारों को दूर करनेवाला है... अथवा तो जो मुनी सन्मार्ग के अनुष्ठानों को करता है वह कर्मों को दूर करता है... और वह हि अपने आत्मा का मित्र है... इसीलिये तो कहते हैं कि- हे पुरुष ! हे जीव ! भोगोपभोग विषयों के अनुराग का त्याग करके अपने आत्मा का धर्मध्यान के द्वारा निग्रह करो ! इस प्रकार से हि आप अपने आत्मा को दुःखों से मुक्त करोगे... इस प्रकार आत्मप्रदेशों में से कर्मों को दूर करनेवाला आत्मा हि आत्मा का मित्र है...

तथा हे पुरुष ! सत्य याने सज्जनों को हितकारक संयम... इसी संयम को हि अन्य सभी सावध क्रियाओं का त्याग करके आसेवन-परिज्ञा से पालो... आचरो... अथवा देव-गुरु की साक्षी से ग्रहण कीये हुए ब्रतों की प्रतिज्ञा का सत्य हि निर्वाह करो... अथवा सत्य याने आगम और आगम का ज्ञान, अर्थात् मुमुक्षु साधु आगम में कहे हुए आचार-पंचाचार का पालन करें... क्योंकि- सत्य याने आगमसूत्र की आज्ञा में रहा हुआ मेधावी साधु हि मार याने संसार को तैरता है... तथा ज्ञानादि से सहित अथवा हित से सहित ऐसा साधु हि धर्म याने श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को ग्रहण करके श्रेयः याने पुन्य अथवा आत्महित को अच्छी तरह से देखता है...

यहां अप्रमत्तता तथा अप्रमत्तता के गुणों को कहा... अब इससे विपर्यय याने प्रमत्तता का स्वरूप सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

यह हम देख चुके हैं कि- साधक धर्मध्यान के द्वारा योगों को एकाग्र करता है। मन, वचन एवं काया की बाह्य प्रवृत्ति को रोककर अपने अंदर की ओर मोडता है, आत्म चिन्तन में लगाता है। इस से संयम साधना में तेजस्विता आती है और, वह इस साधना के द्वारा नए कर्मों के आगमन को रोकता है और पुरातन कर्मों का क्षय करता है। इस प्रकार वह एक दिन समस्त कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष को, निर्वाण को पा लेता है। क्योंकि- कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है अथवा संपूर्ण कर्म क्षय का ही दूसरा नाम मुक्ति है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि- जो कर्म क्षय करना जानता है, वह मुक्ति को जानता है और जो मोक्ष को जानता है वह कर्म क्षय करने की प्रक्रिया को जानता है।

साधक अन्तर्मुखी संयम-साधना से ही कर्म क्षय करता है। इसलिए उसे आदेश देते हुए कहा गया है-तू अपनी आत्मा को बहिर्वृत्तियों से हटाकर धर्मध्यान या आत्मचिन्तन की ओर मोड़। दूसरे शब्दों में यों कहते हैं कि- तू बाहिर से सिमट कर अपने आपकी अन्दर स्थित हो जा। इस संवरभाव से हि विषय-वासना की आसक्ति से आने वाले कर्म रुक जायेंगे और परिणाम स्वरूप तू दुःखों से अर्थात् संसार से मुक्त हो जाएगा।

इसके लिए सत्य-संयम का आचरण आवश्यक है। सत्य पथ पर गतिशील एवं सत्य-आगम की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति संसार सागर से पार हो जाता है। क्योंकि- विषयों में आसक्त रहने का नाम संसार है और जब वह विषयों से अपने सर्वथा हटा लेता है, तो उसके लिए संसार दूर होता जाता है और मोक्ष निकट होता है, इसलिए साधक को सत्य-संयम के परिपालन करने एवं आगम के अनुसार पंचाचार की प्रवृत्ति करने का आदेश दिया गया है। यहां प्रस्तुत प्रकरण में सत्य शब्द सत्य, संयम एवं आगम तीनों

अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

‘मार’ शब्द का अर्थ संसार किया है, यह भी उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त ‘मार’ शब्द कामदेव के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और वह अर्थ भी यहां अनुपयुक्त नहीं है। क्योंकि-श्रुत और चारित्र धर्म का आराधक काम-वासना पर भी विजय पा लेता है और विषय-भोग का विजेता साधु हि कर्म का क्षय करके जन्म-मरण रूप संसार सागर से पार हो जाता है।

“पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि” इस पाठ से अयोगी गुणस्थान की ओर संकेत किया गया है। इसमें कहा गया है कि- हे पुरुष ! तू योगों का निरोध कर, जिससे तू सारे दुःखों से छूट जाएगा। योगों का पूर्ण निरोध चौदहवें अयोगी गुणस्थान में ही होता है और इस गुणस्थान को प्राप्त करने के बाद जीव निर्वाणपद को पा लेता है, समस्त कर्म बन्धन एवं कर्म जन्य उपाधि से सर्वथा मुक्त-उन्मुक्त हो जाता है।

इतना स्पष्ट होने पर भी कुछ लोग प्रमाद का सेवन करते हैं, विषय कषाय में आसक्त होते हैं। अतः उनका वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ८ ॥ ॥ १३२ ॥ १-३-३-८

दुहओ जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जंसि एके पमायंति ॥ १३२ ॥

II संस्कृत-छाया :

द्विधा जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं यस्मिन् एके प्रमाद्यन्ति ॥ १३२ ॥

III सूत्रार्थ :

राग एवं द्वेष से नष्ट-विनष्ट सन्मतिवाले कितनेक प्राणी वर्तमान जीवित के वंदन मानन एवं पूजन के लिये प्रमाद करते हैं ॥ १३२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

राग एवं द्वेष दो प्रकार से तथा अपने लिये तथा अन्य के लिये अथवा इस जन्म के लिये और जन्मातर के लिये... अथवा तो राग एवं द्वेष से हत याने विनष्ट सन्मतिवाला यह प्राणी केल वृक्ष के गर्भ के समान निःसार तथा बिजली के चमकते चमकारे जैसे चंचल इस वर्तमान जीवित के परिवंदन, मानन एवं पूजन के लिये हिंसा आदि में प्रवृत्त होते हैं...

परिवंदन याने स्तुति-स्तवन-प्रशंसा की प्राप्ति के लिये चेष्टा करते हैं... वह इस प्रकार... लावक आदि के मांस के उपभोग से हृष्टपुष्ट सर्व अंग-उपांग से सुंदर मुझे देखकर के लोक-जनता सहज स्वेच्छा से हि मुझे वंदन करेंगे... अर्थात् वे लोग ऐसा कहेंगे कि-

श्रीमान् आप लाखों वर्ष पर्यंत जय पाओ ! इत्यादि स्वरूप परिवन्दन... तथा मानन याने बल एवं पराक्रमवाले मुझे देखकर अन्य लोग अभ्युत्थान = खड़े होना, विनय, आसनदान, तथा अंजली जोड़ना इत्यादि प्रकार से मेरा मान (स्वागत) करेंगे... तथा पूजन याने विद्यावाले तथा बहोत धन-धान्यादि से समृद्ध ऐसे मेरी अन्य लोग दान, मान, सत्कार, प्रणाम तथा सेवा इत्यादि प्रकार से पूजा करेंगे...

इस प्रकार वंदन, मानन एवं पूजन के लिये प्रवृत्त होनेवाले वे लोग कर्मों के आश्रवों से अपने आत्मा को भावित करते हैं अर्थात् कर्मबंध करते हैं... इस प्रकार जिस वंदन-मानन-पूजन के लिये राग-द्वेषवाले कितनेक लोग प्रमाद करते हैं, अर्थात् वे अपने आत्मा के हित को नहि किंतु अहित को हि करते हैं...

अब इससे विपरीत जो अप्रमाद है, उसका स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

जब मनुष्य की दृष्टि देहाभिमुख या भौतिकता की ओर होती है, तब वह दुःखों के नाश का उपाय भी बाह्य पदार्थों में खोजता है। इसलिए वह अनुकूल पदार्थ एवं साधनों पर अनुराग करता है और प्रतिकूल साधनों पर द्वेष करता है। अर्थात् उनसे बचने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार राग-द्वेष में संलग्न व्यक्ति अपने जीवन के लिए, वन्दन, सत्कार पाने के लिए, मान-सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए अनेक प्रकार से प्रमाद का सेवन करता है। वह अपने क्षणिक जीवन के लिए हिंसा आदि अनेक दोषों का सेवन करता है और विषय-वासना में अधिक आसक्त होने के कारण रात-दिन वासनाओं का पोषण करने में लगा रहता है। इससे वह पाप कर्म करके संसार में बार-बार परिभ्रमण करता है।

निष्कर्ष यह है कि- राग-द्वेष के वश जीव हिंसादि दोषों में प्रवृत्त होकर पाप कर्मों का संग्रह करता है और परिणाम स्वरूप दुःखों के प्रवाह में बहता रहता है...

अतः साधक को राग-द्वेष का त्याग कर देना चाहिए। जो व्यक्ति राग-द्वेष का परित्याग कर देते हैं। उनके विषय में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ९ ॥ ॥ १३३ ॥ १-३-३-९

सहिओ दुखमत्रया पुटो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुच्चइ
त्ति बेमि ॥ १३३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सहितः दुःखमात्रया स्पृष्टः सन् न झञ्झायै, पश्य इमं द्रव्यः लोकालोकप्रपञ्चात्

मुच्यते इति ब्रवीमि ॥ १३३ ॥

III सूत्रार्थ :

ज्ञानादि से सहित अप्रमत्त साधु दुःखमात्रा से स्पृष्ट होने पर भी झंझा याने व्याकुल नहि होता है... तथा इस अर्थ को देखो ! द्रव्य याने साधु लोकालोक के प्रपंच से मुक्त होता है... ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूं ॥ १३३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

सम्यग्ज्ञान आदि से युक्त अथवा हितसे युक्त ऐसा साधु उपसर्ग से होनेवाले या रोग आदि व्याधि से होनेवाले दुःखों से स्पृष्ट होने पर भी व्याकुल-मतिवाले नहि होते... तथा उन उपसर्ग या रोग को दूर करने के लिये प्रयत्न भी नहीं करते... तथा झंझा याने इष्ट शब्दादि विषयों की प्राप्ति में रागझंझा तथा अनिष्ट शब्दादि विषयों की प्राप्ति में द्वेषझंझा... इस प्रकार दोनो झंझा से होनेवाली व्याकुलता का त्याग करें यह यहां भाव याने सारांश है... तथा इस उद्देशक के आरंभ से लेकर अनंतर याने पूर्वके सूत्र पर्यंत में जो कुछ उपदेश-अर्थ कहा है, उन्हें विवेक के द्वारा कर्तव्य और अकर्तव्य का विभाग करके आत्मा में धारण करें...

तथा द्रव्य स्वरूप याने मुक्तिगमन योग्य साधु-महात्मा चौदह राजलोक में विद्यमान धर्मास्तिकाय आदि छः (६) द्रव्य... और उनके प्रपञ्च याने गुण-पर्याय स्वरूप विस्तार... जैसे कि- जीवद्रव्य में पर्याप्तक, अपर्याप्तक, सौभाग्य, दुर्भाग्य इत्यादि द्वन्द्व स्वरूप विकल्प... वे इस प्रकार... नरकगति में उत्पन्न हुए नारक को नारक स्वरूप से तथा एकेंद्रियादि जीवों को एकेंद्रियादि स्वरूप से देखते हैं... इसी प्रकार पर्याप्तक, अपर्याप्तक इत्यादि स्वयं हि समझकर कहीयेगा... अतः इस प्रकार के प्रपंच से वह अप्रमत्त साधु मुक्त होता है... अर्थात् अब वह मुक्तात्मा चौदह-प्रकार के जीवस्थानक में से किसी भी प्रकार के स्थान से व्यपदेश याने कहने योग्य नहि होता... “इति” समाप्ति सूचक है, तथा ब्रवीमि याने मैं सुधर्मास्वामी, वीर प्रभुजी के मुख से जैसा सुना है, वैसा हि हे जंबू ! तुम्हें कहता हूं...

V सूत्रसार :

विचारशील, चिन्तनशील साधक कष्ट उपस्थित होने पर भी आकुल-व्याकुल नहीं होता। घबराता नहीं और वह उन कष्टों को दूर करने के लिए कोई सावध आचरण भी नहि करता है। वह समस्त दुःखों का मूल कारण कर्म को ही मानता है। अतः वह अपनी शक्ति सामर्थ्य को दुखों के मूल कारण कर्मों को उन्मूलन करने में लगा देते है। उसका प्रयत्न समस्त दुःखों का एवं संसार भ्रमण के कारण कर्म का क्षय करने का रहता है। अतः वह अपनी वृत्ति को बाहिर से मोड़ कर अन्दर की ओर हटा लेता है। या यों कहिए कि-वह साधु सदा आत्म साधना में संलग्न रहता है।

इसलिए प्रस्तुत सूत्र में साधक को आदेश देते हुए कहा गया है कि- हे पुरुष तू साधु जीवन की संयम-साधना को देख। और अपने आचरण को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न कर। क्योंकि- संयम निष्ठ मुनि तप-संयम की साधना से मोक्ष पथ पर बढ़ता हुआ लोक संसार के समस्त प्रपंचो से मुक्त हो जाता है।

निष्कर्ष यह रहा है कि- साधु को ज्ञान के साथ धैर्यशील एवं सहिष्णु होना चाहिए। कष्ट एवं वेदना के समय भी उसे साहस, शांति एवं आत्म-चिन्तन का त्याग नहीं करना चाहिए। और आर्त्तध्यान स्वरूप संकल्प-विकल्प में नहीं उलझना चाहिए। रोग उपशान्ति के लिए औषधि की आवश्यकता पड़ने पर निदोष एवं सात्त्विक औषध का सेवन करते हुए भी धैर्य एवं आत्म चिन्तन में संलग्न रहना चाहिए। क्योंकि- जब योगों की प्रवृत्ति सूत्रार्थ के चिन्तन में लगी रहेगी तब बाह्य वेदना की अनुभूति स्वतः नहिवत् हो जाएगी। इससे आत्मा में शांति की अनुभूति होगी और पहिले के बन्धे हुए कर्मों की निर्जरा भी होगी। इसलिए साधक को कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए हर स्थिति-परिस्थिति में आत्माभिमुख होकर चलना चाहिए।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ इति तृतीयाध्ययने तृतीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

५५ ५५ ५५

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सान्निध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्भरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभवविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५५ राजेन्द्र सं. १६. ५५ विक्रम सं. २०५८.

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ३

उद्देशक - ४

५१ कषायवमनम् ५१

तृतीय उद्देशक पूर्ण हुआ... अब चौथे उद्देशक का आरंभ करते हैं, और इनका परस्पर यह संबंध है कि- तृतीय उद्देशक में कहा था कि- पापकर्म न करने मात्र से और दुःखों को सहन करने मात्र से हि मनुष्य श्रमण नहि हो सकता, किंतु निष्प्रत्यूह याने द्वन्द्व आदि दोष रहित संयमानुष्ठान से हि श्रमण होता है... और निष्प्रत्यूहता तो कषायों के वमन से हि होती है, अतः अब पहले उद्देशक के अर्थाधिकार में जो निर्दिष्ट किया था वह बात अब यहां कहते हैं... इस संबंध से आये हुए इस चौथे उद्देशक के सूत्र का सूत्रानुगम में आने पर उच्चार करना चाहिये... और वह सूत्र निम्न प्रकार का है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १३४ ॥ १-३-४-१

से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासगस्स दंसणं, उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्धि ॥ १३४ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः वमिता क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च, एतद् पश्यकस्य दर्शनम्, उपरतशस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य, आदानं स्वकृतभित् ॥ १३४ ॥

III सूत्रार्थ :

ज्ञानादि से सहित वह साधु क्रोध मान माया एवं लोभ का वमन करता है... यह पश्यक याने तीर्थंकर प्रभु का दर्शन याने अभिप्राय है... शस्त्रारंभ से निवृत्त तथा संसार का अंत करनेवाला वह साधु स्वकृत कर्मों का विनाश करता है... ॥ १३४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

सम्यग्ज्ञान आदि से सहित, दुःखमात्र से स्पृष्ट, व्याकुलता से रहित मतिवाला एवं द्रव्य स्वरूप और लोकालोक के प्रपंच से मुक्त वह साधु स्व एवं पर के अपकारी ऐसे क्रोध, मान, माया, एवं लोभ का वमन याने विच्छेद करता है... अर्थात् यथोक्त-संयमानुष्ठान करनेवाला वह साधु क्रोध आदि कषायों का वमन करता है... क्योंकि- क्रोधादि कषाय युक्त आत्मा

हि आत्मा के गुणो का उपघात याने विनाश करता है...

क्रोध-कर्म के विपाकोदय से क्रोध होता है... जाति, कुल, रूप, बल आदिसे उत्पन्न होनेवाला गर्व हि मान है... अन्य जीवों को वंचना याने ठगने का अध्यवसाय वह माया... तथा तृष्णा और परिग्रह का परिणाम वह लोभ है... क्षय तथा उपशम के क्रमानुसार हि यहां क्रोधादि के अनुक्रम का विधान किया है... वह क्रोधादि कषाय भी अनंतानुबंधि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एवं संज्वलनादि स्वगत भेद-प्रभेद से अनेक प्रकार के हैं, अतः उनका निर्देश करते हैं...

अनंतानुबंधी क्रोध पर्वत की तिराड के समान है...

अप्रत्याख्यानीय क्रोध पृथ्वी की तिराड के समान है...

प्रत्याख्यानीय क्रोध रेत की तिराड के समान है

संज्वलन क्रोध जल की तिराड के समान है...

अनंतानुबंधी मान पत्थर के थंभे का समान है

अप्रत्याख्यानीय मान हड्डी के थंभे के समान है

प्रत्याख्यानीय मान लकड़ी के थंभे के समान है

संज्वलन मान बेंत की सोटी (छड़ी) के समान है:...

अनंतानुबंधी माया वंश के मूल (जड) के समान है

अप्रत्याख्यानीय माया भेड के सिंग के समान है

प्रत्याख्यानीय माया गोमुत्र के समान है

संज्वलन माया अवलेखक याने लकड़ी की छोल के समान है...

अनंतानुबंधी लोभ कृमिराग याने पक्के रंग के समान है

अप्रत्याख्यानीय लोभ कर्दम समान है

प्रत्याख्यानीय लोभ काजल के समान है

संज्वलन लोभ हलदी के रंग के समान है...

अनंतानुबंधी क्रोधादि कषाय जीवन पर्यंत रहते हैं... नरकगति का हेतु है...

अप्रत्याख्यानीय क्रोधादि कषाय एक वर्ष पर्यंत रहते हैं... तिर्यचगति का हेतु है...

प्रत्याख्यानीय क्रोधादि कषाय चार महिने तक रहते हैं... मनुष्यगति का हेतु है...

संज्वलन क्रोधादि कषाय एक पक्ष पर्यंत रहते हैं... देवगति का हेतु है...

इस प्रकार के क्रोध, मान, माया, एवं लोभ कषाय के वमन से हि पारमार्थिक याने

सच्चा श्रमण-भ्रम आत्मामें प्रगट होता है... अन्यथा कषायों के होने में श्रमण-भाव नहि होता... कहा भी है कि- साधु याने श्रमण जीवन जीनेवाले मुनी को यदि उत्कट याने उग्र कषाय होवे, तो मैं मानता हूं कि- उसका श्रमण जीवन इक्षु के पुष्प की तरह निष्फल हि है... क्योंकि- देशोन (नव वर्ष न्यून) पूर्व क्रोडवर्ष पर्यंत के चारित्र को, कषाय युक्त साधु एक मूर्हत में हि विनाश करता है...

श्री गौतमस्वामीजी कहते हैं कि- यह बात हम अपने मन से नहि कहते हैं किंतु अनंतर कहा हुआ कषायों के वमन का उपदेश, पश्यक याने निरावरण ज्ञानवाले अर्थात् केवलज्ञानी श्री वर्धमान स्वामीजी ने यथावस्थित वस्तुतत्त्व को देखकर हि कहा है... वह उपदेश हम तुम्हें अनुग्रहभाव से कहते हैं...

वे वर्धमानस्वामीजी द्रव्य एवं भाव शस्त्रारंभ से उपरत याने निवृत्त हैं... द्रव्यशस्त्र स्वकाय, परकाय एवं उभयकाय स्वरूप है, तथा भावशस्त्र असंयम अथवा कषाय है... अर्थात् तीर्थकर परमात्मा को भी कषायों के वमन के बिना सकल पदार्थों के सभी पर्यायों को ग्रहण करनेवाला निरावरण केवलज्ञान प्रगट नहि होता, और केवलज्ञान के बिना सिद्धिवधू के समागम के सुख का अभाव होता है... इस प्रकार अन्य मुमुक्षु साधुओं के लिये भी जानीयेगा... अतः परमात्मा के उपदेश अनुसार मोक्षमार्ग में चलनेवालों को कषायों का वमन (त्याग) करना अनिवार्य है...

तथा “पर्यंत” याने कर्म अथवा संसार तथा “कर” याने अंतकरनेवाले “पर्यंतकर” परमात्मा हैं अर्थात् जिस प्रकार तीर्थकर परमात्मा संयम के अपकारी कषाय तथा शस्त्रारंभ से निवृत्त होकर आत्मा में रहे हुए कर्मों का अंत करनेवाले हैं, इसी प्रकार उनके कहे हुए मोक्षमार्ग में चलनेवाले अन्य साधु-श्रमण भी ऐसे हि पर्यंतकर होते हैं...

तथा आदान याने आत्म-प्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्मों का बंधन जिस हिंसादि आश्रवों के द्वारा या अड्डारह पाप स्थानकों के द्वारा होता है वह आदान... अथवा तो कर्मों की स्थिति में निमित्त होनेवाले कषाय भी आदान हि हैं, अतः उन कषायों का वमन करनेवाला श्रमण हि स्वकृत अनेक जन्मों के कर्मों का विच्छेद करता है... अर्थात् वे “स्वकर्मभिद्” हैं... यहां सारांश यह है कि- जो श्रमण कर्मों के आदान स्वरूप कषाय आदि का निरोध करते हैं, वे हि नये कर्मों के प्रवेश को रोककर अपने कीये हुए पुराने कर्मों का विनाश करते हैं... अतः स्वकृत कर्मों का भेदन अपने आप को हि करने का है, ऐसी बात यहां कही है...

क्या तीर्थकर प्रभुने भी परकृतकर्मों के क्षय का उपाय नहि जाना ? ऐसा यदि आपका प्रश्न है, तो हम कहते हैं कि- ना, ऐसा नहि है, तीर्थकर प्रभुजी का ज्ञान सभी पदार्थों की

सत्तामें व्याप याने फैलकर रहा हुआ है, किंतु वस्तु स्थिति हि ऐसी है कि- जिन्हों ने जो कर्म कीये है, उनका विच्छेद भी वे हि करते हैं, अन्य तो मात्र निमित्त स्वरूप हि उपकारक होते हैं...

हेय पदार्थ के त्याग एवं उपादेय पदार्थों का उपादान याने ग्रहण के हि उपदेश को जाननेवाले को हम सर्वज्ञ नहि कहते... मात्र इतने हि परोपकार करने से यदि तीर्थकर पने की उपलब्धि होती हो, तो यह बात सज्जनों के मन को आनंदित नहि करती... क्योंकि- यहां कोइ विशेष उपकारक युक्ति-हेतु हि नहि है...

यहां बात यह है कि- सम्यग् ज्ञान के बिना हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार याने त्याग के उपदेश का संभव हि नहि हो सकता... तथा एक पदार्थ का वास्तविक विज्ञान भी सर्वज्ञता के सिवा हो हि नहि सकता... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

तृतीय उद्देशक में संयम, आत्म चिन्तन एवं परीषहों के उपस्थित होने पर भी धैर्यता एवं सहिष्णुता बनाए रखने का उपदेश दिया है। वस्तुतः देखा जाए तो अधैर्य एवं चंचलता का कारण कषाय, राग-द्वेष एवं भय ही है। अतः प्रस्तुत उद्देशक में इनके त्याग का उपदेश दिया गया है।

साधना का उद्देश्य है-कर्मों से सर्वथा मुक्त होना। इसलिए प्रत्येक तीर्थकर भगवान अपने शासनकाल में मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर परमात्मा कषाय के त्याग का उपदेश देते है। वे कहते हैं कि- कषाय से कर्म का बन्ध होता है और कर्म बंध से जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को चाहिए कि- वह संसार परिभ्रमण के हेतुभूत स्वकृत कर्म का हि भेदन करे। क्योंकि- कषाय कर्म बंधन का कारण है और जब कारण नष्ट कर देंगे तो कार्य का नाश सहज ही हो जाएगा। अतः एव कर्म का क्षय करने के लिए पहिले कषाय त्याग का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त “पासगस्स दंसणं” का अर्थ है- लोक के समस्त पदार्थों के यथार्थ द्रष्टा को पश्यक कहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी अन्तिम तीर्थकर भगवान महावीर स्वामीजी हैं, ‘आयाणं’ शब्द से हिंसा आदि ५ आस्रव एवं १८ पाप स्थानक स्वीकार किए गए हैं। इनके द्वारा ही जीव अष्ट कर्मों को बांधता है। इसलिए इन्हें ‘आयाणं-आदान’ कहते हैं।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप को सर्वज्ञता या सर्वज्ञ के ज्ञान से ही जाना जा सकता है। अतः उक्त विषय में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १३५ ॥ १-३-४-२

जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ॥ १३५ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः एकं जानाति सः सर्वं जानाति, यः सर्वं जानाति सः एकं जानाति ॥ १३५ ॥

III सूत्रार्थ :

जो एक को जानता है, वह सभी को जानता है, और जो सभी को जानता है वह एक को जानता है ॥ १३५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जो कोई भी साधु-महात्मा परमाणु आदि कोई भी एक द्रव्य एवं उसके भूतकाल तथा भविष्यत्काल के सभी पर्याय, अथवा स्व-परके अर्थात् अपने आप के एवं अन्य के पर्याय को जानता है वह सभी पदार्थों के स्व-पर पर्यायोंको जानता है... क्योंकि- अतीतकाल एवं अनागतकाल के पर्यायवाले एक द्रव्य का संपूर्ण विज्ञान भी सभी द्रव्यों के विज्ञान के बिना संभवित हि नहि है...

यह हि बात हेतु और हेतुमद् भाव से दर्शाते हुए कहते हैं कि- जो व्यक्ति संसार के उदर-भागमें रहे हुए सभी वस्तु-पदार्थों को जानता है, वह हि एक घट आदि वस्तु को सर्वथा जानता है... क्योंकि- वह घट हि अतीत एवं अनागतकाल में पर्याय-भेद से उन उन सभी वस्तु के स्वरूप को प्राप्त कीये हुए है, और प्राप्त करेंगे... अर्थात् कोई भी द्रव्य काल से अनादि-अनंत स्थितवाला है, और काल क्रमसे कोई भी एक वस्तु-पदार्थ सभी प्रकार की वस्तु के स्वरूप को स्व-पर के भेद से प्राप्त करता है...

अन्यत्र कहा भी है कि- एक द्रव्य के अतीतकाल एवं अनागतकाल में जितने भी अर्थ पर्याय एवं वचन पर्याय हैं, उतने हि इस विश्व में द्रव्य है... अतः इस प्रकार से एक द्रव्य का सर्वथा ज्ञाता तीर्थंकर प्रभुजी सर्वज्ञ हि हैं, और जो सर्वज्ञ है वे हि सभी जीवों को संभवित उपकारक उपदेश देते हैं... यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

जैनदर्शन में मूल रूप से दो तत्त्व माने हैं-जीव और अजीव। संसार के सभी रूपी-अरूपी पदार्थ इन दो तत्त्वों में आ जाते हैं। और संसार में इन दोनों का इतना घनिष्ठ संबंध है कि- एक का ज्ञान होने पर दूसरे का या समस्त पदार्थों का परिज्ञान हो जाता है। जब

व्यक्ति आत्मा का चिन्तन करता है, उसके स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है तब वह सहज ही अन्य तत्त्वों से परिचित हो जाता है। क्योंकि- आत्मा असंख्यात प्रदेशी, अरूपी एवं अनन्त चतुष्टय युक्त शुद्ध है। फिर भी अनन्त आत्माएं संसार में परिभ्रमण कर रही हैं। इसका कारण यह है कि- वे कर्म पुद्गलों से आवृत्त हैं। कर्म अजीव हैं, जड़ है। अतः जब कर्म के विषय में सोचते हैं, तो अजीव तत्त्व का बोध हो जाता है।

अब प्रश्न यह होता है कि- अजीव या कर्म पुद्गल आत्मा को क्यों आवृत्त करते हैं ? इस समस्या के समाधान में चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि- संसारी आत्मा राग-द्वेष एवं कषाय युक्त परिणामों तथा योगों की प्रवृत्ति से शुभ और अशुभ कर्मों-(पाप और पुण्य) का संग्रह करती है। शुभाशुभ कर्म आगमन के द्वार को शास्त्रीय भाषा में आस्रव कहते हैं। और इन आए हुए कर्मों का लेश्या-परिणामों की तीव्रता एवं मन्दता के अनुसार तीव्र एवं मन्द कर्म-बन्ध होता है।

संयम के द्वारा आते हुए नए कर्मों को रोक दिया जाता है और तप के द्वारा पुराने कर्मों का क्षय कर दिया जाता है, इस प्रक्रिया से आत्मा एक दिन कर्म एवं कर्म जन्य उपाधिओं से सर्वथा मुक्त हो जाती है, इन्हें क्रमशः संवर; निर्जरा कहते हैं। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान करने वाला व्यक्ति अन्य तत्त्वों को भी जान लेता है। एक तत्त्व के परिज्ञान में सभी तत्त्वों का तथा सभी तत्त्वों के परिज्ञान में एक तत्त्व का ज्ञान हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि- एक वस्तु के साथ अनेक या समस्त वस्तुओं का संबंध जुड़ा हुआ है और अनेक में एक समाहित है। इसलिए सम्यक्तया एक वस्तु का ज्ञान होने पर अनेक वस्तुओं का बोध सहज ही हो जाता है। इस प्रकार आत्म चिन्तन की गहराई में उतरने पर वह साधु अज्ञान के आवरण को दूर करके आत्मा के परिपूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है और सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होकर संसार के प्राणियों को मोक्ष मार्ग दिखाता है।

सर्वज्ञ बनने के बाद तीर्थंकर परमात्मा उपदेश देते हैं, यह बात बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १३६ ॥ १-३-४-३

सव्वओ पमत्तस्स भयं, सव्वओ अपमत्तस्स नत्थि भयं, जे एणं नामे से बहुं नामे, जे बहुं नामे से एणं नामे। दुक्खं लोगस्स जाणित्ता, वंता लोगस्स संजोगं, जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति, नावकंखंति जीवियं ॥ १३६ ॥

II संस्कृत-छाया :

सर्वतः प्रमत्तस्य भयम्, सर्वतः अप्रमत्तस्य नाऽस्ति भयम्। यः एकं नामयति सः
बहुं नामयति, यः बहुं नामयति सः एकं नामयति। दुःखं लोकस्य ज्ञात्वा, वान्त्वा
लोकस्य संयोगम्, यान्ति धीराः महायानम्, परेण परं यन्ति, न अवकाङ्क्षन्ति जीवितम्
॥ १३६ ॥

III सूत्रार्थ :

प्रमादी व्यक्ति को चारों ओर से भय है, तथा अप्रमत्त को चारों ओर से निर्भयता है... जो एक को नमाता है वह बहु को नमाता है और जो बहु को नमता है वह एक को नमाता है... लोक के दुःखों को जानकर, लोगों के संयोग का चमन याने त्याग करके धीर पुरुष मोक्षमार्ग में जाते हैं... पर से पर की ओर जाते हैं तथा जीवित की आकांक्षा नहि रखते...
॥ १३६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

द्रव्यादि सर्व प्रकार से भय उत्पन्न करनेवाले कर्मों का बंध करनेवाले प्रमत्त याने प्रमादवाले प्राणी को चारों ओर से भय होता है... वे इस प्रकार- प्रमादी मनुष्य द्रव्य से सभी आत्मप्रदेशों से कर्म ग्रहण करता है... क्षेत्रसे छह (६) दिशाओं में रहे हुए कर्मों को बांधता है... काल से प्रति समय कर्मों का बंध होता है... तथा भाव से हिंसा आदि के दूषित भावों के द्वारा कर्मबंधन होता है...

अथवा प्रमादी मनुष्य को सभी जगह चारों ओर से अथवा इस जन्म में एवं जन्मांतर में भय होता है...

और जो मनुष्य इस से विपरीत याने अप्रमत्त है, उसको सभी जगह चारों ओर से अथवा इस जन्म में और जन्मांतर में कहीं भी भय नहि है... अर्थात् आत्महित में सावधान ऐसे अप्रमत्त को संसार के कोई भी स्थान से या कर्मों से भय नहि है...

तथा कषायों के अभाव से हि अप्रमत्तता होती है... और कषायों के अभाव से शेष मोहनीय कर्म का भी अभाव होता है... तथा मोहनीय कर्म के अभाव से शेष सभी कर्मों का क्षय होता है... इस प्रकार एक के अभाव में हि “बहु” याने सभी का अभाव संभवित होता है...

इस प्रकार एक के अभाव में बहु का अभाव, और बहु के अभाव में एक का अभाव इस प्रकार गत-प्रत्यागत... हेतु-हेतुमद् भाव को दिखते हुए कहते हैं कि- प्रवर्धमान शुभ अध्यवसायों के कंडक में चढा हुआ जो व्यक्ति “एक” अनंतानुबंधी क्रोध को नमाता है अर्थात्

क्षय करता है, वह हि बहु मान आदि कषायों को अथवा अपने हि भेद स्वरूप अप्रत्याख्यानादि क्रोध को भी नमाता है... अर्थात् क्षय करता है... जो व्यक्ति एक मोहनीय कर्म को नमाता है वह शेष सात कर्म प्रकृतियों को भी नमाता है...

अथवा तो जो व्यक्ति स्थितिशेष बहु कर्म प्रकृतियों को नमाता है, वह एक अनंतानुबंधी क्रोध को अथवा मोहनीय कर्म को नमाता है... वह इस प्रकार- मोहनीय कर्म की ऊनसत्तर कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति क्षय होते हि मोहनीयकर्म का क्षय करनेवाले के पुन्यात्मा शेष ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अंतराय कर्म की देशोन ऊनतीस (२९) कोडाकोडी सागरोपम तथा नाम एवं गोत्र कर्म की देशोन गुनीस (१९) कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति का भी क्षय करता है... इसीलिये कहते हैं कि- जो व्यक्ति बहु को नमाता है वह हि परमार्थदृष्टि से एक को नमाता है...

नमाना याने क्षय करना या उपशम करना... और नामक याने क्षपक या उपशामक... अर्थात् उपशम श्रेणी का आश्रय लेकर एक या बहु का उपशम करनेवाला साधु बहु या एक का उपशम करता है... इस प्रकार क्षपक श्रेणी में... अतः बहु या एक कर्म के अभाव के सिवा मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम हो हि नहि शकता... और मोहनीयकर्म के क्षय या उपशम के अभाव में जीवों को बहोत सारे दुःखों का संभव होता है... यह बात अब कहते हैं... कि- दुःख याने असाता का उदय अथवा असाता के कारणभूत कर्म... अतः लोक याने जीवसमूह के दुःख को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से जिस प्रकार उन जीवों के दुःखों का अभाव हो ऐसा आचरण करें...

किस प्रकार से दुःखों का अभाव हो ? तथा दुःखों के अभाव में कौनसे गुणों की प्राप्ति होती है ? इन दोनों प्रश्न के उत्तर देते हुए कहते हैं कि- लोक याने अपनी आत्मा से भिन्न ऐसे धन, पुत्र तथा शरीर आदि के ममत्ववाले संबंध को अथवा शरीर संबंधित दुःख आदि के हेतुभूत कर्म अथवा कर्मों के ग्रहण के कारण-आश्रवों का वमन याने त्याग करके धीर याने कर्मों के विदारण याने भेदन-छेदन करनेवाले साधुजन हि जिससे मोक्ष में पहुंचा जाये ऐसे चारित्र का आदर करते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग में चलते हैं...

किंतु अनेक क्रोड भवोंमें भी दुर्लभ ऐसे पवित्र चारित्र को प्राप्त करने के बाद तथाविध अशुभ कर्मों के उदय से प्रमाद करनेवाले व्यक्ति को वह मोक्षमार्ग स्वरूप चारित्र, स्वप्न में प्राप्त निधि के समान दुर्लभ हो जाता है... अतः महान् ऐसा यान याने चारित्र... अथवा सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय स्वरूप यान (वाहन) है जिसका वह महायान याने मोक्ष... उस मोक्ष मार्ग में अप्रमत्त साधुजन सम्यग्दर्शनादि रत्नमय से जाते हैं...

प्रश्न- क्या महायान समान चारित्र को प्राप्त करके मनुष्य एक हि भव में मुक्ति को प्राप्त करता है कि- परंपरा से याने अनेक भवों से... ?

उत्तर- दोनों प्रकार से मनुष्य मोक्षपद पाता है... वह इस प्रकार- मोक्ष योग्य क्षेत्र और काल को प्राप्त करके कोईक लघुकर्मवाला मनुष्य उसी एक हि भव में मोक्ष पद प्राप्त करता है... तथा अपर याने जो मनुष्य लघुकर्मवाला नहि है वह अन्यथा याने परंपरा से अर्थात् अनेक भवों से मोक्ष पाता है...

जैसे कि- सम्यक्त्व से नरक एवं तिर्यग्गति के द्वार को बंध करके सम्यग्ज्ञानके द्वारा यथाशक्ति चारित्र का पालन करनेवाला मनुष्य आयुष्य के क्षय से सौधर्म आदि देवलोक में उत्पन्न होते हैं... वहां से भी शेष पुन्य के अनुसार कर्मभूमी, आर्यक्षेत्र, अच्छे उत्तम कुल में जन्म, तथा आरोग्य, श्रद्धा, धर्मश्रवण एवं संयम आदि को प्राप्त करके विशिष्ट प्रकार के अनुत्तरोपपातिक पर्यंत के स्वर्ग याने देवलोक को प्राप्त करते हैं... और पुनः वहां से च्यवन पाकर मनुष्य जन्म आदि संयमभाव को प्राप्त करके अशेष याने सभी कर्मों के क्षय से मोक्ष-पद पाते हैं... इस प्रकार “परेण” याने शास्त्रोक्त विधिवाले संयम के द्वारा “पर” याने स्वर्ग और पारंपर्य याने परंपरा से अपवर्ग याने मोक्ष में भी पहुंचते हैं... अथवा “परेण” याने सम्यग्दृष्टि गुणस्थानक के द्वारा “परं” याने देशविरति से लेकर अयोगि-केवली पर्यंत के गुणस्थानकों में चढ़ते हैं...

अथवा “परेण” याने अनंतानुबंधी कषाय के क्षय से उल्लसित हो रहे शुभ अध्यवसाय कंडक स्थानवाले “भ्रं” याने दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीयकर्म का क्षय करके शेष तीन घातिकर्म एवं भवोपग्राही चार अघाति कर्मों का क्षय करते हैं... इस प्रकार कर्मक्षय के लिये उद्यत मनुष्य-साधु यह नहि सोचता कि- जीवन कितना बीत गया, और कितना शेष है... अर्थात् दीर्घ जीवित याने लंबे आयुष्य की अभिलाषा नहि करते... अथवा असंयमवाले जीवित को भी नहि चाहते...

अथवा तो “परेण परं यान्ति” याने उत्तरोत्तर तेजोलेश्या को प्राप्त करते हैं... श्री भगवती सूत्र में कहा है कि- हे भगवन् ! जो यह इस काल के श्रमणनिर्ग्रथ विचरते हैं, वे किनकी तेजोलेश्या को उल्लंघन करते हैं ? हे गौतम ! एक महिने के पर्यायवाले श्रमण-निर्ग्रथ वाणव्यंतर देवों की तेजोलेश्या का उल्लंघन करते हैं... इस प्रकार दो महिने के चारित्र पर्यायवाले श्रमण-निर्ग्रथ असुरेंद्र को छोड़कर शेष भवनपति निकाय के देवों की तेजोलेश्या का उल्लंघन करते हैं... तीन महिने के पर्यायवाले असुरकुमार देवों को... चार महिने के पर्यायवाले ग्रह-नक्षत्र एवं तारा स्वरूप ज्योतिष्क देवों की तेजोलेश्या एवं पांच महिने के पर्यायवाले ज्योतिष्क के इंद्र चंद्र एवं सूर्य आदि ज्योतिष्क देवों की तेजोलेश्या का उल्लंघन करते हैं...

छह महिने के पर्यायवाले सौधर्म एवं ईशान देवलोक के देवों को... सात महिने के पर्यायवाले सनत्कुमार एवं माहेंद्र देवलोक के देवों की तेजोलेश्या को... आठ महिने के पर्यायवाले ब्रह्मलोक एवं लांतक देवलोक के देवों की तेजोलेश्या को... नव महिने के पर्यायवाले श्रमण-निर्ग्रथ साधु म. महाशुक्र, सहस्रार, देवलोक के देवों को... दश महिने के पर्यायवाले आनत, प्राणत आरण एवं अच्युत देवलोक के देवों को... ग्यारह महिने के पर्यायवाले नव ग्रैयेयक के देवों को... और बारह महिने के पर्यायवाले श्रमण-निर्ग्रथ साधु म. अनुत्तर विमान के देवों की तेजोलेश्या का उल्लंघन करते हैं अर्थात् उन से बढ़कर के हैं... और बारह महिने के बाद शुक्ल और शुक्लाभिजात्य होते हुए अंत में सिद्ध बुद्ध मुक्त होते हैं...

अनंतानुबंधी आदि के क्षय के लिये तत्पर साधु क्या एक कर्म के क्षय में हि प्रवृत्त होता है... सभी कर्मों के ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

भय नामक नोकषाय कर्म मोह जन्य है। क्योंकि- वह भय-कर्म चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रकृति है। इसलिए असंयम जीवन में भय का उदय रहता है। इससे प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- प्रमादी व्यक्ति को सभी प्रकार के भय है अर्थात् जहां प्रमाद है वहीं सभी भय हैं। और जब आत्मा अप्रमत्त भाव में विचरण करती है, तब मनुष्य को कोई भय नहीं रहता है। इसका कारण यह है कि- प्रमादी व्यक्ति की दृष्टि में भौतिक पदार्थों की मुख्यता है, अतः उनके नाश या वियोग की स्थिति उत्पन्न होते ही मन में भय एवं क्षुब्धता उत्पन्न हो जाता है।

परन्तु अप्रमत्त मुनि का चिन्तन आत्माभिमुखी होता है, शरीर एवं अन्य उपकरण साधन उसकी दृष्टि में केवल आत्म विकास के साधन मात्र हैं- इसलिए देह के विनाश का प्रसंग आने पर भी वह भयभीत नहीं होता। मरणांत कष्ट उपस्थित होने पर वह अप्रमत्त साधु अपने शरीर को धर्मध्यान के प्रसन्नभाव से त्याग देता है, अर्थात् पुरातन वस्त्र की तरह शरीर का परित्याग करता है। अतः संयमनिष्ठ अप्रमत्त साधु को किसी भी प्रकार का भय नहीं होता, वह सदा निर्भय होकर विचरता है। वह अभय मुनि स्वयं भयभीत नहि होता है और अन्य किसी भी जीवों को भयभीत नहि करता है...

जहां भय रहता है, वहां मोह कर्म की अन्य प्रकृतियां भी रहती है। और वस्तुतः मोह कर्म ही सभी कर्मों का राजा है। मोह का नाश करने पर शेष कर्मों का नाश करना सरल हो जाता है। इसलिए कहा गया कि- जो व्यक्ति मोह कर्म की एक प्रकृति अनन्तानुबंधी क्रोध का क्षय कर देता है, वह शेष प्रकृतियों को भी क्षय कर देता है और जो मोह कर्म की बहुत सी प्रकृतियों को क्षय करता है वह अनन्तानुबंधी क्रोध का भी नाश करता है या

जो मोह कर्म को क्षय करता है; वह बहुत से कर्मों का अर्थात् तीन घातिकर्मों-ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय कर्म का उसी समय नाश करता है और शेष कर्मों का आयुर्कर्म के क्षय के साथ क्षय कर देता है। और जो ज्ञानावरणीयादि बहुत से कर्मों का क्षय करता है, वह मोहनीय कर्म का भी क्षय करता है। इस प्रकार वह पवित्र आत्मा समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि- दुःखों का मूल कारण कर्म है और विषय-वासना की आसक्ति एवं राग-द्वेष से कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधक राग-द्वेष एवं विषयों की आसक्ति का परित्याग करके मोक्ष मार्ग पर चले। इससे वह उसी भव में या परम्परा से-संख्यात भवों में समस्त कर्मों का नाश करके निर्वाण पद पा लेता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'महाजाणं-महायान' शब्द का प्रयोग मोक्षमार्ग के अर्थ में किया गया है। इसके अतिरिक्त 'यान' शब्द का चारित्र अर्थ भी होता है। अतः 'महायान' का अर्थ हुआ-उत्कृष्ट चारित्र। और धैर्यवान पुरुष चारित्र की आराधना करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं, अतः इस अपेक्षा से चारित्र को भी महायान कहा है।

क्या चारित्र की आराधना से आत्मा उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेती है ? या देव, मनुष्य आदि गतियों में कुछ भव करके मोक्ष प्राप्त करती है ? उत्तर- कुछ आत्माएं उसी भव में समस्त कर्मों से मुक्त हो जाती है और कुछ आत्माएं संयम के साथ सरागता होने के कारण सौधर्म आदि स्वर्गों में उत्पन्न होती हैं। और वहां से मनुष्य एवं विशिष्ट स्वर्गों में उत्पन्न होता हुआ क्रमशः एक दिन मोक्ष को प्राप्त करता है।

प्रस्तुत सूत्र में इस बात को 'परेण परं' पाठ से अभिव्यक्त किया है। 'परेण (तृतीयांत) और परं (द्वितीयान्त)' इन दोनों शब्दों का कई अर्थों में प्रयोग होता है। जैसे-१-धीर पुरुष संयम की आराधना से स्वर्ग और परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। २-आत्मा चतुर्थ गुणस्थान में चढ़ते हुए, पंचम गुणस्थान आदि में होता हुआ अयोगि केवली १४वें गुणस्थान में पहुंच जाता है। ३-अनन्तानुबन्धी के क्षय से दर्शन और चारित्र मोहनीय कर्म या घाति एवं अघाति कर्मों का क्षय कर देता है। इसके अतिरिक्त इन उभय शब्दों का 'परेण'-तेजोलेस्या से भी 'परं'- विशिष्टतर लेस्या को प्राप्त करना भी अर्थ होता है।

'नामे' यह क्रियापद है, जैसे-नामयति-क्षपयति अतः इसका अभिप्राय यह है कि-मुनि को धन वैभव एवं पारिवारिक संबन्ध का त्याग करके संयम का परिपालन करना चाहिए।

जो आत्मा अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि कर्म प्रकृतियों का क्षय करने को तैयार होता है, उस समय उन्हीं कर्मों का क्षय करता है या साथ में अन्य ज्ञानावरणीयादि कर्म प्रकृतियों का भी क्षय करता है ? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १३७ ॥ १-३-४-४

एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो वि, सङ्गी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिच्चा अकुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं ॥ १३७ ॥

II संस्कृत-छाया :

एकं क्षपयन् पृथग् अपि क्षपयति, श्रद्धावान् आज्ञया मेधावी लोकं च आज्ञया अभिसमेत्य अकुतोभयम्। अस्ति शस्त्रं परेण परम्, नास्ति अशस्त्रं परेण परम् ॥ १३७ ॥

III सूत्रार्थ :

एक का क्षय करनेवाला अन्य का भी क्षय करता है... आज्ञा से श्रद्धावाला मेधावी साधु आज्ञा से लोक को जानकर अकुतोभय होता है... शस्त्र पर से भी पर होता है... किंतु अशस्त्र पर से भी पर नहि होता है... ॥ १३७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

क्षपक श्रेणी में आरूढ साधु एक अनंतानुबंधी क्रोध का क्षय करता है तब अन्यदर्शन-सप्तक आदि का भी क्षय करता है... यदि भवांतर का आयुष्य बंधा हुआ हो तो भी दर्शन-सप्तक का तो क्षय करता ही है... तथा पृथक् याने अन्य कर्मों का क्षय करनेवाला भी अनंतानुबंधी क्रोध का भी अवश्य क्षय करता है... क्योंकि- अन्य कर्मों का क्षय अनंतानुबंधी क्रोध के क्षय के बिना संभवित हि नहीं है...

कौनसे गुणवाला साधु क्षपकश्रेणी योग्य होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- श्रद्धा याने मोक्षमार्ग में उद्यम की इच्छा, ऐसा जो है वह श्रद्धावान् साधु, तीर्थंकर प्रभु के कहे हुए आगमसूत्र के अनुसार यथोक्त-धर्मानुष्ठानों को करनेवाला मेधावी साधु अर्थात् मर्यादा में रहा हुआ अप्रमत्त यति-श्रमण हि क्षपक-श्रेणी के योग्य है, अन्य नहि...

तथा लोक याने छ जीवनिकाय-लोक अथवा कषायलोक को आज्ञा याने जिनेश्वरों के आगमोपदेश से अभिसमेत्य याने जानकर के... अर्थात् जिस प्रकार से छजीवनिकायलोक को कोई भी निमित्त से भय न हो वैसा आचरण करें... और कषायलोक के प्रत्याख्यान स्वरूप परिज्ञा से उन कषायों का त्याग करनेवाले साधु को कहीं से भी भय नहि होता है... अथवा चर एवं अचर लोक को आज्ञा याने आगम के अनुसार जाननेवाले साधु को कहीं भी एवं कभी भी इस जन्म एवं जन्मांतर के अपायों का भय नहि होता है...

प्राणी को भय शस्त्र से होता है... अतः यहां प्रश्न यह होता है कि- उस शस्त्र में

प्रकर्षता होती है या नहि ? उत्तर देते हुए कहते हैं कि- प्रकर्षता होती है... वह इस प्रकार-द्रव्य, शस्त्र, कृपाण याने तरवार आदि... और वह लोहे में कीये हुए संस्कार विशेष से पर से पर याने तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होते हैं... अथवा तो शस्त्र याने उपघात = विनाश करनेवाला, अतः पीडा करनेवाले एक शस्त्र से पीडाकारी अन्य शस्त्र उत्पन्न होता है... और उससे भी अपर याने अन्य शस्त्र... जैसे कि- कृपाण याने तरवार के धाव से वायु का प्रकोप होता है, और वायु के प्रकोप से मस्तक-पीडा, और मस्तक-पीडा से ज्वर याने बुखार... और उस ज्वर से मुखशोष तथा मूर्च्छा आदि... तथा भावशस्त्र की परंपरा तो इस सूत्र से आगे के सूत्र से सूत्रकार स्वयं हि प्रत्याख्यान = परिज्ञाके द्वारा कहेंगे...

तथा जिस प्रकार शस्त्र की प्रकर्षगति एवं परंपरा होती है, इसी प्रकार अशस्त्र में नहि है... जैसे कि- अशस्त्र याने संयम... वह “परेण परं” याने प्रकर्षगति को प्राप्त... वह इस प्रकार- सामायिक चारित्र हि पृथ्वीकाय आदि में समभाव सुरक्षा-अहिंसा-भाव रखता है... अथवा शैलेपी-अवस्थावाले संयम से और कोइ “पर” याने अधिक संयम नहि है... क्योंकि- उन (अयोगिकेवली) से आगे अधिक कोइ गुणस्थानक हि नहि है...

जो साधु प्रत्याख्यान-परिज्ञा से क्रोध को जानता है अर्थात् क्षय करता है वह “अपर” याने मान आदि को भी जानता है... अर्थात् स्थिति एवं विपाक से मान आदि के क्षय को भी जानता है... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

जैनदर्शन विकासवादी है। वह आत्मा के स्वतन्त्र विकास पर विश्वास करता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से विकास करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। प्रस्तुत सूत्र में इसी विकासश्रेणि का क्रम बताया गया है।

जब साधक क्षपकश्रेणी पर चढ़ता है; तो वह अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यक्त्वमोहनीय; मिथ्यात्वमोहनीय ओर मिश्रमोहनीय इन सात प्रकृतियों को क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। उक्त गुणस्थान से ही उसका विकास आरम्भ होता है, दृष्टि में एक नया परिवर्तन आता है। उसका चिन्तन, मनन अब बाह्याभिमुखी नहीं; किंतु आत्माभिमुख होता है।

इसके बाद वह अप्रत्याख्यानी कषाय, प्रत्याख्यानी कषाय एवं संज्वलन के क्रोध; मान, माया और लोभ का क्रमशः क्षय करता हुआ पांचवें, छठे, सातवें आदि गुणस्थानों को लांघकर तेरहवें गुणस्थान में पहुंचता है और वहां से चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त करके वहां समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय करके और मन, वचन एवं काय का निरोध करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। यद्यपि कुछ साधक एक भव में समस्त कर्मों को क्षय करने में समर्थ नहीं

होते। फिर भी उनका लक्ष्य संपूर्ण कर्म क्षय करने का होता है अतः वे जन्मांतर में भी उसी श्रेणी के क्रम से उस लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं।

इसलिए कहा गया है कि- मोक्षाभिलाषी साधक श्रद्धानिष्ठ होकर संयम मार्ग पर चलता है और जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा के अनुसार संयम साधना में प्रवृत्त होता है। अर्थात् पृथ्वीकायादि ६ काय जीवों के आरम्भ-समारम्भ तथा कषाय से बढ़ने वाले संसार परिभ्रमण को जानकर किसी भी जीव को त्रास एवं भय नहीं देता। वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान जानता है। क्योंकि- दूसरे प्राणी को कष्ट देना अपनी आत्मा को कष्ट देना है, ऐसा जानकर वह भी जीवों को अभयदान देता है।

असंयम सभी जीवों के लीये भयंकर शस्त्र है। क्योंकि- असंयम जीवन में एकरूपता नहीं रहती। अपने वैषयिक भोगोपभोग की प्रमुखता के कारण असंयत-जीव दूसरे जीवों पर समदृष्टि नहीं रख सकता, अतः असंयत जीव अपने विषय-भोगों के लिए द्रव्य एवं भाव शस्त्रों को तीक्ष्ण बनाता रहता है। अस्थि शस्त्र युग से लेकर अणुबम एवं हाईड्रोजन बम तक का इतिहास असंयम की विषाक्त भावना का परिणाम है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया; लोभ एवं राग-द्वेष आदि भाव शस्त्रों में भी असंयतता के कारण से तीव्रता आती रहती है।

संयम अशस्त्र हैं, उसमें द्रव्य एवं भाव दोनों प्रकार के शस्त्रों का अभाव है। साधक समभाव की दृष्टि लेकर आगे बढ़ता है। इसलिए उसमें तरतमता नहीं पाई जाती है। वह शस्त्र से दूर रहता हुआ; सदा मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता रहता है। उसकी संयम-साधना की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। इस प्रकार संयम निष्ठ साधक गुण श्रेणी का विकास करता हुआ अपने अंतिम साध्य को सिद्ध कर लेता है।

साधक कषाय के यथार्थ स्वरूप को जानता है। जिस प्रकार वह क्रोध के स्वरूप एवं परिणाम से परिचित है उसी प्रकार मान के एवं अन्य कषायों के स्वरूप से भी परिचित है। इसी बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १३८ ॥ १-३-४-५

जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिज्जदंसी, जे पिज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी

से मेहावी अभिनिवट्टिज्जा कोहं च माणं च मायं च लोभं च पिज्जं च, दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च। एवं पासंगस्स दंसणं,

उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं निसिद्धा सगडब्धि, किमत्थि ओवाही पासग्गस्स ? न विज्जइ ? नत्थि त्ति बेमि ॥ १३८ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः क्रोधदर्शी सः मानदर्शी, यः मानदर्शी सः माया-दर्शी, यः मायादर्शी सः लोभदर्शी, यः लोभदर्शी सः प्रेमदर्शी, यः प्रेमदर्शी सः दोषदर्शी, यः दोषदर्शी सः मोहदर्शी, यः मोहदर्शी सः गर्भदर्शी, यः गर्भदर्शी सः जन्मदर्शी, यः जन्मदर्शी सः मारदर्शी, यः मारदर्शी सः नरकदर्शी, यः नरकदर्शी सः तिर्यग्-दर्शी, यः तिर्यग्दर्शी सः दुःखदर्शी ।

सः मेधावी अभिनिवर्तयेत् क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च प्रेमं च दोषं च, मोहं च गर्भं च जन्मं च मारं च नरकं च तिर्यञ्चं च दुःखं च । एतत् पश्यकस्य दर्शनम् । उपरतशस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य आदानं निषेध्य स्वकृतभित् । किमस्ति उपाधिः पश्यकस्य ? न विद्यते ? नाऽस्ति इति ब्रवीमि ॥ १३८ ॥

III सूत्रार्थ :

जो क्रोध को देखता है वह मान को देखता है
जो मान को देखता है वह माया को देखता है
जो माया को देखता है वह लोभ को देखता है
जो लोभ को देखता है वह प्रेम को देखता है
जो प्रेम को देखता है वह दोष को देखता है
जो दोष को देखता है वह मोह को देखता है
जो मोह को देखता है वह गर्भ को देखता है
जो गर्भ को देखता है वह जन्म को देखता है
जो जन्म को देखता है वह मरण को देखता है
जो मरण को देखता है वह नरक को देखता है
जो नरक को देखता है वह तिर्यच को देखता है
जो तिर्यच को देखता है वह दुःख को देखता है

वह मेधावी मुनी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, दोष, मोह, गर्भ, जन्म, मरण, नरक, तिर्यच और दुःख को दूर करे... यह पश्यक याने केवलज्ञानी का दर्शन है वे उपरतशस्त्र हैं और पर्यंतकर भी है... आदान का निषेधकर के स्वकृत कर्मों का भेदन करते हैं... क्या पश्यक को उपाधि होती है ? या नहि होती ? ना, पश्यक याने सर्वज्ञ-परमात्मा को उपाधि नहि है...

ऐसा मैं सुधर्मास्वामी हे जंबू ! तुम्हें कहता हूँ ॥ १३८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जो साधु क्रोध को अनर्थकारी एवं त्याग करने योग्य जानता है वह उसका त्याग भी करता है.. अथवा जो क्रोध के स्वरूप को देखकर त्याग करता है वह मान के स्वरूप को भी देखकर त्याग करता है इसी प्रकार माया... लोभ... यावत् दुःख पर्यंत जानीयेगा... इस प्रकार मेधावी मुनी क्रोध मान यावत् दुःख को दूर करे... अपनी मनीषिका के परिहार के लिये शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि- इस उद्देशक की सभी बातों पश्यक याने तीर्थंकर प्रभु के अभिप्राय स्वरूप है वे सर्वथा उपरतशास्त्र हैं और पर्यंतकर भी हैं... तथा वे आदान याने कर्मों के आश्रव का निषेध करके स्वकृत पुराने कर्मों का भेद करते है... क्या पश्यक को उपाधि याने द्रव्य से सुवर्ण आदि तथा भावसे आठ प्रकार के कर्म स्वरूप दो प्रकार की उपाधि होती है ? या नहि ? ना, नहि होती... अर्थात् पश्यक सर्वज्ञ मुनी को दो प्रकार की उपाधि नहि होती... इस प्रकार श्रीमद् महावीर प्रभुजी के चरणारविंद की उपासना करते हुए जो कुछ मैंने सुना है, वह हे जंबू ! मैं सुधर्मास्वामी, तुम्हें कहता हूँ... अर्थात् मैं अपनी मति के विकल्प जनित शिल्प-कलासे नहि कहता हूँ... किंतु श्री महावीर प्रभुजी से जो सुना है वह तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में कषायों के कटु परिणाम को बताया गया है। कषाय हि संसार परिभ्रमण एवं दुःख प्रवाह को बढ़ाने वाले हैं। अतः वह साधु बुद्धिमान है; जो कषायों से निवृत्त हो जाता है। तीर्थंकर भगवान का यही उपदेश है कि- कषायों का क्षय कर के उपाधि रहित बनें... वे परमात्मा असंयम रूप शस्त्र से रहित होते हैं। अतः वे संसार का अन्त करने वाले एवं उपाधि रहित माने गए हैं।

जिस वस्तु को ग्रहण किया जाए; उसे उपाधि कहते हैं। वह दो प्रकार की है-१- द्रव्य उपाधि और २-भाव उपाधि। स्वर्णादि भौतिक साधन सामग्री को द्रव्य उपाधि कहते हैं और अष्ट कर्म को भाव उपाधि कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान में द्रव्यउपाधि तो होती ही नहीं और भाव उपाधि में उन्होंने चार घातिकर्मों का क्षय कर दिया है। एवं अवशिष्ट चार अघाति-कर्म संसार के कारण नहीं बनते। केवल आयु कर्म के रहने तक उनका अस्तित्व मात्र रहता है। इसलिए उन्हें उपाधि रूप नहीं माना गया है। क्योंकि- आयु कर्म के क्षय के साथ शेष तीन कर्मों का भी क्षय करके सर्वज्ञ-प्रभु सिद्ध पद को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार द्रव्य एवं भाव उपाधि संसार परिभ्रमण का कारण है और उसका परित्याग संसार नाश का कारण है। इसलिए साधक को द्रव्य एवं भाव उपाधि से निवृत्त होने का प्रयत्न

करना चाहिए। यही प्रस्तुत अध्ययन का सार है।

‘त्तिबेमि’ की व्याख्या पूर्ववत् समझे।

॥ इति तृतीयाध्ययने चतुर्थः उद्देशकः समाप्तः ॥

॥ इति शीतोष्णीयाभिधं तृतीयमध्ययनं समाप्तम् ॥

५१ ५१ ५१

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधारात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. ९६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



अथ आचाराङ्गसूत्रे प्रथमश्रुतस्कन्धे चतुर्थमध्ययनम्

५ सम्यक्त्वम् ५

तृतीय अध्ययन पूर्ण हुआ, अब चौथे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... और इन दोनों में परस्पर यह संबंध है कि- यहां शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में अन्वय एवं व्यतिरेक से छह जीवनिकाओं को कहते कहते “जीव एवं अजीव” ऐसे दो पदार्थों को कहा था, और जीव के वध में कर्मबंध स्वरूप आश्रव और जीववध की विरति से संवर ऐसे दो और पदार्थ कहे थे... तथा लोकविजय नाम के अध्ययन में लोक जिस कारणों से बद्ध होता है, और जिस कारणों से मुक्त होता है उन कारणों को कहते कहते हमने बंध एवं निर्जरा कहे थे... तथा शीतोष्णीय-अध्ययन में तो “शीतोष्ण स्वरूप परीषहों को सहन करे” ऐसा कहने से फल स्वरूप मोक्ष को कह चूके हैं अतः इन तीन अध्ययनों में सात पदार्थ स्वरूप तत्त्व कहा है... तथा तत्त्वार्थ का श्रद्धान हि तो सम्यग्दर्शन है हि... अतः अब चतुर्थ अध्ययन में सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं...

इस संबंध से आये हुए इस सम्यक्त्व-अध्ययन के चार अनुयोग-द्वारों को कहने में प्रथम उपक्रम द्वार में अर्थाधिकार दो प्रकार से है १. अध्ययनार्थाधिकार और २. उद्देशकार्थाधिकार... उनमें सम्यक्त्व नाम का अध्ययनार्थाधिकार तो हम पहले हि शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में कह चूके हैं... अब दुसरे उद्देशकार्थाधिकार को कहने के लिये निर्युक्तिकार स्वयं हि गाथाओं से कहते हैं...

नि. २१५ - १६

प्रथम उद्देशक में सम्यग्-वाद, सम्यग् याने अविपरीत अर्थात् यथावस्थित वस्तु का स्वरूप कथन... दुसरे उद्देशक में धर्म प्रवादिक परीक्षा... अर्थात् धर्मकथा को कहनेवालों की परीक्षा याने युक्त-अयुक्त की विचारणा... तृतीय उद्देशक में अनवद्य तपश्चर्या का वर्णन... अर्थात् अज्ञानीओं के बालतप स्वरूप तपश्चर्या से कभी भी मोक्ष-फल प्राप्त नहि होता... इत्यादि... चतुर्थ उद्देशक में समास (संक्षेप) वचन से नियमन = संयम...

इस प्रकार प्रथम उद्देशक में सम्यग्दर्शन... दुसरे उद्देशक में सम्यग्ज्ञान, तृतीय उद्देशक में बालतपश्चर्या का निषेध करके सम्यक्-तपश्चर्या... और चौथे उद्देशक में सम्यक्-चारित्र कह है... अर्थात् यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप एवं सम्यक् चारित्र... यह चार मोक्ष के अंग हैं इसलिये इन सम्यग् दर्शन, ज्ञान, तपश्चर्या एवं चारित्र में मुमुक्षु साधु जीवन पर्यंत प्रयत्न करें... यहां नि. गाथा, २१५-१६ का अर्थ पूर्ण हुआ...

अब नामनिष्पन्न निक्षेपके क्रमसे आये हुए सम्यक्त्व पद का निक्षेप कहते हैं...

नि. २१७

नाम सम्यक्त्व, स्थापना सम्यक्त्व, द्रव्य सम्यक्त्व एवं भाव सम्यक्त्व... इस प्रकार सम्यक्त्व के संक्षेप से चार निक्षेप होते हैं...

अब नाम एवं स्थापना सुगम होने से उनको न कहते हुए, द्रव्य एवं भाव सम्यक्त्व को कहते हैं...

नि. २१८

ज्ञशरीर एवं भव्यशरीर से भिन्न तद्व्यतिरिक्त द्रव्य सम्यक्त्व... ऐच्छानुलोमिक याने- इच्छा = चित्त की प्रवृत्ति अर्थात् अभिप्राय और उस को अनुकूल वह ऐच्छानुलोमिक... इच्छाभाव के अनुकूलवाले जो कोई द्रव्य है, उन में कृत आदि उपाधि के भेद से सात प्रकार होते हैं... वे इस प्रकार- कृत, संस्कृत, संयुक्त, प्रयुक्त (उपयुक्त) त्यक्त, भिन्न, छिन्न...

१. कृत याने अपूर्व = नया बनाये हुए रथ आदि... उस के अवयवों का निर्माण करना, वस्तु को अच्छी तरह से करनेवाला और उस के लिये चित्त की स्वस्थता का निर्माण... अथवा तो जिस के लिये किया हो, उस को अच्छे और शीघ्रता से करने के द्वारा अथवा समाधान के हेतु... वह कृतद्रव्यसम्यक्... ॥१॥
२. इसी प्रकार "संस्कृत" में भी जानीयेगा... उसी रथ आदि के भग्न या जीर्ण अवयवों का संस्कार करना वह संस्कृत द्रव्यसम्यक् ॥२॥
३. जिस दो द्रव्यों का संयोग अन्य गुण के आधान के लिये किया जाय, उपमर्दन के लिये नहीं... अथवा उपभोक्ता के मन की प्रीति के लिये, दुध और सक्कर की तरह... वह संयुक्त द्रव्य सम्यक् ॥३॥
४. जो प्रयुक्त किया हुआ द्रव्य लाभ का हेतु होने से आत्मा के समाधान के लिये समर्थ होता है वह प्रयुक्तद्रव्यसम्यक् अथवा उवउत्त याने जो अभ्यवहृत याने भोजन किया हुआ द्रव्य मन के समाधान के लिये समर्थ होता है वह उपयुक्त द्रव्य सम्यक् ॥४॥
५. तथा त्याग कीये हुए भार आदि द्रव्य वह त्यक्तद्रव्यसम्यक् ॥५॥
६. तथा दधि याने दहि के पात्र आदि भिन्न याने तुटने पर कौवे आदि को समाधान जिस से हो, वह भिन्नद्रव्यसम्यक् ॥६॥
७. तथा अधिक मांस आदि के छेदन से जहां समाधि होवे वह छिन्नद्रव्यसम्यक् ॥७॥

यह सातों प्रकार द्रव्य समाधान के कारण होते हैं, अतः वे द्रव्यसम्यक् है... और इस से जो विपरीत है, वह असम्यक् है... अब भाव-सम्यक् कहते हैं...

नि. २१९

भाव सम्यक् के तीन प्रकार है... १. दर्शन, २. ज्ञान, ३. चारित्र... उनमें भी दर्शन एवं चारित्र के तीन प्रकार हैं और ज्ञान के दो प्रकार हैं...

१. औपशमिक सम्यग्दर्शन... जिस जीवात्मा ने तीन पुंज नहि कीये है ऐसे अनादि मिथ्यादृष्टि को यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा देशोन एक कोडाकोडी सागरोपम से अतिरिक्त सभी कर्मों का क्षय करने के बाद अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व की ग्रंथि का भेदन करके, जहां मिथ्यात्व मोहनीय का उदय न हो ऐसे स्वरूपवाला अंतरकरण करके अनिवृत्तिकरण के द्वारा जीव सर्व प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करता है वह है औपशमिक सम्यग्दर्शन... कहा भी है कि- जिस प्रकार वन का दावानल (अग्नि) उखर (रण) भूमी को प्राप्त करके बुझ जाता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय के अभाव में जीव उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है... ॥१॥
२. तथा सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गलों के उपष्टंभ याने सहयोग से होनेवाला आत्मा का सम्यग् अध्ववसाय वह क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन है... ॥२॥
३. तथा दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है... ॥३॥

चारित्र भी उपशमश्रेणी में औपशमिक चारित्र... १. तथा कषायों के क्षयोपशम से क्षायोपशमिक चारित्र... २. तथा चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र... ॥३॥

तथा ज्ञान में भाव सम्यग् दो प्रकार से है... १. क्षायोपशमिक ज्ञान... २. क्षायिक ज्ञान... उनमें चार प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मनःपर्यव ज्ञान आदि चार क्षायोपशमिक ज्ञान है... तथा संपूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होनेवाला केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है...

इस प्रकार त्रिविध भाव सम्यक्त्व कहने पर वादी प्रश्न करता है कि- जो दर्शन ज्ञान एवं चारित्र तीनों के साथ सम्यग् का कथन संभवित है तो फिर एक दर्शन के साथ हि सम्यग् का कथन क्यों रूढ हुआ है ? कि- जो आप इस अध्ययन में कह रहे हो... उत्तर- दर्शन के होने पर हि अन्य दो ज्ञान एवं चारित्रका होना होता है... क्यों कि- मिथ्यादृष्टि को ज्ञान एवं चारित्र नहि होतें...

आबालवृद्ध सभी के बोध के लिये एवं यहां प्रस्तुत अध्ययन में सम्यक्त्व की प्रधानता कहने के लिये अंध एवं चक्षुवाले दो राजकुमार का दृष्टांत कहतें हैं...

उदयसेन राजा के वीरसेन एवं सुरसेन नाम के दो राजकुमार थे, उनमें वीरसेन आंखों से अंध है अतः उस को राजा ने गांधर्व आदि कलाओं का अभ्यास करवाया... और दुसरे सुरसेन राजकुमार को धनुर्विद्या आदि सभी कलाओं का अभ्यास करवाया अतः वह अधिक

लोक प्रशंसा को पाया... यह बात जानकर वीरसेन राजकुमार ने राजा को कहा कि- मैं भी धनुर्विद्या का अभ्यास करूँ... तब राजा ने भी उसके आग्रह को जानकर धनुर्विद्या के अभ्यास की अनुमति दी... अब वह वीरसेन राजकुमार उपाध्याय के उपदेश से और अपनी प्रज्ञा की तीक्ष्णता से तथा अभ्यास विशेष से शब्दवेधी धनुर्धर हुआ... अब यौवन वय को पाये हुए तथा अपने अभ्यस्त किये हुए धनुर्वेद विज्ञान की क्रिया से तथा आंख है या नहि है इसकी परवाह न करनेवाले उस राजकुमार ने अपनी शब्दवेधित्व कला के स्ताभिमान से एक बार जब शत्रु राजा के साथ युद्ध का प्रसंग उपस्थित हुआ तब वीरसेन ने राजा के पास युद्ध के लिये प्रार्थना की... राजा ने भी वीरसेन राजकुमार की धनुर्विद्या तथा आत्म विश्वास देखकर युद्ध में जाने के लिये अनुमति दी... अब युद्ध-मैदान में वीरसेन राजकुमार ने शब्दानुवेधी धनुर्विद्या से जब शत्रु-सेनाका विनाश किया... इस समय शत्रुराजा के सैनिकों ने वीरसेन राजकुमार के अंधपने को जानकर मौनपने को धारण करके उस वीरसेन कुमार को पकड़कर बंधन में किया...

अब सुरसेन राजकुमार ने जब यह बात जानी तब राजा को कहकर तीक्ष्ण सेंकड़ो बाणों की वृष्टि करके शत्रुसेना से वीरसेन को बंधन मुक्त किया... इस प्रकार विद्या-ज्ञान एवं क्रियाका अभ्यास होने पर भी आंखों के अभाव में वीरसेन राजकुमार अभीष्ट कार्य की सिद्धि में सफल न हुए...

नि. २२०

यह बात अब निर्युक्तिकार उपसंहार करते हुए कहते हैं... क्रियानुष्ठान करनेवाला भी तथा स्वजन धन समृद्धि एवं सुखोपभोग का त्याग करनेवाला भी तथा दुःख-कष्टों को छाती देनेवाला भी अंध पुरुष शत्रुसेना को जीत नहि शकता...

इस प्रकार दृष्टांत कहकर दृष्टांत का अर्थघटन करते हैं...

नि. २२१

निवृत्ति याने पांच यम एवं पांच नियम आदि को करनेवाला भी, तथा स्वजन, धन, एवं भोगोपभोग का त्याग करनेवाला भी, तथा पंचाग्नि तपश्चर्या आदि से दुःख-कष्टोंको उरः याने छाती देनेवाला भी मिथ्यादृष्टि जीव सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहि होता... अर्थात् सम्यग्दर्शन के अभाव में अंधकुमार की तरह अपने कार्य की सिद्धि में समर्थ नहि होते...

हां ! यदि ऐसा है, तो अब क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर आगे की गाथा में कहते हैं...

नि. २२२

मोक्षमार्ग के मूल स्वरूप सम्यग्दर्शन के बिना कर्मों का क्षय संभव हि नहि है, इसलिये

कर्मसेना को जीतने की इच्छावालों को सम्यग्दर्शन में प्रयत्न करना चाहिये... क्योंकि-सम्यग्दृष्टि जीव के हि तपश्चर्या, ज्ञान, चारित्र आदि सफल होते हैं... अतः सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन में हि प्रयत्न करना चाहिये...

अब प्रकारांतर याने अन्य प्रकार से कहते हैं कि- सम्यग्दृष्टि को हि आगे के गुणस्थानों में होनेवाले गुणों का आविर्भाव होता है...

नि. २२३

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय में क्रमशः असंख्येयगुण अधिक निर्जरावाली श्रेणीयां होती हैं... जैसे कि- देशोन एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थितिवाले ग्रंथि-प्रदेश में रहे हुए मिथ्यादृष्टि जीव कर्मों की निर्जरा की दृष्टि से वे परस्पर तुल्य हैं किंतु धर्म की संज्ञा (इच्छा) जिन्हें उत्पन्न हुई है, वे उन से असंख्येयगुण अधिक निर्जरावाले हैं... तथा धर्म की पृच्छा के इच्छावाले होते हुए जो गुरु के पास जाने की इच्छा करते हैं, वे उन से भी असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले हैं... तथा जो गुरु के अभिमुख होकर धर्म की पृच्छा करते हैं वे उन से भी असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले हैं... तथा धर्म को प्राप्त करने की इच्छावाले उनसे भी असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं... तथा क्रियाविष्ट जो प्राणी धर्म का स्वाकार करता है वे उन से भी असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं... तथा उनसे भी असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले पूर्व प्रतिपन्न होते हैं... इत्यादि सात स्थान सम्यक्त्व की उत्पत्ति के संबंधित हैं... ॥ १ ॥

उसके बाद देशविरति को प्राप्त करने की इच्छावाले, प्राप्त करनेवाले एवं पूर्व प्रतिपन्न यह तीनों भी उत्तरोत्तर असंख्यगुण असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं... ॥ २ ॥ तथा उस के बाद सर्वविरति को प्राप्त करने की इच्छावाले, प्राप्त करनेवाले एवं पूर्व प्रतिपन्न भी उत्तरोत्तर असंख्यगुण; असंख्यगुण अधिक अधिक निर्जरावाले होते हैं... ॥ ३ ॥ तथा पूर्व प्रतिपन्न सर्वविरतिवालों से अनंतानुबंधी कषायों को क्षय करने की इच्छावाले, क्षय करनेवाले एवं क्षय कीये हुए भी उत्तरोत्तर असंख्यगुण असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं... ॥ ४ ॥ तथा यही बात दर्शन मोहनीय के तीनों भेद में भी अभिमुख, क्रियारूढ एवं अपवर्ग याने उस क्रिया को पूर्ण करनेवालों तीनों में भी जानीयेगा... ॥ ५ ॥

तथा क्षीण दर्शन सप्तकवालों से भी जो क्षीणसप्तक के साथ उपशम श्रेणी में आरूढ हुआ है, वे असंख्यगुण निर्जरावाले हैं... ॥ ६ ॥ तथा उपशांत मोह गुणस्थानकवाले उन से भी असंख्यगुण निर्जरावाले हैं... ॥ ७ ॥ तथा चारित्रमोहनीय के क्षपक (क्षपक श्रेणीवाले) उन से भी असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं... ॥ ८ ॥ तथा क्षीणमोह गुणस्थानकवाले उन से भी असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं... यहां भी अभिमुख, क्रियारूढ एवं अपवर्ग याने पूर्ण क्रियावाले ऐसे तीन तीन भेद यथासंभव जानीयेगा... ॥ ९ ॥ तथा उनसे भी भवस्थ केवलज्ञानी असंख्यगुण निर्जरावाले होते हैं... ॥ १० ॥ तथा उनसे भी शैलेशी अवस्थावाले अयोगी केवली असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं... ॥ ११ ॥

ग्रंथि-प्रदेशमें रहे हुए देशोन एक कोडाकोडी सागरोपम की स्थितिवाले मिथ्यादृष्टि

जीवों से...

१. धर्म-पृच्छा के उत्पन्न हुए संज्ञावाले
२. धर्म-पृच्छा के लिये गुरु के पास जाने की इच्छावाले
३. धर्म की पृच्छा करनेवाले
४. धर्मानुष्ठान को स्वीकारने की इच्छावाले
५. धर्मानुष्ठान को स्वीकारनेवाले
६. धर्मानुष्ठान का स्वीकार कीये हुए
- १ ७. धर्मानुष्ठान को पूर्व-प्रतिपन्न कीये हुए...
८. देशविरति को प्राप्त करने की इच्छावाले
९. देशविरति को प्राप्त करनेवाले
- २ १०. देशविरति को प्राप्त कीये हुए
११. सर्वविरति को प्राप्त करने की इच्छावाले
१२. सर्वविरति को प्राप्त करनेवाले
- ३ १३. सर्वविरति को प्राप्त कीये हुए...
१४. अनंतानुबंधी कषायों का क्षय करने की इच्छावाले
१५. अनंतानुबंधी कषायों का क्षय करनेवाले
- ४ १६. अनंतानुबंधी कषायों का क्षय कीये हुए
१७. दर्शनमोहनीय त्रिक का क्षय करने की इच्छावाले
१८. दर्शनमोहनीय त्रिक का क्षय करनेवाले
- ५ १९. दर्शनमोहनीय त्रिक का क्षय कीये हुए
२०. उपशम श्रेणी में चढने की इच्छावाले
२१. उपशम श्रेणी में चढ रहे हुए
- ६ २२. उपशम श्रेणी में चढे हुए
२३. उपशांत मोह होने की इच्छावाले
२४. उपशांत मोह हो रहे हुए
- ७ २५. उपशांत मोह गुणस्थानक प्राप्त कीये हुए
२६. क्षपक श्रेणी में चढने की इच्छावाले
२७. क्षपक श्रेणी में चढनेवाले
- ८ २८. क्षपक श्रेणी में चढे हुए
२९. क्षीण मोह गुणस्थान प्राप्त करने की इच्छावाले
३०. क्षीण मोह गुणस्थान प्राप्त करनेवाले
- ९ ३१. क्षीण मोह गुणस्थान प्राप्त कीये हुए
- १० ३२. भवस्थ केवलज्ञानी
- ११ ३३. अयोगी केवलज्ञानी

यह सभी उत्तरोत्तर असंख्यगुण असंख्यगुण अधिक निर्जरावाले होते हैं...

इस प्रकार कर्मों की निर्जरा के लिये असंख्य लोकाकाश के प्रदेश प्रमाण बनाये हुए संयमस्थानों के समूह से बनाइ हुई श्रेणीयां उत्तरोत्तर असंख्यगुण बढ़ते हुए अध्यवसायों के कंडकों की प्राप्ति से होती है और वे असंख्यगुण असंख्यगुण अधिक निर्जरावाली हैं... और काल की दृष्टि से विपरीत है... अर्थात् अयोगी केवलज्ञानी से लेकर प्रतिलोम याने उतरते क्रम से संख्येय गुण काल की श्रेणी से जानीयेगा...

यहां सारांश यह है कि- अयोगी केवलज्ञानी जितने समय में जितने कर्मों का क्षय करते हैं, उतने ही कर्मों का क्षय करने में सयोगी केवलज्ञानी को संख्येयगुण अधिक काल लगता है... इस प्रकार प्रतिलोभ प्रकार से धर्म की पृच्छा करने की इच्छावाले पर्यंत जानीयेगा... इस प्रकार यहां कहे गये नीति-नियम के प्रकार से सम्यग्दर्शनवालों के हि तपश्चर्या, ज्ञान एवं चारित्र सफल हैं...

हां ! यदि कोईक उपाधि याने पौद्गलिक भोगसुखों की कामना के साथ तपश्चर्यादि करते हैं तब वे सफल नहीं होते... अतः वे उपाधि कौन कौन है ? वह अब कहते हैं...

नि. २२५

आहार, उपाधि याने उपकरण, पूजा और ऋद्धि याने आमर्ष आदि औषधियां आदि की प्राप्ति के निमित्त से जो व्यक्ति ज्ञान एवं चारित्र क्रियाएं करते हैं तथा रसगारव ऋद्धिगारव एवं सातागारव आदि में प्रतिबद्ध (आसक्त) होकर भी जो धर्मक्रियाएं करते हैं वे सभी कृत्रिम हैं अर्थात् वे धर्मक्रियाएं सहज भाववाली परमार्थ स्वरूप नहि हैं...

जिस प्रकार आहार आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये कीये हुए ज्ञान एवं चारित्र के धर्मानुष्ठान कृत्रिम है अतः सफल नहीं होते इस प्रकार बाह्य एवं अभ्यंतर बारह प्रकार की तपश्चर्या में भी सफलत्व एवं निष्फलत्व को जानीयेगा...

तथा कृत्रिम धर्म-अनुष्ठानवालों में श्रमणभाव नहि होता, और जो श्रमण नहि है, उनके धर्मानुष्ठान गुणवाले नहि होते... अतः उपाधि के अभाववाले सम्यग् दर्शनवालों के हि तपश्चर्या, ज्ञान एवं चारित्र सफल होते हैं यह यहां सारांश है... अतः सम्यग्दर्शन में हि यत्न करना चाहिये... तथा सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ के श्रद्धान स्वरूप हैं... और जीवादि नव तत्त्व का स्वरूप तीर्थकरों ने कहे हुए हैं... वे तीर्थकर प्रभुजी, सभी घातिकर्म स्वरूप कलंकों का आत्मा में से दूर होने से प्रगट हुए सकल पदार्थों के तीनों काल के भाव-पर्यायों को ग्रहण करनेवाले केवलज्ञान से युक्त होते हैं... यह बात अब सूत्रानुगम से आये हुए सूत्र से हि कहते हैं...

॥ इति चतुर्थाध्ययने उपक्रम एवं निक्षेप ॥

ॐ ॐ ॐ

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ४ उद्देशक - १

ॐ सम्यग्दर्शनम् ॐ

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १३९ ॥ १-४-१-१

से बेमि, जे अईया जे य पडुपण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो, ते सब्बे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवित्ति, एवं परूवित्ति - सब्बे पाणा, सब्बे भूया, सब्बे जीवा, सब्बे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा न परिधिच्चव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्वेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे निइए, सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तं जहा-उट्टिएसु वा अनुट्टिएसु वा, उवट्टिएसु वा अणुवट्टिएसु वा, उवरयदंडेसु वा, अणुवरय दंडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा, तच्चं चेयं तहा चेयं अस्सिं चेयं पवुच्चइ ॥ १३९ ॥

II संस्कृत-छाया :

सोऽहं ब्रवीमि- ये अतीताः, ये च प्रत्युत्पन्नाः ये च आगमिष्यन्ति अर्हन्तः भगवन्तः, ते सर्वे एवमाचक्षन्ते, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति- सर्वे प्राणिनः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः, न हन्तव्याः, न आज्ञापयितव्याः, न परिग्राह्याः, न परितापयितव्याः न अपद्रावयितव्याः। एषः धर्मः शुद्धः नित्यः शाश्वतः, समेत्य लोकं खेदज्ञैः प्रवेदितः। तद् यथा- उत्थितेषु वा अनुत्थितेषु वा, उपस्थितेषु वा अनुपस्थितेषु वा, उपरतदण्डेषु वा अनुपरतदण्डेषु वा, सोपधिकेषु वा अनुपधिकेषु वा, संयोगरतेषु वा असंयोगरतेषु वा, तथ्यं चैतत्, तथा चैतत्, अस्मिन् एव प्रोच्यते ॥ १३९ ॥

III सूत्रार्थ :

वह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ कि- भूतकाल में जो हो गये, वर्तमानकाल में जो भी हैं, और भविष्यत्काल में जो भी होंगे; वे सभी अरिहंत भगवंत ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते हैं, ऐसा समझते हैं और ऐसा प्ररूपण करते हैं कि- सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव एवं सभी सत्त्वको न तो मारना चाहिये, न आदेश करना चाहिये, न तो अपने वश में रखने चाहिये, न तो परिताप देना चाहिये, और न तो प्राणों के त्याग स्वरूप वध करना चाहिये... यह धर्म

शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है और खेदज्ञ याने परोपकारक तीर्थकर प्रभुजी ने कहा है... तथा उत्थित या अनुत्थित, उपस्थित या अनुपस्थित, उपरतदंडवाले या अनुपरतदंडवाले, उपधिवाले या बिना उपधिवाले, संयोगरक्त या असंयोग में रक्त, इन सभी को यह धर्म कहा है... यह धर्म तथ्य है, और तथास्वरूप है... यह धर्म इस आगमसूत्र में विशेष प्रकार से कहा है ॥ १३९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

गौतमस्वामीजी (सुधर्मस्वामीजी) कहते हैं कि- तीर्थकर प्रभुश्री महावीर स्वामीजी से तत्त्व जानकर श्रद्धेय वचनवाला ऐसा मैं हे जंबू ! तुम्हें कहता हूं... अथवा शौद्धोदनि के शिष्य याने बुद्ध को मान्य क्षणिकवाद के निराश के लिये कहते हैं कि- जिन्होंने ने पूर्वकाल में श्री वीरप्रभुजी के मुख से तत्त्व का स्वरूप सुना है वह मैं- सुधर्मस्वामी हे जंबू ! तुम्हें कहता हूं... अथवा तो जिसकी श्रद्धा करने पर सम्यक्त्व होता है, उस तत्त्व को मैं तुम्हें कहता हूं... जैसे कि- भूतकाल में जो तीर्थकर हो चुके हैं, तथा वर्तमानकाल में जो सीमंधरस्वामीजी आदि विद्यमान हैं, तथा भविष्यत्काल में जो भी तीर्थकर प्रभुजी होंगे... अर्थात् भूतकाल अनंत पुद्गल परावर्त स्वरूप है अतः अतीतकाल में अनंत तीर्थकर हो चुके हैं... तथा भविष्यत्काल भी अनंतानंत पुद्गल परावर्त स्वरूप है, अतः अनागतकाल में भी अनंतानंत तीर्थकर होंगे... तथा वर्तमानकाल में प्रज्ञापक की अपेक्षा से समयक्षेत्र स्वरूप अढी द्वीप में जघन्य से बीस और उत्कृष्ट पद से एकसो सित्तर (१७०) तीर्थकर होते हैं...

जैसे कि- पांच महाविदेह क्षेत्र में बत्तीस बत्तीस विजय (क्षेत्र) हैं अतः बत्तीस बत्तीस तीर्थकर प्रभुजी और पांच भरत क्षेत्र में एक एक तथा पांच ऐरावत क्षेत्र में भी एक एक, अतः $३२ \times ५ = १६० + ५ + ५ = १७०$ तीर्थकर... तथा पांच महाविदेह क्षेत्र में सीता एवं सीतोदा महानदी के दोनों तट याने किनारे पर एक एक, अतः एक महाविदेह में चार तीर्थकर... अब पांच महाविदेह में चार चार अतः $५ \times ४ = २०$ तीर्थकर... तथा भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में एकांत सुषम आदि काल में तीर्थकरों का अभाव होता है...

कितनेक आचार्य म. ऐसा कहते हैं कि- मेरु पर्वत से पूर्व एवं अपर याने पश्चिम दिशा के विदेह क्षेत्र में एक एक तीर्थकर होते हैं, अतः एक महाविदेह में दो तीर्थकर हो तब $५ \times २ = १०$ तीर्थकर जघन्य पद से होते हैं...

अन्यत्र भी कहा है कि- अढी द्वीप प्रमाण समयक्षेत्र में उत्कृष्ट से एकसो सित्तर (१७०) एवं जघन्य पद से दश (१०) तीर्थकर होते हैं तथा पहले जंबूद्वीप में चौतीस (३४) तीर्थकर दुसरे धातकीखंड में अडसठ (६८) तीर्थकर एवं तीसरे आधे पुष्कर द्वीप में भी ६८ तीर्थकर होते हैं... इस प्रकार उत्कृष्ट पदसे १७० तीर्थकर होते हैं...

तथा पूजा एवं सत्कार आदि के योग्य जो हैं, वे अरिहंत... तथा समृद्धि ऐश्वर्य आदि से युक्त जो हैं, वे भगवंत... अर्थात् ऐसे सभी अरिहंत भगवंत अन्य जीवों ने किये हुए प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- यद्यपि यहां सूत्र में वर्तमानकाल का प्रयोग किया है तो भी उपलक्षण से भूतकाल में कहे है एवं भविष्यत्काल में कहेंगे... ऐसा समझीयेगा...

सामान्य दृष्टिकोण से देव एवं मनुष्यों की पर्षदा में सभी जीवों को अपनी अपनी भाषा में समझ में आवे इस प्रकार अर्धभागधी भाषा से कहते हैं... तथा अंतेवासी शिष्यों के जीव अजीव आश्रव बंध संवर निर्जरा एवं मोक्ष स्वरूप पदार्थों के संशयों के दूर करनेके लिये विशेष प्रकारसे कहते हैं...

सम्यग् दर्शन ज्ञान एवं चारित्र तीनों मीलकर मोक्षमार्ग होता है... तथा मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय एवं योग कर्मबंध के हेतु हैं तथा स्व द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव की अपेक्षा से पदार्थ सत् है तथा पर द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव से पदार्थ असत् होता है... और प्रत्येक पदार्थ सापेक्ष-दृष्टि से सामान्य एवं विशेष दोनों स्वरूपवाला होता है इत्यादि अनेक बातें कहते थे, कहते हैं, और कहेंगे... अथवा यहां आचक्षते, भाषन्ते, प्रज्ञापयन्ति एवं प्ररूपयन्ति यह सभी एकार्थक हि. है...

वे तीर्थकर अरिहंत भगवंत ऐसा कहते हैं कि- सभी पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति तथा बेइंद्रिय-तेइंद्रिय-चउरिंद्रिय-पंचेंद्रिय आदि प्राणी... क्योंकि- यह सभी जीव इंद्रिय-बल-उच्छ्वासनिश्वास तथा आयुष्य स्वरूप प्राणों को धारण करते हैं; अतः उन्हें यहां वे प्राण शब्द से ग्रहण किया है... तथा सभी “हैं” “होएंगे” तथा “थे” उन्हें सूत्र में “भूत” कहते हैं... और वे जीवों के चउदह समूह में विभाजित किये गये है... तथा “जी रहें हैं, जी रहे थे और जी रहे होंगे” ऐसे तीनों काल के सभी नारक, तिर्यच, मनुष्य एवं देव स्वरूप चारों गति के जीव... तथा सभी सत्त्व याने अपने हि कीये हुए साता एवं असाता के उदय से होनेवाले सुख एवं दुःख का अनुभव करनेवाले सभी सत्त्व (जीव)... अथवा यह चारों शब्द एकार्थक हि हैं... तत्त्व के भेद-पर्यायों से यहां ऐसा कहा गया है...

यह सभी प्राणी, भूत, जीव, एवं सत्त्व अर्थात् सभी प्राणीओं को दंड-चाबुक आदि से न मारें तथा प्रसह्य याने बलात्कार या जोर जुलम से हुकम करके आदेश न दें... तथा नोकर-चाकर-दास-दासी आदि का ममत्व के साथ परिग्रह न करें तथा उन्हें परिताप न दें तथा शारीरिक एवं मानसिक पीडा उत्पन्न करके प्राण त्याग (मरण) हो ऐसा अपद्रावण न करें... ऐसे स्वरूपवाला कहा गया यह धर्म हि दुर्गति के द्वारा पर अर्गला के समान है तथा सुगति के मार्ग में सोपान (सीडी) के समान है...

धर्म पुरुषार्थ की प्रधानता दीखाते हुए उस धर्म के विशेषण कहते हैं... वे इस प्रकार- शुद्धः याने पाप के अनुबंध से रहित... अर्थात् शाक्य एवं धिग्जाति याने क्षुद्र ब्राह्मणकी तरह एकेंद्रिय एवं पंचेंद्रिय जीवों के वध की अनुमति स्वरूप कलंकवाला न हो... तथा नित्य याने अविनाशी... क्योंकि- पांच महाविदेह क्षेत्र में सदा धर्म होता हि है... तथा शाश्वत याने शाश्वत गति ऐसी मोक्षगति का कारण होनेसे शाश्वत... अथवा नित्य पने के कारण से हि शाश्वत... अर्थात् भव्यत्व की तरह नित्य होने से सर्वथा अभाव स्वरूप नित्य नहि है... किंतु सद्भाव स्वरूप नित्य है... (जैसे कि- घटाभाव याने घट का सर्वथा न होना... यहां सारांश यह है कि- वस्तु के न होने में भी नित्य विशेषण होता है) किंतु यह धर्म सद्भूत ऐसा शाश्वत नित्य है... तीनों काल में रहनेवाला है... तथा इस लोक को दुःख-समुद्र में डूबा हुआ देख करके, उनके उद्धार के लिये खेदज्ञ याने जीवों के दुःखों को जाननेवाले तीर्थंकर प्रभुजी ने यह धर्म कहा है... इस बात से श्री गौतमस्वामीजी ने अपनी मनीषिका का परिहार किया है एवं शिष्य की मति में धर्म की स्थिरता-श्रद्धा प्राप्त करवाइ है...

इस सूत्र में कहे गये अर्थ को हि निर्युक्तिकार महर्षि सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति की दो गाथाओं से कहते हैं...

अतीतकाल में जो तीर्थंकर हो गये, तथा वर्तमानकाल में जो भी जिनवर विद्यमान हैं तथा भविष्यत्काल में भी जो भी तीर्थंकर होंगे... वे सभी अहिंसा का हि उपदेश देंगे, देते हैं, ओर देंगे... कि- पृथ्वीकाय आदि छ जीविकाय का वध न करें, अन्य से वध न करावें, तथा वध करनेवाले अन्य का अनुमोदन भी न करें... इस प्रकार यहां सम्यक्त्व अध्ययन की यह निर्युक्ति है...

तीर्थंकर परमात्मा परोपकारी होने से उनका उपदेश स्वभाव से हि सूर्य के प्रकाश की तरह चारों ओर फैलता है... अर्थात् लोग जगते हैं या नहि इत्यादि विशेष की अपेक्षा रखे बिना हि अपने शाश्वत नियमानुसार हि परमात्मा प्रवृत्त होते है... वह इस प्रकार- उत्थित याने धर्मानुष्ठान के लिये ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र में उद्यमवाले हो... या उनसे विपरीत अनुत्थित याने धर्मानुष्ठान में उद्यम नहि करनेवाले ऐसे सभी जीवों के लिये सर्वज्ञ त्रिलोकस्वामी परमात्मा ने धर्म कहा है... यह बात सभी जगह जानीयेगा...

अथवा तो द्रव्य से उत्थित याने खड़े हुए तथा अनुत्थित याने बैठे हुए... अर्थात् धर्म पुरुषार्थ के लिये उत्थित ऐसे ग्यारह गणधरों को श्री वर्धमानस्वामीजी ने धर्म कहा... तथा उपस्थित याने धर्म को सुनने के लिये या स्वीकारने के लिये तत्पर गणधरों के जीव... तथा अनुपस्थित याने इससे विपरीत अर्थात् धर्म को नहि सुननेवाले एवं नहि स्वीकारनेवाले अन्य लोग...

प्रश्न- उपस्थित ऐसे चिलातीपुत्र आदि को कही गइ धर्मकथा युक्तियुक्त सफल हि है; किंतु जो लोग अनुपस्थित हैं, उनको कहने से क्या फल ?

उत्तर- अनुपस्थित ऐसे भी इन्द्रनाग आदि लोगों में विचित्र कर्मपरिणाम का क्षयोपशम होने से धर्मोपदेश सफल हि है...

तथा प्राणीओं को अथवा अपने खुद आत्मा को हि जो दंड दे, वह दंड... और वह मन वचन एवं काया स्वरूप त्रिविध है... ऐसे त्रिविध दंड से जो लोग उपरत याने निवृत्त है; वे उपरतदंडवाले और जो ऐसे नहि है; वे अनुपरतदंडवाले... इन दोनों में से जो प्राणी उपरतदंडवाले हैं; उन्हें उस में स्थिरता का गुण प्राप्त हो इसलिये उपदेश है... तथा जो प्राणी अनुपरतदंडवाले हैं, वे उपरतदंडवाले हो, इसके लिये उन्हे भी यह उपदेश है...

उपधि याने जिसका संग्रह हो शके वह... उस उपधि के द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार हैं... द्रव्य से उपधि सुवर्ण आदि तथा भाव से उपधि माया (कपट) अतः जो प्राणी उपधि के साथ हैं वे सोपधिक, तथा जो प्राणी उपधि से रहित हैं वे अनुपधिक हैं तथा संयोग याने पुत्र, स्त्री, मित्र आदि से होनेवाला संयोग... ऐसे संयोग में जो प्राणी रत हैं वे संयोगरत... तथा जो प्राणी इनसे विपरीत हैं, वे असंयोगरत हैं... उन दोनों प्रकार के जीवों को परमात्मा ने धर्म का उपदेश दीया है...

वह धर्म तथ्य है, अर्थात् सत्य है... तथ्यता याने परमात्मा ने वस्तु का स्वरूप जैसा कहा है वैसे हि वे वस्तु-पदार्थ हैं... तथ्यता वचन में होती है, अतः वाच्य पदार्थ का स्वरूप कहनेवाला धर्म तथ्य हि है... जैसे कि- परमात्माने कहा कि- सभी प्राणीओं को मारना नहि चाहिये... इत्यादि इस प्रकार सम्यग्दर्शन स्वरूप श्रद्धा करनी चाहिये... इत्यादि यह बात मोक्षमार्ग को बतानेवाले तथा सभी दंभ-कपटसे रहित ऐसे जिनेश्वर परमात्मा प्रवचन-देशना में कहते हैं...

किंतु अन्य कुमत के शास्त्रों में कहे गये परस्पर (आगे-पीछे) बाधक विधान... जैसे कि- सभी जीवों को मारना नहि चाहिये ऐसा एक जगह कहकर अन्य जगह कहते हैं कि- यज्ञ में पशु का वध हो तो उस में कोई दोष नहि है इत्यादि... पूर्वोत्तर बाधकता जिनप्रवचन में नहि है...

इस प्रकार यहां सम्यक्त्व का स्वरूप कहकर अब उस सम्यक्त्व की प्राप्ति होने पर जो करना चाहिये वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है-सम्यक्त्व। तत्त्वार्थ की श्रद्धा करने को सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यक्त्व-यथार्थ श्रद्धा का महत्त्व बताते हुए निर्युक्तिकार ने कहा है कि- प्रयत्न करने पर भी अन्धा व्यक्ति शत्रु पर विजय नहीं पा सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व संपन्न व्यक्ति धन-वैभव एवं परिजनों का त्याग करके, व्यवहार से निवृत्ति मार्ग को स्वीकार करके तथा तप एवं कायक्लेश आदि अनेक कष्ट उठाकर भी वह राग-द्वेष स्वरूप शत्रु को परास्त नहीं कर सकता। अतः कर्म शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए श्रद्धा सम्पन्न होना आवश्यक है।

श्रद्धा युक्त व्यक्ति के ही ज्ञान, तप और चारित्र सफल होते हैं, अर्थात् मोक्ष के कारणभूत होते हैं। और सम्यक्त्व को स्पर्श करने के अनन्तर ही क्रमशः उन्नति करके तीर्थंकर आदि पद की प्राप्ति का भी सम्भव है। इसलिए जैनदर्शन में सम्यक्त्व का महत्त्व पूर्ण स्थान है। हम यों भी कह सकते हैं कि- सम्यक्त्व मोक्ष साधना का मूल कारण है। इसी कारण आगमों में मनुष्यत्व, शास्त्र श्रवण, संयम परिपालन आदि को दुर्लभ कहा है, परन्तु श्रद्धा को परम दुर्लभ कहा है। क्योंकि- श्रद्धा ही मोक्ष साधना का प्राण है, और श्रद्धा-सम्यक्त्व ही संयम-जीवन का आत्मा है।

प्रश्न हो सकता है कि- किस बात पर श्रद्धा की जाए ? कौन से तत्त्वों पर विश्वास रखा जाए ? प्रस्तुत अध्ययन में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है। इसी अध्ययन के प्रथम उद्देशक के पहले सूत्र में मोक्ष साधना के मूल मंत्र, श्रद्धा रखने के तत्त्व एवं जैनदर्शन के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है।

जैन धर्म के मूल उद्देश्य को समझने के लिए प्रस्तुत सूत्र महत्त्वपूर्ण है। अहिंसा की निष्ठा का इससे अधिक वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इसमें बताया गया है कि- अतीत, अनागत एवं वर्तमान तीनों काल में रहने वाले समस्त तीर्थंकरों का यही उपदेश रहा है कि- किसी भी प्राणी, भूत, जीव एवं सत्त्व की हत्या नहीं करनी चाहिए, उन्हें पीड़ा और सन्ताप नहीं देना चाहिए यह यहां तत्त्व है... तथा यह ही धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। इसके आचरण से जीव दुर्गति के द्वार को स्थगित करके सुगति या मोक्ष की ओर बढ़ता है, आत्म कल्याण के पथ पर अग्रेसर होता है। इसलिए वृत्तिकार ने अहिंसा की इस महासाधना को दुर्गति के लिए अर्गला एवं सुगति के लिए सोपान रूप बताया है।

यह अहिंसा धर्म सर्व प्राणी जगत के लिए हितकर है; कल्याण रूप है। इससे समस्त जीवों को शांति मिलती है, सबको आत्म विकास का सुअवसर मिलता है, इसलिए समस्त प्राणियों को यह उपदेश देना चाहिए, भले ही; वे सुनने के इच्छुक हों या न हों, सुनने के लिए उपस्थित हों या न हों, मन, वचन, काय से संवृत्त हों या न हों; सांसारिक उपाधि से

मुक्त हों यां न हों; धन-वैभव एवं परिवार में अनासक्त हों या न हों; अथवा हम संक्षेप में यह कह सकते हैं कि- पापी एवं धर्मी सभी व्यक्तियों को यह अहिंसा का उपदेश देना चाहिए।

अहिंसा का मार्ग सभीके लिए समान रूप से खुला है। मोक्ष साधना के क्षेत्र में धर्मी-अधर्मी का कोई भेद नहीं है। जीवन की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता बीते हुए जीवन से नहीं नापी जाती। किंतु वर्तमान एवं भविष्य के जीवन से नापी जाती है; अतः जब साधक जागृत होता है; संयम एवं अहिंसा के पथ पर बढ़ता है; तभी से उसके जीवन का विकास आरम्भ हो जाता है और वह विश्व के लिए वन्दनीय एवं पूजनीय बन जाता है; अतः सभी प्राणियों को अहिंसा धर्म का समान भाव से उपदेश देना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- तीनों काल में होने वाले सभी तीर्थंकर इसी अहिंसा धर्म का उपदेश देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि- धर्म अनादि-अनन्त है। महाविदेह क्षेत्र में हर समय तीर्थंकरों का शासन रहता है। अतः कर्मभूमि में धर्म की सरिता सदा बहती रहती है और धर्म का आधार अहिंसा है। क्योंकि- अन्य व्रत; नियम एवं मोक्ष साधना इसी अहिंसा आधार पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित होती है अतः अहिंसा से प्रत्येक प्राणी को शांति मिलती है। साधक के मन में भी शांति का सागर लहराता रहता है। मन में संकल्प-विकल्प एवं कलुषित को पनपने का अवसर ही नहीं मिलता। इस कारण अहिंसा को धर्म का प्राण कहा गया है और धर्म अनादि काल से चला आ रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- प्रत्येक काल में होने वाले तीर्थंकर सर्व क्षेमकरी अहिंसा का उपदेश देते हैं।

अतः साधक को अहिंसा धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिए। श्रद्धा के बाद वह क्या करे ? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १४० ॥ १-४-१-२

तं आइत्तु न निहे न निक्खिंवे, जाणित्तु धम्मं जहा तथा, दिट्ठेहिं निब्बेयं गच्छिज्जा, नो लोगस्स एसणं चरे ॥ १४० ॥

II संस्कृत-छाया :

तत् आदाय न गोपयेत् न निक्षिपेत्, ज्ञात्वा धर्मं यथा तथा, दृष्टैः निर्वेदं गच्छेत् ।
न लोकस्य एषणां चरेत् ॥ १४० ॥

III सूत्रार्थ :

उस सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके न तो त्याग करें और न तो फेंक दें... किंतु जैसा

है वैसा हि धर्म को जानकर दृष्ट वस्तु-पदार्थों से निर्वेद (विराग) प्राप्त करें... तथा लोक की एषणा को न आचरें... ॥ १४० ॥

IV टीका-अनुवाद :

तत् याने तत्त्वार्थ के श्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके तथाविध संसर्ग आदि निमित्तों से मिथ्यात्व का उदय होवे तो भी जीव के सामर्थ्य विशेष से सम्यग्दर्शन का विनाश न होने दें... जैसे कि- शैव तथा शाक्य आदि कुमत्वालों को देखकर मोहमुग्ध न हों... अर्थात् अहिंसादि व्रतों का त्याग करके उत्प्रव्रजन याने साधुपने का त्याग न करें...

तथा जैसा है वैसा हि श्रुत एवं चारित्र स्वरूप धर्म को जानकर के, अथवा वस्तु-पदार्थों के धर्म याने स्वभाव को जानकर इष्ट एवं अनिष्ट वस्तु-पदार्थों से निर्वेद याने विरक्ति करें... जैसे कि- सुने हुए शब्द, स्वाद लिये हुए रस, नासिका से सुंघे हुए गंध एवं स्पर्श कीये हुए स्पर्श की उपस्थिति में ऐसा सोचें कि- इन पुद्गल-पदार्थों में शुभ एवं अशुभता पूरण तथा गलन से होती है, क्योंकि- पुद्गल पदार्थों में पूरण एवं गलन होना सहज हि है... अतः उनमें राग एवं द्वेष क्यों करूं ? अर्थात् लोक की एषणा याने इष्ट शब्दादि पदार्थों में रागवाली प्रवृत्ति तथा अनिष्ट शब्दादि पदार्थों में द्वेषवाली प्रवृत्ति कभी भी न करें...

जिस मनुष्यों को ऐसी लोकेषणा नहि है, उसको अशुभ मति नहि होती है, यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में अहिंसा में निष्ठा-श्रद्धा रखने वाले व्यक्ति को स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि- वह अपनी तत्त्व श्रद्धा को दृढ़ बनाने एवं उसके अनुरूप पंचाचार का आचरण करने में लगावे। सम्यक्त्व को विशुद्ध रखने में कभी भी शक्ति-सामर्थ्य का गोपन न करे और सम्यक्त्व के शंकादि अतिचारों-दोषों से बच कर रहना चाहिए। क्योंकि- लोकेषणा भी अध्यात्म जीवन में विघ्नभूत है। लोकेषणा से यहां पुत्र, धन, काम-भोग, विषय-वासना, विलासता आदि की इच्छा-कामना समझनी चाहिए। और यह विषयेच्छा कर्म-बन्ध एवं दुःखों की परम्परा को बढ़ाने वाली है। अतः मुमुक्षु को लोकेषणा से निवृत्त होना चाहिए।

जिस व्यक्ति के जीवन में लोकेषणा नहीं होती, उस के मन में कुमति भी नहीं होती है। यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १४१ ॥ १-४-१-३

जस्स नत्थि इमा जाई, अण्णा तस्स कओ सिया ? दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं

जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पति ॥ १४१ ॥

II संस्कृत-छाया :

यस्य नास्ति एषा जातिः, तस्य अन्या कुतः स्यात् ? दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं यत् एतत् परिकथ्यते । शाम्यन्तः प्रलीयमानाः पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति ॥ १४१ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस साधु को यह लोकैषणा-बुद्धि नहि है, उसको अन्य पापबुद्धि भी कैसे हो ? देखा हुआ, सुना हुआ, माना हुआ, एवं जाना हुआ है कि- जो मैं यह कहता हूं... किंतु जो प्राणी ऐसे नहि है; वे शब्दादि विषयों में आसक्त एवं लीन होते हैं; वे बार बार एकेंद्रियादि जातिओं जन्म धारण करते हैं... ॥ १४१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जिस मुमुक्षु साधु को यह राग-द्वेषवाली लोकैषणा की बुद्धि नहि है, उसको अन्य याने सावद्य अर्थात् पापवाले आरंभ-समारंभों में प्रवृत्ति कैसे हो ? अर्थात् नहि होती... यहां सारांश यह है कि- कामभोग की इच्छा स्वरूप लोकैषणा का त्याग करनेवाले साधुओं को सावद्य-अनुष्ठान में प्रवृत्ति नहि होती... अथवा तो अनंतर में कही गइ प्रत्यक्ष सम्यक्त्व की ज्ञप्ति याने ज्ञान... की विद्यमानता में विशुद्ध सम्यक्त्ववाले साधुओं को कुमार्ग तथा सावद्य अनुष्ठान का त्याग होने से अविवेकवाली पापबुद्धि भी कहां से हो ?

तथा शिष्य की सन्मति को स्थिर करने के लिये और भी कहते हैं कि- यह जो मैं कह रहा हूं; वह सर्वज्ञ प्रभुजीने केवलज्ञान के प्रकाश में देख कर कहा है... तथा शुश्रूषा वाले सज्जनों ने सुना है... तथा लघुकर्मवाले भव्यजीवों को मान्य है... तथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के द्वारा विशेष प्रकार से मैंने जाना है... इसलिये हे शिष्य ! आप भी मैंने कहे हुए सम्यक्त्व आदि में प्रयत्न कीजियेगा...

तथा जो प्राणी धर्मोपदेश का आचरण नहि करते वे दश दृष्टांत से दुर्लभ इस मनुष्य जन्म में भी कामभोग-भोगोपभोगों की आसक्ति के कारण से पुद्गलपदार्थों के लिये प्रयत्न करते हैं तथा मनोज्ञ याने अच्छे = इंद्रियों के इष्ट शब्दादि पदार्थों में लीन होकर एकेंद्रिय, बेइंद्रिय आदि जाति में बार बार जन्म धारण करते करते संसार को अनंत बनाते हैं...

हां ! यदि अविदितवेद्य याने मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानता के कारण से अज्ञानता के कारण से मात्र वर्तमानकाल को हि देखनेवाले होते हैं और जहां जन्म लिया हो; वहां इंद्रियों के

अर्थ याने विषय-पदार्थों में लीन होकर बारबार संसार में जन्म धारण करते हैं, तो अब हमें क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर आगे के सूत्र में स्वयं सूत्रकार महर्षि कहेंगे...

V सूत्रसार :

विषयेच्छा से मन में पाप भावना उद्बुद्ध होती है। और उस तृष्णा एवं आकांक्षा को पूरी करने के लिए मनुष्य आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होता है। किंतु जिस व्यक्ति के मन में भोगेच्छा नहीं होती है, विषयों की तृष्णा एवं आकांक्षा नहीं रहती है; उसके मन में पाप भावना भी नहीं जागती और परिणाम स्वरूप वह सावद्य कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि- लोकेषणा, विषयेच्छा ही पाप एवं सावद्य कार्य का कारण है। ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा-जाना है। सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट होने के कारण इस मार्ग में सन्देह का अवकाश ही नहीं है। अतः साधक को लोकेषणा का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

जो व्यक्ति विषयेच्छा का त्याग नहीं करते, एवं रात-दिन भोगों में आसक्त रहते हैं, वे पाप कर्मों का बन्ध करते हैं और परिणाम स्वरूप एकेन्द्रिय आदि योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकार वे दुःख के प्रवाह में बहते रहते हैं।

संसार की यथार्थ स्थिति को जानकर मनुष्य को इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न-पुरुषार्थ करना चाहिए। किंतु यहां प्रश्न हो सकता है कि- किस प्रकार का प्रयत्न करे ? इस का समाधान करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १४२ ॥ १-४-१-४

अहो अ राओ अ जयमाणे धीरे, सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास,
अप्पमत्ते सया परक्कमिज्जासि त्तिबेमि ॥ १४२ ॥

II संस्कृत-छाया :

अहश्च रात्रिं च यतमानः धीरः सदा आगतप्रज्ञानः, प्रमत्तान् बहिः पश्य ।
अप्रमत्तः सदा पराक्रमेथाः । इति ब्रवीमि ॥ १४२ ॥

III सूत्रार्थ :

दिन एवं रात सदा सद् एवं असद् के विवेकवाले तथा यतनावाले हे धीर साधु ! धर्म से बहार रहे हुए प्रमत्त (प्रमादी) लोगों को देखो ! तथा उनके प्रमाद को देखकर सदा अप्रमत्त होकर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करो ! ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) तुम्हें कहता हूँ ॥-१४२ ॥

IV टीका-अनुवाद :

दिन एवं रात मोक्षमार्ग में यतनावाले तथा परीषह एवं उपसर्गों से क्षोभ नहि पानेवाले धीर तथा सद् एवं असद् के विज्ञानवाले हे साधुजनो ! आप प्रमत्त याने असंयत ऐसे संसारी लोगों को एवं धर्म के सच्चे स्वरूप से बाहर रहे हुए कुमत्तवालों को देखो ! उनके प्रमादाचरण को देखकर, आप सदा अप्रमत्त याने निद्रा एवं विकथा आदि से दूर होकर एवं सदा-सर्वदा धर्मानुष्ठान के उपयोगवाले होकर कर्म स्वरूप शत्रुओं के विनाश के लिये पराक्रम करो, अर्थात् सदा-सर्वदा अप्रमत्त होकर सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग में हि प्रयाण करो !!!

यहां “इति” शब्द अधिकार के समाप्ति का सूचक है तथा “ब्रवीमि” शब्द से मैं याने सुधर्मस्वामी, हे जंबू ! जैसा वीर परमात्मा के मुखारविंद से सुना है, वैसा हि तुम्हें कहता हूं... इस प्रकार यहां श्री आचारांगसूत्र के प्रथमश्रुतस्कंध के सम्यक्त्व नामवाले चौथे अध्ययन में पहले उद्देशक की श्री शीलांकाचार्यजी-कृत टीका का हिंदी भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-अनुवाद पूर्ण हुआ...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में प्रमत्त और अप्रमत्त व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण किया गया है। अप्रमत्त व्यक्ति सहिष्णु होता है। वह बाह्य कष्टों से घबराकर संयम मार्ग का त्याग नहीं करता, किंतु धैर्यता पूर्वक कष्टों को सहन कर लेता है। भयंकर परीषह भी उसके मन को विचलित नहीं कर सकते। क्योंकि- उसकी दृष्टि अंतर्मुखी होती है। आत्म साधना में तल्लीन वह साधक बाहिरी जीवन को स्वप्नवत् मानता है। अतः उसे बाह्य सुख-दुःख का संवेदन नहीं होता।

प्रमादी जीव की स्थिति इससे विपरीत है। उसकी दृष्टि शरीर एवं भौतिक पदार्थों पर लगी रहती है। वह रात-दिन शरीर को सुशोभित करने परिपुष्ट बनाने एवं भौतिक भोगोपभोगों की अभिवृद्धि करने का उपाय ढुंढते रहता है। उसका चिन्तन एवं प्रयत्न बाह्य भोगों को बढ़ाने में लगा रहता है। इसलिए आरम्भमय जीवन एवं उसके दुःखद परिणाम को जानकर मुमुक्षु साधक भोगोपभोग के आरंभ-समारंभ से बचने का प्रयत्न करे। अर्थात् अपने योगों को संयम साधना में हि लगाए।

‘तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ इति चतुर्थाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

५१ ५१ ५१

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा

तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्चरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भवानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. ९६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ४ उद्देशक - २

५ सम्यग्ज्ञानम् ५

चौथे अध्ययन का प्रथम उद्देशक कहा... अब दुसरे उद्देशक की व्याख्या करते हैं... इसका परस्पर यह संबंध है कि- पहले उद्देशक में सम्यग्वाद का स्वरूप कहा, किंतु वह प्रत्यनीक याने जिनशासन के द्वेषीओं के मिथ्यावाद का निराश करने से हि सच्चा सम्यग्वाद होता है... और मिथ्यावाद का निराकरण परिज्ञान के बिना नहि हो सकता... तथा परिज्ञान भी सूत्रार्थ के विचार-चिंतन के सिवा नहि हो सकता, अतः (इसलिये) मिथ्यावादवाले कुतीर्थिकों के स्वरूप का विचार चिंतन करने के लिये यहां प्रयास करते हैं... इस संबंध से आये हुए इस दुसरे उद्देशक का पहला सूत्र “जे आसवा...” इत्यादि...

अथवा तो यहां चौथे-अध्ययन में सम्यक्त्व का अधिकार है, और वह सात (नव) पदार्थों के श्रद्धान स्वरूप है... उसमें शस्त्रपरिज्ञा नाम के पहले अध्ययन में कहे गये जीव एवं अजीव पदार्थों को जाननेवाले मुमुक्षु साधु संसार एवं मोक्ष के कारणों का निर्णय करे... उसमें संसार का कारण आश्रव है, और आश्रव का ग्रहण करने से बंध का भी ग्रहण हो जाता है... तथा मोक्ष का कारण निर्जरा है, और निर्जरा को ग्रहण करने से संवर का भी ग्रहण हो जाता है... तथा संवर के कार्य स्वरूप मोक्ष का भी सूचन हो जाता है... इसलिये सम्यक्त्व के विचार में यह आया कि- आश्रव संसार का कारण है तथा निर्जरा मोक्ष का कारण है... अतः यह बात दिखाने के लिये यह प्रथम सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १४३ ॥ १-४-२-१

जे आसवा ते परिसवा, जे परिस्सवा ते आसवा ! जे आणसवा ते अपरिस्सवा
जे अपरिस्सवा ते अणासवा । एए एए संबुज्जमाणे लोयं च आणाए अभिसमिच्चा पुढो
पवेइयं ॥ १४३ ॥

II संस्कृत-छाया :

ये आश्रवाः ते परिश्रवाः, ये परिश्रवाः ते आश्रवाः । ये अनाश्रवाः ते
अपरिश्रवाः, ये अपरिश्रवा ते अनाश्रवाः । एतानि पदानि सम्बुध्यमानः लोकं च आज्ञया
अभिसमेत्य पृथक् प्रवेदितम् ॥ १४३ ॥

III सूत्रार्थ :

जो जो आश्रव हैं वे सभी परिश्रव याने निर्जरा के स्थान भी हैं, तथा जो जो निर्जरा के स्थान (परिश्रव) हैं वे सभी आश्रव भी हैं... तथा जो जो अनाश्रव हैं वे सभी अपरिश्रव भी हैं, तथा जो जो अपरिश्रव हैं वे सभी अनाश्रव भी हैं... इन पदों को अच्छी तरह से जाननेवाला साधु इस लोक (विश्व) को आज्ञा याने जिनवचन के द्वारा जान-समझकर अन्य जीवों को भी कहते हैं...

IV टीका-अनुवाद :

जिस आरंभ समारंभो से प्राणी आठ प्रकार के कर्मों का आश्रव याने ग्रहण करता है वे आश्रव हैं तथा परिश्रव याने जिस धर्मानुष्ठानों से आठों प्रकार के कर्मों का विनाश हो वे परिश्रव... अर्थात् जो जो कर्मबंध के स्थान स्वरूप आश्रव हैं वे सभी कर्मों की निर्जरा के स्थान स्वरूप परिश्रव याने संवर भी है...

यहां सारांश यह है कि- विश्व के सामान्य जीवों ने विषय भोग की इच्छा से पुष्पमाला तथा अंगना याने स्त्री आदि जो जो पदार्थों का ग्रहण किया है; वे सभी पुष्पमाला आदि पदार्थ मोहमूढ जीवों को कर्मबंध के कारण होते हैं अतः वे आश्रव हैं तथा विषयभोग से पराङ्मुख, तत्त्व को जाननेवाले सज्जन साधुओं को यह हि पुष्पमाला, स्त्री आदि पदार्थ, निःसार होने के कारण से, एवं मोह के हेतुभूत होने से संसार के मार्ग समान दिखते हैं, अतः वैराग्य के कारण होते हैं अतः वे परिश्रव याने निर्जरा के स्थान बनते हैं...

सभी वस्तु-पदार्थों की अनैकांतिकता को दिखलाते हुए कहते हैं कि- जो जो परिश्रव याने अरिहंत, साधु, तपश्चर्या, दशविध एवं चक्रवाल साधु सामाचारी आदि अनुष्ठान कर्मों की निर्जरा के स्थान हैं, वे हि निर्जरा के स्थान अशुभ कर्मों के उदय से शुभ अध्यवसायों के अभाव में मोहमूढता से जिनेश्वर आदि आप्त पुरुषों की महा आशातना करनेवाले तथा साता गारव ऋद्धि गारव एवं रस गारव में तत्पर, तथा दुर्गति के मार्ग में चलनवाले लोगों के सार्थवाह याने नायक समान ऐसे इस संसारी प्राणी को पाप-कर्मबंध के कारण स्वरूप आश्रव बनते हैं... यहां सारांश यह है कि- कर्मों की निर्जरा के लिये जितने भी संयमस्थान हैं, उतने हि कर्मों के बंध के लिये बंधस्थान भी है...

अन्यत्र भी कहा है कि- संसार में परिभ्रमण के हेतुओं के जितने भी प्रकार हैं, उतने हि उन से विपरीत ऐसे वे निर्वाण याने मोक्षसुख के हेतु हैं... वह इस प्रकार- राग एवं द्वेष से वासित अंतःकरण (चित्त) वाले तथा विषय भोगों की कामना करनेवालों को दुष्ट आशय के कारण से सभी पदार्थ संसार में परिभ्रमण के कारण बनते हैं... जैसे कि- पिचुमंद याने

लीमडे के कडवे रस से वासित मुखवाले को दुध एवं शक्कर आदि भी कडवे हि लगतें है...

तथा संसार-समुद्र को जाननेवाले, विषयों की अभिलाषा को दूर करनेवाले तथा “संसार के सभी पुद्गल पदार्थ अपवित्र एवं दुःखों के कारण हैं” ऐसा चिंतन करनेवाले तथा संवेगवाले सम्यग्दृष्टि जीवों को जो वस्तु-पदार्थ अन्य सामान्य जीवों को तत्त्वज्ञान के कारण से संसार का कारण होते हैं, वे हि पदार्थ साधुओं को मोक्ष के लिये होते हैं... यह यहां भावार्थ है...

यह हि बात प्रतिषेध के साथ गत-प्रत्यागत प्रकार से कहतें हैं कि- जितने अनाश्रव हैं उतने हि अपरिश्रव हैं अनाश्रव याने व्रत-नियम, वे भी अशुभ कर्मों के उदय से होनेवाले अशुभ अध्यवसायों के कारण से अपरिश्रव याने कर्मबंध के कारण होते हैं... जैसे कि- कोंकण देश के आर्य किसान आदि पुरुषों की तरह...

तथा जो जो अपरिश्रव हैं वे सभी अनाश्रव होते हैं... अपरिश्रव याने कर्मबंध के स्थान... अर्थात् कोइक विशेष कारण को लेकर प्रवचन (जिनशासन) को उपकार करनेवाले सावध कार्य भी कणवीर की लता को घुमानेवाले क्षुल्लक की तरह अनाश्रव याने कर्मबंध के कारण नहि होते...

अथवा आवन्ति याने अर्थात् कर्मबंध के कारण तथा परिश्रवन्ति याने परिश्रवा अर्थात् कर्मों की निर्जरा के कारण... यहां चउभंगी होती है... १... मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय एवं योगों के द्वारा जो जो कर्मों के आवा याने बंधक हैं, वे हि अन्य जीवों को परिश्रवा याने कर्मों की निर्जरा के कारण बनतें हैं... इस पहले भंग में चारों गति के सभी संसारी जीवों का समावेश होता है... क्योंकि- सभी संसारी जीवों को प्रतिक्षण कर्मबंध एवं कर्मनिर्जरा का सद्भाव होता है...

तथा जो जो आश्रव है वे सभी अपरिश्रव हैं... इस दुसरे भाग में कोइ भी जीव का समावेश नहि होता... क्योंकि- कर्मबंध निर्जरा के अभाव में नहि होता... तथा जो जो अनाश्रव हैं वे सभी परिश्रव हैं... इस तीसरे भंग में अयोगी केवलीओं का समावेश होता है तथा जो जो अनाश्रव हैं; वे सभी अपरिश्रव हैं; इस चौथे भंग में सिद्धात्माओं का समावेश होता है... क्योंकि- सिद्ध-परमात्मा को आश्रव भी नहि हैं और निर्जरा भी नहि हैं... यहां इस आचारांग सूत्र में पहले और चौथे भंग का ग्रहण किया है... और उनका ग्रहण करने से बीचके दो भंगों का ग्रहण, अवश्यमेव हो हि जाता है...

यहां कहे गये पदों (वाक्यों) का जैसे कि- “ये आश्रवाः... इत्यादि पदों का” अन्य को अर्थबोध हो इसलिये शब्दों का प्रयोग किया जाता है तथा इन पदों से वाच्य ऐसे अर्थों

को सम्यग् याने अच्छी तरह से जाननेवाले सम्यग्दृष्टि... तथा लोक याने प्राणीसमूह कि-
 “जो आश्रवों के द्वारो से कर्मबंध करते हैं” ऐसे उन्हें जाननेवाले साधुजन... तथा तीर्थकर
 प्रभुजी के आगम-शास्त्र अनुसार तपश्चर्या आदि से कर्मों से मुक्त हो रहे पवित्र आत्माओ को
 जाननेवाले, मुमुक्षु-साधु... अर्थात् आश्रवों के द्वारो से कर्मबंध करनेवाले तथा निर्जरा के द्वारों
 से कर्ममुक्त होनेवाले विभिन्न जीवों को देखकर कौन ऐसा सज्जन-जीव है ? कि- जो धर्माचरण
 में उद्यम न करे... ?

ज्ञानावरणीय कर्म के आश्रव द्वार निम्न प्रकार हैं...

१. ज्ञान के प्रयत्नीक याने दुश्मन होना...
२. ज्ञान के निहव याने सूत्र-अर्थ का अपलाप करना...
३. ज्ञान के कार्यो में अंतराय याने विघ्न करना...
४. ज्ञान की और प्रद्वेष याने रोष रखना...
५. ज्ञान की आशातना याने अपमान-तिरस्कार करना...
६. ज्ञान में विसंवाद याने उलटे-सुलटे सूत्र-अर्थ को पढना...

इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म के आश्रव...

१. दर्शन के प्रति प्रयत्नीकता याने दुश्मनावट
२. दर्शन के प्रति निहव भाव रखना
३. दर्शन के प्रति अंतराय करना
४. दर्शन के प्रति प्रद्वेष रखना
५. दर्शन की अति आशातना करना
६. दर्शन में विसंवाद खडा करना इत्यादि प्रकार के आश्रवों से जीव

दर्शनावरणीय कर्म का बंध करता है...

१. प्राणीओं के उपर अनुकंपा करना...
२. भूतों के उपर अनुकंपा करना
३. जीवों के उपर अनुकंपा करना
४. सत्त्वों के उपर अनुकंपा करना
५. जीवों को दुःख न देना...
६. जीवों को शोक में न डूबाना...
७. जीवों को शरीर से क्षीण न करना
८. जीवों को पीडा न देना
९. जीवों को परिताप-संताप न देना...

इत्यादि प्रकार के शुभ आश्रवद्वारों के द्वारा जीव सातावेदनीय कर्म बांधता है... तथा इससे विपरीत याने प्राणीओं के उपर अनुकंपा न करना इत्यादि प्रकार के अशुभ आश्रव-द्वारों से जीव असातावेदनीय कर्म का बंध करता है...

तथा अनंतानुबंधी क्रोध आदि विषयों की उत्कटता याने उग्रता से तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की तीव्रता से प्रबल चारित्रमोहनीय कर्म के विपाकोदय में जीव मोहनीय कर्म को बांधता है...

तथा महा आरंभ, महा परिग्रह तथा पंचेंद्रिय प्राणीओं का वध करके मांस का आहार करनेवाले जीव नरक का आयुष्य बांधता है... तथा मायविता याने कपट-माया से एवं अनृत याने जुठ बोलने के द्वारा तथा जूठे तोल एवं जूठे माप का व्यवहार करने से जीव तिर्यच गति का आयुष्य बांधता है... तथा प्रकृति से विनयवाले तथा पापों के पश्चाताप करनेवाले जीव मत्सर एवं = ईष्या के अभाव में मनुष्य गति का आयुष्य बांधता है... तथा सरागसंयम से, देशविरति स्वरूप श्रावक जीवन से, बाल तप याने अज्ञानवाली तपश्चर्या से एवं अकामनिर्जरा से जीव देवगति का आयुष्य बांधता है...

तथा काया की सरलता से एवं भाव याने मन की सरलता से तथा भाषा याने वाणी की सरलता से तथा अविस्वादी याने परस्पर अविरोद्ध योगों से जीव शुभ नाम कर्म का बंध करता है... तथा इस से विपरीत याने काया की वक्रता से मन की वक्रता से वचन की वक्रता से तथा विस्वादी याने परस्पर विरोद्ध योगों के द्वारा जीव अशुभ नामकर्म का बंध करता है...

तथा जाति, कुल, बल, रूप, तपश्चर्या, श्रुत, लाभ एवं ऐश्वर्य के मद के अभाव में जीव उच्चगोत्र कर्म बांधता है तथा जाति-कुल आदि आठ प्रकार के मद से तथा अन्य जीवों की निंदा = अवर्णवाद करने से जीव नीचगोत्र बांधता है...

तथा दान के कार्य में अंतराय करने से एवं लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य = पुरुषार्थ के कार्यों में भी अंतराय याने विघ्न करने से जीव अंतराय कर्म का बंध करता है... यह सभी आश्रव है...

अब परिश्रव कहते हैं... परिश्रव याने निर्जरा... निर्जरा के बारह भेद हैं; छह अनशनादि बाह्य तपश्चर्या; एवं छह प्रकार की प्रायश्चित्त आदि अभ्यंतर तपश्चर्या... अनशन अणोदरी वृत्तिसंक्षेप रसत्याग एवं कायक्लेश यह बाह्य तपश्चर्या हैं तथा प्रायश्चित्त विनय वैयावच्च काउस्सग एवं ध्यान यह छह अभ्यंतर तपश्चर्या हैं...

इस प्रकार आश्रववाले एवं निर्जरावाले भेद-प्रभेद के साथ जीवों का स्वरूप कथन करना चाहिये... सभी जीव-अजीव आदि मोक्ष पर्यंत के सात या नव पदार्थों का

स्वरूप कहीयेगा...

जीव अजीव आदि पदार्थों को जाननेवाले तीर्थंकर एवं गणधरों ने लोक याने जीवों को पहचानकर सभी जीवों के आत्महित के लिये विभिन्न प्रकार से धर्मोपदेश कहा है... इसी प्रकार तीर्थंकर की आज्ञा का पालन करनेवाले चौद पूर्वघर आदि स्थविर मुनिजन भी जीवों के आत्महित के लिये धर्मोपदेश कहते हैं यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

आस्रव एवं संवर के लिए स्थान एवं क्रिया की अपेक्षा शुभ एवं अशुभ भावना का अधिक मूल्य है। क्योंकि- जो स्थान कर्मबन्ध का कारण है, वही स्थान विशुद्ध भावना वाले साधक के लिए निर्जरा, संवर एवं संयम साधना का कारण बन जाता है। और जो स्थान निर्जरा, संवर एवं संयम-साधना का है; वह हि परिणामों की अशुद्धता के कारण कर्मबन्ध का कारण बन जाता है।

इससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मनुष्य लोक में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है कि- जहां आस्रव, बंध, संवर एवं निर्जरा की साधना नहीं की जा सकती है। भावना के परिवर्तित होते ही आस्रव का स्थान संवर-साधना का स्थान बन जाता है और संवर की साधना भूमि भी आस्रव का स्थान ग्रहण कर लेती है। तो आस्रव एवं संवर भावना-परिणामों की अशुद्ध एवं विशुद्ध भावना पर आधारित है। इस चतुर्भंगी को उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट किया जाता है।

१-सम्यग्दृष्टि साधक जब वैराग्य भाव से आत्म-चिन्तन में लगता है, तब आस्रव-कर्मबन्ध का स्थान भी उसके लिए संवर या निर्जरा का स्थान बन जाता है। भरत चक्रवर्ती आरिसाभवन महल में शृंगार करने गया था। शृंगार करते करते अकस्मात् उनकी अंगुली में से मुद्रिका गिर पड़ी। अंगुली की वास्तविक परिस्थिति नजर में आइ... बस भावना परिवर्तित हो गई। बाह्य सजावट में लगा हुआ ध्यान आत्म-चिन्तन की ओर मूड गया और धीरे-धीरे आत्मा पर से कर्म का आवरण भी हटता गया और परिणाम स्वरूप वहां शीशमहल में हि भरत चक्रवर्ती को निरावरण-केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

२-अज्ञानी व्यक्ति दुर्भावना के वश निर्जरा के स्थान में पाप कर्म का बन्ध कर लेता है। एक दिन नागश्री ब्राह्मणी ने भूल से कड़वे तुम्बे की सब्जी बना ली। जब चाखने पर उसे तुम्बे की कटुकता का ज्ञान हुआ तो उस ने उसे एक ओर रख दिया और तुरन्त दूसरी सब्जी बना ली। कुछ देर पश्चात एक-एक महीने की तपस्या करने वाले धर्मरुचि मुनि उसके यहां भिक्षार्थ आए। तब उसने कड़वे तुम्बे की सब्जी मुनि के पात्र में डाल दी। मुनि को दिया

जाने वाला दान निर्जरा का कारण था। परन्तु दुष्ट परिणामों के कारण वह दान नागश्री को कर्मबन्ध का कारण बन गया।

३-जो अनासव-व्रत विशेष या संयम साधना संवर एवं निर्जरा का स्थान है। परन्तु भावना की अस्थिरता एवं अविशुद्धता के कारण व्यक्ति निर्जरा के स्थान में कर्मबन्ध कर लेता है। कुण्डरीक राजर्षि का उदाहरण इसी गिरावट का प्रतीक है। जीवन के अन्तिम दिनों में वे वासना के प्रवाह में बह गए और रात-दिन उसी के चिन्तन में लगे रहे। एक दिन वेष त्याग कर फिर से राज्य के भोगोपभोगों को भोगने लगे और अति भोग के कारण भयंकर व्याधि से पीड़ित होकर तीन दिन में आयुष्य पूर्ण करके सातवीं नरक में जा पहुंचे। अतः संयम ही कर्म निर्जरा का स्थान था, परन्तु भावना में विकृति आते ही; वह ही संयम कर्म बन्ध का भी स्थान बन गया।

४-जो पापकर्म के स्थान हैं, वे ही स्थान शुभ अध्यवसायों के कारण से निर्जरा के स्थान बन जाते हैं, इलायची पुत्र बांस पर नाटक कर रहा है। निकट भविष्य में उसकी पत्नी होने वाली नट-कन्या डोलक बजा रही थी। दर्शक उसके नृत्य कौशल को देखकर वाह-वाह पुकार रहे थे; परन्तु राजा का ध्यान नट के नृत्य पर नहीं, किंतु उस नट-कन्या पर लगा हुआ था। राजा उसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गया था। वह उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। इसलिए वह चाहता था कि- किसी प्रकार यह नट नीचे गिर कर समाप्त हो जाए तो इस नट-कन्या को मैं अपने अधिकार में कर लूं, जब कि- वह नट कहां के राजा को प्रसन्न करके धन पाने के लिए बार-बार बांस पर चढ़ उतर कर रहा था। फिर भी पारितोषक नहीं मिल रहा था। इतने में पास के घर में एक मुनि की भिक्षा विधि को देख कर उसकी भावना में परिवर्तन आया, और परिणाम स्वरूप धन एवं भोग-विलास की आकांक्षा त्याग में बदल गई। वह कर्मबन्ध का स्थान उसके लिये निर्जरा का कारण बन गया। यह सब भावों का चमत्कार है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि- कर्मबन्ध एवं निर्जरा में भावों की प्रमुखता है। परन्तु यह कथन निश्चय नय की अपेक्षा से है। व्यवहार नय की अपेक्षा से भावों के साथ स्थान एवं क्रिया का भी मूल्य है। परिणामों की विशुद्ध एवं अशुद्ध धारा को प्रत्येक व्यक्ति देख नहीं सकता। परन्तु व्यवहार को व्यक्ति भी भली भांति जान लेता है। भावों के साथ स्थान एवं व्यवहार शुद्धि को भी नहीं भूलना चाहिए। क्योंकि- धर्म स्थान एवं धर्म निष्ठ व्यक्तियों की संगति का भी जीवन पर प्रभाव होता ही है।

संयति राजा शिकार खेलने गया था और अपने बाण से एक मृग को घायल भी कर दिया था, परन्तु वहीं मुनि से बोध पाकर वह संयति-राजा संसार से विरक्त हो गया, मुनि बन गया। इस प्रकार जीवन को परिवर्तित करने में एवं विचारों को नया मोड़ देने में साधु-

संतो का, शास्त्रों का एवं धर्म स्थानों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। या हम यों कह सकते हैं कि- व्यवहार शुद्धि के पथ से ही हम निश्चय दृष्टि की शुद्धि के सुरम्य स्थल तक पहुंच सकते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त 'जे आसवा ते परिस्सवा.....' इत्यादि पाठ में 'आसवा' से आस्रव स्थान, 'परिस्सवा' से निर्जरा के स्थान, 'अणासवा' से व्रत विशेष और 'अपरिस्सवा' से कर्म बन्ध के स्थान विशेष समझना चाहिए।

जीव अपने शुभाशुभ-भावों के द्वारा बन्ध के स्थान को निर्जरा का एवं निर्जरा के स्थान को बन्ध का कारण बना लेता है। आस्रव और निर्जरा के स्थान पृथक्-पृथक् है। आस्रव में भी आठों कर्म के आठों स्थान भिन्न-भिन्न हैं और इसी प्रकार आठों कर्मों को रोकने वाले संवर एवं क्षय करने वाले निर्जरा स्थान भी भिन्न भिन्न है। अतः मुमुक्षु पुरुष को आस्रव, संवर एवं निर्जरा के स्वरूप को भली-भांति जानकर जिनेश्वर-परमात्मा की आज्ञा के अनुसार अपने भावों को विशुद्ध बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

तीर्थंकर एवं गणधरों की तरह स्थविर आचार्यादि साधुजन भी उपदेश के द्वारा आर्त-दुःखी एवं प्रमत्त जीवों को जगाते रहते हैं। वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १४४ ॥ १-४-२-२

आघाड नाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुद्धमाणाणं विण्णाणपत्ताणं अट्टा वि संता अदुवा पमत्ता अहासच्चमिणं ति बेमि। नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छा पणीया वंका निकेया कालगहिया निचयनिविट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पंति ॥ १४४ ॥

II संस्कृत-छाया :

आख्याति ज्ञानी इह मानवानां संसारप्रतिपन्नानां सम्बुद्धयमानानां विज्ञानप्राप्तानां आर्ताः अपि सन्तः, अदुवा यथासत्यं इदं इति ब्रवीमि। न अनागमः मृत्युमुखस्य अस्ति, इच्छाप्रणीताः वक्राः निकेताः कालग्रहीताः निचयनिविष्टाः पृथक् पृथक् जातिं प्रकल्पयन्ति ॥ १४४ ॥

III सूत्रार्थ :

इस संसार में रहे हुए किंतु समझनेवाले एवं विज्ञान को प्राप्त करनेवाले मनुष्यों को ज्ञानी परमात्मा कहते हैं कि- कभी चिलातीपुत्र आदि की तरह आर्त हो तों भी वे मनुष्य यथावसर धर्म का स्वीकार करते हैं... अथवा यह सत्य ही है... ऐसा मैं कहता हूं... क्योंकि-

मृत्यु का अनागम नहि है, अर्थात् मृत्यु निश्चित हि है... तो भी कितनेक इच्छा से प्रेरित हुए, वक्र याने असंयम में रहे हुए तथा काल याने मृत्यु से ग्रहण कीये हुए एवं निचय याने पापाचरण में आसक्त प्राणीगण भिन्न भिन्न एकेंद्रिय आदि जाति में जन्म धारण करते रहते हैं... ॥ १४४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

सकल पदार्थों के स्वरूप को प्रगट करनेवाला ज्ञान जिस कीसी के पास है वह ज्ञानी... ऐसे ज्ञानी पुरुष यहां मनुष्यों को कहते हैं कि-

प्रश्न- मनुष्यों को हि क्यों कहते हैं. ?

उत्तर- क्योंकि- मनुष्य हि सर्वसंवर स्वरूप चारित्र के लिये योग्य है...

अथवा “मनुष्य” कहने से उपलक्षण से देव आदि को भी कहते हैं... यहां केवलज्ञानी सर्वज्ञ को उपदेश देने की आवश्यकता न होने से कहते हैं कि- चार-गति स्वरूप संसार-चक्र में रहे हुए... क्योंकि- केवलज्ञानी के चार घातिकर्म क्षय हो चुके हैं; अतः अब उन्हे संसारचक्र में भ्रमणा (आवागमन) नहि है...

संसारी जीवों में भी जो जीव धर्म को प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं, उन्हें हि उपदेश देते हैं... जैसे कि- बीसवे तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतस्वामीजी एक घोड़े के आत्मा को प्रतिबोध करने के लिये भरुच नगर में पधारे थे...

तथा संबुद्धयमान याने कहे जानेवाले धर्म को अच्छी तरह से समझनेवाले मनुष्यों को उपदेश देते हैं... अब छद्मस्थ साधु यह तो नहि जानते कि- यह मनुष्य प्रतिबोध पाएगा हि... इस स्थिति में कहते हैं कि- “विज्ञानप्राप्त” याने हित की प्राप्ति एवं अहित के त्यागवाला जो अध्यवसाय वह विज्ञान... ऐसे विज्ञान की प्राप्तिवाले अर्थात् सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त ऐसे संज्ञी मनुष्य-लोगों को धर्मोपदेश देते हैं...

यहां नागार्जुनीय-संप्रदायवाले आचार्यजी निम्नोक्त पाठांतर सूत्र कहते हैं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- प्रबुद्ध साधु हि आर्त्त-दुःखी एवं प्रमादी जीवों को संयम-साधना में संलग्न रहने के लिए सदा प्रेरित करता रहता है। परन्तु साथ में यह भी बता दिया है कि- उपदेश का प्रभाव उन्हीं जीवों पर पड़ता है, जो ज्ञान-विज्ञान से युक्त है। वस्तुतः आत्म-स्वरूप को जानने या जानने की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्ति ही उपदेश को सुनकर आंचरण में ला सकते हैं। कभी कभी परिस्थितिबश उत्तम व्यक्ति भी भटक जाते हैं, परन्तु फिर से निमित्त मिलने पर वे साधना के पथ पर चल पड़ते हैं। जैसे कि- चिलायति पुत्र जैसे

हिसक मानव प्रबुद्ध मुनि का संकेत पाकर अपने जीवन को बदलने में देर नहीं करते।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि- अत्यन्त दुःखी एवं अत्यधिक साता-समृद्धिवाला तथा मध्यम अवस्था के सभी पुरुष धर्मोपदेश के अधिकारी हैं। इसलिए प्रबुद्ध मानव प्रत्येक जीव को धर्मोपदेश देते रहते हैं। वह इस प्रकार-संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जो मृत्यु को प्राप्त नहीं करता हो, अर्थात् शरीर को धारण करनेवाले सभी प्राणी आयुष्य पूर्ण होते हि मरण पाते हैं। संसारी जीव जब तक घातिकर्मों का क्षय नहीं कर लेता है, तब तक जन्म-मरण के प्रवाह में बहता रहता है; इसलिए मानव को कर्म क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। जो व्यक्ति विषय-वासना में आसक्त रहता है, दैहिक एवं भौतिक भोगोपभोगों को बटोरने में व्यस्त रहता है; वह पाप कर्म का बन्ध करता है और परिणाम स्वरूप एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों में परिभ्रमण करता है। इसलिए साधक को विषयेच्छा का त्याग करके पंचाचार के द्वारा संयम का परिपालन करना चाहिए।

विषयासक्त जीव सदा-सर्वदा दुःखों का संवेदन करते रहते हैं; अतः वे प्राणी किस प्रकार की वेदना एवं दुःखों का संवेदन करते हैं। यह बात सूत्रकार महर्षि सूत्रांक १४५ से कहेंगे...

I पाठांतर सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १४४ ॥ १-४-२-२

“आघाड धम्मं खलु से जीवाणं, तं जहा- संसारपडिवण्णाणं माणुसभवत्थाणं आरंभविणईणं दुक्खुव्वे असुहेसगाणं धम्मसवणगवेसयाणं सुस्सूसमाणाणं पडिपुच्छमाणाणं विण्णाणपत्ताणं”

II संस्कृत-छाया :

आख्याति धर्मं खलु सः जीवानां, तद् यथा-संसारप्रतिपन्नानां मानुषभवस्थानां आरम्भविनयिनां दुःखोद्वेगसुखैषकानां धर्मश्रवणगवेषकानां शुश्रूषमाणाणां प्रतिपृच्छतां विज्ञानप्राप्तानाम्।

III सूत्रार्थ :

वह ज्ञानी पुरुष निश्चित हि जीवों को धर्म कहता है... वे जीव कैसे हैं ? संसार में रहे हुए है... मनुष्य जन्म पाये हुए है... आरंभ के त्यागवाले है... दुःखों से उद्विग्न और सुख की शोध करनेवाले है... धर्मश्रवण के लिये सदा तत्पर, धर्म को सुननेवाले, सुने हुए धर्म का स्पष्ट भाव आत्मा में स्थिर करने के लिये प्रतिपृच्छा (प्रश्न) करनेवाले एवं तत्त्वविज्ञान को पाये हुए है... ऐसे मुमुक्षु जीवों को धर्म कहते हैं...

IV टीका-अनुवाद :

धर्म का स्वरूप कहने पर सुननेवाले जीव कोइक कारण से आर्त्तध्यानवाले हो तो भी चिलातीपुत्र की तरह उन्हे योग्य धर्म कहते हैं तथा विषयभोगों की आसक्ति से प्रमादी ऐसे शालीभद्र आदि जैसे को भी धर्म कहते हैं... ऐसे आर्त्त-दुःखी एवं प्रमादी जीव भी तथाविध कर्मों के क्षयोपशम से धर्म का स्वीकार करते हैं, अतः उन्हें धर्म कहते हैं...

अथवा तो आर्त्त याने दुःखी तथा प्रमत्त याने भोगोपभोग-समृद्धि में मग्न ऐसे जीव भी जो धर्म का स्वीकार करते हैं, तो फिर अन्य जीव तो धर्म का स्वीकार करेंगे हि...

अथवा राग एवं द्वेष के उदय से आर्त्त-दुःखी तथा विषय भोगों की कामना से प्रमत्त... ऐसे गृहस्थ... संसार स्वरूप अटवी में निवास करनेवाले ऐसे भव्य-प्राणीगण, हे जिनेश्वर ! ज्ञेय को जाननेवाले एवं करुणालु ऐसे आपके धर्मोपदेश से राग-द्वेष एवं विषयाभिलाष का विच्छेद करने के लिये क्यों समर्थ न हो ? अर्थात् समर्थ होते हि हैं... यह बात आप श्रोताजन जुठी न मानें... किंतु यह जो मैं सुधर्मस्वामी आप को कह रहा हूं वह यथातथ्य याने संपूर्ण सत्य हि है... अतः अति दूर्लभ ऐसे सम्यक्त्व तथा चारित्र के परिणामों को प्राप्त करके हे भव्य ! साधुजन ! पंचाचार में कभी भी प्रमाद न करें...

हां ! आपकी बात ठीक है, किंतु प्रमाद का त्याग करने के लिये किसका आलंबन लें ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- इस संसार के मध्यभाग में रहे हुए किसी भी जीव को मृत्यु के मुख में नहि जाना ऐसा नहि है, अर्थात् सभी जीवों को कालक्रम से मृत्यु निश्चित ही है...

अन्यत्र भी कहा है कि- इस संसार में निरंतर भोगोपभोग के लिये सेंकड़ों प्रयत्न करनेवाले भी मनुष्य क्या भरण की व्यथा याने पीडा नहि पाते है ?

मात्र मनुष्य हि नहि, किंतु देव-देवेन्द्र असुर असुरेन्द्र तथा किन्नर और किन्नरेन्द्र भी कृतांत याने यमराजा के दांत स्वरूप वज्र के आक्रमण से भेदे जाते हैं... अर्थात् बच नहि सकते... क्योंकि- मृत्यु को निवारण करने का संसार में कोइ उपाय भी नहि है...

मान लो की मरण से डरनेवाला कोइ प्राणी मरणसे बचने के लिये नश्यति याने भाग जाय, नैति याने नमस्कार करे, याति याने यम के शरण में जाय, वितनोति याने बचने के उपाय करे, तथा रसायण आदि का सेवन करे, बडे-बडे व्रत-नियमो का आचरण करे, या पर्वत की गुफाओं में छुप जाय... अथवा तपश्चर्या करे, तुच्छ असार प्रमाणोपेत भोजन करे या मंत्रसाधना करे तो भी कृतांत याने यमराजा के दांत स्वरूप करवत के यंत्र से क्रमशः भेदा

जाता हि है...

तथा जो लोग विषय एवं कषायों के अभिष्वंग (अनुराग) से प्रमादी हैं; अतः धर्म को समझने में समर्थ नहिं होते... ऐसे वे लोग पांच इंद्रियां एवं मन के विषयों को अनुकूल प्रवृत्ति स्वरूप इच्छा से विषयाभिमुख अथवा कर्मबंध के अभिमुख अथवा संसार की अभिमुखता को पाये हुए अर्थात् संसार में हि परिभ्रमणा करनेवाले, तथा वक्र्र याने असंयम की मर्यादा में रहे हुए, तथा काल याने मृत्यु के मुख में रहे हुए अर्थात् संसारी-प्राणीगण बार बार मरण को पानेवाले होते हैं...

अथवा कितनेक लोग धर्माचरण के लिये काल का अभिसंधान (ग्रहण) करते हैं जैसे कि- पिछली (छेल्ली) उग्र में अथवा पुत्र-पुत्रीओं के परिणयन याने सादी-विवाह के बाद हम धर्म करेंगे... किंतु यह सभी चिंताएँ पुरी करते करते हि वे लोग कालग्रहीत होते हैं... ऐसे लोग कर्मों के निचय याने समूह में अथवा कर्मों के बंध के कारण सावद्य आरंभ-समारंभ (पापाचरण) में हि तन्मय बने रहते हैं...

इस प्रकार इच्छाप्रणीत, वंकानिकेत, कालग्रहीत और निचय में निविष्ट ऐसे लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के ऐकेंद्रिय बेइंद्रिय आदि में अनेक बार जन्म-मरण करते हैं अथवा यहां पाठांतर है कि- इस इच्छाप्रणीत आदि में तथा अनुकूल इंद्रियों के विषयों में अथवा मोहनीय कर्म में डूबे हुए कामभोगासक्त प्राणी बार बार ऐकेंद्रियादि में जन्म धारण करते हैं... अतः उनका संसार से छुटकारा होना मुश्किल होता है...

यदि संसार के छुटकारा न हो, तो उन प्राणीओं का क्या होता है ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १४५ ॥ १-४-२-३

इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ, अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति । चिड्ढं कम्मेहिं कूरेहिं चिड्ढं परिचिड्ढइ, अचिड्ढं कूरेहिं कम्मेहिं नो चिड्ढं परिचिड्ढइ । एगे वयंति अदुवा वि नाणी, नाणी वयंति अदुवा वि एगे ॥ १४५ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह एकेषां तत्र तत्र संस्तवः भवति । अधः औपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति । भृशं क्रूरैः कर्मभिः भृशं परितिष्ठति । अभृशं क्रूरैः कर्मभिः न भृशं परितिष्ठति । एके वदन्ति अथवा अपि ज्ञानिनः, ज्ञानिनः वदन्ति अथवाऽपि एके ॥ १४५ ॥

III सूत्रार्थ :

यहां कितनेक जीवों को संसार के भिन्न भिन्न स्थानों का परिचय होता है... तथा नीचे नरक आदि में होनेवाले स्पर्शों का संवेदन करते हैं... अतिशय क्रूर कर्मों से बहोत समय पर्यंत वहां रहते हैं... किंतु अतिशय क्रूर कर्म नहि करनेवाले प्राणी नरकादि गतिओं में बहोत समय तक नहि रहते हैं... इस प्रकार कितनेक श्रुतज्ञानी कहते हैं... तथा केवलज्ञानी भी कहते हैं...

IV टीका-अनुवाद :

इस चौदह राजलोक स्वरूप लोक में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायवाले कितनेक प्राणीओं को नरकगति एवं तिर्यंच गति आदि कष्ट-पीडावाले स्थानों में बार बार गमनागमन से कष्टका परिचय होता है... तथा इच्छाप्रणीत आदि पूर्वोक्त स्वरूपवाले संसारी प्राणी तथा कुतीर्थिक साधुलोग भी इंद्रियों के विषय भोगों की कामना के साथ विषयभोगों के उपभोग में मग्न होकर औद्देशिक आदि दोषवाले आहारादि को निर्दोष मानते हुए नरक आदि स्थानों में बार बार उत्पन्न होकर, नरक आदि गति में होनेवाले दुःखदायक कठोर स्पर्शों का संवेदन करते हैं...

जैसे कि- लोकायतिक याने नास्तिक (चार्वाक) मतवाले कहते हैं कि- हे सुंदर आंखवाली सुंदरी ! खाओ, पीओ, क्योंकि- हे सुंदर अवयववाली सुंदरी ! जो काल बीत जाता है, वह वापस नहि आता... तथा यह शरीर तो मात्र पांचभूतों से बना कलेवर हि है...

तथा सावद्य योगों से आरंभ-समारंभ करनेवाले वैशेषिक मतवाले भी कहते हैं कि- अभिषेक, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थाश्रम, यज्ञ, दान, मोक्षण, दिशा, नक्षत्र, मंत्र, काल और नियम इत्यादि के विज्ञान से मोक्ष होता है... तथा अन्य भी सावद्ययोगों का आचरण करनेवाले मतांतरीय लोग इसी प्रकार और भी कुछ अन्य बातें करते हैं...

प्रश्न- क्या इच्छाप्रणीत आदि विशेषणवाले सभी जीव नरक आदि स्थानों में उत्पन्न होकर नरक आदि के कठोर स्पर्शों का संवेदन करते हैं ? कि- तद्योग्य कर्म करनेवाला कोईक हि प्राणी नरकादि के कठोर स्पर्शों का अनुभव करता है ?

उत्तर- ना ! सभी प्राणी नहि, किंतु- जो जो प्राणी वध-बंधन आदि अतिशय क्रूर कर्म करते हैं, वे हि नरकादिस्थानों में वैतरणीनदी में तैरना, असिपत्र वन में पत्तों के अभिघात से छेदन, तथा शाल्मली वृक्ष को आलिंगन करना इत्यादि स्वरूप से होनेवाली विरूप

दशा को अनुभव करते हुए तमस्तम आदि सातों नर को में रहते हैं... तथा जो प्राणी पंचेंद्रिय प्राणीओं के वध-बंधन आदि स्वरूप क्रूर कर्म नहि करते, वे अतिशय वेदना-पीडा से भरे हुए नरक आदि स्थानों में उत्पन्न नहि होते...

यह बात चौद पूर्वधर श्रुतकेवली आदि ज्ञानी पुरुष कहते हैं... सभी पदार्थों के स्वरूप को प्रगट करनेवाला ज्ञान जिन्हों के पास है; वे ज्ञानी... अतः चौदपूर्वधर आदि महर्षि वह कहते हैं कि- जो दिव्यज्ञानी = केवलज्ञानी परमात्मा कहते हैं... तथा निरावरण ज्ञानवाले केवलज्ञानी जो कहते हैं वह हि चौद पूर्वधर श्रुतकेवली कहते हैं... यह बात गत-प्रत्यागत स्वरूप सूत्र से हि कहते हैं... ज्ञानी याने केवलज्ञानी जो कहते है अथवा श्रुतकेवली जो कहते हैं वह यथार्थ हि होता है... क्योंकि- वे यथार्थभाषी है...

यहां केवलज्ञानीओं को सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हि है... जब कि- श्रुतकेवली, केवलज्ञानीओं के उपदेश के द्वारा हि प्रवृत्त होते हैं, अतः दोनों के वचन में एकवाक्यता (यथार्थता) हि होती है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- प्रमादी जीव विषय-कषाय में आसक्त रहता है। अपनी अतृप्त वासना को पूरी करने की भावना से अनेक जीवों को दुःख एवं कष्ट देता है। अपने भोगोपभोग के लिए अनेक प्राणियों का निर्दयता पूर्वक वध करता है। इस प्रकार क्रूर कर्म में प्रवृत्त होकर पाप कर्म का संग्रह करता है और परिणाम स्वरूप नरक-तिर्यच आदि नीच योनियों में जन्म लेता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति प्रमाद का सेवन नहीं करते, वे आरम्भ-समारम्भ आदि दोषों से भी बचे रहते हैं और परिणाम स्वरूप नरक आदि गतियों की वेदना को भी नहीं प्राप्त करते...

इससे यह स्पष्ट होता है कि- संसार परिभ्रमण का कारण कर्म है। प्रमाद के आसेवन से पाप कर्म का बन्ध होता है। और फलस्वरूप नरक आदि योनियों में महावेदना का संवेदन करना होता है। यह कथन सर्वज्ञ पुरुषों ने अपने निरावरण ज्ञान में देखकर किया है। और उसी के अनुरूप श्रुत केवलियों ने भी कथन किया है। श्रुतकेवलियों की निरूपण शक्ति सर्वज्ञों जैसी ही है। अतः इस बात को मानने में किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि- जब सर्वज्ञ एवं श्रुत केवली की तत्त्व निरूपण शैली एक समान है; तब फिर सर्वज्ञता एवं छद्मस्थता में क्या अन्तर रहा ? इसका समाधान यह है कि- सर्वज्ञ का ज्ञान निवारण होता है। अतः वे विना किसी भी सहाय स्वयं अपनी आत्मा से लोक के समस्त पदार्थों को देखते-जानते हैं। परन्तु श्रुत केवली का ज्ञान निरावरण नहीं

होता। अतः वे सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों को हृदयंगम करके उसी का उपदेश देते हैं। इसलिए उनका उपदेश सर्वज्ञ वचनों के सदृश होता है।

श्रुत केवली वाद-विवाद को मिटाने में समर्थ हैं। इस बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १४६ ॥ १-४-२-४

आवंति केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति । से दिट्टं च णे, सुयं च णे, मयं च णे, विण्णायं च णे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परियावेयव्वा परिघेत्तव्वा उद्देवव्वा, इत्थ वि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं । तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी- से दुट्टिं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुव्विण्णायं च भे, उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवं आइक्खह, एवं भासह, एवं परूवेह, एवं पण्णवेह, सव्वे पाणा... ४. हंतव्वा... ५. इत्थवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अणारियवयणमेयं । वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो, एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो सव्वे पाणा... ४. न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्देवव्वा । इत्थ वि जाणह नत्थित्थ दोसो, आयरियवयणमेयं, पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि । हं भो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं असायं ? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया सव्वेसिं पाणाणं, सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं, सव्वेसिं सत्ताणं, असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं त्तिबेमि ॥ १४६ ॥ इति चतुर्थाध्ययने द्वितीयोद्देशकः ॥ ४-२ ॥

II संस्कृत-छाया :

यावन्तः केचन लोके श्रमणाः च ब्राह्मणाः च, पृथक् विवादं वदन्ति । तद् दृष्टं च अस्माभिः, श्रुतं च अस्माभिः, मतं च अस्माभिः, विज्ञातं च अस्माभिः, ऊर्ध्वं अथः तिर्यक् दिक्षु सर्वतः सुप्रतिलेखितं (सुप्रत्युपेक्षितं) च अस्माभिः, सर्वे प्राणिनः, सर्वे भूताः, सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः, हन्तव्याः, आज्ञापयितव्याः परिगृहीतव्याः परितापयितव्याः अपद्रावयितव्याः । अत्रापि जानीथ नाऽस्ति अत्र दोषः । अनार्यवचनमेतत् । तत्र ये आर्याः ते एवं अवादिषुः - तत् दुर्दृष्टं च युष्माभिः, दुःश्रुतं च युष्माभिः, दुर्मतं च युष्माभिः, दुर्विज्ञातं च युष्माभिः, ऊर्ध्वं अथः तिर्यक् दिक्षु सर्वतः दुष्प्रत्युपेक्षितं च युष्माभिः, यत् यूयं एवं आचक्षध्वम्, एवं भाषध्वम्, एवं प्ररूपयत, एवं प्रज्ञापयत - सर्वे प्राणिनः... ४. हन्तव्याः... ५. अत्रापि जानीथ नाऽस्ति अत्र दोषः, अनार्यवचनमेतत् । वयं पुनः एवं आचक्षमहे, एवं भाषामहे, एवं प्ररूपयामः, एवं

प्रज्ञापयामः, सर्वे प्राणिनः, सर्वे भूताः, सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः, न हन्तव्याः, न आज्ञापयितव्याः, न परिगृहीतव्याः, न परितापयितव्याः, न अपद्रावयितव्याः। अत्राऽपि जानीथ नाऽस्ति अत्र दोषः। आर्यवचनमेतत्। पूर्वं निकाच्य समयं प्रत्येकं प्रत्येकं प्रश्नं करिष्यामि भोः ! भोः ! प्रावादुकाः ! किं युष्माकं सातं दुःखं असातं ? सम्यक् प्रतिपन्नान् अपि एवं ब्रूयात् - सर्वेषां प्राणिनाम्, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां जीवानां, सर्वेषां सत्त्वानां असातं अपरिनिर्वाणं महद्भयं दुःखमिति ब्रवीमि ॥

III सूत्रार्थ :

इस लोक में जो कोई श्रमण या ब्राह्मण हैं; वे विभिन्न विवाद करते हैं... वे ऐसा बोलते हैं कि- हमने यह देखा है, सुना है, माना है, जाना है, और उपर नीचे एवं तिर्यग् दिशाओं में चारों और अवलोकन कीया है कि- सभी प्राणी, भूत, जीव एवं सत्त्व को मारना चाहिये, आदेश करना चाहिये, संग्रहित करना चाहिये, परिताप देना चाहिये एवं प्राणों से वियुक्त करना चाहिये... और ऐसा सोचते हैं (जानते हैं) कि- यहां यज्ञ आदि में कोई दोष नहि है... किंतु यह अनार्यों का वचन है... इस लोक में जो आर्य हैं वे इस प्रकार कहते हैं कि- आपने यह अच्छा नहि देखा, अच्छा नहि सुना, अच्छा नहि माना, अच्छा नहि जाना, उपर नीचे एवं तिर्यग् दिशाओं में चारों और अच्छा नहि अवलोकन कीया... कि- जो आप ऐसा कहते हो, ऐसा बोलते है, ऐसी प्ररूपणा करते हो, और ऐसी प्रज्ञापना करते हो कि- सभी प्राणी, भूत, जीव एवं सत्त्वों को मारना चाहिये इत्यादि पांच पद... और कहते हो कि- ऐसा करने में यहां कोई दोष नहि है... किंतु यह अनार्यों के वचन है...

हम तो ऐसा कहते हैं, ऐसा बोलते हैं, ऐसी प्ररूपणा करते है, और ऐसी प्रज्ञापना करते हैं कि- सभी प्राणी...४ पद... को मारना नहि चाहिये, आदेश नहि करना चाहिये, संग्रहित नहि करना चाहिये, परिताप नहि देना चाहिये, और प्राणों के वियोग स्वरूप मरण भी नहि देना चाहिये... यहां जानो कि- यहां कोई दोष नहि है... क्योंकि- यह आर्यों का वचन है...

पहले आगम के भाव को जानकर एक एक प्रावादुक याने कुमतवालों को पुछुंगा कि- आपको साता इष्ट है कि- दुःख याने असाता ? अर्थात् अच्छी तरह से समझ रहे ऐसे उन कुमतवालों को ऐसा कहें कि- सभी प्राणीगण, सभी भूत, सभी जीव एवं सभी सत्त्वों को असाता अपरिनिर्वाण महाभय एवं दुःख स्वरूप है... ऐसा मैं कहता हुं... ॥ १४६ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस मनुष्य लोक में जो कोई श्रमण याने पाखंडी साधु, तथा ब्राह्मण याने द्विजलोग

परस्पर विरुद्ध अलग अलग विवाद करते हैं... अर्थात् परलोक को जानने की इच्छावाले अपने अपने मत के अनुराग से अन्य के मत की निंदा करते हैं... जैसे कि- भागवतवाले कहते हैं कि- पच्चीस तत्त्वों के परिज्ञान से मोक्ष होता है... तथा आत्मा सर्वव्यापी है, निष्क्रिय है, निर्गुण है चैतन्यलक्षणवाला है तथा निर्विशेष ऐसा सामान्य तत्त्व है... तथा वैशेषिक मतवाले कहते हैं कि- द्रव्य आदि छह (६) पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है... तथा समवायि ज्ञान गुण से इच्छा, प्रयत्न, द्वेष आदि गुणों से गुणवाला आत्मा परस्पर निरपेक्ष ऐसे सामान्यविशेष स्वरूप तत्त्व है... तथा शाक्य मतवाले कहते हैं कि- परलोक में जानेवाला आत्मा हि नहि है... तथा बुद्धमत कहता है कि- सभी वस्तु सामान्य से रहित विशेष तथा क्षणिक हि है... तथा मीमांसक मतवाले मोक्ष एवं सर्वज्ञ के अभाव में रहे हुए हैं... तथा कितनेक मतवाले पृथ्वीकाय आदि एकेंद्रिय जीवों को मानते हि नहि है... तथा कितनेक मतवाले वनस्पति को भी अचेतन कहते हैं... तथा कृमि आदि बेइंद्रिय आदि जीवों में भी जीव का स्वीकार नहि करते... अतः उनमें जीव का अभाव होने से उनके वध में कर्मबंध नहि है, अथवा अल्प बंध है... ऐसा कहते है...

तथा हिंसा की बाबत में भी भिन्न भिन्न मान्यता है... अन्यत्र कहा है कि- प्राणी, प्राणी का ज्ञान, घातक चित्त, तथा प्राणीवध स्वरूप चेष्टा, और जीव का प्राणों से वियुक्त होना, इस प्रकार हिंसा के पांच स्वरूप है... इत्यादि औद्देशिक के उपभोग की अनुज्ञा आदि कुमतवालों के वचन वास्तविकता से विरुद्ध है... इत्यादि स्वयं हि जान लें...

तथा ब्राह्मण और शाक्यादि श्रमण धर्म-विरुद्ध वचन जो भी बोलते हैं; वे सूत्र से हि कहते हैं... वे ऐसा कहते हैं कि- दिव्यज्ञान से हमने यह देखा है, अथवा आगम के प्रणेता ऐसे हमारे तीर्थकर ने देखा है, और हमने उनसे सुना है... गुरु-शिष्य के संबंध से उत्तरोत्तर आज हमारे पास यज्ञ का तत्त्वज्ञान आया है... और वह युक्तियुक्त होने से हम को मान्य है... अथवा तत्त्व भेद पर्याय से हमारे तीर्थकरो ने अथवा हमने स्वतः हि देखा है, अन्य के उपदेश से नहि... तथा यह उपर नीचे एवं तिरछी दशों दिशाओं में चारों ओर से प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम एवं अर्थापत्ति इत्यादि सभी प्रकार से मन के प्रणिधान आदि के द्वारा अच्छी तरह से पर्यालोचन कीया है, चिंतन कीया है... कि- सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव एवं सभी सत्त्वों को मारना चाहिये, आदेश देना चाहिये, परिग्रह करना चाहिये, परिताप देना चाहिये, तथा प्राणों के वियोग स्वरूप मरण देना चाहिये... इत्यादि यहां धर्म के चिंतन में ऐसा माना गया है, कि- याग = यज्ञ के लिये अथवा देवता की याचना से प्राणीओं के वध में पापानुबंध स्वरूप दोष नहि है... इसी प्रकार कितनेक औद्देशिक भोजन करनेवाले पाखंडी साधु लोग या ब्राह्मण लोग धर्मविरुद्ध या परलोक विरुद्ध बातें करते हैं...

यहां जिनमत कहता है कि- यह सभी बातें जीवों को पीडा देनेवाली होने से वास्तव में पापानुबंधी है और अनार्यों से कही गई है... तथा सभी हेय (त्याज्य) पदार्थों से जो दूर रहते हैं वे; आर्य... तथा इन से जो विपरीत हैं वे; अनार्य... अतः ऐसे अनार्य लोग क्रूर कर्मवाले हैं और उनके वचन प्राणीओं का उपघात (विनाश) करनेवाले हैं...

तथा जो श्रमण-साधु लोग ऐसे अनार्य नहीं हैं, किंतु आर्य हैं, अर्थात् देश भाषा एवं आचार से जो आर्य हैं, ऐसे वे जिनमतवाले श्रमण-मुनी ऐसा कहते हैं कि- यहां अनंतर में जो आपने कहा वह आपने या आपके तीर्थंकर ने गलत देखा है, गलत सुना है, गलत माना है, गलत जाना-समझा है, तथा उपर नीचे तिरच्छ सभी दिशाओं में चारों ओर गलत पर्यालोचन किया है...

तथा आप जो कुछ कहते हो, बोलते हो, इत्यादि कि- याग = यज्ञ एवं उपहार आदि में ऐसा माना गया है, कि- यहां यज्ञ आदि में प्राणीओं के उपमर्दनवाले अनुष्ठानों में पापानुबंध स्वरूप दोष नहीं है... इत्यादि... तथा अन्य मतवालों के वचन में दोष प्रगट करके धर्म विरुद्धता दिखाकर, अपने हिंसा को सत्य कहनेवाले आप ऐसा कहते हो कि- धर्म विरुद्ध न हो ऐसी प्ररूपणा हम करते हैं... इत्यादि...

किंतु आपके वे हिंसा इत्यादि पद प्रतिषेध के साथ अर्थात् न हन्तव्या इत्यादि... वचन में दोष नहीं है, क्योंकि- यहां वध के प्रतिषेध की विधि में पापानुबंध स्वरूप दोष नहीं है... तथा प्राणीओं के वध का प्रतिषेध कहनेवाले यह वचन हिंसा वास्तव में आर्यवचन हैं...

ऐसा कहने पर पाखंडी (अन्य मतवाले) कहते हैं कि- “आपके वचन आर्यवचन हैं और हमारे वचन अनार्यवचन हैं” इस प्रकार यह जो आप निरंतर कहते हो, किंतु युक्ति से रहित यह आपकी बात हमें मान्य नहीं है...

अब सूत्रकार आचार्य म. परमत की अनार्यता सिद्ध करते हुए सोचते हैं कि- “अपनी कदाग्रह युक्त बातों से बंधे हुए वादीगण सहजता से विचलित नहीं होते हैं” इत्यादि... अतः ऐसा मानकर प्रत्येक अन्य मतवालों से प्रश्न करते हुए शास्त्रकार महर्षि श्री सुधर्मस्वामीजी कहते हैं कि- पहले समय याने आगम... जिनमतवालों के शास्त्र में जो कुछ कहा है वह बराबर चित्त में स्थापित करके ही कहें कि- आर्यवचन कहां है ? जिनमत में या अन्यमत में ? इस प्रकार परमतवालों को प्रश्न करें...

अथवा पहले प्रश्न करनेवाले जिनमत के गीतार्थ साधुओं को को स्वमत एवं परमत का सम्यग् ज्ञान देकर बाद में पाखंडीओं को प्रश्न करते हुए कहें कि- हे प्रवादुक ! प्रवादी-लोग ! हम आपको प्रश्न करते हैं कि- आपको साता दुखदायक दीखती है कि- असाता ?

ऐसा पुछने पर यदि वे ऐसा कहे कि- साता... तब तो प्रत्यक्ष हि आप के वचन में आगम एवं लोकव्यवहार को बाधा होती है... और यदि वे परमतवाले ऐसा कहे कि- असाता... तब तो अपनी हि बातों से बंधे हुए उन प्रवादीओं को ऐसा कहें कि- हां ! आप ठीक कहते हो ! जैसे कि- न केवल आपको हि असाता दुःख स्वरूप है, किंतु संसार के सभी प्राणीओं को असाता, दुःख स्वरूप हि है, और मन को इष्ट नहि है... तथा अनिर्वृत्तिस्वरूप यह असाता हि अपरिनिर्वाण एवं महाभय स्वरूप है तथा दुःख स्वरूप है... ऐसा समझकर सभी प्राणीओं को मारना नहि चाहिये... इत्यादि कहें...

तथा प्राणीओं को मारने में दोष है... कर्मबंध है... अतः एव संसार में परिभ्रमण है... इत्यादि सविस्तार कहें...

अब जों लोग ऐसा कहतें हैं कि- “प्राणीओं के वध में दोष नहि है” वे अनार्यवचन हैं... यहां “इति” पद अधिकार की समाप्ति का सूचक है... तथा ब्रवीमि पद का अर्थ यह है कि- सुधर्मस्वामीजी अपने शिष्य जंबू आदि श्रोताओं को कहतें हैं...

इस प्रकार अपने हि वाणी के बंधन के द्वारा प्रवादियों की अनार्यता सिद्ध की...

यहां रोहगुप्त मंत्री की कथा स्वयं निर्युक्तिकार हि निर्युक्ति की गाथाओं से कहतें हैं वह इस प्रकार रोहगुप्त मंत्री आगम के सद्भाव को जानतें हैं, मध्यस्थता का अवलंबन करतें हैं और परीक्षा के द्वारा कुतीर्थिकों का निराकरण करतें हैं; इत्यादि बात अब निर्युक्ति की गाथाओं से कहतें हैं...

नि. २२७

क्षुल्लक (लघु)-साधु को श्लोक का एक चरण (पाद) देकर रोहगुप्त मंत्री ने गुप्त रीति से अन्यलिङ्गी याने प्रवादीओं की परीक्षा की... वह इस प्रकार- चंपा नगरी में सिंहसेन राजा के रोहगुप्त नाम के महामंत्री थे... और वह जिन-मत से भावित अंतःकरण (चित्त) वाला है, तथा सद् एवं असद् वाद को जाननेवाला है...

अब एक बार सभा मंडप में बैठे हुए राजा ने धर्म के विचार का प्रस्ताव रखा... कि- जिसको जो अभिमत याने इष्ट हो, वह उसे अच्छी तरह से कहें... तब वह रोहगुप्त मंत्री तो मौन हि रहे... तब राजा ने कहा कि- आप धर्म-विचार के बाबत में क्यों कुछ भी नहि बोलतें ? तब वह रोहगुप्त मंत्री बोले कि- हे राजन् ! इन पक्षपातवाले वचनों से क्या ? आप सभी लोग विचार के परामर्श द्वारा स्वतः हि धर्म की परीक्षा करें... ऐसा तीर्थिकों को कहकर और राजा की अनुमति लेकर “सकुण्डलं वा वदनं नवेति” यह गाथा का एक चरण पुरे नगर में उद्घोषित करवाया... और संपूर्ण गाथा भंडार में रखी... तथा नगरी में ऐसी

उद्घोषणा करी कि- “जो कोई इस गाथा के चरण की पादपूर्ति करेगा, उसको राजा, मन चाहा दान देगा और उनका भक्त बनेगा... अब उस गाथा के पाद (चरण) को लेकर सभी प्रवादी लोग निकले और सातवे दिन राजा के सभा मंडप में आये... तब सर्व प्रथम परिव्राजक कहते हैं कि-”

नि. २२८

भिक्षुं पविट्टेण मएऽज्जदिट्ठं, पमयामुहं कमलविसालनेत्तं ।

वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं सकुंडलं वा वयणं नवेति ॥१॥

भिक्षा के लिये गये हुए आज मैंने कमल जैसे विशाल नेत्रवाली स्त्री का मुख देखा, किंतु व्याक्षिप्त चित्तवाले मैंने यह अच्छी तरह से नहि जाना कि- मुख कुंडल से युक्त था कि नहि ? यहां मुख के अपरिज्ञान में व्याक्षेप हि कारण बताया है, न कि- वीतरागता... इस प्रकार यह समस्यापूर्ति मूल गाथा से विभिन्न होने के कारण से उस परिव्राजक का तिरस्कार करके राजा ने उसको राजसभा से बाहर निकाल दीया... अब तापस कहते हैं कि...

नि. २२९

फलोदणं मि गिहं पविट्टो, तत्थासणत्था पमया मि दिट्ठा ।

वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं, सकुंडलं वा वयणं नवेति ॥

इस श्लोक का अर्थ- फल एवं जल के लिये मैं घर में गया तब वहां आसन पे बैठी हुई स्त्री को मैंने देखा... किंतु व्याक्षिप्त चित्तवाले मैंने यह अच्छी तरह से नहि जाना कि- मुख कुंडलवाला था कि नहि ?... यह सुनकर राजा ने पूर्व की तरह इनको भी बाहर निकाल दीया... अब शौद्धोदनि याने बुद्ध के शिष्य ने कहा...

नि. २३०

माला-विहारंमि मएऽज्जदिट्ठा उवासिया कंचण भूसियंगी ।

वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु नायं सकुंडलं वा वयणं नवेति ॥

इत्यादि प्रकार से सभी तीर्थिक साधु लोगोंने समस्यापूर्ति की, किंतु भंडार में स्थापित की गई गाथा के अनुरूप न होने से राजा को संतोष नहि हुआ... तब राजाने कहा कि- जिनमतवाले तो कोई भी नहि आये... तब मंत्रीने जिनमतवाले, भिक्षा के लिये निकले हुए एवं नवतत्व के परिणामवाले क्षुल्लक याने प्रातःकाल के बाल-सूर्य के जैसे छोटे साधु को विनंती करके राजसभा में लाये... तब श्रुल्लक-साधु ने समस्या-पूर्ति इस प्रकार करी...

नि. २३१

खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स, अज्जाप्यजोगे गयमाणसस्स ।

किं- मज्झ एण विचिंतणेणं ? सकुंडलं वा वयणं नवेति ॥

यहां मुख के अपरिज्ञान में क्षमा आदि कारण बताये है... किंतु व्यापेक्ष नहि... इस प्रकार इस गाथा का अर्थ मूल गाथा के अनुरूप होने से राजा संतुष्ट हुआ और क्षमा, दम, जितेंद्रियत्व आदि आध्यात्मिक योग की जानकारी के कारण से राजा को धर्म के प्रति भावोल्लास बढ़ा...

तब क्षुल्लक साधुने धर्म-प्रश्नोत्तर काल के पूर्व से हि लाकर रखे हुए शुष्क एवं आर्द्र मिट्टी के दो गोले को दिवाल (भित्ति) के उपर फेंक कर जाने लगे, तब जाते हुए उस छोटे साधु को राजाने कहा कि- पुछने पर भी आप धर्म को क्यों नहि कहते हो ? तब वह बालमुनी बोले कि- हे भोले राजा ! शुष्क एवं आर्द्र गोले को दिवारपे फेंकने के द्वारा मैंने आपको धर्म कहा है... जैसे कि- (देखीये नि. गाथा २३२ और २३३ का अर्थ)

नि. २३२-२३३

मिट्टी के दो गोले एक आर्द्र याने गीला तथा दुसरा शुष्क याने सूका... दोनों दिवार पे फेंका तब जो आर्द्र था वह दिवार पे चिपक गया और जो सुका (शुष्क) था वह दिवार से टकराकर नीचे गिर पडा...

इस प्रकार दुर्बुद्धीवाले जो लोग कामभोग की लालसा वाले हैं; वे संसार की दिवार में चिपक जाते हैं, और जो लोग विषयभोग से विरक्त हैं; वे शुष्क गोले की तरह संसार स्वरूप दिवार में नहि चिपकते...

यहां यह भावार्थ है कि- स्त्रीजनों के अंग एवं प्रत्यंगों को देखने में आसक्ति याने अनुराग होने की संभावना है... अतः साधु लोग स्त्रीओं के मुख को नहि देखते... किंतु यदि आसक्ति का अभाव है, तब स्त्रीओं के मुख दृष्टिपथ में आने पर भी कोई दोष नहि है... इसलिये कहते हैं कि- कामराग स्वरूप आर्द्र गोले इस संसार-पंक में या कर्मों के कादव में चिपक जाते हैं... और जो साधुजन क्षांति आदि गुणों से युक्त हैं, संसार के भोगोपभोगों से पराङ्मुख हैं; ऐसे काष्ठमुनी आदि साधुजन शुष्क गोले की तरह संसार में कहीं पर भी आसक्त नहि होते अर्थात् चिपकते नहि है...

इस प्रकार यहां सम्यक्त्व-अध्ययन में दुसरे उद्देशक की निर्युक्ति का विवरणार्थ समाप्त हुआ...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में आर्य-अनार्य या सम्यक्त्व-मिथ्यात्व का स्पष्ट एवं सरस विवेचन किया

गया है। दुनिया में अनेक विचारक हैं। परन्तु तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान न होने से उन सब की विचारधारा परस्पर टकराती है। इसलिए शाक्य श्रमण- बौद्ध, सांख्य आदि मत के भिक्षु और ब्राह्मणों-वैदिक धर्म को मानने वालों का परस्पर संघर्ष होता रहता है। भागवत के मानने वालों का कहना है कि- २५ तत्त्वों का परिज्ञान कर लेने से जीव का मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा सर्वव्यापी, निष्क्रिय निर्गुण और सचेतन है, तथा संसार में निर्विशेष सामान्य ही एक तत्त्व है।

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि- द्रव्य आदि ६ पदार्थों का ज्ञान कर लेने से मोक्ष हो जाता है। यह आत्मा समवाय, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, द्वेष आदि गुणों से युक्त है और सामान्य एवं विशेष दोनों परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र तत्त्व हैं।

बौद्ध विचारकों ने आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना। उनके विचार में सभी पदार्थ क्षणिक हैं। आत्मा भी प्रतिक्षण नई-नई उत्पन्न होती है। और पुरानी आत्मा का नाश होता रहता है। इस प्रकार वह आत्मा अनित्य है; अशाश्वत है। अर्थात् संपूर्ण विश्व क्षणिक है...

मीमांसक सर्वज्ञ एवं मुक्ति को नहीं मानते। कुछ विचारक पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय पदार्थों को सजीव नहीं मानते। कुछ लोग वनस्पति को निर्जीव मानते हैं। कुछ नास्तिक शरीर के अतिरिक्त आत्मा की सत्ता को ही नहीं मानते।

वैदिक लोगों का कहना है कि- हमारे महर्षि सभी जीवों को जानते हैं। उनका उपदेश है कि- वेद विहित यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठान में किसी भी प्राणी का वध करना या उसके अंगों का छेदन-भेदन करने में दोष नहीं है। क्योंकि- वेदविहित यज्ञ क्रिया से उन जीवों का कल्याण होता है, इन्हें स्वर्ग आदि शुभ गति की प्राप्ति होती है।

वेद विहित यज्ञ में की गई हिंसा; हिंसा नहीं है। वह मांस अभक्ष्य नहीं, किंतु भक्ष्य है। जो व्यक्ति वह मांस नहीं खाता है, वह प्रेत्य होता है। श्राद्ध और मधुपर्क में आमन्त्रित व्यक्ति यदि मांस नहीं खाता है, तो वह मरकर २१ जन्म तक पशु होता है। इस प्रकार वेद विहित हिंसा में पाप नहीं लगता। उसमें धर्म ही होता है... इत्यादि...

अब जिनमत कहता है कि- ऊपर कहे गये कथन आर्यत्व का नहीं, किंतु अनार्यत्व का संसूचक है। क्योंकि- आर्य पुरुष किसी भी स्थिति में हिंसा में धर्म नहीं मानते हैं। हिंसा-हिंसा ही है, वेद आदि धर्म ग्रंथों में उल्लेख होने मात्र से वह हिंसा धर्म-पूण्य नहीं हो सकती। अपने स्वाद का पोषण करने एवं मनोवृत्ति की पूर्ति के हेतु किसी प्राणी को मारना या परिताप देना पाप ही है। ऐसी स्थिति में धर्म के नाम पर हिंसा करना तो पाप ही नहीं, किंतु महापाप है, पतन की पराकाष्ठा है। क्योंकि- धर्म सभी प्राणियों का कल्याण करने वाला है, सब को शान्ति देने वाला है। उसके नाम पर जीवों को त्रास देना धर्म नहि किंतु अधर्म ही है।

यह तो स्पष्ट है कि- हिंसा में धर्म नहीं है। धर्म वही है; जिसमें प्राणीमात्र के हित की भावना रही हुई है। धर्म में हिंसा आदि पाप कार्यों का सर्वथा निषेध किया गया है। इसलिए हिंसा आदि आप कार्यों से निवृत्त व्यक्ति ही आर्य हैं और वे ही मूक्ष मार्ग पर चलने के अधिकारी हैं।

‘त्तिवेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ इति चतुर्थाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

५१ ५१ ५१

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष. निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्द्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. ९६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ४ उद्देशक - ३

ॐ तपश्चर्या ॐ

दूसरा उद्देशक पूर्ण हुआ... अब तीसरे उद्देशक का आरंभ करते हैं... यहां परस्पर यह अभिसंबंध है... कि- दुसरे उद्देशक में कहा था कि- परमत के निराकरण से सम्यक्त्व की निश्चलता, सम्यग्ज्ञान एवं उसके फल स्वरूप विरति याने सम्यक् चारित्र... किंतु यह तीनों के होने पर भी यदि निर्दोष तपश्चर्या न हो तो पूर्व संचित कर्मों का क्षय नहि होता, अतः यहां तीसरे उद्देशक में तपश्चर्या की विधि कहेंगे...

इस संबंध से आये हुए इस तीसरे उद्देशक का यह पहला सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १४७ ॥ १-४-३-१

उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगंमि जे केइ विण्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयच्चां धम्मविउ त्ति अंजु, आरंभजं दुक्खमिणंति नच्चा, एवमाहु संमत्तदंसिणो, ते सव्वे पावाइया-दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति । इय कम्मं परिण्णाय सव्वसो ॥ १४७ ॥

II संस्कृत-छाया :

उपेक्षस्व बहिः च लोकं, तस्मिन् सर्वलोके ये केचित् विज्ञाः, अनुविचिन्त्य पश्य निक्षिप्तदण्डाः, ये केऽपि सत्त्वाः पलितं त्यजन्ति, नराः मृताऽर्चाः धर्मविदः इति ऋजुः, आरम्भजं दुःखं इदमिति ज्ञात्वा एवं आहुः सम्यक्त्व (समस्त) दर्शिनः ते सर्वे प्रावादिकाः दुःखस्य कुशलाः परिज्ञां उदाहरन्ति । इति कर्म परिज्ञाय सर्वशः ॥ १४७ ॥

III सूत्रार्थ :

जो लोग धर्म से बाहर है उनकी उपेक्षा करें, इस संपूर्ण लोक में जो कोई विद्वान है वह उनसे अधिक होता है... तथा जो लोग दंड का त्याग करते हैं उनको देखो और समझो ! तथा जो कोई लोग पलित याने कर्म का त्याग करते हैं वे मनुष्य मृतार्चा याने अकषायी हैं और धर्म को जानते हैं तथा ऋजु याने सरल हैं... “यह दुःख आरंभ से उत्पन्न होता है” ऐसा जानकर समस्तदर्शी वे सभी प्रवचनकार कुशल साधुलोग दुःख की परिज्ञा कहते हैं, इस प्रकार कर्म को चारों ओर से जानें ॥ १४७ ॥

IV टीका-अनुवाद :

यहां अनंतर उद्देशक में जो पाखंडी लोगों का कथन किया था, उनको धर्म से बाहर रहे हुए जानकर उनकी उपेक्षा करें... अर्थात् उनके क्रिया-अनुष्ठानों की अनुमोदना न करें तथा उनके उपदेश, अभिगमन, पर्युपासन, दान एवं संस्तव आदि न करें... इस प्रकार जो मनुष्य पाखंडी लोगों के अनार्यवचनों को जानकर उनकी उपेक्षा करते हैं, वह मनुष्य इस संपूर्ण लोक में जितने भी समझदार हैं, उन से बढ़कर के है...

तथा प्राणीओं को उपघात करनेवाले मन-वचन एवं काय स्वरूप दंड का जिन्होंने ने परित्याग किया है, वे समझदार विद्वान होते हैं... उनको देखो और विचारो कि- जो मनुष्य उपरतदंडवाले हैं, वे हि धर्म को जाननेवाले हैं, और वे हि आठ प्रकार के कर्मों का विनाश करते हैं... यह बात क्षण वार आंखे बंध करके विवेक पूर्ण मति से चिंतन करें एवं तत्त्व का अवधारण करें...

तथा इस विश्व में मात्र मनुष्य हि सभी कर्मों के विनाश में समर्थ होते हैं... अन्य देव आदि नहि... तथा मनुष्य भी सभी नहि, किंतु जो मृतार्च्य हैं; वे हि... अर्थात् जो मनुष्य निष्प्रतिकर्म शरीरवाले हैं; वे हि... अथवा अर्च्चा याने क्रोध स्वरूप तेज... अतः क्रोधादि कषाय जिसके मृत याने विनष्ट हुए हैं, वे अकषायवाले मनुष्य हि आठों कर्मों को क्षय करने में समर्थ होते हैं... तथा श्रुत एवं चारित्र स्वरूप धर्म को जाननेवाले तथा ऋजु याने कुटिलता से रहित... ऐसे मनुष्य यह जानते हैं कि- सावद्य क्रियाऽनुष्ठान से हि सकल प्राणीओं को प्रत्यक्ष ऐसे दुःख की प्राप्ति होती है... वे इस प्रकार- कृषि, सेवा एवं व्यापार आदि आरंभ में प्रवृत्त मनुष्य शारीरिक एवं मानसिक दुःखों को प्राप्त करते हैं, वे दुःख वाणी से कहे नहि जाते... अर्थात् प्रत्यक्ष देखने से या अनुभव से हि जाने जाते हैं... इसीलिये इन दुःखों को जानकर हि मनुष्य-साधु मृतार्च्य धर्मविद् एवं ऋजु होते हैं... यह बात समत्वदर्शी, सम्यक्त्वदर्शी, समस्तदर्शी महर्षि कहते हैं...

प्रावादिक याने प्रकर्ष रीति से मर्यादा में रहकर कहने के शीलवाले अर्थात् यथास्थितार्थ वस्तु के स्वरूप को कहनेवाले वे गणधरादि स्थविर महर्षि कहते हैं कि- शारीरिक एवं मानसिक दुःख अथवा उसके कारण स्वरूप कर्म को दूर करने में कुशल याने निपुण साधु हि ज्ञ परिज्ञा से दुःख याने कर्मों को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनको दूर करते हैं... अर्थात् पूर्व कहे गये कर्मों के बंध, उदय, एवं सत्ता के प्रकारों को जानकर कुशल मुनी सभी प्रकार से उन कर्मों का प्रत्याख्यान कहते हैं...

अथवा तो मूल कर्म आठ (८) एवं उत्तर कर्म एकसो अड्डावन (१५८) अथवा तो प्रकृतिबंध स्थितिबंध रसबंध एवं प्रवेशबंध के प्रकार से अथवा तो उदय के प्रकार से तथा

बंध एवं सत्ता स्वरूप कर्म तथा उन कर्म के बंध के कारण मिथ्यात्व आदि को जानकर प्रत्याख्यान कहते हैं...

कर्मों के उदय निम्न प्रकार हैं... जैसे कि- मूल कर्मप्रकृतिओं के उदय स्थान तीन (३) हैं... १. अष्टविध, २. सप्तविध एवं ३. चतुर्विध... उनमें जो प्राणी आठों कर्मों को एक साथ भुगतते हैं वह अष्टविध... यह अष्टविध कर्म का उदय अभव्य जीवों को काल की दृष्टि से अनादि-अनंत है तथा भव्यजीवों को अनादि-सांत एवं सादि-सांत... तथा मोहनीय कर्म के क्षय या उपशम होने पर सप्तविध उदय होता है तथा चार घातिकर्मों के क्षय होने पर चतुर्विध कर्मों का उदय होता है...

अब उत्तर प्रकृतियों के उदय स्थान कहते हैं... जैसे कि- ज्ञानावरणीय एवं अंतराय कर्म के पांच पांच प्रकृतियों का एक ही उदय स्थान होता है... तथा दर्शनावरणीय कर्म के दो उदयस्थान हैं... १. यक्षुः आदि चार दर्शनावरणीय के उदयवाला, तथा २. चार दर्शन के साथ एक निद्रा... याने पांच प्रकृतियों का दुसरा उदयस्थान है...

तथा वेदनीय कर्म का सामान्य से एक ही उदयस्थान है; साता या असाता वेदनीय स्वरूप... क्योंकि- साता एवं असाता परस्पर विरोधी हैं; अतः दोनों का एक साथ उदय होना असंभव है...

तथा मोहनीय कर्म का सामान्य से नव (९) उदयस्थान है... वे इस प्रकार... दश, नव, आठ, सात, छह, पांच, चार, दो, एवं एक... उनमें १. मिथ्यात्व, २. अनंतानुबंधी, ३. अप्रत्याख्यानीय, ४. प्रत्याख्यानीय, ५. संज्वलन स्वरूप क्रोध... इसी प्रकार मान, माया एवं लोभ में भी जानीयेगा... ६. तीन वेद में से कोई भी एक वेद... ७. हास्य, ८. रति या शोक-अरति तथा ९. भय एवं १०. जुगुप्सा... तथा भय और जुगुप्सा में से जब कोई भी एक का अभाव हो तब नव कर्म का उदयस्थान होता है... और भय तथा जुगुप्सा दोनों के अभाव में आठ कर्म का उदयस्थान होता है... तथा अनंतानुबंधी के अभाव में सातकर्म, मिथ्यात्व के अभाव में छह (६) कर्म, अप्रत्याख्यानीय के अभाव में पांच कर्म, प्रत्याख्यानीय के अभाव में चार कर्म, तथा परिवर्तमान युगल के अभाव में संज्वलन क्रोध एवं कोई भी एक वेद स्वरूप दो कर्म का उदयस्थान... तथा वेद के अभाव में मात्र एक संज्वलन क्रोध का एक कर्म स्वरूप उदयस्थान...

तथा आयुष्य कर्म के चार प्रकृतियों में से कोई भी एक आयुष्य के उदय स्वरूप एक ही उदयस्थान है...

तथा नाम-कर्म के बारह (१२) उदयस्थान हैं... वे इस प्रकार- बीस, एकवीस,

चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताइस, अट्ठाइस, गुनतीस, तीस, इकतीस, नव तथा आठ कर्म स्वरूप नाम कर्म के बारह उदयस्थान हैं... उनमेंसे सयोगी संसारी जीवों को दश उदयस्थान होते हैं और अयोगी केवलज्ञानीओं को अंतिम के दो उदयस्थान होते हैं... यहां नाम कर्म की ध्रुवोदयवाली बारह कर्म प्रकृतियां इस प्रकार हैं... १. तैजस शरीर, २. कार्मण शरीर, ३. वर्ण, ४. गंध, ५. रस, ६. स्पर्श, ७. अगुरुलघु, ८. स्थिर, ९. अस्थिर, १०. शुभ, ११. अशुभ एवं १२. निर्माण नामकर्म...

समुद्घात की प्रक्रिया में कार्मणशरीरवाले सामान्य केवलज्ञानी को बीस (२०) कर्म प्रकृतियां इस प्रकार होती हैं... १. मनुष्यगति, २. पंचेंद्रियजाति, ३. त्रस, ४. बादर, ५. पर्याप्त, ६. सुभग, ७. आदेय, ८. यशःकीर्ति, तथा बारह (१२) ध्रुवोदयी कर्म को मीलाने से बीस (२०) कर्मवाला यह पहला उदयस्थान है...

तथा एकवीस (२१) से लेकर इकतीस (३१) पर्यंतके नव (९) उदयस्थान जीव एवं गुणस्थानक के भेद से अनेक भेद-विकल्पवाले होते हैं... किंतु ग्रंथ का प्रमाण बढ जाने के कारण से उन सभी के होनेवाले अनेक भेद को नहीं कहते हैं, तो भी उनके एक-एक भेद को यहां कहते हैं... वे इस प्रकार- इक्कीस (२१) कर्म- १. गति, २. जाति, ३. आनुपूर्वी, ४. त्रस, ५. बादर, ६. पर्याप्त या अपर्याप्त, ७. सुभग या दुर्भग, ८. आदेय या अनादेय... ९. यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति, यह नव एवं बारह ध्रुवोदय, दोनो मीलकर इक्कीस (२१) कर्मवाला यह दुसरा उदयस्थान है...

तथा चौबीस (२४) कर्म- १. तीर्थचगति, २. ऐकेंद्रियजाति, ३. औदारिक शरीर, ४. हुंडक संस्थान, ५. उपघात, ६. प्रत्येक या साधारण, ७. स्थावर, ८. सूक्ष्म या बादर, ९. दुर्भग, १०. अनादेय, ११. अपर्याप्तक, १२. यशःकीर्ति या अयशःकीर्ति तथा बारह (१२) ध्रुवोदयी... कुल मीलाकर चौबीस (२४) कर्मवाला यह तीसरा उदयस्थान है...

तथा इन चौबीस कर्मों में से अपर्याप्त को न्यून करें एवं पर्याप्तक तथा पराघात का प्रक्षेप करने से पच्चीस (२५) कर्मवाला यह चौथा उदयस्थान है...

तथा सामान्य केवलज्ञानीओं को जो बीस (२०) कर्मवाला उदयस्थान कहा है, उसमें औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, छह में से कोई भी एक संस्थान, पहला संघयण, उपघात एवं प्रत्येक... यह छह (६) कर्म मीलाने से छब्बीस (२६) कर्मवाला यह पांचवा उदयस्थान केवली समुद्घात में औदारिक मिश्रयोगवाले सामान्य केवलज्ञानीओं को होता है...

तथा पूर्वोक्त २६ कर्मों में तीर्थकर नामकर्म को जोड़ने से २७ कर्म के उदयवाला यह छठा उदयस्थान तीर्थकर केवलीओं को केवलीसमुद्घात में औदारिक मिश्र काययोग में

होता है...

तथा पूर्वोक्त सत्ताइस (२७) कर्मों में प्रशस्तविहायोगति को मीलाने से अट्ठाइस (२८) कर्मवाला सातवा उदयस्थान है...

तथा पूर्वोक्त अट्ठाइस (२८) कर्मों में से तीर्थकर नामकर्म को न्यून करने से एवं श्वासोच्छ्वास, सुस्वर, और पराघातकर्म का प्रक्षेप करने से तीस (३०) कर्मों के उदयवाला यह आठवा उदयस्थान है...

तथा पूर्वोक्त तीस (३०) कर्मों में से सुस्वर का निरोध होने पर उनतीस (२९) कर्मवाला यह नववां उदयस्थान है...

तथा पूर्वोक्त तीस (३०) कर्मों में तीर्थकर नामकर्म को जोड़ने से इकतीस (३१) कर्मवाला यह दशवां उदयस्थान है...

तथा १. मनुष्यगति, २. पंचेंद्रियजाति, ३. व्रस, ४. बादर, ५. पर्याप्तक, ६. सुभग, ७. आदेय, ८. यशःकीर्ति एवं ९. तीर्थकर नामकर्म के उदय स्वरूप यह नव कर्मवाला ग्यारहवां उदयस्थान है... यह अयोगी तीर्थकर केवली को होता है...

तथा पूर्वोक्त नव (९) कर्मों में से तीर्थकर नामकर्म को न्यून करने से आठ (८) कर्मों के उदयवाला यह बारहवां उदयस्थान सामान्य केवली को अयोगी गुणस्थानक में होता है...

तथा गोत्र कर्म का सामान्य से एक हि उदयस्थान होता है... क्योंकि- उच्च एवं नीचगोत्र परस्पर विरोधी होने से एक जीव को कोई भी एक गोत्र कर्म का हि उदय होता है...

इस प्रकार अनेक प्रकार के उदयस्थानवाले कर्मों को जानकर परमात्मा प्रत्याख्यान परिज्ञा कहते हैं... परमात्मा यदि कर्मों की परिज्ञा कहते हैं, तो अब हमें क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आंगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में सम्यक्त्व को दृढ़ बनाए रखने का उपदेश दिया है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति को विपरीत बुद्धि एवं विपरीत आचरण में प्रवृत्त व्यक्तियों का साथ नहीं करना चाहिए। वे कितने भी पढ़े-लिखे एवं प्रौढ़ विद्वान भी क्यों न हों, परन्तु सम्यग् ज्ञान एवं सम्यग् आचरण के अभाव के कारण, वे वास्तविक त्याग-निष्ठ मुनि की समता प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिए त्यागी सन्त-साधु को उनसे भी अधिक विद्वान कहा है।

इसका कारण यह है कि- जो सम्यग्दृष्टि है; वह संसार के स्वरूप को भली-भांति ज्ञानता है और यह भी जानता है कि- आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होने से पाप कर्म का बन्ध होगा और संसार परिभ्रमण बड़ेगा। इसलिए वह अपने योगों को हिंसा आदि दोषों से बचाकर रखता है। परन्तु, जिसे अपने स्वरूप एवं लोक का यथार्थ ज्ञान नहीं है, वह यद्यपि ज्ञान से संपन्न होने पर भी आरम्भ-समारम्भ एवं पापों से बच नहीं सकता और हिंसा दोषों में प्रवृत्त होने के कारण पाप कर्म का संग्रह करके संसार में परिभ्रमण करता है। अतः त्यागी संयमी साधु-मनुष्य ही वास्तव में विद्वान् है।

दुःख का मूल कारण कर्म ही है और कर्म का बीज राग-द्वेष एवं हिंसा आदि दोषजन्य प्रवृत्ति है। इसलिए तीर्थकरों ने सभी प्रकार के कर्मों को विनाश करने का उपदेश दिया है। क्योंकि- कर्म के विनाश का अर्थ है-राग-द्वेष का क्षय करना। राग-द्वेष कर्म का मूल है, और जब मूल का नाश हो जाएगा तो फिर कर्म वृक्ष तो स्वतः ही सूखकर नष्ट हो जाएगा, निःसत्त्व हो जाएगा। इससे स्पष्ट है कि- तीर्थकरों ने हिंसा आदि दोष का त्याग करके वीतराग अवस्था को ही प्राप्त करने का उपदेश दिया है।

निष्कर्ष यह निकला कि- कर्म क्षय का सर्व श्रेष्ठ मार्ग है-सत्य और संयम का परिपालन और वह महापुरुषों की संगति से ही प्राप्त हो सकता है। अतः साधक को अपनी निष्ठा-श्रद्धा को शुद्ध बनाए रखने एवं तप तथा त्याग में तेजस्विता लाने के लिए ज्ञान एवं चारित्र्य हीन व्यक्तियों की संगति का त्याग करके चारित्र्य-निष्ठ व्यक्तियों की सेवा करनी चाहिए, अर्थात् उनका परिचय रखना चाहिए।

संसार एवं कर्मों के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने से श्रद्धा में दृढ़ता आ जाती है। अतः उसके बाद साधक को कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतः कर्म क्षय की साधना का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १४८ ॥ १-४-३-२

इह आणाकंखी पंडिह्, एगमप्याणं संपेहाए धुणे सरिरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं, जहा - जुण्णाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्थइ। एवं अत्तसमाहिह् अणिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे ॥ १४८ ॥

II संस्कृत-छाया :

इह आज्ञाकाङ्क्षी पण्डितः अस्निहः, एकं आत्मानं सम्प्रेक्ष्य धुनीयात् शरीरकम्। कृशं कुरु आत्मानम्, जरीकुरु आत्मानम्। यथा जीर्णानि काष्ठानि हव्यवाहः प्रमथ्नाति। एवं आत्मसमाहितः अस्निहः परित्यज क्रोधम् अविकम्पमानः ॥ १४८ ॥

III सूत्रार्थ :

इस जिनप्रवचन में आज्ञाकांक्षी पंडित अस्नेह, एक आत्मा को हि देखकर शरीर का विधूनन (विनाश) करें... अपने शरीर को तपश्चर्या से कृश (दुर्बल) करें, अपने शरीर को जीर्ण करें... जिस प्रकार- जीर्ण काष्ठ को अग्नि भस्मसात् करता है... इसी प्रकार आत्मा में समाधिवाला एवं स्नेह रहित अकंपमान मुनी क्रोध का त्याग करें... ॥ १४८ ॥

IV टीका-अनुवाद :

इस जिनप्रवचन में सर्वज्ञ प्रभु के उपदेश अनुसार अनुष्ठान करनेवाले आज्ञाकांक्षी, विदितवेद्य याने पंडित तथा कर्मबंध के स्नेह के अभाववाले अर्थात् राग एवं द्वेष रहित, अथवा इंद्रिय एवं कषाय कर्म स्वरूप भावशत्रु से जो विनष्ट नहि हों ऐसे हि मुनी परमार्थ से कर्मों के परिज्ञाता हों हैं... तथा धन, धान्य, सोना-चांदी, पुत्र, स्त्री एवं शरीर आदि से विभिन्न स्वरूपवाले आत्मा का पर्यालोचन करके शरीर का विधूनन करें... यहां शरीर का विधूनन याने पूर्वोक्त धन-धान्यादि से आत्मा को विभिन्न देखें...

इस प्रकार शरीर का विधूनन करनेवाले मुनी संसार-भावना तथा एकत्व-भावना का इस प्रकार चिंतन करें... संसार-भावना = यह संसार अनर्थकारी है, यहां कौन किसका है ? अथवा कौन स्वजन है और कौन पराया है ? इस संसार में परिभ्रमण करनेवाले प्राणी शुभ-कर्मों के उदय से स्वजन होते हैं और अशुभ-कर्मों के उदय से दुश्मन भी होते हैं, अर्थात् कर्मोदय से स्वजन बने हुए लोग हि कालांतर में दुश्मन भी होते हैं... ऐसा चिंतनकर के यह जानो कि- मैं अकेला हि हूं, पहले भी मेरा कोई स्वजन या दुश्मन नहि था, और बाद में भी मेरा कोई स्वजन या दुश्मन नहि रहेगा... केवल अपने अशुभ कर्मों के उदय से हि यह स्वजन हि कालांतर में दुश्मन होते है... वास्तव में तो पहले भी मेरा मैं हि था और बाद में भी मैं हि मेरा रहूंगा...

एकत्व-भावना = सदा काल मैं अकेला हि हूं, मेरा कोई नहि है, और मैं भी अन्य किसी का नहि हूं... तथा ऐसा कोई प्राणी नहि दिखाइ देता कि- जिसका मैं हूं... तथा ऐसा भी कोई प्राणी नहि है कि- जो वह मेरा हो... तथा आत्मा अकेला हि कर्मबंध करता है और अकेला हि उन कर्मों के फलों को भुगतता है... जन्म भी अकेला हि प्राप्त करता है, तथा मरण भी अकेला हि पाता है... और भवांतर में भी प्राणी अकेला हि जाता है... इत्यादि...

अन्यत्व भावना के द्वारा देखें कि- धन-धान्यादि अन्य सभी से आत्मा विभिन्न है, अतः तपश्चर्या के द्वारा शरीर को कृश करें... अथवा यह शरीर कौन से आत्महितकर कार्य

में समर्थ है ? इत्यादि चिंतन करके शरीर को संयमाचरण स्वरूप आत्मशुद्धि के कार्य में जोड़ें...

तथा विगड़ों के त्याग आदि तपश्चर्या के द्वारा शरीर को ऐसा तो निःसार बना दो कि- शरीर जरा से जीर्ण हो ऐसा = दीखाइ दे... जिस प्रकार अग्नि जीर्ण निःसार काष्ठ को जलाकर भस्मसात् करता है, इसी प्रकार तपश्चर्या से शरीर एवं कर्मों का विनाश करें... तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्राचार के अनुष्ठानों के द्वारा सदा आत्मा में हि उपयोग रखें... अर्थात् समाधिवाले रहें... सदा शुभ-पंचाचार के आचरणवाले रहें... तथा स्नेह (राग) रहित होकर तपश्चर्या स्वरूप अग्नि में कर्म स्वरूप काष्ठ का दहन करें...

कहे गये दृष्टांत एवं दृष्टांतिक का उपसंहार करने की इच्छावाले निर्युक्तिकार स्वयं हि निर्युक्ति-गाथा से यह हि बात कहते हैं...

नि. २३४

जिस प्रकार छिद्रवाले काष्ठ तथा दीर्घकाल से सुके (शुष्क) काष्ठ (लकड़ी) को अग्नि तत्काल जलाती है, इसी हि प्रकार सम्यक्चारित्र में रहे हुए संयमनिष्ठ साधु तपश्चर्या से कर्मों का क्षय (विनाश) करते हैं...

यहां "अस्नेह" पद से राग का निवारण कहकर अब द्वेष के निवारण के लिये कहते हैं कि- कारण हो या न हो, तो भी अतिक्रूर अध्यवसायवाले एवं कंपन स्वरूप क्रोध का मुमुक्षु साधु अविकंपमान होकर त्याग करें ।

अतः अब किसकी विगणना करके यह कार्य करें ? यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

संसार में कर्मबन्ध का कारण स्नेह-राग भाव है। स्नेह का अर्थ चिकनाहट होता है। इसी कारण तेल को भी स्नेह कहते हैं। हम देखते हैं कि- जहां स्निग्धता होती है, वहां मैल जल्दी जम जाता है। इसी प्रकार जिस आत्मा को राग भाव रहता है, उस आत्मा में ही कर्म आकर चिपकते हैं, राग भाव से रहित आत्मा को कर्म बन्ध नहीं होता। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि- पंडित साधु-पुरुष राग रहित होकर आत्मा के एकत्व स्वरूप का चिन्तन करके शरीर अर्थात् कर्मों का क्षय करता है और एक दिन निष्कर्म हो जाता है।

'अणिहे' शब्द का संस्कृत में 'अनिहत' रूप भी बनता है। इसका अर्थ होता है- जो विषय-कषाय आदि भाव शत्रुओं से अभिहत न हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि- वीतराग आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला साधक आन्तरिक शत्रुओं से परास्त नहीं होता है। ऐसा साधक साधु-पुरुष ही स्नेह-राग भाव से निवृत्त होकर आत्म समाधि में संलग्न हो सकता है।

इसलिए साधक को राग-भाव का त्याग करके तप के द्वारा शरीर को कृश एवं जीर्ण बनाना चाहिए। क्योंकि- प्रज्वलित अग्नि में जीर्ण काष्ठ जल्दी ही जल जाता है, उसी प्रकार तप से जीर्ण-शीर्ण बने कर्म भी जल्दी नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्म समाधि प्राप्त करने के लिए साधक को राग भाव एवं क्रोध आदि कषायों का परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि- क्रोध आदि विकारों से आत्मा में सदा व्याकुलता बनी रहती है। योगों में स्थिरता नहीं आ पाती। मानसिक वैचारिक चंचलता एवं शारीरिक कंपन को दूर करने के लिए क्रोध आदि विकारों का त्याग करना आवश्यक है। इससे आत्म चिन्तन में स्थिरता आती है।

यहां प्रश्न यह है कि- वीतराग आज्ञा का परिपालन करने वाले साधक को किस वस्तु का चिन्तन करना चाहिए ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं:..

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १४९ ॥ १-४-३-३

इमं निरुद्धाउयं संपेहाए, दुःखं च जाण अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्महिं अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अतिविज्जो नो पडिसंजलिज्जासि तिबेमि ॥ १४९ ॥

II संस्कृत-छाया :

इदं निरुद्धायुष्कं सम्प्रेक्ष्य, दुःखं च जानीहि, अथवा आगामि, पृथक् स्पर्शान् च स्पृशेत्, लोकं च पश्य विस्पन्दमानान्। ये निर्वृत्ताः पापेषु कर्मसु, अनिदानाः ते व्याख्याताः, तस्मात् हे अतिविद्वन् ! न प्रतिसञ्ज्वलेः इति ब्रवीमि ॥ १४९ ॥

III सूत्रार्थ :

इस मनुष्य जन्म के क्षीण होते हुए आयुष्य को देखकर, इस जन्म के एवं आगामी जन्म के दुःखों को जानो ! सातों नरकों के स्पर्श का अनुभव (चिंतन) करें... तथा भाग-दौड़ करनेवाले लोगों को देखो ! पाप कर्मों से जो निर्वृत हुए हैं वे अनिदानवाले कहे हैं, इसलिये हे विद्वान् मुनी क्रोध-अग्निसे मत जलो... ऐसा मैं (सुधर्मस्वामी) कहता हूँ ॥ १४९ ॥

IV टीका-अनुवाद :

क्षीण हो रहे आयुष्यावाले इस मनुष्य जन्म को देखकर मुनी क्रोध आदि कषायों का त्याग करें... तथा क्रोधाग्नि से जल रहे प्राणी को जो मानसिक दुःख उत्पन्न होता है, उसका चिंतन करें... तथा उस क्रोधादि के कारण से होनेवाले कर्मबंध के फल स्वरूप भविष्यत्-काल के नरकादि में होनेवाले दुःखों का विचार करके क्रोध आदि कषायों का प्रत्याख्यान

परिज्ञा से त्याग करें... क्योंकि- क्रोध के कारण से प्राणी सात नरकभूमी में अतिशय शीत=ठंडी, गरमी की वेदना तथा कुंभीपाक आदि पीडा के स्थानों में कर्कश स्पर्शवाले दुःखों का अनुभव करता है... तथा अतिशय दुःखवाले उस प्राणी के कारण से अन्य जीव भी दुःखी होते हैं...

क्रोधादि के कारण से मात्र आत्मा हि दुःख पाता है, ऐसा नहि है, किंतु संपूर्ण लोक के सभी जीव कर्मों की पराधीनता के कारण से शारीरिक एवं मानसिक दुःखों से पीडित होता हुआ उन दुःखों से बचने के लिये यहां वहां भागता फिरता है... अतः हे मुनी ! इस लोक को विवेक चक्षु से देखो...

तथा जो जीव तीर्थंकर परमात्मा के उपदेश से परिभावित अंतःकरणवाले हैं, वे विषय एवं कषाय की अग्नि को शांत करके अतिशय शीतल अर्थात् शांत हुए हैं तथा पाप कर्मों से निवृत्त होने के कारण से निदान-रहित वे मुमुक्षु जीव परम सुख के पात्र होते हैं... अर्थात् उपशम-भाव के सुखवाले प्रसिद्ध हुए हैं...

अतः यहां सारांश यह है कि- राग एवं द्वेष के कारण से प्राणी दुःखी होता है... इसलिये हे विद्वान् मुनीजन ! आप आगम शास्त्र के सद्भाव को जानकर क्रोधाग्नि से मत जलो ! अर्थात् आत्मा को क्रोध स्वरूप अग्नि में मत जलाओ ! किंतु क्रोधादि कषायों का उपशम करो !!! इस प्रकार पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी जंबूस्वामीजी को कहते हैं...

V सूत्रसार :

जीवन सदा एक सा नहीं है। जन्म के बाद मृत्यु के आगमनका आरम्भ हो जाता है। प्रतिक्षण आयु न्यून होती रहती है। क्योंकि- मानव का आयुष्य परिमित है। इसलिए साधक को सदा सावधान रहना चाहिए। और विवेक पूर्वक संयम का परिपालन करना चाहिए। क्योंकि- क्रोध आदि कषायों से अनेक प्रकार के दुःख-संकलेश उत्पन्न होते हैं। क्रोध केवल वर्तमान के लिए ही दुःख रूप नहीं है, किंतु भविष्य में भी मनुष्य को दुःख की गर्त्ता में गिरा देता है। कषायों के वश मानव नरक आदि योनियों में अनेक दुःखों का संवेदन करता है। इसलिए साधक को दुःख के मूल क्रोध आदि कषायों; एवं पाप कर्मों से निवृत्त होकर तप आदि संयम साधना में सदा उद्यम करना चाहिए।

निष्कर्ष यह निकला कि- साधक को शांत एवं निष्पाप जीवन के साथ आकांक्षा का त्याग करना चाहिए। निराकांक्षी साधक ही समस्त कर्मों को क्षय करने में समर्थ होता है। और वास्तव में वही महाविद्वान एवं प्रबुद्ध पुरुष है कि- जो क्रोध को प्रज्वलित नहीं होने देता है। क्रोध एवं कामना रहित व्यक्ति हि सदा सुख-शान्ति का अनुभव करता है। उसे कभी भी दुःख का अनुभव नहीं होता। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को कषाय एवं कामना का त्याग कर

सदा संयम में संलग्न रहना चाहिए।

‘तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

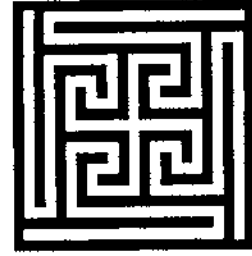
॥ इति चतुर्थाध्ययने तृतीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभवविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ४ उद्देशक - ४

५ सम्यक्चारित्रम् ५

चौथे अध्ययन का तृतीय उद्देशक कहा, अब चौथे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- तीसरे उद्देशक में निर्दोष तपश्चर्या कही है, किंतु यह तपश्चर्या तो संयम में रहे हुए मुनीजन हि संपूर्ण रूप से कर सकते हैं, अतः इस चौथे उद्देशक में संयम का स्वरूप कहते हैं...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १५० ॥ १-४-४-१

आवीलए पवीलए निष्पीलए जहिता पुव्वसंजोगं उवसमं तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सथा जए, दुरनुचरो मग्गो वीराणं अनियट्टगामीणं विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंधचेरंसि ॥ १५० ॥

II संस्कृत-छाया :

आपीडयेत् प्रपीडयेत् निष्पीडयेत्, त्यक्त्वा पूर्वसंयोगं, हित्वा उपशमं, तस्मात् अविमनाः वीरः, स्वारतः समितः सहितः सदा यतेत, दुरनुचरः मार्गः वीराणां अनिवर्त्तगामिनाम्, विवेचय मांस-शोणितम्, एषः पुरुषः द्रव्यः वीरः आदानीयः व्याख्यातः। यः धुनाति समुच्छ्रयं उषित्वा ब्रह्मचर्ये ॥ १५० ॥

III सूत्रार्थ :

तपश्चर्या के द्वारा शरीर का आपीडन, प्रपीडन एवं निष्पीडन क्रमशः करें, पूर्व के संयोग का त्याग करें, उपशमभाव को प्राप्त करें, इस प्रकार वैमनस्य रहित, वीर, संयमरत, पांच समितिवाला एवं ज्ञानादि से युक्त वह मुनी संयम में हि प्रयत्न करें... क्योंकि- मोक्षगामी वीर पुरुषों का यह मार्ग कष्ट से हि पालन कीया जाता है, अतः मांस एवं लोही (रक्त) को तपश्चर्या से क्षीण करें... ऐसा यह पुरुष द्रव्य, वीर, एवं आदेयवचनवाला होता है, कि- जो ब्रह्मचर्य स्वरूप संयम में रहकर शरीर अथवा कर्मों का विनाश करता है... ॥ १५० ॥

IV टीका-अनुवाद :

प्रब्रज्या के प्रारंभ में अविकृष्ट तपश्चर्या के द्वारा शरीर को थोडा कष्ट दें... उसके बाद सूत्र-सिद्धांत के अर्थ का परिणामन होने पर विकृष्ट तपश्चर्या से शरीर को विशेष कष्ट दें... तथा उसके बाद शिष्यवर्ग को सूत्र-सिद्धांत का अर्थ-सार देकर मासक्षपण अर्धमासक्षपण के द्वारा शरीर एवं कर्मों को निश्चित प्रकार से क्षय करने का मार्गदर्शन दें... अर्थात् कर्मों के क्षय के लिये विविध तपश्चर्या करें...

पूजा, लाभ एवं प्रख्याति के लिये तपश्चर्या का विधान नहि है, क्योंकि- ऐसा करने से तो तपश्चर्या निरर्थक होती है; इसलिये विभिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं कि- कर्म का हि अथवा कर्मण शरीर का आपीडन, प्रपीडन एवं निष्पीडन करें... अथवा आपीडन याने सम्यग्दर्शनादि ४-५-६-७ गुणस्थानकों में कर्मों का आपीडन होता है... अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण (८-९) गुणस्थानक में कर्मों का प्रपीडन होता है... तथा सूक्ष्मसंपराय (१०) गुणस्थानक में कर्मों का निष्पीडन होता है... अथवा उपशम श्रेणी में कर्मों का आपीडन होता है, क्षपकश्रेणी में कर्मों का प्रपीडन होता है, तथा शैलेशी-अवस्था में कर्मों का निष्पीडन होता है...

मुनी धन-धान्य-हिरण्य-पुत्र-एवं कलत्र (स्त्री) आदि पूर्व के संयोगों का त्याग करके... अथवा पूर्व याने अनादि के संसार की वासना का अभ्यास, उसका जो संयोग, उस संयोग का त्याग करके तथा उपशम याने इंद्रिय एवं नोइंद्रिय (मन) के विकारों का जय अथवा संयम... ऐसे उस उपशम को प्राप्त करके... यहां सारांश यह है कि- असंयम का त्याग करके तथा संयम का स्वीकार करके तपश्चर्या आदि से आत्मा का अथवा कर्म का आपीडन, प्रपीडन एवं निष्पीडन करें... क्योंकि- कर्मों के आपीडन आदि के लिये उपशम की प्राप्ति आवश्यक है तथा उपशम की प्राप्ति में हि प्राणी को अविमनस्कता होती है... इसलिये कर्मों के क्षय के लिये असंयम का परित्याग, और असंयम के परित्याग में हि संयम की स्थिति अवश्य होती हि है... और संयमाचरण में चित्त का वैमनस्य कभी नहि होता... चित्तवैमनस्य याने विषयभोगोपभोग एवं कषाय आदि में अथवा अरति में मन (चित्त) का लीन होना... अर्थात् संयमाचरण में ऐसा मानसिक वैमनस्य नहि होता...

अविमनस्कवाले साधु हि कर्मों के विनाश में समर्थ होते हैं; अतः जो वीर पुरुष हैं... वे सदा संयम-जीवन की मर्यादा से संयमानुष्ठान में रत याने लीन रहते हैं... तथा पांच समितियों से समित होते हैं, और ज्ञानादि गुणों से सहित होते हैं तथा सदा-सर्वदा स्वीकृत संयमानुष्ठान में यत्नवाले होते हैं...

प्रश्न- संयमानुष्ठानके लिये बार बार उपदेश क्यों देते हो ?

उत्तर- संसारी आत्मा को संयमानुष्ठान दुष्कर है... दुरुनुचर है... बहोत हि कठिनाइ से संयमानुष्ठान पाला जा शकता है... सूत्र-सिद्धांत में भी कहा है कि- अनिवर्त्त याने मोक्ष में गमनशील, मुमुक्षु, अप्रमत्त, वीर मुनीओं को भी संयमानुष्ठान दुष्कर है... इसलिये बार-बार उपदेश देते हैं कि- हे जीव ! विकृष्ट याने उग्र तपश्चर्या एवं संयमानुष्ठान से शरीर में उन्माद करनेवाले मांस एवं शोणित (लोही) का विवेक याने शोषण करें... जो मुनी ऐसे हैं, वे निम्नोक्त गुणों को प्राप्त करते हैं...

१. द्रव याने संयम को प्राप्त करता है...
२. द्रव्यभूत याने मोक्ष में जाने के लिये योग्य होता है...
३. वीर याने कर्म-रिपुओं के विदारण में समर्थ होता है...

तथा मांस एवं शोणित के अपचय से शरीर के मेद आदि का भी अपचय जानीयेगा... अतः वीर पुरुषों के मार्ग को प्राप्त, मांस एवं शोणित का अपचय करनेवाला मुमुक्षु हि आदेय वचनवाला होता है... और संयमाचरण स्वरूप ब्रह्मचर्य में रहनेवाला वह साधु तपश्चर्यादि से शरीर अथवा कर्मों का धूनन करता है, अर्थात् निर्जरा के द्वारा कर्मों को दुर्बल करता है...

इस प्रकार यहां अप्रमत्त का स्वरूप कहा, अब उनके प्रतिपक्षी प्रमत्त जीवों का स्वरूप कहते हैं...

V सूत्रसार :

तृतीय उद्देशक में निष्काम तप का वर्णन किया गया है। तप का संयम साधना के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि- वह तपश्चर्या भी चारित्र का एक अंग है। इसलिए प्रस्तुत उद्देशक में संयम-साधना-चारित्र का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि-

संयम-साधना का उद्देश्य कर्म क्षय करना है। कर्म क्षय के लिए तपश्चर्या एक अनन्य साधन है। इसलिए मुनि को तप के द्वारा कर्म क्षय करना चाहिए। यह तप साधना दीक्षा ग्रहण करते ही प्रारंभ होती है... प्रारम्भ में सामान्य रूप से तप करना चाहिए। इससे धीरे-धीरे आत्म शक्ति का विकास होगा। और संयम में तेजस्विता आएगी। अतः साधु को आगमों का अध्ययन करने तक थोड़ी-थोड़ी तपश्चर्या करनी चाहिए। आगम का भली-भांति अनुशीलन-परिशीलन करने के बाद, संयम के परिणामों में परिपक्वता आ जाए तब उसे विशिष्ट तप करना चाहिए। और साधना के पथ पर चलते हुए जब उसे यह निश्चय हो जाए कि- अब शरीर शिथिल हो गया। अब यह शरीर अधिक दिन रहने वाला नहीं है, तब पूर्णतया आहार-पानी का त्याग करके जीवन पर्यन्त के लिए अनशन तप स्वीकार करके शमभाव से समाधि मरण को प्राप्त करे। इस तप के साथ किसी भी प्रकार इस लोक या परलोक सम्बन्धी यश-प्रशंसा एवं भौतिक

सुख की कामना नहीं होनी चाहिए। निष्काम भाव से एकान्त निर्जरा की दृष्टि से किया गया तप ही कर्मक्षय करने में समर्थ होता है।

तप-साधना का प्रमुख उद्देश्य कार्मण शरीर को कृश करना है। कार्मण शरीर की कृशता से ही आत्म गुणों का विकास होता है। इस अपेक्षा से आपीड़न आदि शब्दों का यह अर्थ होगा कि-चौथे से सातवें गुणस्थान तक आपीड़न-सामान्य तप, आठवें और नवमें गुणस्थान में प्रपीड़न-विशेष तप और दसवें गुणस्थान में निष्पीड़न-तप अथवा औपशमिक श्रेणी में आपीड़न तप क्षपकश्रेणी में प्रपीड़न तप और शैलेशी अवस्था में निष्पीड़न तप होता है। यह तप मोक्ष-साधना के लिए विशेष शास्त्रीय पद्धति है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि- असंयम का त्याग करके उपशम भाव को प्राप्त व्यक्ति तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। जो व्यक्ति ज्ञान एवं समिति से युक्त है; वही तप एवं संयम मार्ग पर चल सकता है। साधना का, मुक्ति का, संयम का मार्ग दुबलों का नहीं, किंतु वीरों का है। वही वीर-साधु इस पथ पर चल सकता है कि- जो संसार के स्वरूप को भली-भांति जानता है और ब्रह्मचर्य से युक्त है। ब्रह्मचर्यनिष्ठ व्यक्ति कर्मों को शीघ्र ही क्षय कर देता है। परन्तु ब्रह्मचर्य के पालन के लिए इन्द्रिय एवं मन को विशेष रूप से वश में रखना होता है। और उन्हें वश में रखने का उपाय है-तप। अर्थात् रसना को नियन्त्रण में रखना। कहा भी जाता है की-“एक इन्द्रिय-रसना को वश में रखने पर शेष चारों इन्द्रिय वश में हो जाती है...”

रसना के पोषण से या प्रकाम भोजन से शरीर में मांस-खून एवं चर्बी बढ़ेगी। इससे विकार भाव जगेगा। मन एवं अन्य इन्द्रिय विषय-भोगों की ओर आकर्षित होंगी इसलिए ब्रह्मचर्य का परिपालन करने वाले साधक के लिए यह बताया गया है कि- वह तपश्चर्या के द्वारा मांस और शोणित को सुखा दे। मांस और शोणित की शक्ति निर्बल होने पर ब्रह्मचर्य की साधना भली-भांति हो सकेगी। और इस प्रकार साधक कर्म क्षय करने में सहज ही सफलता प्राप्त कर लेगा।

जो साधक विषयों की आसक्ति का त्याग नहीं करता उसकी क्या स्थिति होती है ? इस संबन्ध में सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १५१ ॥ १-४-४-२

नित्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं आयाणसोयगद्धिए बाले, अब्बोच्छिन्नबन्धणे
अणभिव्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए त्थो नत्थि त्तिबेमि ॥ १५१ ॥

II संस्कृत-छाया :

नेत्रैः परिच्छन्नैः आदानश्रोतोगृद्धः बालः अव्यवच्छिन्न बन्धनं
अभिक्रान्तसंयोगः तमसि अविज्ञानतः आज्ञायाः लाभः नाऽस्ति इति ब्रवीमि ॥ १५१ ॥

III सूत्रार्थ :

नेत्र आदि इंद्रियों के विषयों का त्याग करने के बाद कभी कर्मोदय से प्राणी इंद्रियों के विषयों में आसक्त होता है, तब अविच्छेद जन्मादि के बंधनवाला, धन-धान्यादि के संयोगों का त्याग न करनेवाला वह मनुष्य मोहांधकार में घूमता है कि- जहां आत्मज्ञान का अभाव है और तीर्थकर के उपदेश का लाभ नहि है; ऐसा मैं कहता हूं... ॥ १५१ ॥

IV टीका-अनुवाद :

नेत्र याने अर्थ क्रिया में समर्थ ऐसे अर्थ-वस्तु को जो प्रगट करे, वह नेत्र याने चक्षु... आदि इंद्रियों को अपने अपने विषय में जाते हुए संयमित करके ब्रह्मचर्य याने संयम में रहने के बावजूद भी प्रमादावस्था में पुनः मोहनीय कर्म के उदय से आदान याने सावद्य अनुष्ठान से ग्रहण होनेवाले कर्म... कि- जो संसार के बीज स्वरूप है... और उन कर्मों के आगमन के कारण है- पांच इंद्रियों के विषय अथवा मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय एवं योग... अतः इस आदान के श्रोत में गृद्ध याने आसक्त बाल याने राग, द्वेष, एवं महामोहादि से अभिभूत अंतःकरणवाला अज्ञ प्राणी सैंकड़ों जन्म के अनुबंधवाले आठों प्रकार के कर्मों का बंधन करता है...

तथा धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, पुत्र, कलत्र (पत्नी) आदि का संयोग अथवा असंयम का संयोग जिन्होंने त्याग नहि किया है; वे इंद्रियों के विषयों की अनुकूलता स्वरूप मोहांधकार में आत्महित स्वरूप मोक्ष का उपाय जानते नहि हैं, और उन्हें आज्ञा याने तीर्थकर प्रभु के उपदेश का लाभ भी प्राप्त होता नहि है... यह बात श्री महावीर परमात्मा के मुख से सुनकर मैं (सुधर्मस्वामीजी) हे जंबू ! तुम्हें कहता हूं...

अथवा तो आज्ञा याने बोधिरत्न = सम्यक्त्व... तथा यहां "अस्ति" पद त्रिकाल विषयवाला अव्यय है... इस कारण से ऐसा शब्दार्थ करें कि- बाह्य एवं अभ्यंतर संयोगों का त्याग नहि करनेवाले प्राणीने मोहांधकार में रहते हुए भूतकाल में बोधिलाभ की प्राप्ति नहि की है, वर्तमानकाल में बोधिलाभ को नहि पा सकता है, और भविष्यत्काल में बोधिलाभ नहि पा शकेगा...

यह हि बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में प्रमादी मानव की मानसिक निर्बलता को बताया गया है। जैसे कि- वह अपने आपको विषयों से निवृत्त कर लेता है। और इन्द्रियों को भी कुछ समय के लिए वश में रख लेता है। परन्तु फिर से मोह कर्म का उदय होते ही विषयों में आसक्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि- उसने आस्रव एवं बन्ध के मूल कारण राग-द्वेष का उन्मूलन नहीं किया। इसके अतिरिक्त उसे मोक्ष मार्ग का भी पूरा बोध नहीं है। इसी कारण वह मोहनीय कर्म का उदय होते ही अपने मार्ग से फिसल जाता है।

इसलिए साधक को सब से पहिले साध्य एवं साधन का ज्ञान होना चाहिए। मार्ग का यथार्थ बोध होने पर ही; वह उस संयम पथ पर सुगमता से चल सकेगा और मार्ग में आनेवाली कठिनाईयों को भी दूर कर सकेगा। किंतु जिसे उस संयम-पथ का बोध नहीं है; वह संसार की वासना जगते ही इधर-उधर भटक जाता है। इसी कारण उसे तीर्थंकर की आज्ञा का भी लाभ प्राप्त नहीं होता। क्योंकि- उसको मोक्षपथ के प्ररूपक तीर्थंकर पर निष्ठा ही नहि है; ऐसी स्थिति में उसे तीर्थंकर की आज्ञा का लाभ कैसे मिल सकता है...?

ऐसी आत्मा को भूतकाल में बोधि लाभ न हुआ है; न अब होता है और न भविष्य में होगा। इस बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे कर सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १५२ ॥ १-४-४-३

जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ? से हु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए सम्ममेयंति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिच्छिंदिय बाहिरं च सोयं, निक्कमदंसी इह मच्चिएहिं कम्माणं सफलं दडूण, तओ निज्जाइ वेयवी ॥ १५२ ॥

II संस्कृत-छाया :

यस्य नास्ति पुरा पश्चात् मध्ये तस्य कुतः स्यात् ? सः खु प्रज्ञानवान् बुद्धः आरंभोपरतः सम्यग् एतदिति पश्यत। येन बन्धं वधं घोरं परितापं च दारुणं परिच्छिन्द्य बाह्यं च स्रोतः, निष्कर्मदर्शी इह मर्त्येषु कर्मणां सफलं दृष्ट्वा ततः निर्याति वेदवित् ॥ १५२ ॥

III सूत्रार्थ :

जिस किसी को पूर्व जन्म में बोधिलाभ नहीं था, और भविष्यत्काल में न होगा, उसे इस मध्य के जन्म में कैसे होगा ? अतः प्रज्ञावाले, बुद्ध एवं आरंभ से निवृत्त ऐसे हे साधुजन !

आप यह सम्यग् देखो कि- जिस कारणों से प्राणी को बंध वध एवं घोर परिताप तथा दारुण परिणाम प्राप्त होता है; उन कारणों को दूर करके तथा बाह्य धन-धान्यादि का त्याग करके निष्कामदर्शी वेदविद् मुनि हि यहां कर्मों का अशुभ फल देखकर कर्मबंध के कारणों से दूर रहता है...

IV टीका-अनुवाद :

कर्मों को आश्रय में गृह्य, निरंतर कर्मों का बंध करनेवाले संयोगों का त्याग नहि करनेवाले और अज्ञानांधकार में घूमनेवाले बाल याने अज्ञ प्राणीओं को पूर्व के जन्मों में बोधिलाभ याने सम्यक्त्व प्राप्त नहि हुआ है, और भविष्य के जन्मों में भी सम्यक्त्व प्राप्त न होगा, तो फिर मध्य याने वर्तमानकाल के इस जन्म में कहां से बोधिलाभ की प्राप्ति हो ? यहां सारांश यह है कि- जिस प्राणीने पूर्वकाल में सम्यक्त्व प्राप्त किया हो, अथवा भविष्य काल में जो सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, उसको हि वर्तमानकाल में सम्यक्त्व प्राप्त होता है... क्योंकि- जिस प्राणीने एक बार सम्यक्त्व का आस्वाद किया है, वह मिथ्यात्व मोह के उदय से कभी मिथ्यात्व-गुणस्थानक में जाये तो भी अर्ध पुद्गल परावर्त काल में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करता हि है... क्योंकि- सम्यक्त्व का वमन होने पर पुनः सम्यक्त्व का सर्वथा असंभव नहि होता... अथवा निरुद्धेंद्रिय भी आदानश्रोत में गृह्य होता है ऐसा यहां कहा...

तथा इससे विपरीत याने भूतकाल के विषयभोगों का स्मरण नहि करनेवाले तथा भविष्यत्काल में भी दिव्यांगनाओं के भोगोपभोग की आकांक्षा नहि करनेवाले साधुजन वर्तमानकाल के विषयभोगों में आसक्त नहि होते हैं; यह बात अब कहते हैं... जैसे कि- भोगोपभोग के विपाक को जाननेवाले साधुओं को पूर्वकाल में भुक्त भोगोपभोगों का स्मरण नहि होता तथा भविष्यत्काल के भोगोपभोगों की अभिलाषा भी नहि होती, क्योंकि- रोग-व्याधि की चिकित्सा स्वरूप भोगोपभोगों की विभावना करनेवाले साधुओं को वर्तमानकाल में भी भोगोपभोगों की इच्छा कहांसे हो ? अर्थात् मोहनीय कर्म के क्षय-क्षयोपशम या उपशम से मुमुक्षु जीवों को भोगेच्छा नहि होती...

अब जिस पुण्यात्मा को तीनों काल के भोगोपभोगों की अभिलाषा निवृत्त हुई है; वह साधु जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता याने प्रज्ञानवान् है, तथा तत्त्वों का ज्ञान होने से हि वह बुद्ध भी है... तथा सावधानुष्ठान स्वरूप आरंभ-समारंभ से उपरत याने विरमण करना यह शुभ हि है; ऐसा आप देखो ! जानो ! क्योंकि- सावद्य आरंभ-समारंभ में प्रवृत्त प्राणी निगड याने बेडी आदि के द्वारा बंधन को प्राप्त करता है, तथा कश याने चाबुक आदि से वध याने ताडन प्राप्त करता है, कि- जो ताडन प्राणों के संशय रूप होने से घोर है, तथा शारीरिक एवं मानसिक परिताप स्वरूप है... तथा दारुण याने असह्य भी है...

इसलिये कर्मबंध के कारण धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्ण-पुत्र-पत्नी आदि अथवा हिंसादि आश्रव स्वरूप बाह्य निमित्त तथा राग एवं द्वेष आदि अथवा विषयाभिलाषा स्वरूप अभ्यंतर निमित्त है... अतः इस संसार में निष्कर्म याने मोक्ष अथवा संवर को देखनेवाला मुनी बाह्य एवं अभ्यंतर कर्मबंध के कारणों का छेद करता है... क्योंकि- मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय एवं योगों के द्वारा बांधे हुए ज्ञानावरणीयादि कर्म अपना अपना फल विपाक दिखाते हि है... अतः वेद याने आगम शास्त्र को जाननेवाला मुनी कर्मों के फल-विपाक को देखकर संवर में स्थिर होता है...

ज्ञानावरणीय कर्म का फल है- ज्ञान के उपर आवरण करना... दर्शनावरणीय कर्म का फल है; दर्शन गुण को आवरण करना... वेदनीय कर्म का फल है; साता अथवा असाता का वेदन होना इत्यादि...

प्रश्न- सभी कर्मों के विपाकोदय तो सभी को मान्य है, क्योंकि- प्रदेशोदय का अनुभव तो सभी प्राणी करते हि है, और शास्त्र में तपश्चर्या से कर्मों का क्षय भी माना है, अतः कर्मों का सफलत्व याने कर्मफल का भोगना कैसे सिद्ध होगा ?

उत्तर- हां ! आपकी बात ठीक है, किंतु यहां ऐसा कहने में भी कोई दोष नहि है... क्योंकि- कर्मों के प्रकृति-स्थिति आदि सभी प्रकार की बात हम नहि करते, किंतु मात्र द्रव्य याने प्रदेशबंध की अपेक्षा से कहते हैं कि- सभी कर्म अपना अपना फल देते हैं... यद्यपि- तपश्चर्यादि से बांधे हुए सभी कर्मों का विपाकोदय नहि होता, तो भी सामान्य से प्रदेशोदय से आठों कर्मों का सफलत्व प्राणीओं में देखा जाता है...

इसलिये वेद याने सकल चर एवं अचर अर्थात् स्थावर एवं जंगम पदार्थों का बोध जिस से होता है वह वेद याने आगम शास्त्र... उनको जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु के उपदेशानुसार आचारवाले मुनी कर्मों के आश्रवों के कारणों का विच्छेद करके मोक्षमार्ग में चलते हैं... अर्थात् विषय-कषायों का त्याग करते हैं...

यह केवल मेरे अकेले का हि अभिप्राय नहि है किंतु सभी तीर्थंकरों का यह उपदेश है... यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

कुछ जीव ऐसे है; जिन्होंने न अतीत काल में सम्यक्त्व का स्पर्श किया है; और न अनागत काल में करेंगे। उन जीवों को आगमिक भाषा में अभव्य जीव कहते हैं। वे कभी भी सम्यक्त्व का स्पर्श नहीं करते। आगम में उनके लिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि- अतीत काल में उन्होंने सम्यक्त्व का स्पर्श नहि किया और न अनागत में करेंगे। और अतीत

एवं अनागत इन दोनों काल में अनन्त - अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी होती है, अतः इनके मध्य का काल अर्थात् वर्तमान काल तो केवल एक समय का होता है। अतः जब इन दोनों काल में वे सम्यक्त्व प्राप्त कर के प्रकाश को नहीं पा सकते तो मध्य काल में पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए ऐसे अभव्य जीव कभी भी मोक्ष मार्ग पर नहीं चल सकते।

कुछ जीव ऐसे हैं कि- जिन्होंने अतीत काल में सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया परन्तु मोहनीय कर्म के उदय से वे फिर से मिथ्यात्व में गिर गए। ऐसे जीव अनागत काल में फिर से सम्यक्त्व को प्राप्त करके अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं। एक बार सम्यक्त्व का स्पर्श करने के पश्चात् मिथ्यात्व में चले जाने पर भी वह अधिक से अधिक अपार्द्ध पुद्गल परावर्त काल में पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। एवं सम्यक्त्व को प्राप्त करके मुक्ति की ओर प्रयाण करता है...

जिस जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो चुकी है; वे किसी भी प्राणी को मारने, काटने एवं पीड़ा पहुंचाने आदि आरम्भ एवं हिंसा जन्य कार्यों से निवृत्त रहते हैं। वे आस्रव के द्वार को रोकते हुए सदा संयम-साधना में संलग्न रहते हैं। इसलिए उन्हें निष्कर्मदर्शी कहा गया है। उनकी दृष्टि संवरमय होती है। वे कर्म के दुःखद फल को जानते हैं...

कर्म निश्चित हि फल युक्त होता है; कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता। किंतु उसमें इतना अन्तर हो सकता है कि- कुछ कर्म विपाकोदय रूप से वेदन किए जाते हैं। तो कुछ कर्म प्रदेशोदय से ही अनुभव कर लिए जाते हैं। कर्म आगमन के मार्ग को आस्रव कहते हैं। मिथ्यात्व, अत्रत, कषाय, प्रमाद और योग इन पांच कारणों से कर्म का बन्ध होता है। अतः जो व्यक्ति जीवाजीव आदि पदार्थों का ज्ञाता है; वह आस्रव से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है।

तत्त्वों के जानने वाले व्यक्ति को प्रज्ञावान् कहते हैं। वह आगम के द्वारा संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारण कर्म तथा कर्म-बन्ध के कारण आश्रवों को भली-भांति जानता है। प्रस्तुत सूत्र में आगम के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया गया है। वेद का अर्थ है-जिसके द्वारा संपूर्ण चराचर पदार्थों का ज्ञान हो; उसे वेद कहते हैं और वे सर्वज्ञोपदिष्ट आगम हैं। उसके परिज्ञाता उसके अनुरूप आचरण करने वाले साधक कहलाते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि- आत्मविकास एवं साध्य को सिद्ध करने का मूल सम्यक्त्व है। अतः मुमुक्षु पुरुष को सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में सभी तीर्थकरों का एक हि मत है, इसी बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १५३ ॥ १-४-४-४

जे खलु भो ! वीरा ते समिया सहिया सया जया, संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं इय सच्चंसि परि (चिए) चिट्ठिसु, साहिस्सामो नाणं वीराणं समियाणं सहियाणं सया जयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं किमत्थि उवाही ? पासगस्स न विज्जइ, नत्थि-त्तिबेमि ॥ १५३ ॥

II संस्कृत-छाया :

ये खलु भो: ! वीरा:, ते समिता: सहिता: सदा यता: निरन्तरदर्शिनः आत्मोपरता: यथा तथा लोकं उपेक्षमाणा: प्राच्यादिषु दिक्षु (प्राचि प्रतीचि अवाचि उदीचि दिक्षु) इति सत्ये परिचिते तस्थु:, कथयिष्यामः ज्ञानां वीराणां समितानां सहितानां सदा यतानां निरन्तरदर्शिनं आत्मोपरतानां यथा तथा लोकं समुपेक्षमाणानां किं अस्ति उपाधि: ? पश्यकस्य न विद्यते । नाऽस्ति इति ब्रवीमि ॥ १५३ ॥

III सूत्रार्थ :

हम कहते हैं कि- इस विश्व में जो कोई वीर हैं; वे समित हैं सहित हैं, सदा यत्नवाले हैं, निरन्तरदर्शी हैं, आत्मा में उपरत हैं तथा पूर्व आदि चारों दिशाओं में रहे हुए यथा तथा लोक को देखनेवाले हैं और सत्य याने तप: अथवा संयम में स्थिर रहे हुए हैं; ऐसे उन ज्ञानी वीर समित सहित सदा यत्नवाले निरन्तरदर्शी आत्मोपरत तथा यथा तथा लोक को देखनेवाले मुनीओं को क्या कर्मजन्य उपाधि है ? अर्थात् पश्यक मुनी को उपाधि नहि होती... ऐसा मैं (सुधर्मस्वामी) हे जंबू ! तुम्हे कहता हूँ ॥ १५३ ॥

IV टीका-अनुवाद :

सम्यग्वाद, निरवद्य तप एवं चारित्र का स्वरूप कहा, अब उनके फल कहते हैं, हे प्राणीओं ! सुनो ! इस विश्व में अतीतकाल अनागतकाल एवं वर्तमानकाल में जो कोई वीर-साधु याने कर्मों का विनाश करने में समर्थ, पांच समितिवाले, ज्ञानादि से सहित, सत्य एवं संयम में सदा यत्नवाले, शुभ एवं अशुभ को निरन्तर देखनेवाले, पापकर्मों से आत्मा को रोकनेवाले, तथा चौदहराजलोक प्रमाण विश्व में पूर्व आदि चारों दिशाओं में रहे हुए कर्मलोक को जैसा है; वैसा देखनेवाले तथा सत्य याने सच्चाइ, तपश्चर्या, अथवा संयम में स्थिर रहे हुए हैं... यह बात तीनों काल की दृष्टि से कहते हैं अर्थात् भूतकाल में अनंत मुनी सत्य-संयम में रहे हुए थे, वर्तमान काल में भी पंद्रह (१५) कर्मभूमिओं में संख्यात मुनीजन सत्य-संयम में रहे हुए हैं और भविष्यत्काल में भी अनंत जीव सत्य-संयम में स्थिर होंगे... उन

तीनों काल के सत्य एवं संयम निष्ठ वीर मुनीजनों को क्या नारक-तिर्यचगति, साता-दुःख, सौभाग्य दुर्भाग्य इत्यादि कर्म जनित उपाधि होती है ? या नहीं ? ऐसी अन्य मतों की आशंका को ध्यान में लेकर जब शिष्य प्रश्न पुछते हैं... तब उत्तर में सूत्रकार महर्षि कहते हैं कि- पश्यक याने केवलज्ञानी अथवा सम्यग्ज्ञानीओं को ऐसी कर्मजन्य उपाधियां नहि होती... यह बात श्री वर्धमान स्वामीजी ने कही है, तदनुसार हे जंबू ! मैं (सुधर्मस्वामी) तुम्हे कहता हूं....

V सूत्रसार :

अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों काल में होने वाले तीर्थंकर सत्य और संयम की साधना से कर्मों का नाश करते हैं। सत्य किसी एक देश, वस्तु विशेष या काल विशेष में सीमित नहीं, किंतु समस्त लोक व्यापी है और सदा-सर्वदा अवस्थित रहता है। अतः सभी तीर्थंकरों के उपदेश में एकरूपता रहती है। तीर्थंकर सम्यक्त्व को मुक्ति का मूल कारण बताते हैं। क्योंकि- सम्यक्त्व प्रकाश में अपना विकास करता हुआ व्यक्ति सभी कर्मों का नाश कर देता है। अतः इस प्रयत्न में संलग्न व्यक्ति ही वीर कहलाता है। वह वीर साधक ५ समिति और तीन गुप्ति की साधना से ज्ञानवारण आदि घाति कर्म को दूर करके विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करता है और आयु कर्म के क्षय के साथ समस्त कर्म आवरण को नष्ट करके निरावरण आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

चार घातिकर्मों को क्षय करने पर आत्मा में अनन्त चतुष्टय ज्ञान; दर्शन, चारित्र सुख और बल-वीर्य-शक्ति का प्राकट्य होता है। उस निरावरण ज्ञान के प्रकाश में वह सारे संसार एवं लोक में स्थित सभी तत्त्वों को यथार्थ रूप से देखने लगता है। उससे संसार का कोई रहस्य गुप्त नहीं रहता। और वह महापुरुष कर्मों के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि- सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के बल पर वह कर्मों को क्षय करने में समर्थ होता है और एक दिन आत्म-विकास की चरम सीमा-१४वें गुणस्थान को लांघकर अपने साध्य-सिद्ध अवस्था को पा लेता है। अतः मुमुक्षु पुरुष को रत्नत्रय की आराधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। अर्थात् अप्रमत्त भाव से पंचाचार स्वरूप संयम का परिपालन करना चाहिए।

“त्तिबेमि” का अर्थ पूर्ववत् समझे।

॥ इति चतुर्थाध्ययने चतुर्थः उद्देशकः समाप्तः ॥

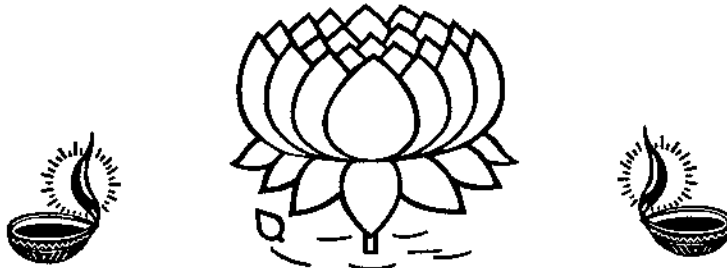
॥ इति सम्यक्त्वाभिधं चतुर्थमध्ययनं समाप्तम् ॥

卐 卐 卐

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सान्निध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. 卐 राजेन्द्र सं. ९६. 卐 विक्रम सं. २०५८.



अथ आचाराङ्गसूत्रे प्रथमश्रुतस्कन्धे

पञ्चममध्ययनम्

卐 लोकसारः 卐

चौथा अध्ययन पूर्ण हुआ, अब पांचवे अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- चौथे अध्ययन में सम्यक्त्व का स्वरूप कहा, और सम्यक्त्व के अंतर्गत ज्ञान का स्वरूप कहा... अब इन दोनों का फल चारित्र है... तथा चारित्र हि मोक्ष का प्रधान अंग होने के कारण से लोक में सार स्वरूप है, अतः उस चारित्र का स्वरूप कहने के लिये इस लोकसार अध्ययन का प्रारंभ करते हैं... यहां उपक्रम आदि चार अनुयोग द्वार होते हैं, यहां उपक्रमद्वार में अर्थाधिकार दो प्रकार से है... १. अध्ययानार्थाधिकार, २. उद्देशार्थाधिकार...

नि. २३६, २३७, २३८

अध्ययनार्थाधिकार तो हम पहले कह चुके हैं; अतः यहां उद्देशार्थाधिकार निर्युक्तिकार स्वयं हि कहते हैं... हिंसा करनेवाला हिंसक... विषयों का आरंभ करनेवाला विषयारंभक... तथा मात्र विषय भोगोपभोगों के लिये प्रयत्न करनेवाला वह एकचर... इत्यादि ऐसे लोग कभी भी मुमुक्षु मुनी नहि होते... यह प्रथम उद्देशक का अर्थाधिकार है...

तथा द्वितीय उद्देशक में यह अधिकार है कि- मुनी हिंसादि पापस्थानकों से विरत होता है... जब कि- अविरतवादी याने अविरति का कथन करनेवाला मनुष्य परिग्रहवाला होता है...

तथा तृतीय उद्देशक में विरति का कथन करनेवाला मुनी हि कामभोगों से निर्वेद पाकर अपरिग्रही होता है वह यहां अर्थाधिकार है...

तथा चौथे उद्देशक में यह अर्थाधिकार है कि- अव्यक्त याने अगीतार्थ तथा सूत्रार्थ से अपरिपूर्ण मुनी को अपाय (उपद्रव) होने की संभावना है...

तथा पांचवे उद्देशक में द्रह की उपमा से साधु को भावित होना चाहिये... जैसे कि- जल से भरा हुआ द्रह याने सरोवर बिना छिद्र का हो तो हि प्रशंसनीय होता है... इसी प्रकार साधु भी ज्ञान, दर्शन, एवं चारित्र से भरपूर होने के साथ-साथ विस्रोतसिकावाला न हो; तब हि प्रशंसनीय होता है तथा तपश्चर्या संयम एवं गुप्तियां और असंगत्व इत्यादि यहां अर्थाधिकार है...

तथा छठे उद्देशक में उन्मार्ग का त्याग, कुदृष्टि का परित्याग एवं राग-द्वेष का त्याग इत्यादि अर्थाधिकार है...

तथा नामनिष्पन्न निक्षेप में नाम के दो प्रकार है... १. आदानपद नाम तथा २. गौण

याने गुणनिष्पन्न नाम... इन दोनों प्रकार के नाम का स्वरूप निर्युक्तिकार स्वयं कहते हैं...

नि. २३९

आदान याने प्रथम पदसे पहचाना जाए वह आदानपद... यहां प्रथम सूत्र का प्रथम पद “आवंती” है... यह आदानपद नाम... तथा गुणसे निष्पन्न जो नाम वह गौण नाम... जैसे कि- लोक याने चौदह राजलोक का जो सार याने परमार्थ वह लोकसार नाम गुणनिष्पन्न है...

इस लोकसार नाम में दो पद हैं; लोक और सार... अब लोक और सार पद के चार चार निक्षेप कहते हैं... नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, भावलोक... तथा नामसार, स्थापनासार, द्रव्यसार और भावसार... वहां नामलोक याने; जिस किसी पदार्थ का “लोक” ऐसा नाम हो... तथा स्थापना लोक याने चौदहराजलोक स्वरूप लोक की स्थापना...

वह इस प्रकार... तिर्यग् दो मेंचार, दो में छह, तीन में आठ, तीन में दश, दो में बारह, दो में सोलह, चार में बीस, दो में सोलह, दो में बारह, एक में दश, एक में आठ, दो में छह, दो में चार, तथा मध्यलोक से नीचे अधोलोक में चार नरक भूमी पर्यंत चार-चार, उसके बाद तीन, तीन, दो दो, एक एक खंडुक-प्रतर सातवी नरक पर्यंत खंडुक के जानीयेगा...

प्रतर	खंडुक	प्रतर	खंडुक
१	४	२९	४
२	४ ---	३०	४
३	६	३१	४
४	६ ---	३२	४ ---
५	८	३३	८
६	८	३४	८
७	८ ---	३५	८
८	१०	३५	८ ---
९	१०	३७	१२
१०	१० ---	३८	१२
११	१२	३९	१२
१२	१२ ---	४०	१२ ---
१३	१६	४१	१६
१४	१६ ---	४२	१६

१५	२०	४३	१६
१६	२०	४४	१६ ---
१७	२०	४५	१८
१८	२० ---	४६	१८
१९	१६	४७	१८ ---
२०	१६ ---	४८	२०
२१	१२	४९	२०
२२	१२ ---	५०	२० ---
२३	१० ---	५१	२२
२४	८ ---	५२	२२ ---
२५	६	५३	२४
२६	६ ---	५४	२४ ---
२७	४	५५	२६ ---
२८	४ ---	५६	२८ ---

तथा द्रव्यलोक याने जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय एवं काल स्वरूप षड्विध द्रव्यलोक है... तथा भावलोक औदयिक आदि छह (६) भाव स्वरूप है अथवा सर्व द्रव्यों के पर्याय स्वरूप भावलोक है...

नि. २४०

“सार” पद के भी नाम आदि चार निक्षेप में नाम एवं स्थापना सुगम है, अतः अब द्रव्यसार को कहते हैं... “सार” शब्द यहां प्रकर्ष याने उत्कृष्टता का वाचक है... जैसे कि-

१. सर्व समृद्धि में धन सार है... जैसे कि- कोट्याधिपति...
२. स्थूल पदार्थ में एरंड सार है...
३. गुरु पदार्थों में वज्र सार है...
४. मध्यम पदार्थों में खदिर सार है...
५. देश-क्षेत्र में आम्रवन सार है...
६. सचित्त द्विपद में जिनेश्वर सार है...
७. सचित्तचतुष्पद में सिंह सार है...
८. सचित्त अपद में कल्पवृक्ष सार है...
९. अचित्त अपद में वैदूर्य मणी सार है...
१०. मिश्र पदार्थ में समवसरण स्थित तीर्थंकर परमात्मा...

११. शरीर में औदारिक शरीर... क्योंकि- मोक्ष का हेतु है, तथा विशिष्ट रूप का पात्र भी औदारिक शरीर है...

अब भावसार का प्रतिपादन करते हुए निर्युक्ति गाथा कहते हैं...

नि. २४१

भावसार का विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि- फल की साधनता हि सार है... क्योंकि- कोई भी प्राणी फल की प्राप्ति के लिये हि क्रिया करता है... अतः क्रिया का सार फल की प्राप्ति हि है... किंतु वह फल ऐकांतिक और आत्यंतिक होना चाहिये... संसार की क्रियाओं के फल अनैकांतिक और अनात्यंतिक स्वरूप है; अतः इससे विपरीत मोक्ष-सुख ऐकांतिक और आत्यंतिक है... क्योंकि- मोक्षफल में कोई बाधा नहि है... अतः मोक्षफल स्वरूप सुख हि उत्तम सुख है... और उस मोक्ष-सुख के साधन ज्ञान, दर्शन, संयम और तपश्चर्या है... अतः सिद्धि स्वरूप मोक्षफल के ज्ञानादि साधन में यहां प्रस्तुत ग्रंथ में भावसार स्वरूप ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का अधिकार है...

सिद्धि के उपाय स्वरूप ज्ञानादि हि भावसार है, यह बात निर्युक्तिकार स्वयं हि गाथा के द्वारा कहते हैं...

नि. २४२

गृहस्थ लोक में काम-परिग्रह के कारण से कुमत्तवाले गृहस्थ-अवस्था की हि प्रशंसा करते हैं... वे कहते हैं कि- गृहस्थाश्रम जैसा कोई धर्म नहि है; न था और न होगा... क्योंकि- जो शूरवीर हैं; वे हि गृहस्थाश्रम का पालन कर सकते हैं... और जो पाखंड याने संन्यास का आश्रय लेते हैं वे क्लीब याने नपुंसक हैं... तथा सभी पाखंडी-संन्यासी लोग भी गृहस्थाश्रम का हि आधार लेते हैं... इत्यादि प्रकार से महामोह से मोहित मतिवाले कुमत्ताश्रित लोग भी इच्छा स्वरूप मदन-कामभोग में प्रवृत्त होते हैं तथा अन्य मतवाले तीर्थिक भी इंद्रियों के विकारों को रोक नहि पाने के कारण से कामभोग में द्विगुण आसक्त होते हैं...

अतः भाव-सार ज्ञान, दर्शन एवं तपश्चरण गुण हि है... क्योंकि- यह ज्ञानादि गुण हि उत्तमसुखवाली वरिष्ठ सिद्धि के हेतु है... अर्थात् ज्ञानादिगुण का सार सिद्धि हि है...

अब कहते हैं कि- यदि ज्ञान, दर्शन एवं तपश्चरणादि गुण हितार्थकारी होनेसे सार स्वरूप है, तो अब हमे क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर निर्युक्तिकार कहते हैं...

नि. २४३

मैंने यह प्रारंभ किया हुआ संयमानुष्ठान क्या निष्फल होगा ? ऐसे शंका स्थानों का त्याग करें... अरिहंत परमात्मा ने कहे हुए अत्यंत सूक्ष्म एवं अतींद्रिय तथा मात्र आगम (श्रद्धा) ग्राह्य पदार्थों में संशय स्वरूप शंका का त्याग करके इन ज्ञान, दर्शन एवं चारित्रानुष्ठान में

अनन्यमनस्क याने एकाग्रता से-दृढता से मुमुक्षु मुनी लीन रहें... तथा अन्य मतों के दम्भाचरणों से क्षुब्ध न हों...।

अब शंका को दूर करने के लिये आलंबन दिखाते हैं जैसे कि- जीव है, क्योंकि- नव तत्त्व में जीव पद का ग्रहण सभी से पहले किया है, तथा सभी तत्त्वों में जीव ही प्रधान है... तथा जीव पद कहने से शेष अजीवादि पदार्थ भी ग्रहण करें... जीव भूतकाल में जीवित था, वर्तमानकाल में जीवित है, और भविष्यत्काल में जीवित रहेगा... वह जीव... शुभ एवं अशुभ कर्म फलों का भोक्ता है... और वह प्रत्यक्ष ही “अहं” प्रत्यय से साध्य है... अथवा इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि कार्यों के अनुमान से भी वह जीव साध्य है...

तथा अजीव भी धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय एवं पुद्गल स्वरूप है... उनमें धर्मास्तिकाय गति में हेतु होता है, अधर्मास्तिकाय स्थिति में हेतु होता है, तथा आकाशास्तिकाय अवगाह (अवकाश) में हेतु होता है और पुद्गल (परमाणु) द्वयणुक त्र्यणुक आदि स्कंधों में हेतु होता है... इसी प्रकार आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा भी जानीयेगा तथा मोक्ष-पुरुषार्थ ही प्रधान पुरुषार्थ होने से और आदि एवं अंत का ग्रहण करने से मध्य का ग्रहण अवश्य हो ही जाता है इसलिये पहले साक्षात् “जीव” पद को ग्रहण करने के बाद अब अंतिम पद “मोक्ष” का कथन करते हैं... परम-पद याने “मोक्ष” है... “मोक्ष है” क्योंकि- “मोक्ष” यह शुद्ध पद है... तथा बंध प्रतिपक्षवाला है, अथवा अविनाभाव याने मोक्ष के होने पर ही बंध का होना है, और मोक्ष के न होने में बंध का भी होना न होना हो जाता है... तथा मोक्ष होने पर भी यदि मोक्ष प्राप्ति के उपाय न हो तो भी लोग क्या करें ? अतः मोक्ष प्राप्ति के उपाय = कारणों का “होना” दिखाते हैं... यतना याने “जयणा” संयम में प्रयत्न... तथा राग और द्वेष का उपशम... यह मोक्ष का उपाय है...

इस प्रकार जीव एवं परमपद याने मोक्षके होने में जो कुछ संशय एवं शंका हो, उनको दूर करके ज्ञानादि “सार” पद को ही दृढता से ग्रहण करें...

अब अन्य भी अपर-अपर सार-प्रकर्ष होते हैं वह कहते हैं...

नि. २४४

जैसे कि- चौदह राजलोक का सार क्या है ? तथा उस सार का भी सार क्या है ? और उसका भी जो सार है, उसको यदि हे गुरुजी ! आप जानते हो तो मुझे कहीयेगा...

नि. २४५

संपूर्ण लोक का सार धर्म है... तथा धर्म का सार ज्ञान है तथा ज्ञान का सार संयम है और संयम का सार निर्वाण याने मोक्ष है...

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - १

॥ एकचर्या ॥

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १५४ ॥ १-५-१-१

आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्टाए अणट्टाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरु से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे ॥ १५४ ॥

II संस्कृत-छाया :

यावन्तः केचन लोके विपरामृशन्ति, अर्थाय, अनर्थाय, एतेषु एव विपरामृशन्ति । गुरवः तस्य कामाः, ततः सः मारान्तः, यतः सः मारान्तः ततः सः दूरे... नैव असौ अन्तः नैव दूरे ॥ १५४ ॥

III सूत्रार्थ :

इस लोक में जितने जो कोई भी प्राणी हैं; वे सकारण या निष्कारण जीवों का वध करते हैं; क्योंकि- उसको शब्दादि काम-विषय गुरु याने अधिक हैं इसलिये हि वह मरण के मुख में है, और जैसे वह मरण के मुख में है; वैसे हि वह मोक्ष से दूर है... किंतु जो केवलज्ञानी हैं वे न तो मरण के मुख में हैं, और न तो मोक्षसे दूर हैं ॥ १५४ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जितने भी जीव मनुष्य अथवा असंयत हैं... कहां ? तो कहते हैं कि-इस चौदह राजलोक स्वरूप विश्व में अथवा गृहस्थलोक तथा अन्य तीर्थिकलोक में जितने भी जीव मनुष्य अथवा असंयत हैं, वे विषयाभिलाष के कारण से छह जीवनिकाय के जीवों को अनेक प्रकार से दंड, कश याने चाबुक से ताडन आदि के द्वारा सकारण या निष्कारण परिताप याने दुःख देते हैं...

अर्थाय याने अर्थ- धनके लिये... अथवा अर्थ याने प्रयोजन... वह धर्म, अर्थ एवं काम स्वरूप है... अर्थात् धर्मादि के प्रयोजन से प्राणी जीवों का वध करता है... जैसे कि- धर्म के लिये- शौच याने पवित्रता के लिये पृथ्वीकाय का समारंभ करता है तथा धन के लिये

कृषि-खेती करता है... तथा काम के लिये आभरण-वस्त्रादि उत्पन्न करने का आरंभ करता है... इसी प्रकार शेष अप्काय, तेउकाय आदि में भी समारंभ जानीयेगा...

अनर्थ याने प्रयोजन के बिना... जैसे कि- मृगया याने शिकार के व्यसन से मनुष्य मृग आदि प्राणीयो का वध करता है... इस प्रकार असंयत मनुष्य अर्थ से या अनर्थ से (सकारण या निष्कारण) सूक्ष्म एवं बादर, पर्याप्त एवं अपर्याप्त आदि भेदवाले षड्विधजीवनिकायों में ऐकेंद्रियादि जीवों के उपघातवाली क्रियाओं को करता है... और उन जीवों को पीडा देकर खुद हि वहां ऐकेंद्रियादि में अनेक बार उत्पन्न होता है... अथवा छह जीवनिकाय के जीवों को पीडा देने से होनेवाले कर्मबंध से वह प्राणी पुनः उन छह जीवनिकाय में उत्पन्न होकर विविध प्रकार के कष्ट-पीडा का अनुभव करता है...

नागार्जुनीय-मतवाले कहते हैं कि- इस लोक में असंयत मनुष्य सकारण या निष्कारण छह जीवनिकाय के जीवों के वध का समारंभ करता है...

प्रश्न- अब यहां प्रश्न यह होता है कि- असंयत मनुष्य क्यों इस प्रकार के कर्म करता है कि- उन कर्मों से वह छह जीवनिकाय में उत्पन्न होकर दुःख पाता है ?

उत्तर- परमार्थ से अज्ञ ऐसे उस असंयत मनुष्य को शब्दादि विषयों के काम याने इच्छा गुरुतर याने बहोत हि है कि- जिसका त्याग नहि कर सकता... क्योंकि- पुन्य रहित एवं अल्पसत्त्ववाले प्राणी काम याने इच्छाओं का त्याग करने में समर्थ नहि होते... अतः उन काम-इच्छा की पूर्ति के लिये छह जीवनिकाय के आरंभ में प्रवृत्त होते हैं, और ऐसा होने पर वे पाप के भार से भरे जाते हैं अतः उन पाप के उदय में वे मरण पाकर छह जीव निकाय में जन्म-मरण करते रहते हैं... क्योंकि- जीवन में पाप कर्म करनेवाले मरण होने पर जन्म लेते हि हैं... पुनः जीवन में पाप कर्म... ऐसी स्थिति में वे संसार-समुद्र में डूबना और उपर आना याने मरना और जन्म लेना... इसी जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहते हैं... अर्थात् मुक्त नहि हो पाते...

अब जब तक यह विषयसुखार्थी प्राणी कामभोग का त्याग नहि करने से मृत्यु के पास याने निकट है; तब तक परमपद के उपाय स्वरूप ज्ञानादि रत्नत्रय से और उसके कार्य स्वरूप मोक्ष से दूर है... क्योंकि- कामभोग का अपरित्याग हि मार याने मरण का कारण है... और जिसको मरण है; वह जन्म, रोग, शोक, जरा एवं मरण से अभिभूत होने के कारण से मोक्षसुख से दूर है...

जो कामगुरु है; वह मरण के मुख में है; अतः वह विषयसुख को भी नहि पा सकता... और विषयाभिलाषा का त्याग भी नहि कर पाने से वह विषयाभिलाषा से दूर भी नहि है...

अथवा जिसको गुरु-काम है; वह कर्म के चक्र में नहि है, क्योंकि- वह भिन्न ग्रंथिवाला होने से अर्धपुद्गल परावर्तकाल में अवश्यमेव कर्मों का क्षय करेगा हि... तथा वह कर्मों के चक्र से दूर भी नहि है, क्योंकि- देशोन कोडाकोडी सागरोपम की स्थितिवाला है...

इसी प्रकार चारित्र की प्राप्ति होने पर भी वह मुनी पूर्वोक्त कारणों से कर्मों के चक्र के अंदर भी नहि है और बाहर भी नहि है...

अथवा जिन्होंने घातिकर्म का क्षय किया है ऐसे केवलज्ञानी भी संसार के अंदर है कि- बाहर है ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि- घातिकर्मों के क्षय होने से वे संसार के चक्र में नहि है, और अघाति कर्म अभी भी आत्मा के उपर होने से वे संसार चक्र के बाहर भी नहि है...

अब कहते हैं कि- जो जीव भिन्नग्रंथिक है, दुर्लभ ऐसे भी सम्यक्त्व को पाया हुआ है तथा संसार के पार मोक्षनगर के तीर याने किनारे पे रहा हुआ है, वह कैसे शुभ-अध्यवसायवाला होता है; इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

चतुर्थ अध्ययन में सम्यक्त्व का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व के बाद सम्यक् चारित्र का स्थान है। क्योंकि- सम्यग् दर्शन का महत्त्व चारित्र के विकास में है। इसलिए लोक में चारित्र ही साररूप माना गया है। प्रस्तुत अध्ययन का नाम भी लोकसार है। अतः इस अध्ययन में-चारित्र का विस्तृत विवेचन किया जाएगा...

प्रस्तुत अध्ययन के नाम पर विचार करते हुए वृत्तिकार ने प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा है कि- लोक का सार धर्म है, धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार संयम है, और संयम का सार निर्वाण-मोक्ष है। निष्कर्ष यह रहा कि- लोक का सार संयम है और संयम-साधना से मुक्ति प्राप्त होती है। संयम-साधना के अभाव में कोई भी व्यक्ति मोक्ष को नहीं पा सकता है...

प्रस्तुत सूत्र में हिंसाजन्य फल का उल्लेख किया गया है। कुछ असंयत मनुष्य धर्म, अर्थ एवं काम के लिए अनेक जीवों की हिंसा करते रहते हैं। अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए तो स्पष्ट रूप से हिंसा होती ही है। परन्तु कुछ लोग धर्म के नाम पर किए जाने वाले यज्ञों एवं अन्य क्रियाकाण्डों में-पंचाम्नि, होम, आदि में अनेक जीवों की हिंसा करते हैं, वे प्रयोजन से या निष्प्रयोजन ही दूसरे प्राणियों का प्राण ले लेते हैं। जैसेकि- मनोविनोद के लिए शिकार आदि दुष्कर्मों के द्वारा प्राणियों की हिंसा करते हैं। और परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके उन्हीं पृथ्वीकायादि ६ काय के जीवों में उत्पन्न होते रहते हैं, अर्थात् जन्म-

मरण के प्रवाह में भटकते रहते हैं।

ऐसे असंयत-व्यक्ति मोक्ष से दूर रहते हैं। क्योंकि- सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का परिपालन करना ही मोक्ष मार्ग है। और विषयाभिलाषी प्राणी रत्नत्रय की आराधना-साधना कर नहीं सकता। वह रात-दिन विषय-वासना में आसक्त रहता है; अतः मोक्ष से दूर कहा गया है।

विषयासक्त व्यक्ति रात-दिन भोगों में संलग्न रहता है। अतिभोग के कारण उसकी इन्द्रियें जर्जरित हो जाती हैं, शरीर दुर्बल एवं रोग से घिर जाता है। इस तरह वह विषय जन्य भोगोपभोगों से वंचित रहता है और मानसिक भावों से विषयासक्त रहने के कारण वह संसार से दूर नहीं होता है। क्योंकि- उसका चिन्तन सदा विषय-वासना में ही लगा रहता है। अतः वह निरन्तर जन्म मरण के प्रवाह में बहता रहता है।

सम्यक्त्व की साधना करने वाले व्यक्ति के अध्यवसाय किस तरह के रहते हैं ? इसका विवेचन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १५५ ॥ १-५-१-२

सो पासइ फुसियमिव कुसगगे पणुण्णं निवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परिआसमुवेइ, मोहेण गब्भं मरणाइ एइ, एत्थ मोहे पुणो पुणो ॥ १५५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः पश्यति स्पृष्टमिव कुशाग्रे प्रणुन्नं निपतितं वातेरितं, एवं बालस्य जीवितं मन्दस्य अविजानतः, कूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः, तेन दुःखेन मूढः विपर्यासं उपैति, मोहेन गर्भं मरणानि एति, अत्र मोहे पुनः पुनः ॥ १५५ ॥

III सूत्रार्थ :

वह सम्यक्त्वी प्राणी कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दु की तरह जीवन को असार देखता है। कुशाग्र पर स्थित जल बिन्दु दूसरी बून्द या हवा के झोंके की प्रेरणा से शीघ्र ही गिर पड़ता है, उसी तरह बाल्य काल भी कुछ दिनों में बीत जाता है। परन्तु विवेकहीन प्राणी इस परमार्थ सत्य को नहीं जानता। अतः वह अज्ञानी व्यक्ति क्रूर कर्मों को करता हुआ तज्जन्य दुःखानुभूति से मूढ होकर विपरीत मार्ग का अनुगामी बन जाता है। और मोह से आवृत होकर जन्म मरण के प्रवाह में भटकता रहता है।

IV टीका-अनुवाद :

मिथ्यात्व के पटल (आवरण) दूर होने से प्रगट हुए सम्यक्त्व के प्रभाव से मुमुक्षु मुनि संसार के सार (रहस्य) को देखते हैं, वे जानते हैं कि- संसारी जीवों का जीवित कुशाग्र के उपर रहे हुए जलबिंदु की तरह अस्थिर है... क्योंकि- निरंतर अन्य अन्य उदक = जल के परमाणुओं का संग्रह होने से प्रेरित तथा वायु से संचालित वह कुशाग्र-जलबिंदु आस्थिरता के कारण से विनाश को पाता है...

यद्यपि कुशाग्र के उपर रहा हुआ जलबिंदु के समान जीवन क्षणमात्र स्थितिवाला है, तथापि बाल याने अज्ञानी जीव अपने वर्तमान जीवित को बहु मानता है; क्योंकि- वह सद् एवं असद् के विवेक में मंद है, अतः परमार्थ नहि जानता... ऐसी स्थिति में वह अज्ञानी मनुष्य निर्दयता से सकल लोक को आश्चर्य उत्पन्न करे ऐसे हिंसा-जूठ-चोरी इत्यादि अङ्कारह पापस्थानकों का आचरण करता है, वह मूढ प्राणी ऐसा सोचता है कि- जूठ, चोरी एवं हिंसादि पापकर्मों से मेरा यह दुःख दूर होगा... इस प्रकार महामोह से मोहित वह मूढ प्राणी विपर्यासता से दुःखों के कारण-हिंसादि को हि दुःख दूर करने का कारण समझ कर हिंसादि पापारंभ करता है...

तथा मोह याने अज्ञान अथवा मिथ्यात्व, कषाय एवं विषयाभिलाषा स्वरूप मोहनीय कर्म... ऐसे उस मोह से मोहित अज्ञानी प्राणी कर्मबंध करता है और जन्मांतर में तिर्यच या मनुष्य गति में गर्भ में उत्पन्न होता है, फिर जन्म पाकर बाल, कुमार, यौवन आदि उग्र की विशेष अवस्थाओं में विषय एवं कषायों के आसेवन से कर्मबंध करके आयुष्य पूर्ण होने पर मरण को प्राप्त करता है... यहां आदि पद से पुनः गर्भादि अवस्था तथा नरकादि स्थानों में उत्पन्न होता है; इस प्रकार यह अज्ञ प्राणी मोह के कार्य स्वरूप जन्म-मरणादि में बार बार याने अनादि-अनंत काल पर्यंत की स्थितिवाले चारगति स्वरूप इस संसार-अटवी में पर्यटन करता है...

किंतु जो प्राणी मिथ्यात्व, कषाय और विषयाभिलाषा का त्याग करता है वह संसार-अटवी में पर्यटन नहि करता... परंतु मोक्षप्राप्ति लिये विशिष्ट ज्ञान चाहिये और वह विशिष्ट ज्ञान मात्र मोह के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से हि प्राप्त होता है... इस प्रकार यहां विशिष्ट ज्ञान एवं मोहाभाव इतरेतराश्रय याने अन्योन्याश्रयवाले हैं... वह इस प्रकार- मोह, अज्ञान, एवं मोहनीय कर्म के अभाव में विशिष्ट ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान से मोह, अज्ञान एवं मोहनीय कर्म का अभाव...

तो अब यहां यह प्रश्न रहा कि- जब तक विशिष्ट ज्ञान न हो, तब तक कर्मों का शमन (विनाश) होना मुश्किल है... अतः इस प्रश्न का उत्तर आगे के सूत्र से कहेंगे...

V - सूत्रसार :

विश्व की प्रत्येक वस्तु परिवर्तन शील है। प्रत्येक पदार्थ की पर्यायों में पतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। काल की गति के साथ-साथ जीवन की धारा भी बदलती रहती है। बाल्य काल के बाद जवानी आती है, यौवन का स्थान क्रमशः प्रौढ़ता ग्रहण करती है, प्रौढ़ावस्था को परास्त करके बुढ़ापा मनुष्य को बुरी तरह से पछाड़ देता है; काल याने मरण मानव को एकदम परास्त कर देता है। अतः मोह कर्म से आवृत्त एवं विषयासक्त व्यक्ति जीवन की क्षणिकता की ओर आंख मूंदकर एवं अपने जीवन को अविनाशी मानकर रात-दिन दुष्कर्मों में संलग्न रहता है। और पाप कर्म करके संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य इस बात को भलीभांति जानता है कि- पापकर्म संसार का हेतु है... तथा वह अपने जीवन की अस्थिरता से अपरिचित भी नहीं है। क्योंकि- वह दर्शन मोहनीयकर्म का क्षय या क्षयोपशम कर चुका है। इस से स्पष्ट होता है कि- संसार परिभ्रमण एवं दुष्कर्मों में प्रवृत्ति का कारण मोह कर्म का उदय है। अतः मोह कर्म का नाश करने से आत्मा में विशिष्ट ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होते देर नहीं लगती। इसी बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १५६ ॥ १-५-१-३

संशयं परियाणओ संसारे परिण्णाए भवइ, संशयं अपरियाणओ संसारे अपरिण्णाए भवइ ॥ १५६ ॥

II संस्कृत-छाया :

संशयं परिजानता संसारे परिज्ञातं भवति, संशयं अपरिजानता संसारे अपरिज्ञातं भवति ॥ १५६ ॥

III सूत्रार्थ :

जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है। और जो संशय को नहीं जानता है, वह संसार के स्वरूप को भी नहीं जानता।

IV टीका-अनुवाद :

संशय याने यह "यह है कि यह है" ऐसा दोनो अंश का संदेह... इस संशय का दो भेद है... १. अर्थ संशय, २. अनर्थसंशय... उनमें अर्थ याने मोक्ष और मोक्ष का उपाय, इनमें भी मोक्ष में संशय नहि है क्योंकि- मोक्ष परमपद स्वरूप है; किंतु मोक्ष के उपाय में

संशय होता है... यह अर्थसंशय है... तथा अनर्थ याने संसार और संसार के कारण... इस अनर्थ के संशय में आत्मा का निर्वाण हो सकता है... क्योंकि- अनर्थ का संशय हि निवृत्ति का अंग है... अतः अर्थ एवं अनर्थगत संशय को जाननेवाले को हि हेय में निवृत्ति एवं उपादेय में प्रवृत्ति होती है... और यह हि परमार्थ से संसार का परिज्ञान है...

इस प्रकार अर्थ एवं अनर्थ के संशय को जाननेवाले को हि चार गति स्वरूप संसार एवं उसके कारण मिथ्यात्व अविरति आदि अनर्थ स्वरूप प्रतीत होते हैं; अतः उनको ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करते हैं... तथा जो प्राणी को संशय नहि होता वह संसार को भी नहि जानता... अर्थात् दोनों प्रकार के संशय याने संदेह को नहि जाननेवाले व्यक्ति हेय से निवृत्त एवं उपादेय में प्रवृत्त नहि हो पाते... और इस स्थिति में अनित्य, अशुचिस्वरूप, व्यसन याने दुःखो की बहुलतावाले एवं निःसार संसार को भी नहि जान सकते हैं...

प्रश्न- ऐसा कैसे निश्चय हो कि- संशय को जाननेवाले हि संसार को जानते हैं यह बात हम किस संकेत से जान सकते हैं ?

उत्तर- विरति की प्राप्ति हि संसार के परिज्ञान का कार्य याने फल है...

अब सर्वविरति का स्वरूप सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में पदार्थ ज्ञान और संशय का अविनाभाव संबन्ध माना गया है। यहां संशय का अर्थ है-पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा वृत्ति। इससे स्पष्ट होता है कि- संशय हि सम्यग् ज्ञान के विकास का कारण है। जब मन में जानने की जिज्ञासा वृत्ति उद्वुद्ध होती है, तब मनुष्य उस ओर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार वह ज्ञान के क्षेत्र में निरन्तर आगे हि आगे बढ़ता रहता है।

संशय-जिज्ञासा वृत्ति दो प्रकार की होती है-१-अर्थगत और २-अनर्थगत। मोक्ष एवं मोक्ष के कारणभूत संयम आदि को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अर्थगत संशय कहते हैं और संसार एवं संसार परिभ्रमण के कारणों को जानने की जिज्ञासा वृत्ति को अनर्थगत संशय कहते हैं। दोनों प्रकार के संशय से ज्ञान में अभिवृद्धि होती है। और संसार एवं मोक्ष दोनों के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति ही हेय वस्तु का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इसलिए यह कहा गया है कि- जो व्यक्ति संशय को जानता है, वह संसार के स्वरूप को जानता है और जो संशय को नहीं जानता है; वह संसार की यथार्थता नहीं ज्ञान सकता।

इससे स्पष्ट होता है कि- संशय हि पदार्थ ज्ञान के लिए होना चाहिए। भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के लिए जात संशय, संजात संशय और समुत्पन्न संशय ऐसा तीन बार उल्लेख किया गया है। जात संशय की व्याख्या करते हुए वृत्तिकार अभयदेवसूरि जी ने लिखा है कि- 'जातः संशयो यस्य स जातसंशयः, संशयस्तु अनवधारितार्थज्ञानं जातसंशय, इदं वस्त्वेवं स्यादेवमिति।' अर्थात् जो ज्ञान पहिले धारण नहीं किया गया है; उस की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले संशय को जात संशय कहते हैं। इस प्रकार यह संशय सम्यग् ज्ञान वृद्धि में कारणभूत है। इससे पदार्थों का यथार्थ बोध होता है और उनकी हेयोपादेयता का भी परिज्ञान होता है।

हेय एवं उपादेय वस्तु का त्याग एवं स्वीकार कौन कर सकता है ? इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १५७ ॥ १-५-१-४

जे छेए से सागारियं न सेवइ, कट्टु एवमविद्याणओ बिइया मंदस्स बालया लद्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अनासेवय त्ति बेमि ॥ १५७ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः छेकः सः सागारिकं न सेवते, कृत्वा एवं अविजानतः द्वितीया मन्दस्य बालता, लब्धान् हु अर्थान् प्रत्युपेक्ष्य आगम्य अनाज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि ॥ १५७ ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधक कुशल है, निपुण है, वह विषय-भोगों का आसेवन नहीं करता। परन्तु कुछ मंदबुद्धि साधु विषय-वासना का सेवन करके भी गुरु आदि के पूछने पर उसे छुपाने का प्रयत्न करते हैं। वे कहते हैं कि- हमने मैथुन का सेवन नहीं किया। इस तरह पाप को छुपाकर रखना उन मन्दबुद्धि साधकों की दूसरी अज्ञानता है।

बुद्धिमान साधक विषयों की प्राप्ति होने पर भी उस और अपने योगों को नहीं लगाते। वे उनके विपाक-फल का विचार कर उसका सेवन नहीं करते और अन्य साधकों को भी उनसे बचकर रहने का आदेश देते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

छेक याने पुन्य एवं पाप को जाननेवाले निपुण साधु हि मन-वचन-काया से सागारिक याने मैथुन का सेवन नहि करतें... ऐसे साधु हि संसार के यथास्थित स्वरूप को जानतें हैं...

किंतु मोहनीय कर्म के उदय से पासत्था आदि जो साधु हैं, वे सातागौरव के भय से मैथुन सेवन करते हैं और बाद में जब गुरुजी पुछते हैं तब अपलाप याने कबुल नहीं करते अर्थात् जुठ बोलते हैं... ऐसे जुठ बोलनेवाले मंद याने अज्ञानी साधु को अपलाप स्वरूप मृषावाद का दोष लगता है... और ऐसा अपलाप न करने से आत्मा का उत्थान होता है...

नागार्जुनीय मतवाले तो ऐसा कहते हैं कि- जो कोइ साधु अशुभ कर्मोदय से मैथुन सेवन करता है, और यदि गुरुजी पुछते हैं; तब अपलाप याने जुठ बोलता है अथवा उनके उपर हि अपने दोष का आरोप चढाता है... इत्यादि...

ऐसी परिस्थिति में निपुण मुमुक्षु-साधु प्राप्त काम-भोगों को भी क्षुल्लक साधु के दृष्टांत से कर्मों के विपाक को जानकर उन शब्दादि विषयों का त्याग करें... अन्य को शब्दादि विषयों के कामभोग की अनुज्ञा न दें, और स्वयं भी शब्दादि के कामभोग का त्याग करें...

यह जो कुछ मैंने कहा वह सब कुछ श्री वर्धमानस्वामीजी के मुखारविंद से सुना और आत्मानुभव से संवेदनज्ञान प्राप्त करके हे जंबू ! तुम्हे कह रहा हुं...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बुद्धिमान साधकों की बुद्धिमत्ता, मूर्खों की अज्ञानता एवं बुद्धिमानों के कर्तव्य का दिग्दर्शन कराया गया है। बुद्धिमान वह है; जो किसी भी परिस्थिति में अपने साधनापथ से विचलित नहीं होता है। जिस वस्तु को संसार परिभ्रमण का कारण समझकर त्याग कर दिया; उसे फिर स्वीकार करना या उसे ग्रहण करने की मन में कल्पना करना अज्ञानता का परिचायक है। प्रबुद्ध पुरुष किसी भी स्थिति में परित्यक्त विषय-भोगों के आसेवन की इच्छा नहीं रखते। वे सदा काम भोगों से दूर रहते हैं, क्योंकि- वे उन काम-भोगों के दुष्परिणामों से परिचित है।

परन्तु, जो मूर्ख हैं, वे त्याग के पथ पर चलकर भी भटक जाते हैं; विषयवासना के साधनों को देखते ही वे लालायित होते हैं और उसका आसेवन करके भी उसे छुपाने का प्रयत्न करते हैं। वे अपने दुष्कर्म को स्वीकार नहीं करते। गुरु के पूछने पर कहते हैं कि- मैंने कोई दुष्कर्म नहीं किया। इस प्रकार पहिले तो पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं और फिर उसे छुपाने के लिए-दूसरे मृषावाद-पाप कर्म का सेवन करते हैं। यह उनकी दूसरी अज्ञानता है। इससे उनका जीवन पतन के गंत में गिरता है और वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

प्रबुद्ध पुरुष विषय-भोगों के कटु परिणाम एवं बाल-अज्ञानी जीवों द्वारा आसेवित विषय भोगों एवं माया-मृषावाद के दुष्परिणामों को भली-भांति जानते हैं। इसलिए भोग्य-पदार्थों के उपलब्ध होने पर भी वे उसका सेवन नहीं करते हैं। वस्तुतः सच्चा त्यागी वही है, जो

स्वतंत्रतापूर्वक प्राप्त प्रिय काम-भोगों का हृदय से त्याग कर देता है, उनके सेवन की बिल्कुल इच्छा-आकांक्षा नहीं रखता। और अपने अन्य साथी साधकों को भी भोगों की असारता एवं उनके दुष्परिणाम बताकर, विषय वासना से दूर रहने का आदेश देता है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १५८ ॥ १-५-१-५

पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिनिज्जमाणे, इत्थ फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्थवि बाले परिपच्चमाणे रमई पावेहिं कम्महिं, असरणे सरणं ति मण्णमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोभे बहुरए नहुनडे बहुसडे बहुसंकप्पे, आसवसत्ती पलिउच्छण्णे उट्टियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू अण्णाणपमायदोसेण सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पथा माणव ! कम्मकोविद्या जे अणुवरया अविज्जाए पलिमुख्खमाहु आवट्टमेव अणुपरियट्ठंति ति बेमि ॥ १५८ ॥

II संस्कृत-छाया :

पश्यत एकान् रूपेषु गृद्धान् परिणीयमानान्, अत्र स्पर्शान् पुनः पुनः, यावन्तः केचन लोके आरम्भजीविनः, एतेषु चैव आरम्भजीविनः, अत्रापि बालः परिपच्यमानः रमते पापैः कर्मभिः अशरणः शरणं इति मन्यमानः, इह एकेषां एकचर्या भवति । सः बहुक्रोधः बहुमानः बहुमायः बहुलोभः बहुरतः बहुरतः बहुशठः बहुसङ्कल्पः आश्रवसत्ती पलितावच्छन्नः उत्थितवादं प्रवदन्, मा मां केचन अद्राक्षुः, अज्ञानप्रमाददोषेण सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति आर्ताः प्रजाः मानव ! कर्मकोविदाः ये अनुपरताः अविद्यया परिमोक्षं आहुः आवर्त्तमेव अनुपरिवर्त्तन्ते इति ब्रवीमि ॥ १५८ ॥

III सूत्रार्थ :

भय्य जीवो ! तुम देखो ! कई एक विषयासक्त व्यक्ति नरकादि में वेदना पाते हुए नरकादि स्थानों में पुनः २ दुःख रूप स्पर्श का अनुभव करते हैं, लोक में कितने ही प्राणी आरम्भ से आजीविका करने वाले गृहस्थ या सारम्भी अन्य तीर्थिकों में आरम्भ पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। इस संसार में अज्ञानी जीव, विषयों की अभिलाषा से सावद्य कर्मों में संलग्न रहते हैं, अशरणरूप पापकर्म को शरणभूत मानते हुए विविध प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करते हैं।

तथा इस मनुष्य लोक में कोई साधु विषयकषायों के अधीन होकर अकेले विचरने लगता है। और फिर वह अधिक क्रोध, अधिक मान, अधिक माया, अधिक लोभ वाला

हो जाता है। तथा अधिक कर्मरज से युक्त, नट की भांती विषयों के लिए घूमने वाला अत्यन्त धूर्त, अधिक संकल्पों वाला, आश्रवों में आसक्ति रखने वाला और कर्मों से आच्छादित हुआ- वह मूर्ख साधु 'मैं धर्म के लिए उद्यत हो रहा हूँ', इस प्रकार बोलता है तथा मुझे पाप कर्म करते हुए कोई न देखे इस प्रकार सोचता हुआ अज्ञान और प्रमाद के वशीभूत होकर सदा अकार्य में लगा रहता है। निरन्तर मोहमूढता से वह धर्म को नहीं जानता।

हे मानव ! विषयकषाय वशीभूत होकर पाप कर्म करने में कोविद, आरंभ-समारंभ में चतुर, पापों से निवृत्त न होने वाले अज्ञानी जीव अविद्या से मोक्ष सुख की प्राप्ति मानते हैं किंतु पापकर्मों के उदय से वे संसार में परिभ्रमण करते हैं... इस प्रकार मैं (सुधर्मस्वामी) हे जंबू ! तुम्हें कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

एकांत याने निश्चित हि पुष्टधर्मवाले हे लोगों ! आप देखो कि- निःसार एवं कटुफलवाले रूप-रस आदि इंद्रियों के विषयों में गृद्ध याने आसक्त तथा पांचों इंद्रियों के द्वारा विषयों के अभिमुख अथवा संसार के अभिमुख अथवा नरकादि यातना याने पीडा के स्थानों में उत्पन्न होनेवाले प्राणीओं को देखो ! कि- इंद्रियों के परवश एवं विषयभोगों में आसक्त प्राणी इस संसार समुद्र में अशुभ कर्मों के विपाकोदय से नरकादि में कठोर स्पर्शों का बार बार अनुभव करते हैं अर्थात् नरकादि स्थानों में बहोत दुःख पाते हैं... अथवा पाटांतर-मोह अज्ञान या चारित्रमोह स्वरूप इस संसार में बार बार जन्म धारण करता है...

तथा लोक याने गृहस्थलोक में जो कोई आरंभ-समारंभ के द्वारा जीवन जीते हैं वे; सावद्य-अनुष्ठान से होनेवाले पापकर्मों के उदय में बार बार दुःखों का अनुभव करते हैं... तथा गृहस्थों के आश्रय में रहे हुए आरंभ-समारंभ वाले कुतीर्थिकादि भी दुःख के पात्र होते हैं... वह इस प्रकार- सावद्य आरंभों में प्रवृत्त गृहस्थ लोगों में श्रद्धा रखनेवाले कुतीर्थिक अथवा पासत्थादि साधु शरीर के निर्वाह के लिये सावद्यानुष्ठान की प्रवृत्ति में आसक्त होकर दुःखों के पात्र होते हैं...

अब कहते हैं कि- गृहस्थ और कुतीर्थिकों की बात तो छोड़ो, किंतु जो जीव संसार समुद्र के किनारे को पाकर अर्थात् सम्यक्त्वरत्न को प्राप्त करके भी अशुभ कर्मों के उदय में चारित्र को सफल न करते हुए मोहमूढ होकर सावद्य अनुष्ठान को हि करते रहते हैं अर्थात् तीर्थकर प्रणीत संयम को प्राप्त करके भी बाल याने राग-द्वेष से आकुल चित्तवाले मोहमूढ साधुजन भी पाप कर्मों के उदय से विषय भोगों की पिपासा के कारण से विषय भोगों के लिये सावद्यानुष्ठान में श्रद्धा-धृति रखते हैं... तथा कामभोग स्वरूप अग्नि से तप्त वह साधु सावद्यानुष्ठान को हि शरण मानता हुआ भोगेच्छा एवं अज्ञानांधकार से आच्छादित दृष्टिवाला

वह मदिरा के पान से उन्मत्त मनुष्य की तरह विपर्यय को पाकर विविध प्रकार की वेदना-पीडाओं का अनुभव करता है...

अन्य जीवों की बात तो दूर रहो किंतु प्रब्रज्या को पाकर भी विषयाभिलाषाओं से पीडित जो साधुजन विभिन्न प्रकार के सावध आचरण करते हैं; उनके लिये परमात्मा कहते हैं कि- इस मनुष्य लोक में कितनेक साधु एकचर्या का आचरण करते हैं... प्रशस्त एवं अप्रशस्त के भेद से एकचर्या के दो प्रकार होते हैं... पुनः वे दोनों द्रव्य एवं भाव भेद से दो दो प्रकार से हैं...

१. द्रव्य से अप्रशस्त - विषय एवं कषाय के कारण से गृहस्थ तथा पाखंडीओं का एकाकी विचरना...
२. भाव से अप्रशस्त - यह भंगा शून्य है... क्योंकि-यह विकल्प राग-द्वेष के अभाव में होता है... और राग-द्वेष के अभाव में अप्रशस्तता हो हि नहि सकती...
३. द्रव्य से प्रशस्त - प्रतिमा को स्वीकारनेवाले एवं स्थविरकल्प वाले साधु को संघ आदि कार्यों से एकाकी विचरना होता है...
४. भाव से प्रशस्त - राग-द्वेष के अभाववाले केवलज्ञानी का एकाकी विचरना...

इस चतुर्भंगी में द्रव्य से एवं भाव से प्रशस्त एकचर्या, छद्मस्थ तीर्थकरों को केवलज्ञान के पूर्व श्रमण अवस्था में होती है... और अन्य श्रमण चारों भंग में प्राप्त होते हैं...

उनमें द्रव्य से अप्रशस्त एकचर्या का उदाहरण इस प्रकार है... पूर्व-देश में धान्यपूरक नाम के संनिवेश (गांव) में एक तापस था... वह प्रथम उग्र में देवकुमार के समान देहवाला था... वह छद्मभक्त याने दो उपवास और तीसरे दिन भोजन ग्रहण स्वरूप तपश्चर्या गांव के प्रवेश-निर्गम दरवाजे के पास तथा दुसरा तापस गांव के पास पर्वत की गुफा में अष्टमभक्त याने तीन उपवास के द्वारा तपश्चर्या से साथ आतापना करता था... अब जो तापस गांव के निर्गम मार्ग में रहकर शीत एवं ताप को सहन करता हुआ तपश्चर्या करता था, उसके गुणों से आकर्षित हुए गांव के लोग पूजा-सत्कार एवं स्तुति के साथ आहारादि से सेवा-भक्ति करते हैं; तब वह तापस गांव के लोगों को कहता है कि- पर्वत के परिसर में तपश्चर्या करनेवाला तापस मेरे से भी अधिक दुष्कर कारक है...

इस प्रकार बार बार गांव के लोगों को कहता है; तब गांव के लोगोंने पर्वत की गुफा में तपश्चर्या करनेवाले उस एकाकी तापस की सेवा-भक्ति की... पूजा... स्तुति करी... क्योंकि-अन्य का गुणोत्कीर्तन करना दुष्कर है; ऐसा जाननेवाले गांव के लोगोंने पहले तापस-मुनी के

भी पूजा-सेवा-भक्ति की... अब इस उदाहरण का सारांश यह है कि- इन दोनों तापसों ने पूजा एवं कीर्ति के लिये एकचर्या की... अतः यह अप्रशस्त है... इसी प्रकार अन्य भी अप्रशस्त-एकचर्यावाले दृष्टांत यथासंभव स्वयं हि समझ ले...

इस प्रकार सूत्रार्थ की व्याख्या करने के बाद सूत्र स्पर्शिक निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामीजी व्याख्या करते हैं...

नि.२४६

चार, चर्या एवं चरण यह तीनों शब्द एकार्थ हैं... इन तीनों शब्द में व्यंजन भिन्न भिन्न हैं... व्यंजन याने जिस से अर्थ प्रगट हो वह... यहां चर् धातु है... इसका मुख्य अर्थ गति एवं भक्षण क्रिया है... यहां चार शब्द के छह (६) निक्षेप होते हैं... नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव... यहां नाम एवं स्थापना निक्षेप सुगम होने से अब द्रव्यचार का स्वरूप कहते हैं... जशरीर-भव्यशरीर और तद्रव्यतिरिक्त द्रव्यचार - जलमार्ग - स्थलमार्ग तथा जल की झील - झरणों को उल्लंघन करने के लिए रखा हुआ दारुसंक्रम याने लकड़ी की पटीया... इत्यादि अनेक प्रकार हैं... जल में सेतु (पुलीया) स्थल में गर्ता - खड्डा को ओलंघना... जलमार्ग... नौका आदि से तथा स्थलमार्ग रथ आदि से... आदि शब्द से महल आदि में पगथिये... सीढी आदि.. अथवा एक देश से अन्य देश में जाना वह द्रव्यचार है...

अब क्षेत्रचार आदि का स्वरूप कहते हैं...

नि.२४७

क्षेत्रचार याने जिस क्षेत्र में चार (चलना) किया जाय वह अथवा जितने क्षेत्र में चला जाय वह...

कालचार याने जिस काल में चलन-क्रिया हो अथवा जितने काल में चलन-क्रिया हो वह काल-चार...

भाव-चारके दो प्रकार हैं - १. प्रशस्त एवं २. अप्रशस्त...

प्रशस्त भावचार - ज्ञान-दर्शन एवं चारित्रादि... साधुजनों को...

अप्रशस्त भावचार - ज्ञानादि से भिन्न... यह गृहस्थ एवं कुतीर्दिकों को...

इस प्रकार सामान्य से द्रव्यादि चार का स्वरूप कहने के बाद अब यहां जिसका अधिकार है; उस प्रशस्त भावचार का स्वरूप कहते हैं...

नि.२४८

द्रव्य क्षेत्र काल एवं भाव स्वरूप चतुर्विध लोक में श्रमण याने साधु के द्रव्यादि चतुर्विध

चार में यहां धृति का अधिकार है... वह इस प्रकार- द्रव्यचार- अरस विरस एवं प्रांत रूक्ष आदि आहारादि में धृति धारण करें... तथा क्षेत्रचार- कुतीर्थिकों से भावित एवं प्रकृति से अभद्रक लोगवाले क्षेत्र में उद्वेग न करें... कालचार- दुष्काल आदि में निर्दोष जो कुछ आहारादि प्राप्त हो, उसमें संतोष रखें... तथा भावचार- आक्रोश, तर्जना, तिरस्कार एवं उपहास आदि की स्थिति में क्रोध न करें... विशेष प्रकार से क्षेत्र एवं काल जहां न्यून हो; वहां धृति धारण करें क्योंकि- द्रव्य और भाव चार में क्षेत्र और काल की विशेष असर होती है...

अब विशेष प्रकार से साधुओं के द्रव्यादि चार कहते हैं...

नि. २४९

पाप याने पाप के कारण हिंसा जुठ चोरी - अब्रह्म एवं परिग्रह का त्याग वह द्रव्यचार है... तथा क्षेत्रचार याने जहां सदा गुरुजी का सान्निध्य प्राप्त हो, ऐसे गुरुकुल में जीवन पर्यंत रहना और गुरुजी के उपदेश को जीवन में फैलाना... तथा कालचार याने जीवन पर्यंत गुरुजी के सान्निध्य में रहना... और भावचार याने उन्मार्ग अर्थात् अकार्याचरण का त्याग करना... एवं राग-द्वेष से विरत होकर साधु पंचाचारात्मक संयमानुष्ठान करें...

निर्युक्ति पूर्ण हुई, अब सूत्रकी व्याख्या करते हैं... कि- जिस साधु को विषय-कषायवाली एकचर्या होती है वे मनुष्य विषयों में आसक्त, इंद्रियों के विकारों से किं कर्तव्य मूढ अर्थात् विवेकशून्य ऐसे कुतीर्थिक हो या गृहस्थ, किंतु वे अन्य प्राणीओ से पराभव प्राप्त होने पर अतिशय क्रुद्ध होता है... तथा अन्य से वंदन-सत्कार प्राप्त होने पर अभिमान करते हैं... तथा कुरुकुच आदि से अथवा कल्क तपश्चर्या के द्वारा बहोत माया करते हैं... और यह सब कुछ धर्माचरण अनुष्ठान आहारादि के लोभ से करते हैं अतः बहुलोभी हैं... इस प्रकार क्रोधादि करने से वे बहोत पाप कर्म-रजवाले होते हैं; अथवा आरंभ आदि में रक्त होते हैं तथा भोगोपभोग की सामग्री के लिये नटकी तरह बहोत प्रकार के वेष को धारण करते हैं... तथा बहोत प्रकार से शठ याने कपट करते हैं और अनेक प्रकार के कार्यों संबंधी संकल्प-विकल्प करते हैं... इसी प्रकार अन्य चौर आदि लोगों की भी एकचर्या स्वयं हि कहियेगा...

ऐसी स्थिति में वह मनुष्य हिंसादि आश्रवों में आसक्त होता है, तथा पलित याने कर्मों से दबाया जाता है, ऐसी स्थिति में भी वे कुतीर्थिक ऐसा कहते हैं कि- मैं प्रव्रजित हुं... धर्म के आचरण में उद्यत हुं... किंतु आचरण अधर्म के होने के कारण से वे अधिक अधिक कर्मों से आच्छादित होते रहते हैं... और अज्ञान एवं प्रमाददोष के कारण से वे आश्रवों के द्वारों में प्रवृत्त होते हुए भी आहारादि आजीविका के भय से कोइ न देखे इस प्रकार प्रच्छन्न याने गुप्त रीति से सावद्य-पापाचरण करते हैं... तथा निरंतर मोहनीय कर्म के उदय से अथवा अज्ञान से सच्चे श्रुतधर्म एवं चारित्रधर्म को नहि जान सकते...

हे मानव ! विषय एवं कषायों से आर्त याने पीडित मनुष्य (प्राणी) आठों प्रकार के कर्मबंध में मग्न होते हैं; अतः वे धर्मानुष्ठान में कुशल नहि होते... अर्थात् आठों प्रकार के कर्मबंध करनेवाले अज्ञानी जीव धर्म को अच्छी तरह से नहि जान पाते... इस स्थिति में पापाचरणवाले वे लोग “ज्ञान-दर्शन-चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग है” इस बात को अविद्या कहकर इससे विपरीत विषयाभिलाषा एवं कामभोग की बातों को विद्या कहकर यह कहते हैं कि- यह भोगोपभोग हि मोक्षमार्ग है... इस प्रकार विपरीत समझ एवं आचरण से वे प्राणी भवावर्त याने संसार में अरघट्ट घटीयंत्र के न्याय से नरकादि चारों गतियों में बार बार परिभ्रमण करते हैं... इति शब्द अधिकार के समाप्ति का सूचक है; एवं ब्रवीमि पद का अर्थ पूर्ववत् जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में विषय-वासना में आसक्त व्यक्ति के जीवन का दिग्दर्शन कराया गया है। यह स्पष्ट है कि- वासना में आसक्त व्यक्ति दूसरे प्राणियों के हिताहित को नहीं देखता। वह अपनी भोगेच्छा की पूर्ति के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त कार्य करते हुए संकोच नहीं करता। परिणामस्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके नरकादि गतियों में उत्पन्न होता है। ओर वहां विविध वेदना का संवेदन करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि- जो प्राणी अज्ञान के वश वासना में आसक्त रहता है; वह नीच योनि में उत्पन्न होकर अनेक कष्टों को सहता है; संसार में परिभ्रमण करता है। भले ही वह गृहस्थ के वेश में हो या साधु के वेश में; जैन कुल में उत्पन्न हुआ हो या जैनतर कुल में; विषय वासना में आसक्ति एवं दुष्कर्म में प्रवृत्ति रखना किसी के लिए भी हितप्रद नहीं है। क्योंकि- जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है; उसे उसके अनुरूप फल प्राप्त होता है।

परन्तु, अज्ञानी लोग अशरण ऐसे दुष्कर्म को शरणभूत मानकर उस में प्रवृत्त होता है। और अधिक दुःख एवं कष्ट का वेदन करता है। कुछ व्यक्ति विषय-वासना का त्याग करके मुनि बनते हैं; परन्तु फिर से विषय-कषाय के वश में होकर अकेले विचरने लगते हैं। इससे उन पर आचार्य एवं गुरु आदि किसी का नियन्त्रण नहीं रहता। और अनुशासन के अभाव में उनके जीवन में कषायों-क्रोध; मान, माया; लोभ एवं विषयों की अभिवृद्धि होती है। वह गुप्त रूप से पाप कर्म में प्रवृत्त रहता है। और अंत में वह पतन के गर्त में गिरता है।

अज्ञान के कारण ही कुछ व्यक्ति अधर्म एवं पापकार्यों को धर्म समझते हैं। दुराग्रह के कारण वे धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयास नहीं करते। या यों कहिए कि- वे अपनी मिथ्या प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए धर्म के यथार्थ स्वरूप को स्वीकार नहीं करते, किंतु अधर्म को ही धर्म का चोला पहनाकर स्वयं पाप कर्म में प्रवृत्त होते हैं और जनता

को भी उस पाप-मार्ग पर प्रवृत्त होने के लिए प्रेरित कहते हैं। इस तरह ऐसे व्यक्ति विषय-कषाय आदि पाप कर्मों को करने में प्रवीण होते हैं। और भोली-भाली जनता के मन में तर्क के द्वारा अधर्म को धर्म बनाने में भी चतुर होते हैं। वे धर्माचरण से सदा विमुख रहते हैं। वे अज्ञान या अविद्या के द्वारा ही मोक्ष मानते हैं। ऐसे व्यक्ति धर्म के स्वरूप को नहीं जानते। अतः वे चार गति स्वरूप दुरंत संसार में परिभ्रमण करते हैं। ऐसे पापाचरणवाले व्यक्तियों के संसार का अन्त नहीं हो सकता।

प्रस्तुत सूत्र में जो यह बताया गया है कि- निरपेक्ष एकाकी साधु के जीवन में विषय-कषाय की अभिवृद्धि होती है। यह बात विषय-वासना के कारण पृथक् हुए साधु की अपेक्षा से कहा गया है; न कि सभी साधुओं के लिए। क्योंकि- कुछ साधक अकेले रहकर भी अपना आत्मविकास करते हैं और आगमकार भी उन्हें अकेले विचरने की आज्ञा देते हैं; दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र में एकाकी विहार सामाचारी का विस्तार से वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि- भिक्षु प्रतिमा स्वीकार करने के लिए, जिनकल्प पर्याय को ग्रहण करने के लिए, या किसी विशेष परिस्थितिवश मुनि, गुरु एवं संघ के आचार्य की आज्ञा लेकर अकेला विचरता है; तब वह अपने आत्म गुणों में अभिवृद्धि करता है। अतः आचाराङ्ग सूत्र का यह पाठ उन मुनियों के लिए है, जो विशेष साधना एवं किसी विशिष्ट कारण के विना ही तथा गुरु आदि की आज्ञा लिए बिना ही अपनी विषय-वासना से प्रेरित होकर अकेले विचरते हैं।

“इत्थ वि बाले परिपच्चमाणे रमइ” की व्याख्या करते हुए लिखा है- “अत्र अस्मिन्नप्यर्हत्प्रणीतसंयमाभ्युपगमे बालो रागद्वेषाकुलितः परितप्यमानः परिपच्चमानो वा विषयपिपासाया रमते” अर्थात्-अर्हत् भगवान के शासन में दीक्षित होकर भी कोई कोई अज्ञानी साधु विषय-कषाय के वश पाप कर्म में रमण करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में ‘रमइ रमते’ वर्तमान कालिक क्रिया के प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि- सूत्रकार के समय में भी ऐसे व्यक्ति रहे हों। यहां कोई आश्चर्य की बात नहीं है क्योंकि- मोह कर्म की उत्तर प्रकृतियों के कारण उस युग में भी संयम से पथ भ्रष्ट होना संभव हो सकता है।’

‘माणव’ शब्द से यह स्पष्ट किया गया है कि- मनुष्य ही मोक्ष की सम्यक् साधना कर सकता है। अन्य देवादि योनि से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

‘अविज्जाए पलिमुक्खमाहु’ का तात्पर्य है कि- जो अज्ञानी साधु ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप विद्या से विपरीत अज्ञानादि अविद्या के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं; वे धर्म तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ हैं।

‘तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ इति पञ्चमाध्ययने प्रथमः उद्देशकः समाप्तः ॥

ॐ ॐ ॐ

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ॐ राजेन्द्र सं. ९६. ॐ विक्रम सं. २०५८.

ॐ



ॐ

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - २

॥ विरत-मुनिः ॥

प्रथम उद्देशक पूर्ण हुआ, अब द्वितीय उद्देशक का आरंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- प्रथम उद्देशक में कहा था कि- सावधानुष्ठान की विरति के अभाव में एकचर्या को प्राप्त साधु, सच्चा साधु = मुनी नहि है... अब इस दुसरे उद्देशक में यह बात कहेंगे कि- सावधानुष्ठान का त्याग करके जो संयम-विरति करता है; वह हि मुनिभाव को प्राप्त करके सच्चा साधु होता है... इस संबंधसे आये हुए द्वितीय उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १५९ ॥ १-५-२-१

आवंती-केयावंती लोए अनारंभजीविणो तेसु, एत्थोवरए तं झोसमाणे अयं संधीति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणोत्ति अन्नेसि एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, अट्टिए नो पमायए, जाणिचु दुक्खं पत्तेयं सायं, पुढो छंदा इह माणवा पुढो दुःखं पवेइयं अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुढो फासे विपणुण्णए ॥ १५९ ॥

II संस्कृत-छाया :

यावन्तः केचन लोके अनारम्भजीविनः तेषु, अत्र उपरतः तत् झोषयन्, अयं सन्धिः इति अद्राक्षीत्, यः अस्य विग्रहस्य अयं क्षणः इति अन्वेषी एषः मार्गः आर्यैः प्रवेदितः, उत्थितः न प्रमादयेत्, ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं पृथक् छन्दाः इह मानवाः, पृथक् दुःखं प्रवेदितम्, सः अविहिंसन् अनपवदन्, स्पृष्टः स्पर्शान् विप्रेरयेत् ॥ १५९ ॥

III सूत्रार्थ :

जितने भी लोक में अनारम्भजीवी साधु हैं, भिक्षवृत्ति से गृहस्थों के यहां आहारादि लेकर अनारम्भी जीवन व्यतीत करते हैं, वे सावद्यकर्म से उपरत हैं, पाप कर्म को क्षय करते हुए साधुमार्ग को ग्रहण करते हैं। हे शिष्य ! तू इस अवसर को देख, जो इस शरीर के स्वरूप को जानता है, वह अवसर का अन्वेषण करने वाला है। यह मार्ग तीर्थंकर एवं गणधरों द्वारा कथित है। संयम में उद्यत हुए साधु को प्रत्येक प्राणी के सुख दुःख को जानकर प्रमाद नहीं करना चाहिए। जीवों के पृथक् २ अभिप्राय हैं, मानवों के पृथक् २ अध्यवसाय हैं, प्राणियों का पृथक् २ दुःख कथन किया गया है। वह अनारम्भजीवी साधु किसी भी जीव की हिंसा

नहि करता, असत्य नहि बोलता... एवं शीतोष्णादि परिषहों को सम्यग् रूप से सहन करता है; परीषह एवं उपसर्गों में वह साधु व्याकुल नहीं होता; क्योंकि- वह सम्यग्दर्शन से युक्त है।

IV टीका-अनुवाद :

इस मनुष्य लोक में जो कोई मनुष्य साधु अनारंभजीवी हैं... आरंभ याने सावधानुष्ठान अथवा प्रमत्तयोग... कहा भी है कि- आदान याने वस्तु लेने में, निक्षेप याने वस्तु को रखने में तथा भाषा, उत्सर्ग, स्थान याने रहने में एवं गमनागमन में जो कुछ प्रमादवाला योग है वह सब कुछ आरंभ है... अतः इस आरंभ से जो निवृत्त हुए हैं; वे अनारंभजीवी साधुलोग हैं... अर्थात् साधुलोग समस्त आरंभ से निवृत्त होते हैं... पुत्र, स्त्री एवं अपने शरीर आदि के लिये आरंभ में प्रवृत्त गृहस्थों के बिच साधुलोग अनारंभजीवी होते हैं... यहां सारांश यह है कि- आरंभ-समारंभ में प्रवृत्त गृहस्थ-लोगों के बीच संयमनिष्ठ मुमुक्षु साधुलोग पंक. याने कादव में उत्पन्न कमल की तरह निर्लेप याने जलकमलवत् निर्लेप होकर अनारंभजीवी होते हैं...

सावधारंभ से निवृत्त और श्रमण धर्म में व्यवस्थित रहे हुए साधुलोग पंचाचार से पुरातन कर्मों को क्षय करते हुए मुनिभाव को प्राप्त करते हैं...

अविविक्त कर्मवाले धातु अकर्मक कहे जाते हैं, जैसे कि- देखो मृग दौडता है... इस प्रकार यहां संधी-पद में प्रथमा विभक्ति देखा है... यह याने प्रत्यक्ष रहा हुआ आर्यदेश, उत्तमकुल में जन्म तथा पांच इंद्रियां युक्त सांगोपांग शरीर एवं श्रद्धा-संवेगवाला साधु (मनुष्य) और संधी याने मिथ्यात्व के क्षय से सम्यक्त्व का अवसर... अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति के कारण कर्मविवर स्वरूप अवसर... अथवा शुभ अध्यवसाय के संधानवाला अवसर... ऐसा शुभ अवसर अपने आत्मा में आया हुआ है ऐसा वह साधु देखे और एक क्षण मात्र भी विषयादि प्रमादवाला न हो...

तत्त्वज्ञान को पाया हुआ साधु, शुभ कर्म के उदय से प्राप्त विशेष प्रकार का औदारिक शरीरवाला मानव देह, और इस मनुष्य जीवन में सुख एवं दुःखवाले वर्तमान काल में सदा क्षण याने आराधना के अवसर को ढुंढनेवाला वह हमेशां अप्रमत्त रहता है... यह मोक्षमार्ग सभी हेय पदार्थों से दूर रहे हुए तीर्थकर एवं गणधरों ने कहा है... उन्होंने यह मोक्षमार्ग मात्र कहा हि नहि है; किंतु स्वयं भी इस मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुए हैं... अतः साधुलोग इस मोक्षमार्ग को प्राप्त करके क्षणमात्र भी प्रमाद न करें...

तथा इस विश्व के सभी प्राणीओं के दुःख एवं उन दुःखों के कारण ऐसे कर्मों को जानकर तथा सभी प्राणी मन को आह्लाद करे ऐसे साता-सुख को चाहते हैं; ऐसा जानकर

साधु संसार के आरंभ-समारंभ से उठकर क्षणमात्र भी प्रमादाचरण न आचरें... इस विश्व के प्रत्येक प्राणीओं के दुःख अथवा कर्म भिन्न भिन्न है और उन दुःख एवं कर्मों के हेतुभूत अशुभ-अध्यवसाय भी भिन्न भिन्न होते हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणीओं की अपनी अपनी इच्छाएं एवं अभिप्राय भी विविध प्रकार के बंधाध्यवसाय स्वरूप भिन्न भिन्न होते हैं... अतः विभिन्न संकल्पवाले प्राणीओं के कर्म भी विभिन्न होते हैं, तथा दुःख भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं... क्योंकि- कारण विभिन्न होने से कार्य भी भिन्न भिन्न होते हैं... इसीलिये यहां सूत्रमें कहा है कि- दुःखों के कारण कर्म विभिन्न होने से प्राणीओं के दुःख भी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं... तथा सभी प्राणी अपने अपने कीये हुए कर्मों के फल पाते हैं... अन्य प्राणी के कर्मों का फल, अन्य प्राणी को कभी भी प्राप्त नहि होता... अर्थात् प्रत्येक जीव स्वकृत कर्मों का संवेदन करते हैं...

इस स्थिति में अनारंभजीवी साधुलोग प्रत्येक प्राणीओं के सुख एवं दुःखों को जानते हुए किसी भी प्राणी का वध नहि करते... तथा वस्तु स्थिति का अपलाप भी नहि करते... तथा पांच महाव्रत की प्रतिज्ञा लेकर यथाविधि प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हैं... शीत-उष्णादि स्वरूप परीषह एवं देव आदि से होनेवाले उपसर्गों के दुःखदायक कठोर स्पर्शों में अनाकुल रहकर "संसार असार है" - इत्यादि शुभ भावनाओं से उन परीषह एवं उपसर्गों को सम-भाव से सहन करते हैं... अर्थात् परीषह एवं उपसर्गों से होनेवाले दुःखों में "मैं दुःखी हूँ" ऐसा विचार नहि करते...

जो साधु परीषह एवं उपसर्गों को सम्यक् भाव से सहन करते हैं उन्हें कौनसा आत्म-गुण प्राप्त होता है ? इस प्रश्नका उत्तर सूत्रकार महर्षि आगेके सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रथम उद्देशक में मुनित्व की साधना से दूर रहे हुए व्यक्तियों के विषय में वर्णन किया गया था। प्रस्तुत उद्देशक में उन साधकों के जीवन का विवेचन किया गया है; कि- जो मुनित्व की साधना में संलग्न रहते हैं। मुनि कौन हो सकता है ? इसका विवेचन सूत्रकार महर्षि प्रस्तुत इस उद्देशक में कहते हैं...

प्रस्तुत सूत्र में मुनि जीवन का विश्लेषण किया गया है। मुनि के लिए आगम में बताया गया है कि- मुनि पूर्णतः हिंसा का त्यागी होता है। अतः लोक में जितने भी प्राणी हैं; उनमें मुनि का आचार विशिष्ट है। क्योंकि- असंयत प्राणियों का जीवन आरम्भ से युक्त होता है; परन्तु मुनि का जीवन अनारम्भी अर्थात् आरम्भ से रहित होता है। वह किसी भी स्थिति-परिस्थिति में आरम्भ जीव हिंसा नहीं करता। तीन करण और तीन योग से हिंसा का त्याग होता है। अतः वह साधु मन, वचन और काय से न तो किसी प्राणी की हिंसा करता है;

न दूसरे व्यक्ति से हिंसा कराता है और किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा की गई हिंसा का अनुमोदन-समर्थन भी नहि करता है।

मुनि-साधु गृहस्थ की निश्रा अर्थात् गृहस्थ के अधिकार में रहे हुए उसके मकान में उसकी आज्ञा से रहता है। यहां भी अनुशासन तो देव-गुरु का हि होता है... लोक की निश्रा में रहते हुए भी वह मुमुक्षु-साधु आरम्भ की ओर प्रवृत्त नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह है कि- वह गृहस्थ की आज्ञा से उसके मकान में रहते हुए भी ऐसा आहार-पानी, वस्त्र-पात्र, तख्त आदि आवश्यक साधन-सामग्री स्वीकार नहीं करता कि- जिसमें साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ किया गया हो। साधु अपनी साधु मर्यादा के अनुरूप शुद्ध सात्त्विक एवं एषणीय आहार को ग्रहण करेगा। इस प्रकार वह अपनी समस्त क्रियाएं जिनाज्ञा में निर्दिष्ट विवेक पूर्वक करता है और अपने जीवन के लिए किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं देता। इसलिए साधु की समस्त क्रियाएं निष्पाप होती हैं। वह मुमुक्षु-साधु पाप कर्म का क्षय करता हुआ मुनि भाव में विचरण करता है।

वह इस बात को जानता है कि- यह मोक्ष-मार्ग ही प्रशस्त है, सभी दुःखों से मुक्त करने वाला है। क्योंकि- यह मोक्ष-मार्ग तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट है। इसलिए यह मोक्ष-मार्ग सभी के लिए क्षेमकर है; इस मार्ग में किसी भी प्राणी को संक्लेश उत्पन्न नहीं होता। मुनि अपने हित के साथ प्राणी मात्र के हित का ध्यान रखता है। वह अपने मन वचन और शरीर से किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाता। प्रत्येक प्राणी के प्रति अनुकंपा एवं दया का भाव रखता है। अतः यह मोक्ष-मार्ग सर्व श्रेष्ठ एवं प्राणीजगत के लिए हितप्रद है।

निष्कर्ष यह है कि- यह मोक्ष-मार्ग प्रशस्त है। परन्तु प्रशस्त के साथ कठिन भी है। इसलिए इस मार्ग पर चलने के लिए उद्यत हुए व्यक्ति को पूरी सावधानी रखनी होती है। अतः आगम में मुनि को विवेक पूर्वक अप्रमत्त भाव से क्रिया करने का आदेश दिया गया है। मुनि को प्रत्येक कार्य विवेक, यतना एवं अप्रमत्त भाव से करना चाहिए। जिससे किसी भी प्राणी को कष्ट एवं पीड़ा न हो; अतः साधक के लिए परिग्रह का त्याग करना आवश्यक है। क्योंकि- अयतना पूर्वक चलने वाला, खड़ा रहने वाला, बैठने वाला, खाने वाला, बोलने वाला, शयन करने वाला साधु प्राण-भूत जीव, सत्त्व की हिंसा करता है, पाप कर्म का बन्ध करता है। जिस से वह कटु फल को प्राप्त करता है। इससे स्पष्ट है कि- अयतना एवं प्रमादपूर्वक की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध होता है। और विवेक पूर्वक अप्रमत्त भाव से की जाने वाली क्रिया से पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

अतः मुनि को प्रत्येक समय प्रमाद का त्याग करके अप्रमत्त भाव से संयम-साधना में संलग्न रहना चाहिए। और किसी भी स्थिति में आरम्भ समारंभ नहीं करना चाहिए। प्रतिकूल

एवं अनुकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। कष्ट के समय भी उसे आरम्भ समारंभ नहीं करना चाहिए। क्योंकि- यह आर्योपदिष्ट मोक्ष-मार्ग बार-बार नहीं मिलता। इसलिए प्राप्त हुए अवसर को सफल बनाने के लिए साधक को अपनी पूरी शक्ति सामर्थ्य को लगा देनी चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि- आए हुए परीषहों को सहन करने से किस गुण की प्राप्ति होती है ? इस बात का समाधान सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र में कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १६० ॥ १-५-२-२

एष सम्यग् परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्टो अहियासइ, से पुव्विं पेयं पच्छा पेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्मं अधुवं अनिइयं असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं पासह एयं रूवसंधि ॥ १६० ॥

II संस्कृत-छाया :

एषः सम्यक् पर्यायः व्याख्यातः, ये असक्ताः पापैः कर्मभिः उदाहुः ते आतङ्काः स्पृशन्ति, इति उदाहुः धीरः तान् स्पर्शान् स्पृष्टः अध्यासयेत्, सः पूर्वमप्येतत् पश्चादप्येतत् भिदुरधर्मं विध्वंसनधर्मं अधुवं अनित्यं अशाश्वतं चयापचयिकं विपरिणामधर्मं पश्यत एतत् रूपसन्धिम् ॥ १६० ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधक पाप कर्म में आसक्त नहीं है, ऐसे चारित्रनिष्ठ साधक को मुनि कहा गया है। उसके लिए तीर्थकरों ने कहा है कि- वह धैर्यवान् साधक रोग आदि के उत्पन्न होने पर उन्हें समभाव पूर्वक सहन करता है। वह संयमी पुरुष ऐसा सोचता-विचारता है कि- यह रोग मैंने पहिले भी सहन किया था। और पीछे भी मुझे सहन करना ही है। यह शरीर स्थायी रहने वाला नहीं है। यह शरीर विध्वंस-नष्ट होने वाला है। यह शरीर अधुव, अनित्य अशाश्वत है, हास और अभिवृद्धि वाला है। अतः ऐसे नाशवान् शरीर पर क्या ममत्व करना ? इस तरह शरीर के विनश्वर स्वरूप एवं प्राप्त हुए अमूल्य अवसर को देखो।

IV टीका-अनुवाद :

परीषहों को जितनेवाला सम्यक् प्रव्रज्यावाला अथवा शमभाव वाली प्रव्रज्या के पर्यायवाला साधु परीषह एवं उपसर्गों से क्षोभ नहि पाता, तथा व्याधि अर्थात् रोगों को भी सहन करता है... वह इस प्रकार- विषय-काम विकारों को दूर करने से

समतृणमणीलेष्टुकांचनपरिणामवाला तथा समता को प्राप्त किया हुआ साधु पाप के कारणभूत हिंसादि में आसक्त नहि होता... अर्थात् निर्दोष संयमाचरण में लीन रहनेवाले साधु को कदाचित् आतंक याने तत्काल जीवित के विनाशक शूल आदि व्याधिरोग उत्पन्न हो; तब धीर याने तीर्थकर परमात्मा एवं गणधर महाराज कहते हैं कि- उत्पन्न हुए उन आतंको की पीडा याने दुःखानुभवों को साधुलोग सहन करें...

इस आतंकवाली स्थिति में साधु ऐसा सोचे-विचारे कि- ऐसी पीडा मैंने पूर्वकाल में असातावेदनीय कर्मों के उदय से अनेकबार सहन की है, और भविष्यत्काल में भी मुझे सहन करनी है... क्योंकि- संसार में रहे हुए ऐसे कोइ प्राणी नहि हैं कि- जिन्हें असातावेदनीय कर्मों के उदय से होनेवाले रोग-आतंक की पीडा न हो... जैसे कि- मोहनीयकर्म आदि चार घातिकर्मों के क्षय होने से प्रगट केवलज्ञानवाले केवलज्ञानी भगवान् को भी वेदनीयकर्म के सद्भाव से आतंक-पीडा होना संभवित है... क्योंकि- तीर्थकर आदि उत्तम पुरुष भी बद्धस्पृष्ट, निधत्त एवं निकाचित अवस्था को पाये हुए कर्मों को समभाव से सहन करके हि मुक्त होते हैं... निकाचित कर्मों का वेदन अवश्य होता हि है...

इस बात से यह निश्चित हुआ कि- अन्य सामान्य साधु भी असातावेदनीय कर्म के उदय में राजर्षि सनत्कुमार चक्रवर्ती के दृष्टांत के द्वारा यह विचारें कि- मुझे भी यह आतंक सहन करना है... ऐसा सोचकर (समझकर) मुनी आतंक पीडा होने पर उद्वेग न करे... कहा भी है कि- सत्त्वहीन निर्गुण हे प्राणी ! अपने आप कीये हुए दुराचार के विपाक याने फलों को यहां नहि तो अन्यत्र बार बार सहन करना होगा... यदि इन पापकर्मों के फल को समझकर समभाव से यहां हि सहन करोगे तो तत्काल मोक्ष होगा... और यदि समभाव से सहन करना न चाहा, तो सेंकड़ों जन्मों में बार-बार सहन करना होगा...

तथा मानव के इस औदारिक शरीर को चिरकाल पर्यंत रसायन आदि से पुष्ट करें तो भी यह शरीर मिट्टी के कच्चे घड़े से भी अधिक निःसार है, अर्थात् विनश्वर है... इस बात को सूत्र में “भिदुरधर्मवाला यह शरीर है” ऐसा कहकर कहते हैं कि- असातावेदनीयकर्म के उदय से मस्तक, पेट, आंखें, छाती इत्यादि अंगोपांग में पीडा उत्पन्न होने पर स्वतः हि यह औदारिक शरीर विनाशशील है... तथा हाथ-पैर आदि अवयवों का विध्वंस होने से विध्वंसशील यह मानव-शरीर है...

तथा यह शरीर अध्रुव याने अनिश्चित है... जैसे कि- रात्रि के अंत में अवश्य सूर्योदय होता है; यह ध्रुव याने निश्चित है, किंतु यह शरीर सो (१००) साल के बाद हि विनाश होगा ऐसा निश्चित नहि है; अतः यह शरीर अध्रुव है... तथा यह शरीर अनित्य है... नित्य याने जो उत्पन्न न हुआ हो, जो विनष्ट भी न हो और सदा स्थिर एक स्वभाववाला हो... किंतु

यह शरीर ऐसा नहि है, अतः यह शरीर अनित्य है... तथा यह शरीर अशाश्वत है... शाश्वत उसे कहते हैं कि- जो पदार्थ निरंतर एक समान हि विद्यमान रहे, किंतु यह शरीर ऐसा नहि है, अतः अशाश्वत है... तथा यह शरीर च्यय याने पुष्ट और अपचय याने क्षीण होता है... जैसे कि- इष्ट आहारादि की प्राप्ति से यह शरीर पुष्ट होता है, और इष्ट आहारादि के अभाव में यह शरीर क्षीण होता है... इस प्रकार विनाश आदि विविध परिणाम स्वरूप अन्यथाभावात्मक यह शरीर विपरिणामधर्मवाला है... अतः ऐसे विनश्चरादी शरीर के उपर मोहमूर्च्छा का क्यों आग्रह हो ?

इस शरीर की सफलता कुशल अनुष्ठान के सिवा है हि नहि... अतः हे मुनिजन ! आप देखो कि- विनश्चरादि धर्मवाले इस पंचेंद्रिय से पूर्ण मानव देह से मोक्षमार्ग की आराधना का अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है, अतः विविध रोग-आतंकों की पीडाओं को समभाव से सहन करें...

अब इस परिस्थिति को देखनेवाले मुनी को जो उत्तम गुण प्राप्त होता है वह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में साधक को कष्ट सहिष्णु बनने का उपदेश दिया गया है। औदारिक शरीर रोगों का आवास स्थल है। जब तक पुण्योदय रहता है, तब तक रोग भी दबे रहते हैं। परन्तु अशातावेदनीय कर्म का उदय होते ही अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः शरीर में रोग एवं वेदना का उत्पन्न होना सहज हि है। क्योंकि- औदारिक शरीर ही रोगों से भरा-हुआ है। इसलिए रोगों के उत्पन्न होने पर साधक को आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए। किंतु उन्हें अशुभ कर्म का फल जानकर समभाव पूर्वक सहन करना चाहिए।

रोगातंक के समय साधक को यह सोचना चाहिए कि- पूर्व काल में भी मैंने रोगों के कष्ट को सहन किया है और अब भी उदय में आए हुए वेदनीय कर्म को वेदना ही होगा। अतः आर्तध्यान करके अशुभ कर्म का बंध क्यों करूं ? यह वेदना मेरे कृत कर्म का ही फल है। अतः समभाव पूर्वक ही सहना चाहिए; यह शरीर सदा स्थायी रहने वाला नहीं है। यह शरीर प्रतिक्षण बदलता रहता है। यह अध्रुव है, अशाश्वत है, अनित्य है, हास एवं अभिवृद्धि वाला है। अतः इसके लिए इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिए ? इस तरह धैर्य के साथ कष्ट एवं वेदना को सहकर अशुभ कर्म नष्ट कर दें और पाप कर्म का बन्ध नहीं होने दें।

मुनि जीवन का उद्देश्य है कि- कर्म बन्धनों को तोड़ कर निष्कर्म बनना। अतः मुनि को सदा-सर्वदा इस शरीर एवं जीवन को अनित्य समझकर अपने आत्मविकास में संलग्न रहना चाहिए। यह सत्य है कि- शरीर आत्मविकास का साधन है। अतः साध्य की सिद्धि के लिए

साधन को भी व्यवस्थित रखना चाहिए। परन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि- साधन का महत्त्व साध्य की सिद्धि के लिए है। यदि उसका उपयोग अपने लक्ष्य को साधने में नहीं हो रहा है, तो फिर उसका कोई मूल्य नहीं है। अतः शरीर का ध्यान भी संयम साधना के लिए ही है, इसलिए रोगादि कष्टों के उपस्थित होने पर साधक को आर्त, रौद्र ध्यान नहीं करना चाहिए।

परन्तु, इसका यह अर्थ भी नहीं है, कि- वह स्वस्थ होने का भी प्रयत्न न करे। साधक शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए निर्दोष औषध आदि का उपयोग कर सकता है, परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि- उस रोग से उसके मन में, विचारों में एवं आचार में किसी तरह की विकृति न आए। महावेदना का प्रसंग उपस्थित होने पर भी धैर्य एवं सहिष्णुता का त्याग नहीं करे। हर परिस्थिति में वह जिनाज्ञानुसार आत्म चिन्तन में संलग्न रहने का प्रयत्न करे। इससे पूर्व में बन्धे हुए कर्मों का क्षय होगा और अभिनव कर्मों (पाप कर्म) का बन्ध नहीं होगा। इस तरह वह एक दिन निष्कर्म बन सकेगा। अतः समभाव पूर्वक परिषहों एवं कष्टों को सहन करने से वह साधु एक दिन संपूर्ण कष्टों से मुक्त हो जाएगा।

इसलिए साधक को कष्ट के समय अपने मन को शरीर से हटा कर जिनाज्ञानुसार आत्म चिन्तन में लगाना चाहिए और धैर्य के साथ कष्टों को सहने का प्रयत्न करना चाहिए। यही तीर्थंकर भगवान का उपदेश है।

इस तरह शरीर एवं आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले चिन्तनशील मुमुक्षु साधु को किस गुण की प्राप्ति होती है ? इसका उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १६१ ॥ १-५-२-३

समुप्येहमाणस्स इक्कायणरयस्स इह विप्पमुक्कस्स नत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि
॥ १६१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सम्यग् उत्प्रेक्षमाणस्य एकायतनरतस्य इह विप्रमुक्तस्य नाऽस्ति मार्गः विरतस्य
इति ब्रवीमि ॥ १६१ ॥

III सूत्रार्थ :

सम्यक् प्रकार से अनुप्रेक्षा करने वाला, ज्ञान दर्शन एवं चारित्र रूप रत्नत्रय का आराधक, शरीर पर ममत्व नहीं रखने वाला और हिंसा आदि आश्रवों से निवृत्त साधक नरकादि गतियों में नहीं जाता ऐसा मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

यह शरीर अनित्यतादि धर्मवाला है, ऐसा अच्छी तरह से जाननेवाले साधुजनों को तथा आयतन याने जहां आत्मा समस्त पापारंभों से विरत होकर कुशल अनुष्ठानों में नियमित होते हैं वह उपाश्रय-धर्म आयतन... अर्थात् ज्ञानादि त्रितय... इस प्रकार के एक ज्ञानादि त्रितय स्वरूप आयतन में हि जो रक्त है; वे एकायतनरत, तथा इस मानवदेह में अथवा मानवजन्म में परमार्थ भावना के द्वारा शरीर के मोहजाल से जो विमुक्त हुए हैं; ऐसे साधुजनों को नरक एवं तिर्यचगति तथा मनुष्यगति में गमन स्वरूप मार्ग नहि है अथवा इसी जन्म में हि समस्तकर्मों का क्षय होने से उन्हें नरकादि मार्ग नहि है... इति शब्द अधिकार की समाप्ति का सूचक है तथा ब्रवीमि याने मैं सुधर्मस्वामी कहता हुं कि- हे जंबू ! दिव्यज्ञान से विश्व के पदार्थों का स्वरूप जानकर परमात्मा श्री वर्धमानस्वामीजी ने वाणी के माध्यम से जो कहा है, वह मैं तुम्हें कहता हुं...

इस प्रकार “जो विरत है वह हि मुनी होता है” ऐसा कहकर अब अविरतिवादी परिग्रहवाला होता है; यह बात कहते हैं...

V सूत्रसार :

यह हम देख चुके हैं कि- संसार परिभ्रमण एवं नरकादि गतियों में उत्पन्न होने का कारण पापकर्म है। विषय कषाय में आसक्ति एवं हिंसा आदि दोषों में प्रवृत्ति होने से पाप कर्म का बन्ध होता है। और इस तरह विषयासक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है। अतः संसार का अन्त करने के लिए आगम शास्त्र में हिंसा आदि दोषों से निवृत्त होने का उपदेश दिया गया है।

प्रस्तुत सूत्र में यही बताया गया है कि- जो साधक रत्नत्रय की साधना में संलग्न है, शरीर एवं संयम पालन के उपकरणों पर ममत्व नहीं रखता है और विषय-कषाय एवं हिंसा आदि दोषों में आसक्त नहीं है, वह नरक; तिर्यच आदि गतियों में नहीं जाता।

प्रस्तुत सूत्र में ‘इक्काययणरयस्स’ शब्द का प्रयोग किया गया है। जहां आत्मा को सभी तरह के पापों से रोका जाए उसे आयतन कहते हैं। यह ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध है और उस रत्नत्रय में संलग्न रहने वाले साधक को ‘एकायतन रत’ कहते हैं। अतः साधक रत्नत्रय की साधना-आराधना में संलग्न है। ‘नत्थिमगो विरयस्स’ का तात्पर्य यह है कि- जो साधक हिंसा आदि दोषों से विरक्त है, निवृत्त है उसके लिए संसार परिभ्रमण का मार्ग नहीं है।

दोषों से निवृत्त व्यक्ति का वर्णन करके अब सूत्रकार अविरत एवं परिग्रही व्यक्ति के विषय में कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १६२ ॥ १-५-२-४

आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगैसिं महाभयं भवइ, लोगचित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अविद्याणओ ॥ १६२ ॥

II संस्कृत-छाया :

यावन्तः केचन लोके परिग्रहवन्तः, तद् अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद् वा अचित्तवद् वा, एतेषु एव परिग्रहवन्तः एतदेव एकेषां महाभयं भवति, लोकचित्तं च उत्प्रेक्ष्य एतान् सङ्गान् अविजानतः ॥ १६२ ॥

III सूत्रार्थ :

लोक में कितनेक परिग्रह वाले होते हैं, वह परिग्रह अल्प बहुत स्थूल, अणु, सचित्त और अचित्त (सचेतन या चेतना रहित) 'रूप से अनेक प्रकार का है, त्यागी-मुनि-विरत भी यदि मूर्च्छायुक्त हों तो वे भी परिग्रह वाले ही होते हैं, इसी परिग्रह में कितनेक जीवों को महाभय होता है, अतः लोकचित्त का विचार करके परिग्रह का परित्याग करे, इस परिग्रह के संग का त्याग करता हुआ मुमुक्षु-साधु भययुक्त नहीं होता।

IV टीका-अनुवाद :

इस विश्व में जितने भी प्राणी परिग्रहवाले हैं... वह परिग्रह अल्प याने कपर्दक (कोडी) आदि की तरह थोडा हो... बहु याने धन-धान्य-सुवर्ण, गांव एवं जनपद (देश) आदि... अणु याने मूल्य से अणु, तृण-काष्ठ आदि एवं प्रमाण से अणु वज्र आदि... स्थूल याने मूल्य से एवं प्रमाण से अश्व-हाथी आदि... सचित्त याने चित्तवद् अर्थात् सजीव पृथ्वीकाय आदि... अचित्त याने अचित्तवद् अर्थात् अजीव पुद्गल स्कंध आदि... इत्यादि प्रकार के परिग्रहवाले गृहस्थों के बीच व्रतवाले साधु भी छह जीवनिकाय में अथवा रूप आदि विषयवाले अल्प आदि प्रकार के पदार्थों में मूर्च्छा करने पर परिग्रहवाले होते हैं तथा अविरत याने अविरति का उपदेश देनेवाले विरतिवाले साधु भी अल्पादि परिग्रह से परिग्रहवाले होते हैं। इसी प्रकार बाकी के शेष मृषावादविरमण व्रत आदि में भी स्वयं समझ लें... क्योंकि-एक व्रत के अपराध में सभी व्रतों के अपराध की संभावना होती है... क्योंकि- आश्रव द्वार अनिवारणीय बलवान् होते हैं...

प्रश्न- यदि इस प्रकार अल्प परिग्रह से भी प्राणी परिग्रहवाले होते हैं तो फिर करपात्र याने हाथ में हि भोजन लेनेवाले सरजस्क बोटिक आदि दिगंबर साधु अपरिग्रही हैं ने ? क्योंकि- उन्हें अल्पादि प्रकार के परिग्रह का हि अभाव है...

उत्तर- ना ! ऐसा नहि है... क्योंकि- उन्हें अल्पादि प्रकार के परिग्रह का अभाव असिद्ध है... वह इस प्रकार- सरजस्क "अस्थि" आदि परिग्रहवाले बोटिक-दिगंबरों को पिंछी आदि का परिग्रह है, और शरीर आहारादि का आंतरिक परिग्रह भी है... यदि वे दिगंबर कहे कि- यह पिंछी आदि धर्म के उपकरण हैं अतः दोष नहि है... तब तो स्थविर कल्पवाले श्वेतांबरों को भी धर्म के उपकरण स्वरूप वस्त्र-पात्रादि होते हि हैं... अतः दिगंबर अपरिग्रही है, ऐसे आग्रह से क्या फायदा ?

अल्पादि परिग्रह से परिग्रहवाले होते हुए भी अपरिग्रहवाले हैं ऐसे अभिमानी दिगंबरों को आहार एवं शरीर आदि भी महान् अनर्थ के लिये होते हैं; यह बात अब सूत्र से हि कहते हैं- अल्पादि परिग्रह से परिग्रहवाले कितनेक दिगंबरादि मनुष्यों को वह परिग्रह नरकादि में गमन का कारण होता है, अथवा सभी प्राणीओं को अविश्वास के कारण होने से महाभय स्वरूप है... क्योंकि- परिग्रह की यह प्रकृति याने स्वभाव हि है... जैसे कि- परिग्रहवाले सभी से डरते रहते हैं... अथवा- दिगंबरों को शरीर एवं आहारादिक का थोडा भी परिग्रह महाभय का कारण बनता है... जैसे कि- पात्र एवं वस्त्रादि धर्मोपकरण के अभाव में वे जब आहार के लिये गृहस्थों के घर जाते हैं तब सम्यक् पात्रादि साधन के अभाव में अविधि से अशुद्ध आहारादिक का भोजन कर्मबंध जनित महाभय को प्राप्त करते हैं तथा उनका संपूर्ण शरीर वस्त्रादि के अभाव में अतिशय बिभत्स दीखने से अन्य लोगों को महाभय उत्पन्न करता है, क्योंकि- उनके पास निर्दोष विधि का हि अभाव है...

थोडा भी परिग्रह महाभय का कारण होता है, इसलिये कहते हैं कि- असंयत लोगों का थोडा भी धन-द्रव्य, अथवा तो असंयत लोगों का वृत्त याने आहार, भय, मैथुन एवं परिग्रह की उत्कट संज्ञा महाभय के लिये होती है; अतः ज्ञ-परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन संज्ञाओं का त्याग करे... इस महाभयजनक अल्पादि प्रकार के परिग्रह अथवा शरीर एवं आहारादि में मूर्च्छा नहि करनेवाले श्रमण-साधु को परिग्रहजनित महाभय नहि होता...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में भय का कारण बताते हुए कहा गया है कि- संसार में जितने भी भय हैं, वे सभी परिग्रही व्यक्ति को हैं। जब मनुष्य वस्तु-पदार्थ एवं शरीर पर आसक्ति एवं ममत्वभाव रखता है, तो उसे कई चिन्ताएं लग जाती हैं। वह रात-दिन चिन्तित, सशंक एवं भयभीत सा रहता है। किन्तु: अपरिग्रही मुनि को इस तरह की चिन्ता एवं भय नहीं होता।

यहां तक कि मृत्यु के समय भी वह निर्भय रहता है। क्योंकि- शरीर पर भी उसे ममत्वभाव नहीं है। वह शरीर को केवल संयम साधना का साधन मानता है और साथ में वह यह भी जानता है कि- यह नष्ट होने वाला है। अतः उसके नाश होने के समय उसे चिन्ता एवं भय नहिं होते... परन्तु जो मनुष्य साधु बनने के पश्चात् भी शरीर पर एवं धर्मोपकरणों पर ममत्वभाव रखते हैं, वे भय से मुक्त नहीं होते...

इससे स्पष्ट है कि- भय का मूल कारण परिग्रह है। इसकी आसक्ति के कारण मानव मन में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास का भाव उद्बुद्ध होता है और इसी कारण वह सदा भयभीत रहता है। चाहे परिग्रह परिमाण में थोड़ा हो या बहुत, किंतु यह परिग्रह-भाव ही एक दूसरे के मन में शंका-सन्देह एवं भय को जन्म देता है और दो व्यक्तियों के बिच में भेद की दीवार खड़ी कर देता है। इसलिए आगम में मुनि के लिए परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अनिवार्य कहा गया है।

परिग्रह भी दो प्रकार का है-द्रव्य और भाव। भाव परिग्रह-मूर्छा, आसक्ति आदि है। द्रव्य परिग्रह भी लौकिक वित्त और लोकवृत्त के भेद से दो प्रकार का माना गया है। धन-धान्य आदि परिग्रह लौकिक वित्त में गिना गया है। और आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा आदि परिग्रह लोकवृत्त में माना गया है। क्योंकि- सभी तरह का परिग्रह भय का कारण है। इसलिए मुनि को परिग्रह मात्र का त्याग करके निर्भय बनना चाहिए। अतः साधु के लिए थोड़ा या अधिक परिग्रह सर्वथा त्याज्य है।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १६३ ॥ १-५-२-५

से सुपडिबद्धं सूखणीयंति नच्चा पुरिसा परमचक्खू विपरिक्कमा, एएसु चेव बंधचेरं तिबेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे बंधपमुक्खो अज्झत्थमेव, इत्थ विरए अणगारे दीहरायं तित्तिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि तिबेमि ॥ १६३ ॥

II संस्कृत-छाया :

तस्य सुप्रतिबद्धं सूखणीयं इति ज्ञात्वा हे पुरुष ! परमचक्षुः ! विपराक्रमस्व ! एतेषु चैव ब्रह्मचर्यं इति ब्रवीमि । तत् श्रुतं च मया, अध्यवसितं च मया, बन्ध-प्रमोक्षः अध्यात्मनि एव, अत्र विरतः अणगारः दीर्घरात्रं तितिक्षेत, प्रमत्तान् बहिः पश्य, अप्रमत्तः परिव्रजेत्, एतत् मौनं सम्यक् अनुवासयेः इति ब्रवीमि ॥ १६३ ॥

III सूत्रार्थ :

ज्ञान चक्षु वाले हे पुरुष ! तू परिग्रह के त्यागी मुनि के सुदृढ ज्ञानादि का विचार करके तपोनुष्ठान विधि से संयम में प्रयत्न कर ! जो परिग्रह से विरत हैं; उन में हि ब्रह्मचर्य अवस्थित है। इस प्रकार मैं कहता हूं, मैंने सुना है और मन में निश्चय किया हुआ है कि- पुरुष ब्रह्मचर्य से ही बन्धन मुक्त हो सकता है। परिग्रह का त्यागी अनगार जीवन पर्यन्त परीषहों को सहन करे। हे शिष्य ! जो व्यक्ति धर्म से बाहिर हैं, उनको तू देख ! और अप्रमत्त होकर संयम मार्ग में विचरण कर ! यह हि मुनि का मुनित्व है, अतः तू सम्यक् प्रकार से जिनाज्ञा विहित क्रियाओं का पालन कर।

IV टीका-अनुवाद :

परिग्रह का त्याग करनेवाले श्रमणने अपने आत्मा को सुप्रतिबद्ध किया है; एवं ज्ञानादि को सम्यक् प्राप्त किया है ऐसा जानकर परमात्मा कहते हैं कि- हे पुरुष ! हे श्रमण ! आप परमचक्षुवाले एवं मोक्ष की हि एक दृष्टिवाले होकर तपश्चर्या के द्वारा विधि से संयमानुष्ठान में पराक्रम करें... क्योंकि- ऐसे श्रमण में हि परमार्थ से ब्रह्मचर्य होता है... अन्य मनुष्यों में नहि... क्योंकि- अन्य मनुष्यों में नवव्रिध ब्रह्मचर्य की वाड (गुप्ति) नहि होती... अथवा आचारांग सूत्र का यह ब्रह्मचर्य नाम का प्रथम श्रुतस्कंध है... इस प्रथम श्रुतस्कंध में ब्रह्मचर्य का हि अधिकार है... अतः अपरिग्रही श्रमण में हि यह ब्रह्मचर्य होता है... इति शब्द अधिकार के समाप्ति का सूचक है और ब्रवीमि पद से यह जानो कि- सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कहा है; वह हि मैं तुम्हें कहता हूं...

जैसे कि- हे जंबू ! यह मैंने परमात्मा श्री वर्धमानस्वामीजी के मुख से सुना है, तथा धर्म का स्वरूप सुनकर आत्मा में अनुभवात्मक स्वरूप से स्थिर किया है कि- कर्मबंध से संसार एवं कर्मों के क्षय से मोक्ष... यह बात मैंने अपने आत्मा में हि ब्रह्मचर्य स्वरूप पंचाचार के संयमानुष्ठान के द्वारा स्थापित की है...

तथा इस परिग्रह को त्याग करने की इच्छा से जो साधु विरत हुआ है; वह श्रमण, अणगार है, तथा दीर्घरात्र याने जीवन पर्यंत क्षुधा एवं पिपासा आदि परीषहों को सम्यक् सहन करता है... तथा विषयादि के कामभोग की इच्छा से प्रमादी एवं धर्मानुष्ठान से बाहिर रहे हुए कुतीर्थिक एवं गृहस्थों की दुर्दशा देखकर वह श्रमण अप्रमत्त होकर संयमानुष्ठान में दृढ रहें... तथा मौन याने मुनिका जो भाव वह मौन... अर्थात् संयमानुष्ठान... अतः वह साधु सर्वज्ञ प्रभु के कहे हुए संयमानुष्ठान में अपनी आत्मा को अच्छी तरह से सुवासित करे, अर्थात् संयम के अनुष्ठानों का अच्छी तरह से पालन करें... इति शब्द अधिकार की समाप्ति का सूचक है एवं ब्रवीमि शब्द पूर्ववत् जानीयेगा...

V सूत्रसार :

हम यह देख चुके हैं कि-परिग्रह आत्म विकास में प्रतिबन्धक है। जब तक पदार्थों में आसक्ति रहती है; तब तक आत्मिक गुणों का विकास नहीं होता। अतः निष्परिग्रही व्यक्ति ही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ़ सकता है। विषय वासना एवं दोषों से निवृत्त हो सकता है। क्योंकि- जीवन में वासना की उत्पत्ति परिग्रह की आसक्ति से होती है। पदार्थों में आसक्ति व्यक्ति ही अब्रह्मचर्य या विषय सेवन की ओर प्रवृत्त होता है। जिस व्यक्ति के जीवन में पदार्थों के प्रति मूर्च्छाभाव नहीं है, उसके मन में कभी भी विषयवासना की आग प्रज्वलित नहीं होती। अतः परिग्रह से वासना जागृत होती है और विषय-भोग से कर्म का बन्ध होता है और परिणाम स्वरूप संसार परिभ्रमण एवं दुःख के प्रवाह में अभिवृद्धि होती है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को विषय-वासना पर विजय प्राप्त करने के लिए परिग्रह अर्थात् पदार्थों पर स्थित मूर्च्छा-ममता, आसक्ति एवं भोगेच्छा का त्याग करना चाहिए।

विषय में आसक्ति एवं प्रमत्त व्यक्ति ब्रह्मचर्य का परिपालन नहीं कर सकते। वे अपनी इच्छा, आकांक्षा एवं वासना की पूर्ति के लिए विषय भोगों में संलग्न रहते हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए रात-दिन छल-कपट एवं आरंभ-समारंभ करते हैं। और फल स्वरूप पाप कर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करते हैं। अतः मुनि को उन प्रमत्त जीवों की स्थिति को देख कर विषय-भोगों का एवं परिग्रह का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

परिग्रह से रहित व्यक्ति के मन में सदा शान्ति का सागर लहराता है। कठिन से कठिन परिस्थिति में भी वह सहनशीलता का त्याग नहीं करता। यों कहना चाहिए कि- उसकी सहिष्णुता में सदा अभिवृद्धि होती है। अतः मुमुक्षु पुरुष को निष्परिग्रही होकर विचरना चाहिए।

तिबेमि की व्याख्या पूर्ववत् समझें।

॥ इति पञ्चमाध्ययने द्वितीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

५ ५ ५

: प्रथमः :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिन्धुचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहन-ओडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिबेधर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाठ-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधाव राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिधरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य

व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. "श्रमण" के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... "शिवमस्तु सर्वजगतः"

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५ राजेन्द्र सं. १९. ५ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - ३

❀ अपरिग्रहः ❀

द्वितीय उद्देशक कहा, अब तृतीय उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... इसका परस्पर यह संबंध है कि- द्वितीय उद्देशक में कहा कि- जो अविरतवादी है, वह परिग्रहवान् है... और यहां इससे विपर्यय याने जो अविरति का त्यागी है, वह अपरिग्रही है... अतः इस संबंध से आये हुए तृतीय उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १६४ ॥ १-५-३-१

आवंती केयावंती लोयंसि अपरिगहावंती एसु चेव अपरिगहावंती सुच्चा वडिं मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए धम्मे आरिण्हिं पवेइए, जहित्थ मए संधी झोसिए एवमण्णत्थ संधी दुज्जोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहाणिज्ज वीरियं ॥ १६४ ॥

II संस्कृत-छाया :

यावन्तः केचन लोके अपरिग्रहवन्तः एतेषु एव अपरिग्रहवन्तः श्रुत्वा वाचं मेधावी पण्डितानां निशम्य समतया धर्मः आर्यैः प्रवेदितः, यथा अत्र सन्धिः झोषितः भवति, तस्मात् ब्रवीमि न निगूहयेत् वीर्यम् ॥ १६४ ॥

III सूत्रार्थ :

इस लोक में जितने भी मनुष्य हैं, उनमें कुछ ही निष्परिग्रही व्यक्ति होते हैं। पंडितों के वचन सुनकर एवं हृदय में विचार कर बुद्धिमान पुरुष अपरिग्रह को स्वीकार कर लेते हैं। वे सोचते हैं कि- आर्य पुरुषों ने समभाव से धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। जैसे कि- मैंने रत्नत्रय का आराधन करके कर्म का क्षय किया है, वैसे ही अन्य प्राणी भी कर्म का क्षय कर सकते हैं। क्योंकि- अन्य मत-मतान्तर में कर्म का क्षय होना कठिन है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को पंचाचारात्मक संयम साधना में पुरुषार्थ का गोपन नहीं करना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

इस लोक में जो कोई अपरिग्रही विरत साधुजन हैं, वे सभी इन अल्प या बहु इत्यादि प्रकार के द्रव्यों के त्याग से अपरिग्रही होते हैं... अथवा इन छह जीवनिकाय के जीवों में

ममत्व के अभाव से अपरिग्रही होते हैं... ऐसा यह अपरिग्रह भाव तीर्थकर परमात्मा के आगम स्वरूप वाणी को सुनकर मेधावी याने संयम की मर्यादा में रहे हुए, तथा हेय एवं उपादेय के ज्ञाता, श्रमण मुनी पंडित याने गणधर आदि के विधि-निषेध नियामक वचनों को सुनकर सचित एवं अचित्त परिग्रह के त्याग से अपरिग्रही होते हैं...

प्रश्न- यहां प्रश्न यह होता है कि- निरावरणज्ञानवाले तीर्थकरों का वाग्योग याने वाणी कब प्रवृत्त होती है ? कि- जिस को सुनकर प्राणी अपरिग्रही बने...

उत्तर- धर्मकथा के अवसर में...

आर्य-तीर्थकरों ने समता याने सम शत्रु-मित्रता के भाव से धर्म का स्वरूप कहा है... अन्यत्र भी कहा है कि- कोइक प्राणी चंदन के द्रव से विलेपन करे तथा अन्य प्राणी सुथार के उपकरण स्वरूप वांसले (रंधे) से शरीर की चमडी (त्वक्) उतारे तब भी महर्षि-श्रमण मुनि नितांत समभाववाले होते हैं... इसी प्रकार कोइक प्रशंसा करे और अन्य निंदा करे तब भी साधु-श्रमण समभाव रखें...

अथवा देश आर्य, भाषा आर्य एवं चारित्र आर्यों में सम दृष्टि से परमात्मा ने धर्म कहा है, जैसे कि- “जहा पुण्णस्स कत्थइ” इत्यादि... अथवा शमवालों के जो भाव वह शमिता अर्थात् सभी त्याज्य पदार्थों से दूर रहनेवाले आर्य तीर्थकरो ने इंद्रिय एवं नोइंद्रिय (मन) के उपशम की स्थिति में अच्छी तरह से धर्म कहा है...

अन्य मतवालों ने भी अपने अपने अभिप्राय से धर्म कहा है, अतः उन धर्मों की निरर्थकता दशाते हुए कहते हैं कि- देव एवं मनुष्यों की पर्षदा में तीर्थकर परमात्मा कहते हैं कि- जिस प्रकार यहां मैंने मोक्ष के मार्ग स्वरूप ज्ञानादि धर्म का सेवन किया है... अथवा इंद्रियां एवं नोइंद्रिय (मन) के उपशम स्वरूप एवं समभाव स्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक इस मोक्षमार्ग में मुमुक्षु ऐसा मैंने स्वयमेव संधि याने एक जन्म से जन्मांतर में जीव को जोडनेवाले आठ प्रकार के कर्मों की परंपरा स्वरूप संधि का क्षय किया है... इसलिये यह निश्चित हुआ कि- तीर्थकरो ने जो मोक्षमार्ग स्वरूप धर्म कहा है, वह हि मोक्षमार्ग है... अन्य नहि... क्योंकि- जिस प्रकार मैंने कर्मों का क्षय किया है, ऐसा कर्मक्षय अन्य तीर्थिकों के प्रणीत मोक्षमार्ग में संभवित नहि है... क्योंकि- वह मोक्षमार्ग समीचीन याने सही (सच्चा) नहि है... अतः उपाय के अभाव में कार्य सिद्ध कैसे हो ?

अब इस सूत्र का उपसंहार करते हुए परमात्मा कहते हैं कि- जिस प्रकार इस मोक्षमार्ग में व्यवस्थित रहकर मैंने कठोर तपश्चर्या से कर्मों का क्षय किया है, इसी प्रकार अन्य मुमुक्षु प्राणी भी संयमानुष्ठान में एवं तपश्चर्या में अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य को छुपावें नहि अर्थात्

शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार उद्यम करें... यह बात परम करुणा से भरपूर हृदयवाले एवं परहित के हि उपदेश देने में तत्पर ऐसे श्री वर्धमानस्वामीजी ने कही है, उस उपदेश को सुनकर मैं (सुधर्मस्वामी) हे जंबू ! तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

परिग्रह के दो भेद हैं-द्रव्य और भाव परिग्रह। धन, धान्यादि पदार्थ द्रव्य परिग्रह में गिने जाते हैं। और मूर्छा, आसक्ति एवं ममत्वभाव को भाव परिग्रह कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में परिग्रह की परिभाषा करते हुए मूर्छा को ही परिग्रह माना गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में भी आगम की इसी परिभाषा को स्वीकार किया गया है। क्योंकि- द्रव्य परिग्रह की अपेक्षा भाव परिग्रह का अधिक महत्त्व है। यदि किसी व्यक्ति के पास धन-वैभव एवं अन्य पदार्थों का अभाव है, या अल्पता है, परन्तु उसके मन में परिग्रह की तृष्णा, आकांक्षा एवं ममता बनी हुई है, तो द्रव्य से परिग्रह अल्प हो या नहीं होने पर भी उसे अपरिग्रही नहीं कह सकते। किंतु वह व्यक्ति अपरिग्रही कहलाता है, कि- जो भाव परिग्रह का त्यागी है, जिसके मन में पदार्थों के प्रति ममता, मूर्छा एवं तृष्णा नहीं है। अतः ममत्व का त्याग करना ही निष्परिग्रही बनना है। किंतु ऐसे निष्परिग्रही व्यक्ति संपूर्ण विश्व में थोड़े ही होते हैं।

जो जो मनुष्य प्रबुद्धपुरुषों के वचन सुनकर और उन पर चिन्तन-मनन करके धर्म के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं। वे मनुष्य हि परिग्रह से होने वाले दुष्परिणाम को जानकर उसका त्याग करते हैं। इससे श्रुतज्ञान का महत्त्व बताया गया है, क्योंकि- श्रुतज्ञान के द्वारा मनुष्य को पदार्थ का ज्ञान होता है, उसकी हेयोपादेयता की ठीक जानकारी मिलती है और उसके जीवन में त्याग एवं समभाव की ज्योत जगती है। समभाव साधना का मूल है, इसी के आश्रय से अन्य गुणों का विकास होता है और आत्मा कर्मों का छेदन करके निष्कर्म बनता है। अतः बुद्धिमान मुमुक्षु व्यक्ति हि प्रबुद्ध पुरुषों के आर्य वचन सुनकर समभाव एवं अपरिग्रह को स्वीकार करते हैं।

“समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए” का अर्थ है- यह समता रूप धर्म आर्य-तीर्थंकर भगवान द्वारा प्ररूपित है। अहिंसा अपरिग्रह आदि भी समता के ही रूप है। अहिंसक एवं अपरिग्रही-अनासक्त व्यक्ति ही शत्रु और मित्र के प्रति समभाव रख सकता है। जिसके जीवन में अहिंसा, दया, करुणा का अभाव है तथा पदार्थों को प्राप्त करने की अभिलाषा बनी हुई है; वह व्यक्ति किसी भी प्राणी के प्रति समभाव नहीं रख सकता। अतः हिंसा, परिग्रह आदि दोषों का त्यागी व्यक्ति ही समभाव की साधना कर सकता है। उसके मन में छोटे-बड़े का या शत्रु-मित्र का कोई भेद नहीं रहता। वह सब व्यक्तियों को समान भाव से कल्याण का मार्ग बताता है, उसकी उपदेश धारा में राजा-रंक का भेद नहीं होता। वह जो बात धनवान

को कहता हैं, वही हितकर उपदेश एक रंक-दरिद्र को भी देता है। इससे स्पष्ट है कि- भगवान की वाणी में समभाव की धारा बहती रहती है। क्योंकि- उनका जीवन हिंसा, परिग्रह आदि दोषों से ऊपर उठा हुआ है। और उन्होंने ने हिंसा आदि दोषों के उत्पत्ति के कारण राग-द्वेष को क्षय कर दिया है। अतः हिंसा परिग्रह आदि दोषों से रहित व्यक्ति ही आर्य हो सकता है।

यह समता एवं अपरिग्रह की साधना का मार्ग ऐसे आर्य पुरुषों द्वारा कहा गया है, कि- जिन्होंने ने समभाव के द्वारा कर्म बन्ध की परम्परा का उच्छेद करके निष्कर्म बनने की ओर कदम बढ़ाया है। इससे स्पष्ट है कि- समभाव की साधना से जीवन में अहिंसा, अपरिग्रह आदि आत्म गुणों का विकास होता है और पूर्व में बन्धे हुए कर्मों का क्षय होकर आत्मा निष्कर्म बन जाता है। कर्म क्षय का यह मार्ग अन्य मत-मतान्तर में नहीं मिलता क्योंकि- अन्य मत-मतान्तर में पूर्ण अहिंसा एवं अपरिग्रह की साधना को स्वीकार नहीं किया गया है। अतः उस साधना के बिना जीवन में समभाव नहीं आता और समभाव के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। इस दृष्टि से कहा गया है कि— अन्य मत-मतान्तर में बताई गई साधना से कर्म परंपरा का नाश होना दुष्कर है।

इसलिए साधु को अपरिग्रह की साधना में प्रमाद नहीं करना चाहिए। और संयम का पालन करने में अपनी शक्ति-सामर्थ्य का गोपन नहीं करना चाहिए। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १६५ ॥ १-५-३-२

जे पुव्वुट्ठाइ नो पच्छा निवाई, जे पुव्वुट्ठाई पच्छा निवाई, जे नो पुव्वुट्ठायी नो पच्छा निवाई, से वि तारिसिए सिया, जे परिणाय लोमणोसयंति ॥ १६५ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः पूर्वोत्थायी न पश्चात् निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चात् निपाती, यः न पूर्वोत्थायी न पश्चात् निपाती, सोऽपि तादृशः स्यात्, ये परिज्ञाय लोकं अन्वेषयन्ति ॥ १६५ ॥

III सूत्रार्थ :

कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो त्याग वैराग्य के साथ संयम साधना को स्वीकार करते हैं और स्वीकार करने के पश्चात् भी उसी निष्ठा के साथ उसका पालन करते हैं। अर्थात् साधना पथ से च्युत नहीं होते (गणधरवत्) तथा कुछ व्यक्ति पहिले तो वैराग्य से दीक्षित होते हैं, परन्तु पीछे से पथ भ्रष्ट हो जाते हैं (नन्दीषेण मुनि की तरह)। यहां तीसरे भंग का अभाव

होने से उसका उल्लेख नहीं किया है। तथा कुछ व्यक्ति न त्याग-वैराग्य से संयम लेते हैं और न पीछे पतित ही होते हैं। उनमें सम्यक् चारित्र का अभाव होने से उन्हें गृहस्थ तुल्य कहा है। शाक्यादि अन्य मत के साधुओं को भी चौथे भंग में समाविष्ट किया है। कुछ व्यक्ति ज्ञपरिज्ञा से जानकर दीक्षित होने पर भी लोकेषणा में संलग्न रहते हैं, इसलिए उन्हें गृहस्थ के समान कहा गया है। तात्पर्य यह है कि- भाव चारित्र के अभाव में साधु वेश होने पर भी उन्हें भाव से गृहस्थ जैसा ही कहा गया है, क्योंकि- वे गृहस्थ की तरह आरंभ-समारंभ में संलग्न रहते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

संसार के स्वभाव को जानने के कारण से धर्माचरण में हि तत्पर मनवाला जो प्राणी प्रव्रज्या की प्राप्ति के समय में संयमानुष्ठान के द्वारा उत्थान करता है; याने उपस्थित होता है, वह बाद में भी श्रद्धा एवं संवेगभाव से विशेष प्रकार से वर्धमान परिणामवाला संयम में स्थिर रहता है... वह सिंह की तरह निकलता है; एवं सिंह की तरह विचरता है... ऐसे गणधर आदि होते हैं... यह प्रथम भंग जानीयेगा...

तथा दुसरे भंग में - प्रारंभ में संयमानुष्ठान के द्वारा उत्थान तो करते हैं; किंतु बाद में कर्मों की विचित्रता से और तथाविध भवितव्यता के कारण से निपतन होते हैं; वे नन्दिषेण मुनीश्वर की तरह... और कोइक दर्शन से भी चूकते हैं; वे गोष्ठामाहिल आदि की तरह जानीयेगा... यह द्वितीय भंग...

तथा तृतीय भंग में कोइ भी नहि होते; अतः तृतीय भंग का यहां सूत्र में ग्रहण (कथन) नहि किया है... जैसे कि- "जे नो पुव्वुड्ढायी पच्छा निवाती" यदि उत्थान हो; तब हि निपात या अनिपात का विचार होता है... अथवा धर्मवाले के होने की स्थिति में हि धर्म का विचार किया जाय... किंतु यहां तृतीय भंग में तो उत्थान का हि निषेध है, अतः उनके निपात का विचार कैसे हो ? अर्थात् यह तृतीय भंग नहि हो सकता...

अब चौथे भंग में कहते हैं कि- जो प्राणी पूर्वकाल में उत्थित नहि हुआ और बाद में निपात भी नहि हुआ... वह अविरत गृहस्थ मनुष्य सम्यग् विरति के परिणाम के अभाव में संयमानुष्ठान के लिये उद्यम नहि करते, अतः उद्यम के अभाव में निपात की संभावना भी कैसे हो ? क्योंकि- निपात सदैव उत्थान के साथ अविनाभावि संबंधवाला होता है... अथवा शाक्य आदि इस चौथे भंग में जानीयेगा... क्योंकि- उनको भी, न तो उत्थान है और न तो निपात है...

इस चतुर्थ भंग में गृहस्थ हि होते हैं, ऐसा कहना उचित है, क्योंकि- उनका

सावद्ययोग-के त्याग स्वरूप उत्थान नहीं है, अतः प्रतिज्ञा स्वरूप मेरु पर्वत के उपर चढ़ने के अभाव में निपतन का तो अभाव ही होता है...

शाक्यादि मतवाले भी चौथे भंग में इस प्रकार आते हैं... जैसे कि- उनहों ने पांच महाव्रतों के भार को उठाया ही नहीं है; अतः वे सावद्य योगवाले ही हैं, इसलिये वे पूर्वोत्थायी नहीं हैं... और निपात तो उत्थान के बाद ही होता है; अतः निपात भी नहीं है; इस प्रकार वे गृहस्थों के समान ही हैं... क्योंकि- उन दोनों के उदायिनुप को मारनेवाले विनयरत्न साधु की तरह आश्रवों के द्वार खुले ही हैं...

तथा और भी जो ऐसे सावद्य अनुष्ठानवाले हैं, वे भी ऐसे ही हैं... जैसे कि- जैनमत में भी रहे हुए पासत्थादि साधुलोग दो प्रकार की परिज्ञा से लोक को जानकर और त्याग करके पुनः पचन एवं पाचनादि प्रकार से उस लोक के ही आश्रय को ढुंढनेवाले वे गृहस्थों के समान ही है...

“यह बात हम अपनी मति कल्पना से नहीं कहते हैं” इस बात की स्पष्टता के लिये सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में विचार-चिन्तन की विचित्रता का दिग्दर्शन कराया गया है। कुछ व्यक्ति जीवन में त्याग-वैराग्य की भावना लेकर साधना पथ पर चलने को उद्यत होते हैं और प्रतिक्षण त्याग-वैराग्य को बढ़ाते चलते हैं। साधना के प्रारंभ समय से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक वे दृढ़ता के साथ संयम में स्थिर रहते हैं। गणधरों की तरह उनकी साधना में उत्तरोत्तर उज्ज्वलता एवं तेजस्विता आती रहती है। इस तरह से प्रतिक्षण विकास करते हुए अपने साध्य को सिद्ध कर लेते हैं।

कुछ व्यक्ति त्याग वैराग्य की ज्योति लेकर दीक्षित होते हैं। प्रारंभ में उनके विचारों में तेजस्विता होती है, परन्तु पीछे परीषहों के उत्पन्न होने पर मन विचलित हो उठता है। साधना की ज्योति धूमिल पड़ने लगती है। उनके विचारों में शिथिलता आने लगती है। और वे पतन की ओर लुढ़कने लगते हैं। शारीरिक एवं मानसिक प्रमाद के प्रबल झोंकों के सामने त्याग-वैराग्य की घनघोर घटाएं स्थिर नहीं रह पातीं। इस तरह कष्ट सहिष्णुता की कमी के कारण वे साधना पथ पर स्थित नहीं रह सकते हैं। परीषहों के उपस्थित होते ही पथ भ्रष्ट हो जाते हैं।

त्याग-वैराग्य भाव से संयम ग्रहण करना और अन्तिम क्षण तक उसका दृढ़ता से

परिपालन करना यह प्रथम भंग है। संयम का ग्रहण करके पीछे से उसका त्याग करना दूसरा भंग है, पहले संयम ग्रहण न करके पीछे से उसका पालन करना, यह तीसरा भंग बनता है। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि- संयम का पालन एवं त्याग पहिले संयम स्वीकार करने पर ही घटित हो सकते हैं। परन्तु जिसने संयम को स्वीकार ही नहीं किया है, उसको संयम पालन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः तीसरा भंग नहीं बनता है। इसलिए सूत्र में तीसरे भंग का उल्लेख नहीं किया...

चतुर्थ भंग में न संयम का ग्रहण होता है और न त्याग का ही प्रश्न होता है। त्याग का प्रश्न ग्रहण करने पर ही उपस्थित होता है, जैसे कि- जो विद्यार्थी परीक्षा में बैठता ही नहीं, उसके उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी तरह जिस ने संयम को स्वीकार ही नहीं किया, उसके लिए संयम के पालन एवं त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस भंग में गृहस्थ को लिया गया है, और उन साधुओं को भी इसी भंग में समाविष्ट किया गया है; कि-जो मात्र साधु वेश को स्वीकार करते हैं और रात-दिन आरंभ-समारंभ में संलग्न रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि- संयम भाव से रहित समस्त साधु-सन्यासियों को इसी भंग में गिना गया है और इन्हें गृहस्थ के तुल्य कहा गया है। क्योंकि- द्रव्य से साधु कहलाते हुए भी रात-दिन गृहस्थ की तरह आरंभ-समारंभ में लगे रहने के कारण भाव से संयम हीन होने से गृहस्थ की श्रेणी में ही रखे गए हैं।

यह कथन स्वबुद्धि से नहीं, बल्कि तीर्थंकरों द्वारा किया गया है। इस बात को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १६६ ॥ १-५-३-३

एयं नियाय मुणिणा पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अणिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं सुपेहाए सुणिया भावे अकामे अझंझे, इमेण चव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्जओ ? ॥ १६६ ॥

II संस्कृत-छाया :

एतद् ज्ञात्वा मुनिना प्रवेदितम्, इह आज्ञाकाङ्क्षी पण्डितः अस्निहः पूर्वाऽपररात्रं यतमानः, सदा शीलं सम्प्रेक्ष्य, श्रुत्वा भवेत् अकामः अज्झंजः, अनेन एव युध्यस्व, किं तव युद्धेन बाह्यतः ? ॥ १६६ ॥

III सूत्रार्थ :

तीर्थंकर देवने केवलज्ञान के द्वारा अवलोकन करके कथन किया है कि- इस जिन शासन

में स्नेह सहित आगमानुसारि क्रियानुष्ठान करने वाला और पंडित-विचार शील पुरुष रात्रि के पहिले और अंतिम प्रहर में धर्मध्यान में यत्न से सदैवकाल शील का विचार कर उसके अनुसार चलने वाला, तथा शील और सदाचार के मोक्ष स्वरूप फल को सुनकर-हृदय में विचारकर, इच्छा, कामभोग और लोभादि रहित होता है हे अतः शिष्य ! इस कामवासना एवं रागादि द्वन्द्वों के साथ युद्ध कर... अर्थात् तुझे बाहिर के युद्ध से क्या प्रयोजन है ?

IV. टीका-अनुवाद :

पूर्व कहे गये उत्थान एवं निपात आदि, केवलज्ञान से देखकर (जानकर) परममुनी तीर्थकर प्रभुने कहा है और यहां जिनशासन में रहे हुए साधुलोग तीर्थकर परमात्मा की आज्ञा को चाहनेवाले होते हैं अर्थात् आगमानुसार प्रवृत्तिवाले होते हैं तथा पंडित याने सद् एवं असद् के विवेकवाले, अस्नेह याने राग-द्वेष से मुक्त अर्थात् स्नेह (राग) रहित होते हैं... तथा गुरुदेव के आदेश के अनुसार रात्रि के प्रथम प्रहर एवं अंतिम प्रहर में संयमानुष्ठान के लिये यतनावाले तथा मध्यरात्रि के दो प्रहर भी यतना से शयन करने वाले होते हैं... यहां रात्रि में यतना का निर्देश करने से दिन में तो यतनावाले होते हैं हि है; यह बात सिद्ध हुई... क्योंकि- आदि और अंत का ग्रहण करने से मध्य का भी ग्रहण हो जाते हैं...

तथा शील याने अठारह हजार शीलांग अथवा संयम... अथवा चार प्रकार के शील याने (१) महाव्रत का समाचरण, (२) तीन गुप्तियां, (३) पांच इंद्रियों का दमन, (४) चार कषायों का निग्रह यह चार प्रकार के शील को मोक्ष के अंग स्वरूप देखकर पालन करें... अर्थात् क्षण मात्र काल भी प्रमाद परवश न बनें...

तथा शील रहित एवं व्रत के अभाव में प्राणीओं का नरक में उत्पन्न होना एवं वहां के दुःखों का स्वरूप आगमसूत्र से सुनकर साधु इच्छा एवं कामविकार से रहित "अकाम" होते हैं तथा उन्हें माया एवं लोभ स्वरूप झंझा भी नहि होती, अर्थात् उन्हें मोहनीय कर्म का विपाकोदय न होने से वे शीलवान् हैं... यहां सारांश यह है कि- धर्म को सुनकर वह श्रमण अकाम और अज्ञंज्ञ होता है... ऐसा कहने से उत्तरगुणो का कथन कीया है... और उपलक्षण से मूलगुणों का भी कथन हो गया है... अतः वह श्रमण अहिंसक एवं सत्यवादी इत्यादि गुणवाला है...

"शरीर जीव से भिन्न है" इत्यादि भावना वाला तथा यथाशक्ति बल-वीर्य का पराक्रम करनेवाला और अठारह हजार शीलांगों को धारण करनेवाला तथा उपदेश अनुसार संयमानुष्ठान में प्रयत्न करनेवाला वह साधु अभी यद्यपि अशेष कर्ममल से रहित तो नहि है; तो भी वह यह चाह रखे कि-मैं अशेष कर्मों के कलंक से रहित बनूं ! और कहे कि- हे गुरुजी ! मैं आपके उपदेश से सिंह के समान पराक्रम करके कर्मों के साथ भी युद्ध करूं...

क्योंकि- कर्मों के क्षय के लिये प्रवृत्त ऐसे मुझे कुछ भी अशक्य नहि है...

हे श्रमण ! इंद्रिय एवं नोइंद्रियवाले इस औदारिक शरीर से विषय भोगोपभोगों के पिपासु एवं स्वेच्छाचारी ऐसे अपने आत्मा के साथ हि युद्ध करो ! तथा सन्मार्ग में प्रवेश करने के द्वारा अपनी इंद्रियां और मन को वश करो ! अन्य बाहर के प्राणिओं के साथ युद्ध करने से क्या ? अर्थात् अंतरंग कर्म स्वरूप शत्रुओं का क्षय होने से तुम्हारा कार्य सिद्ध होगा... और इससे अन्य और कोई कार्य दुष्कर नहि है...

अब अगाध संसार समुद्र में भटकते हुए प्राणीओं को यह मनुष्य जन्म आदि सामग्री करोड़ों भावों में भी दुर्लभ है; यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

पूर्व सूत्र में संयम-साधना के अनुसंधान में जो भंग (विकल्प) बताए गए हैं; वे सर्वज्ञ पुरुषों द्वारा उपदिष्ट है। उन्होंने ने अपने ज्ञान में देखकर यह बताया है कि- संयम साधना के द्वारा ही मनुष्य निष्कर्म बन सकता है। साधना में तेजस्विता लाने के लिए प्रस्तुत सूत्र में पांच बातें बताई गई हैं। इन गुणों को जीवन में उतारने वाला साधक साध्य को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। ये पांच गुण इस प्रकार हैं; -१-स्नेह रहित होना; २-सदसत् का ज्ञाता होना; ३-रात्रि के प्रथम और अन्तिम पहर में अनवरत आत्म चिन्तन करने वाला होना; ४-सदा शील का परिपालक होना; और ५-कामेच्छा एवं लोभ-तृष्णा का त्यागी होना।

स्नेह रहित होने का तात्पर्य है-राग-द्वेष रहित होना, क्योंकि- राग भाव में मनुष्य हिताहित की भावना को भूल जाता है। राग के तीन भेद किए गए हैं-१-स्नेह राग, २-दृष्टि राग और ३-विषय राग। स्नेह राग का अर्थ है-अपने स्नेही के दोषों को भी रागवश गुण रूप मानना, उसे गलती करने पर भी कुछ नहीं कहना। दृष्टि राग का अर्थ है-असत्य सिद्धान्त को असत्य होते हुए भी सांप्रदायिक राग वश सत्य मानना एवं कुतर्कों के द्वारा उसे सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना। विषय राग का अर्थ है- काम-भोगों के प्रति आसक्ति रखना। ये तीनों तरह का राग आत्मा को संयम से दूर हटाने वाला है, अतः साधक को राग भाव का परित्याग करना चाहिए।

विवेकशील व्यक्ति ही संयम का भली भांती पालन कर सकता है। जिस व्यक्ति को सदसत् का विवेक हि नहीं है, हेयोपादेयता का बोध हि नहीं है, वह संयम का पालन नहीं कर सकता। इसलिए संयम-साधना को स्वीकार करने के पहिले पदार्थों का ज्ञान होना जरूरी है। अतः प्रस्तुत सूत्र में साधक के लिए विवेक सम्पन्न होना बताया गया है।

साधु का जीवन आत्म साधना का जीवन है। वह रात दिन चिन्तन-मनन में संलग्न

रहता है। वह जंगल में रहे या शहर में, सोया हुआ हो या जागृत, चल रहा हो या बैठा हो, प्रत्येक समय आत्म-साधना में लीन रहता है। भावों की दृष्टि से वह सदा आत्म चिन्तन में संलग्न रहता है। क्योंकि- एक क्षण भी आत्मा को भूलता नहीं है। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि- मुनि रात के पहिले और अन्तिम प्रहर में निरन्तर आत्म चिन्तन करे। बीच के दो प्रहर निद्रा के लिए हैं। इससे शरीर को विश्राम मिल जाने से थकावट अनुभव नहीं होती, जिससे वह शेष समय आत्म चिन्तन में रह सकता है।

शील शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। अष्टादश सहस्रशीलांग रथ, संयम-महाव्रतों का पालन; तीन गुणियों का आराधन; ५ इन्द्रिय एवं कषाय निग्रह को शील कहते हैं। इन अर्थों से शील शब्द का महत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन है। अतः साधक को शील का पालन करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

संयम का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए विषयेच्छा एवं कषायों का परित्याग करना जरूरी है। विषयासक्त एवं क्रोध आदि विकारों से प्रज्वलित व्यक्ति संयम का पालन नहीं कर सकता, इसलिए साधु को समस्त विकारों का परित्याग करना चाहिए।

इस तरह विकारों पर विजय प्राप्त करके साधु निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है। उसे निष्कर्म बनने के लिए औदारिक (कर्मण) शरीर से युद्ध करना पड़ता है। औदारिक शरीर से युद्ध करने का अर्थ है-शरीर बन्धन से मुक्त होकर अशरीरी बनना। किंतु यह स्थिति चार घातिकर्मों को क्षय करके जीवन के अन्त में अवशेष चार अघातिकर्मों का नाश करने पर प्राप्त होती है। अतः यह युद्ध मोक्षप्राप्ति के लिए महत्त्वपूर्ण है। इस में विजयी होने के बाद आत्मा सर्व कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अतः साधु को अप्रमत्त भाव से संयम का पालन करना चाहिए।

ऐसा अवसर एवं संयम के साधन का मिलना सुलभ नहीं है। अतः साधु को इस अवसर को व्यर्थ न खो देना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १६७ ॥ १-५-३-४

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं, जहित्थ कुसलेहिं परिण्णा विवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्भाइसु रज्जइ, अस्सिं चयेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे इय कम्म परिण्णाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमइ नो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी नारभे कंचणं सव्वलोए एगप्यमुहे विदिसप्पइण्णे निव्विण्णचारी अरए पयासु ॥ १६७ ॥

II संस्कृत-छाया :

युद्धाऽर्हं खलु दुर्लभम्, यथा अत्र कुशलैः परिज्ञा-विवेकः भाषितः, च्युतः खलु बालः गर्भादिषु रज्यते। अस्मिन् एतत् प्रोच्यते, रूपे वा क्षणे वा, सः खलु एकः संविद्धपथः मुनिः अन्यथा लोकं उपेक्षमाणः इति कर्म परिज्ञाय सर्वतः सः न हिनस्ति, संयमयति न प्रगल्भते, उपेक्षमाणः प्रत्येकं सातं वर्णादेशी न आरभते कश्चन सर्वलोके एक प्रमुखः विदिकप्रतीर्णः निर्विण्णचारी अरतः प्रजासु ॥ १६७ ॥

III सूत्रार्थ :

युद्ध योग्य औदारिक शरीर का मिलना दुर्लभ है, यह बात तीर्थकरों ने परिज्ञा विवेक से देशना में कही है, धर्म विरहित व्यक्ति बाल भावको प्राप्त होकर गर्भ में रमण करता है, इस प्रकार आर्हत मत है क्योंकि- जो जीव, रूपादि विषयों वा हिंसादि कार्यों में मूर्च्छित है, वही प्राणी गर्भादि में रमण करता है, किंतु जितेन्द्रिय मुनि एकमात्र मोक्ष मार्ग में ही गति कर रहा है, तत्त्व दृष्टि से लोक की विचारणा करता हुआ कर्म के स्वरूप को जानकर सर्व प्रकार से हिंसादि क्रियायें नहीं करता, किन्तु अपने आत्मा को संयम में रखता है.... प्रत्येक प्राणी सात-सुख का इच्छुक है, इस प्रकार की विचारणा से किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता, एवं यश की इच्छा न करनेवाला वह साधु किंचित् मात्र भी षापकर्म का आरम्भ नहीं करता, वह सर्वलोक में सभी जीवों को समभाव से देखता है, जिसने एक मोक्ष की और दृष्टि (मुख) की हुई है; वह विदिक प्रतीर्ण है (दिशा याने मोक्ष और विदिशा याने संसार) अर्थात् वह संसार से उत्तीर्ण हो गया है; इस लिए मुनि हिंसादि क्रियाओं से अथवा स्त्रियों के संसर्ग से निवृत्त होकर शान्तभाव से मोक्षपथ में विचरता है।

IV टीका-अनुवाद :

यह मनुष्य का औदारिक शरीर भावयुद्ध के लिये निश्चित हि समर्थ है; किंतु वह अतिशय दुर्लभ है.. कहा भी है कि- यह मनुष्य का देह (शरीर) अगाध संसार समुद्र में प्राप्त होने के बाद यदि व्यर्थ हि चुक गये तब पुनः पाना अतिशय दुर्लभ है, तथा विद्यमान यह मनुष्य देह खजुए के तेज और बिजली के चमकार के समान क्षणिक याने विनश्वर भी है... अथवा पाठांतर इस प्रकार है कि- संग्राम (रण) युद्ध अनार्य है, और परीषह आदि कर्म-शत्रुओं के साथ जो युद्ध होता है वह आर्य-युद्ध है... और यह आर्य युद्ध दुर्लभ है, अतः इस शरीर से आर्य भावयुद्ध करें... कि- जिससे अपने आप को सर्व कर्मों के क्षय स्वरूप मोक्ष तत्काल हि प्राप्त हो... अतः भावयुद्ध के योग्य औदारिक शरीर को प्राप्त करके कोइक मनुष्य इसी भव (जन्म) में हि सभी कर्मों का क्षय (विनाश) करता है, जैसेकि- मरुदेवी

माताजी...- तथा कोइक मनुष्य सात या आठ भवों में सकल कर्मों का क्षय करता है... जैसे कि- भरत चक्रवर्ती... और कोइक जीव अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्त काल में सभी कर्मों का क्षय करके सिद्ध बुद्ध मुक्त सिद्धात्मा होता है...

अब यहां प्रश्न यह होता है कि- अन्य प्राणी क्यों नहि सिद्ध होते हैं ? ऐसा क्यों ? तो अब कहते हैं कि- इस संसार में कुशल ऐसे तीर्थकरों ने जिस प्रकार जो परिज्ञा का विवेक बताया है कि- कोइक जीव को किलष्ट कर्मोदय से ऐसा कोइ अशुभ अध्यवसाय होता है कि- जो अशुभ-अध्यवसाय संसार की विचित्रता का कारण होता है, इस बात को मतिमान् मनुष्य यथावत् स्वीकार करें...

यदि ऐसा न हो तब दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके तथा मोक्ष के अद्वितीय कारण स्वरूप धर्म को भी पाकर जो मनुष्य अशुभ कर्मों के उदय में धर्म से चुकता है; वह अज्ञानी बाल जीव संसार में गर्भ आदि याने गर्भकाल, जन्म, यौवन, इत्यादि अवस्थाओं में आसक्त होता है... जैसे कि- वह चाहता है कि-इन यौवन आदि अवस्थाओं का मुझे वियोग न हो ! अथवा तो धर्म को त्याग कर वह ऐसे पापारंभ करता है कि- जिस कर्मों से वह गर्भादि दुःख-पीडाओं के स्थानों में उत्पन्न होता है अर्थात् कर्मानुसार गर्भादि अवस्थाओं को पाता है...

तथा इस जिन-प्रवचन में कहा है कि- रूप याने चक्षुरिन्द्रिय के विषय में और “वा” शब्द से अन्य स्पर्श, रस आदि में तथा क्षण याने हिंसा और “वा” शब्द से असत्य-चौरी आदि में, यहां पांच इंद्रियों के विषय में रूप प्रधान है, तथा पुद्गल पदार्थ रूपवाले होने के कारण से “रूप” शब्द का ग्रहण किया है... तथा आश्रवों के द्वारों में हिंसा मुख्य होने के कारण से तथा कोइ भी आश्रव में जीववध होने के कारण से “हिंसा” शब्द का ग्रहण किया है...

अतः कहते हैं कि- बाल याने अज्ञानी जीव रूप आदि विषयों के कारण से धर्म का त्याग करके हिंसादि पापाचरण में प्रवृत्त होकर गर्भवेदनादि दुःखों से दुःखी होता है...

अब जो प्राणी गर्भादि में उत्पन्न होने के कारणों को जानकर धर्म का आलंबन लेकर विषयों के संग का त्याग करके हिंसा आदि आश्रवों के द्वारों से निवृत्त होता है; वह जितेंद्रिय मुनी तीनों जगत का स्वरूप जानता है, तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग का अच्छी तरह से परिचय करता है, तथा संसार के जन्म-मरणादि भय को देखता है... अर्थात् हिंसादि आश्रव द्वारों से जो निवृत्त हुआ है; वह हि मुनी मोक्षमार्ग में चलनेवाला है...

तथा अन्य प्रकार से... विषय एवं कषायों के कारणों से हिंसादि पापों में प्रवृत्त गृहस्थ

लोक अथवा पाखंडी लोक की रसोइ बनाना एवं सचित आहारादि इत्यादि प्रवृत्ति को देखकर तथा इससे विपरीत ऐसी जिनशासन की अहिंसादि प्रवृत्तियों को देखकर वह मुनी संविद्धपथवाला होता है... तथा पूर्वोक्त हेतुओं से बांधे हुए कर्मों को तथा उसके उपादान कारणों को ज्ञ परिज्ञा के द्वारा सर्व प्रकार से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा के द्वारा उनका त्याग करता है...

कर्मबंध के कारणों का त्याग करनेवाले साधुलोग स्वयं मन, वचन एवं काया से प्राणीओं का वध नहि करते, तथा अन्यो के द्वारा जीवों का वध नहि करवाते; एवं जीवों के वध करनेवालों का अनुमोदन = प्रशंसा भी नहि करते... किंतु अपने आत्मा को संयमित करते हैं तथा असंयमाचरण में प्रवृत्ति होने पर धिड्वाइ नहि करते; तथा एकांत में भी अशुभाचरण हो जाने पर लज्जित होते हैं, अर्थात् पापाचरण से डरते हैं... ऐसा कहनेसे यह भी जानीयेगा कि- मोक्षमार्ग में प्रवृत्त वह मुनी क्रोध नहि करते, जाति, कुल आदि का गर्व नहि करते तथा वंचना - कपट नहि करते और पुद्गल पदार्थों का लोभ नहि करते... क्योंकि- वे आगम-शास्त्र से यह जानते हैं कि- प्रत्येक प्राणी को साता अनुकूल है तथा प्रत्येक प्राणी अन्य के सुख से सुखी नहि होते एवं अन्य के दुःखों से दुःखी नहि होते, किंतु अपने शुभाशुभ कर्मों से हि सुख एवं दुःख का अनुभव करते हैं... ऐसा जानकर वह श्रमण किसी भी प्राणी की हिंसा नहि करते।

तथा सज्जन होने के अभिलाषी वे श्रमण-लोग संपूर्ण लोक में कोईभी प्रकार के पापारंभ नहि करते... अथवा तपश्चर्या एवं संयमाचरण भी यशःकीर्ति के लिये नहि करते किंतु जिन प्रवचन की प्रभावना के लिये हि तपश्चर्यादि अनुष्ठान करते हैं...

प्रवचन प्रभावक आठ हैं; वे इस प्रकार हैं...

- | | | | |
|----|-----------|---|---|
| १. | प्रावचनी | = | वर्तमान समय में विद्यमान सूत्र के अर्थों का ज्ञाता... |
| २. | धर्मकथी | = | धर्मकथा कहने में नंदिषेण मुनी की तरह चतुर... |
| ३. | वादी | = | मल्लवादी की तरह वाद-विवाद में समर्थ... |
| ४. | नैमित्तिक | = | भद्रबाहुस्वामीजी की तरह अष्टांग निमित्त के ज्ञाता... |
| ५. | तपस्वी | = | समभाव के साथ कठोर तपश्चर्या करनेवाले... |
| ६. | विद्या | = | वज्रस्वामीजी की तरह विद्याओं के ज्ञाता... |
| ७. | सिद्ध | = | कालिकमुनीश्वर की तरह अंजन...सिद्ध... |
| ८. | कवि | = | सिद्धसेन आचार्य की तरह काव्य-कला में कुशल... |

अथवा तो साधु शरीर के रूप सौंदर्य की चाहना से उद्वर्तनादि क्रिया का आरंभ नहि करता... सभी कर्ममल के कलंक से रहित ऐसा एक मोक्ष अथवा राग-द्वेष से रहित ऐसे एक संयम में या उसके उपाय पंचाचार में हि एकाग्र दृष्टिवाला साधु कोई भी प्रकार का

पापाचरण-नहि करता... तथा मोक्ष और संयम के अभिमुखवाली दिशा से अन्य जो विदिशाएं हैं; वे संसार और असंयम के अभिमुखवाली विदिशाएं हैं; अतः विदिशा से तीर्ण याने उससे उत्तीर्ण पाया हुआ वह श्रमण-साधु सभी कुमार्ग का परित्यागी है; अतः पापारंभों के अन्वेषी नहि होता...

तथा प्रजा याने पृथ्वीकायादि जीवों के वधादि रूप आरंभों को नहि करनेवाला अथवा ममत्व भाव से रहित वह श्रमण निर्विण्णचारी होता है अर्थात् निर्विण्ण याने संसार को केदखाना मानना... ऐसी मान्यता में जीव उससे छुटने के लिये संयमानुष्ठान स्वरूप चारित्र का आचरण अच्छी प्रकार से करता है... अथवा जो साधु शरीर आदि में ममत्व रहित हैं; वे निर्विण्णचारी होते हैं... अथवा प्रजा याने स्त्रीजन... उनमें अनासक्त मनुष्य हि आरंभ-समारंभों में निर्वेद पाता है... क्योंकि- कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है...

अब कहते हैं कि- जो प्रजा में अरक्त होने से आरंभ रहित है; वह मुनी कैसा होता है ? इस प्रश्नका उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

संयम साधना के लिए उपयुक्त सामग्री का मिलना भी आवश्यक है। योग्य साधन के अभाव में साध्य सिद्ध नहीं हो पाता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में योग्य साधनों का उल्लेख किया गया है; संयम साधना के लिए सब से प्रमुख है औदारिक शरीर अर्थात् -मनुष्य का शरीर। मनुष्य ही संयम को स्वीकार कर सकता है। औदारिक शरीर भी संपूर्ण अंगोपांग एवं स्वस्थ होने पर ही धर्म साधना में सहायक हो सकेगा। अंगोपांग की कमी एवं अस्वस्थ अवस्था में मनुष्य को संयम का पालन करने में कठिनता होती है। संयम पालन के योग्य सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त स्वस्थ शरीर का प्राप्त होना दुर्लभ है। प्रबल पुण्योदय से ही सम्पूर्ण अंगोपांगों से युक्त स्वस्थ शरीर उपलब्ध होता है। फिर भी कुछ प्रमत्त मनुष्य विषय भोगों में आसक्त होकर उसका दुरुपयोग करके जन्म-मरण को बढ़ाते है।

कर्मों का बन्ध एवं क्षय दोनों आत्मा के अध्यवसायों पर आधारित हैं। साधु शुभ अध्यवसायों-परिणामों के द्वारा पूर्व बन्धे हुए कर्मों का क्षय करके शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। क्योंकि- वह संयम- साधना किसी प्रकार की आकांक्षा, लालसा एवं यश आदि पाने की अभिलाषा से नहीं करता किंतु, केवल कर्मों की निर्जरा के लिए ही साधु तप-संयम की साधना करता है। अतः साधु संयम साधना के द्वारा कर्म के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अज्ञानी मनुष्य प्रमाद के वश विषय-वासना में आसक्त रहते हैं। विषयों की पूर्ति के लिए रात-दिन सावद्य कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, हिंसा आदि पापाचरण करते हैं। इससे पाप कर्मों का बन्ध करते हैं और परिणाम स्वरूप संसार में परिभ्रमण करते हैं और अनेक दुःखों

का संवेदन करते हैं।

विवेकशील पुरुष इस बात को जानता है। उसकी दृष्टि निर्मल और विस्तृत होती है। वह केवल अपने ही हित को नहीं देखता है किंतु साधु सभी प्राणियों का हित चाहता है। वह जानता है कि- संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। इसलिए वह सभी जीवों के प्रति समभाव रखता है। किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाता। इस तरह वह अपनी निष्पापमय प्रवृत्ति से प्रत्येक प्राणी की रक्षा करता हुआ कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए मुमुक्षु पुरुष को संयम साधना में संलग्न रहना चाहिए।

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १६८ ॥ १-५-३-५

से वसुमं सव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं तं नो अण्णेसी, जं संमंति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणंति पासहा तं संमंति पासहा, न इमं सक्कं सिद्धिलेहिं अदिज्जमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं मुणी मोणं समायाए धुणे सरीरगं पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्मत्तदंसिणो, एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्तिबेमि ॥ १६८ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापकर्म, तत् न अन्वेषयति। यः सम्यक् इति पश्यति सः मौनं इति पश्यति, यः मौनं इति पश्यति सः सम्यक् इति पश्यति। न इदं शक्यं शिथिलैः आद्रीयमानैः गुणास्वादैः वक्रसमाचारैः प्रमत्तैः अगारं आवसद्भिः, मुनिः मौनं समादाय धुनीयात् शरीरकं प्रान्तं रूक्षं सेवन्ते वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः, एषः ओघान्तरः मुनिः, तीर्णः मुक्तः विरतः व्याख्यातः इति ब्रवीमि ॥ १६८ ॥

III सूत्रार्थ :

वह संयम-धनवाला साधु, सर्वप्रकार से ज्ञान सम्पन्न है, वह अपने आत्मा के द्वारा किसी प्रकार के अकरणीय कर्म की गवेषणा नहीं करता अर्थात् किसी प्रकार का अनुचित कर्म नहीं करता, गुरु कहते हैं कि- हे शिष्यो ! तुम देखो ! जो सम्यग्दर्शन को देखता है, वह मौन-मुनिभाव-साधुत्व को देखता है और जो मुनि भाव को देखता है, वह सम्यग्ज्ञान को देखता है। कातर याने शिथिल भावों वाले, पुत्रादि से स्नेह युक्त, शब्दादि गुणों का आस्वादन करने वाले वक्रसमाचारी याने मायावी और घरों में ममत्व रखने वाले मठाधीश साधु

मुनिवृत्ति की आराधना नहीं कर सकते, किन्तु जो वीर आत्माएं हैं; वे ही मुनि वृत्ति को धारण करके कर्मण और औदारिक शरीर के धुनने में समर्थ हो सकते हैं। वे प्रान्त 'चणकादि, और रूक्ष आहार का सेवन करते हैं।' तथा सम्यक्त्व या समत्व को धारण करने वाले वे मुनि संसार समुद्र को तैर जाते हैं। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र सम्पन्न मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत, है, इत्यादि यहां वर्णन किया गया है।

IV टीका-अनुवाद :

वसु याने द्रव्य अर्थात् संयम... यह संयम स्वरूप वसु है जिस के पास वह वसुमान् श्रमण... अर्थात् आरंभ समारंभों से निवृत्त साधु... अर्थात् सभी पदार्थों के स्वरूप को प्रगट करनेवाला ज्ञान जिसके पास है, ऐसे वे साधु अकर्तव्य स्वरूप पापकर्म की इच्छा कभी नहि करते... यहां सारांश यह है कि- परमार्थ स्वरूप आत्मा की प्राप्ति होने पर वे साधु सावद्यानुष्ठान कभी नहि आचरते... कहा भी है कि- जो सम्यक् प्रज्ञान है वह हि- पापों का त्याग है, ओर जो पापों का त्याग है; वह हि सम्यक् प्रज्ञान है... ऐसी बात गत-प्रत्यागत सूत्र के माध्यम से कहते हैं... सम्यग् याने सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यग्दर्शन... और यह दोनों सहचारी होने से एक के ग्रहण में दुसरे का ग्रहण हो जाता है... जो मुनी सम्यग्दर्शन अथवा सम्यग्ज्ञान को देखता है, वह मुनी संयमानुष्ठान स्वरूप मौन को देखता है... तथा जो मुनी संयमानुष्ठान स्वरूप मौन को देखता है; वह सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यग्दर्शन को देखता है... क्योंकि- ज्ञान का फल विरति है, और उसमें सम्यक्त्व अभिव्यक्ति का कारण है, अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान एवं चारित्र की एकता का अनुसंधान करना चाहिये...

यह सम्यग्दर्शनादि त्रिक का अनुसंधान प्रमत्त जीव से संभवित नहि है, क्योंकि- जो जीव शिथिल याने मंदवीर्यवाला हैं तथा तपश्चर्या एवं संयम में धृति अर्थात् दृढता रहित हैं तथा आर्द्र याने पुत्र, पत्नी आदि के अनुराग स्वरूप स्नेह से आर्द्र है, ऐसे उन साधुओं से यह अनुसंधान अशक्य है... तथा शब्द आदि गुणों का आस्वाद लेनेवाले, वक्र याने कुटिल-कपट आचरणवाले, विषय एवं कषायादि से प्रमादी, तथा अगार याने घर में निवास करनेवाले मनुष्यों को पापकर्मों के त्याग स्वरूप मौन याने संयमानुष्ठान शक्य नहि है...

किंतु मुनि याने तीनों लोक के स्वरूप को जाननेवाले साधु सावद्यानुष्ठान के त्याग स्वरूप मौन को धारण करके औदारिक शरीर अथवा कर्मणशरीर का विनाश करें... वह इस प्रकार- प्रांत याने बाल, चने इत्यादि अथवा अल्प तथा रूक्ष याने बिना विगड़ओंवाले आहार को ग्रहण करें... ऐसे मुनीजन... कर्मों को विनाश करने में समर्थ हैं, क्योंकि- वे सम्यक्त्वदर्शी हैं अथवा समता के दर्शी हैं... इस प्रकार प्रांत एवं रूक्ष आहार के द्वारा वह मुनी ओघ याने संसार समुद्र को तैरता है... तथा बाह्य एवं अभ्यंतर संग याने परिग्रह के अभाव में वह मुनी

मुक्त के समान मुक्त हि है... क्यों कि- वह साधु मुनी सावधानुष्ठान से विरत हुआ है... यहां "इति" पद अधिकार की समाप्ति का सूचक है, एवं ब्रवीमि पद का अर्थ पूर्ववत् जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में चारित्र की श्रेष्ठता का दिग्दर्शन कराया गया है। यहां यह बताया गया है कि- रत्न त्रय से सम्पन्न व्यक्ति पापकर्म से छुटकारा पा सकता है। सम्यग् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की समन्वित साधना से ही आत्मा; मोक्ष को पा सकता है। संयम याने सम्यक् चारित्र के साथ सम्यग् दर्शन और ज्ञान को तो होना ही है। क्योंकि- सम्यग् दर्शन एवं ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यग् हो ही नहीं सकता। अतः सम्यक् चारित्र के साथ ज्ञान और दर्शन अवश्य होते हैं। क्योंकि- चारित्र पापकर्म का निरोधक है और पाप कर्म अर्थात् हिंसा आदि आश्रवों दोष, है, क्योंकि- उनके सेवन से पापकर्म का बन्ध होता है, इत्यादि बोध ज्ञान से ही होता है। इसलिए साधु शास्त्रदृष्टि स्वरूप ज्ञान की आंखों से हेय और उपादेय मार्ग को देखता है, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को समझता है और सम्यग् दर्शन से उस यथार्थ मार्ग पर श्रद्धा-विश्वास करता है और पंचाचार स्वरूप चारित्र के द्वारा हेय मार्ग का त्याग करके उपादेय मार्ग का स्वीकार करता है। इस तरह रत्नत्रय की आराधना से वह मुनी पूर्व काल में बन्धे हुए कर्मों का क्षय करता है, अभिनव पापकर्म के बन्ध को रोकता है। इस तरह वह संयम साधना से निष्कर्म बनने का प्रयत्न करता है।

पंचाचार स्वरूप रत्नत्रय की आराधना त्याग-वैराग्य से युक्त आत्माएं ही कर सकती हैं। विषय-भोगों में आसक्त व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकते। साधु का वेश ग्रहण करके भी जो मनुष्य मठ -मन्दिर या चल-अचल संपत्ति पर अपना आधिपत्य जमाए बैठे हैं, एवं अनेक प्रकार के आरम्भ-समारंभ में संलग्न हैं, वे रत्नत्रय की साधना से दूर हैं। रत्नत्रयी याने पंचाचार की उपासना के लिए धन-सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, परिवार एवं घर आदि सभी पदार्थों से आसक्ति हटानी होती है। अतः सभी प्रकार के स्नेह बन्धन एवं ममत्वभाव का त्यागी व्यक्ति ही संयम की पंचाचार की साधना कर सकता है और सभी कर्म बन्धन को तोड़कर मोक्ष-पद पा सकता है;

॥ इति पञ्चमाध्ययने तृतीयः उद्देशकः समाप्तः ॥

❀ ❀ ❀

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद्

यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्वरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरिश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभवविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५ राजेन्द्र सं. ९६. ५ विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - ४

❧ अव्यक्तः ❧

तृतीय उद्देशक कहा, अब चौथे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- प्रथम उद्देशक में कहा था कि- हिंसक विषयारंभक एवं एकचर साधु में मुनिपने का अभाव होता है तथा दुसरे एवं तीसरे उद्देशक में यह कहा है कि- हिंसा विषयारंभ एवं परिग्रह के परिहार के साथ-साथ हिंसादिदोषोवालों के दोष-दुःख देखकर मुनी विरतिवाला हि होता है... अब इस चौथे उद्देशक में एकचर साधु के (मुनिपने के अभाव में) संभवित दोषों को दिखाने के द्वारा उसके कारण कहते हैं... इस अभिसंबंध से आये हुए चौथे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १६९ ॥ १-५-४-१

ग्रामानुग्रामं दुइज्जमाणस्स दुज्जायं दुप्परक्कतं भवइ, अविद्यत्तस्स भिक्खुणो ॥ १६९ ॥

II संस्कृत-छाया :

ग्रामानुग्रामं दूयमानस्य दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं भवति । अव्यक्तस्य भिक्षोः ॥ १६९ ॥

III सूत्रार्थ :

अगीतार्थ भिक्षु को अकेले एक गांव से दूसरे गांव का विचरना सुखप्रद नहीं होता । और ग्रामानुग्राम विचरण के अभाव में उसके चारित्र का पतन होने की संभावना है ।

IV टीका-अनुवाद :

बुद्धि आदि गुणों का जो ग्रास याने कवल करे; उसे ग्राम याने गांव कहते हैं... एक गांव के बाद दुसरा गांव, उसे ग्रामानुग्राम कहते हैं... अर्थात् ग्रामानुग्राम विहार करनेवाले एकाकी साधु को अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों की संभावना से अरणिक-मुनी की तरह दुर्यात याने गतिभेद होता है... दुष्टव्यंतरीजंघा च्छेदकी तरह... तथा दुष्पराक्रांत याने वसति में एकाकी रहे हुए साधु के उपर दुर्जनों का आक्रमण होता है जैसे कि- स्थूलभद्र की ईष्या करनेवाले उपकोशा के घर में रहे हुए साधु अथवा परदेश गये हुए पतिवाले घर में रहे हुए साधु की तरह...

यद्यपि सभी साधुओं को ऐसा दुर्यात और दुष्प्रतिक्रान्त नहि होता... इसलिये कहते हैं कि- जो साधु अव्यक्त याने श्रुत एवं उग्र से अपरिपक्व है; ऐसे भिक्षु को हि दुर्यात और दुष्प्रतिक्रान्त होता है... श्रुत-अव्यक्त याने स्थविरकल्प में रहा हुआ साधु जब तक आचार प्रकल्प (निशिथ) सूत्र को अर्थ से नहि जानता तब तक वह अव्यक्त है... तथा जिनकल्पवाले चौदह पूर्वोंमें से नववे पूर्व की तीसरी वस्तु पर्यंत के सूत्रार्थ के ज्ञाता न हो तब तक अव्यक्त होते हैं... तथा उग्र से स्थविरकल्प में सोलह (१६) वर्ष पर्यंत के साधु अव्यक्त हैं तथा जिनकल्पवाले तीस (३०) वर्ष पर्यंतवाले अव्यक्त है...

यहां चतुभंगी होती है...

१. श्रुत से अव्यक्त- उग्र से अव्यक्त... साधु को संयम एवं आत्म विराधना होने के कारण से एकचर्या उचित नहि है...
२. श्रुत से अव्यक्त- उग्रसे व्यक्त... साधु को भी एकचर्या उचित नहि है, क्योंकि- वह अगीतार्थ होने के कारण से संयम एवं आत्म-विराधना की संभावना है...
३. श्रुत से व्यक्त- उग्र से अव्यक्त... साधु को भी एकचर्या उचित नहि है... क्योंकि- उग्र छोटी होने के कारण से सभी लोगों के परिभव का पात्र हो सकता है... और विशेष प्रकार से चोर एवं कुमत्तवालों से पराभव होने की संभावना है...
४. श्रुत से व्यक्त- उग्रसे व्यक्त... साधु को उचित कारणों के होने पर भिक्षु-प्रतिमा, एकाकी विहार एवं उग्र विहार की अनुमती दी जाती है... ऐसे उभय प्रकार से व्यक्त साधु को भी कारण के अभाव में एकचर्या की अनुमति नहि है. क्योंकि- एकचर्या में तीन गुप्तीयां, एवं ईर्यासमिति, भाषासमिति तथा एषणासमिति आदि में अनेक दोषों की संभावना है...

जैसे कि- एकाकी विहार करनेवाला साधु जब ईर्यासमिति का पालन करता है, तब कुत्ते आदि के उपद्रव होने की संभावना है... और जब कुत्ते आदि के उपद्रव से बचने का प्रयत्न करता है तब ईर्यासमिति का पालन नहि हो सकता... इस प्रकार अन्य समितिओं में भी दोष की संभावना होती है... तथा आहार का अजीर्ण होने पर अथवा वायु आदि के क्षोभ याने विषमता होने पर रोग-व्याधि उत्पन्न होने से संयम विराधना, आत्मविराधना एवं प्रवचन (शासन) की हीलना होने की संभावना है...

इस स्थिति में यदि कोई करुणालु गृहस्थ उस साधु की सेवा करता है, तब अज्ञानता के कारण से छह जीवनिकाय के जीवों का वध करता है, अतः संयम में बाधा (विराधना)

होती है... तथा यदि कोई भी गृहस्थ इस प्रकार सेवा-वैयावच्च नहि करता है तब उस साधु को आर्त्तध्यान होने से आत्मविराधना होती है... तथा अतिसार आदि रोग होने पर मूत्र, मल (विष्टा) के जंबाल याने कादव के बिच होने के कारण से प्रवचन-हीलना होती है... और गांव आदि में रहने पर ब्राह्मण आदि लोगों के द्वारा केशलोच आदि के बाबत में अधिक्षेप (आक्षेप) होने पर परस्पर कलह दंडादंडि (मारामारी) एवं अपशब्द बोलने की पुरे पुरी संभावना है... यह सभी कष्ट गच्छ में रहे हुए साधु को नहि होंते... क्योंकि- गच्छ में गुरुजनों से मार्गदर्शन (उपदेश) एवं सुरक्षा प्राप्त होती है... अन्यत्र भी कहा गया है कि- एकाकी विहार करने में अज्ञानी जीवों के द्वारा आक्रोश, हनन, मारण एवं धर्मभ्रष्ट होने तक के उपद्रवों की संभावना है, जब कि- गच्छ में रहने पर ऐसे उपद्रवों की संभावना नहि होती... और गच्छ में रहने पर भी यदि कभी ऐसा अज्ञानीओं के द्वारा उपद्रव हो; तब गुरुजी समाधि के लिये उपदेश देते हुए कहते हैं कि- यह उपसर्ग समभाव से सहन करोगे तो कर्मों की निर्जरा होगी... अर्थात् आत्मगुणों का लाभ होगा...

इस प्रकार गच्छ में गुरुजनो का अनुशासन-हितशिक्षा प्राप्त होती है... जब कि- गच्छ से बाहर अकेले विचरने में मात्र दोष हि दोष होंते हैं... कहा भी है कि- संयम में उद्यत ऐसे साधर्मिक साधुओं को छोडकर जो साधु एकाकी विहार करता है, उसे आतंक = रोग आदि की प्रचुरता में छह जीवनिकाय के जीवों के वध से होनेवाली विराधना का संभव है, तथा एकाकी विहार करनेवाले साधु को स्त्री, कुत्ते एवं दुश्मनों से उपद्रव होता है, तथा भिक्षा याने आहार ग्रहण में दोष लगते हैं; एवं महाव्रतों में भी दोष लगते हैं, अतः साधु गच्छ में रहे या अन्य एक गीतार्थ साधु के साथ विहार करे... यह हि उनके लिये उचित है...

तथा गच्छ में रहने से साधु को अनेक गुणों की प्राप्ति होती है... और गच्छ में रहने से बाल, वृद्ध आदि की सेवा से उद्यत विहार का लाभ प्राप्त होता है... जैसे कि- जल में रहा हुआ काष्ठ, स्वयं खुद तैरता है, एवं आश्रित अन्य को भी तैरता है, वैसा हि समर्थ साधु के सहयोग से, संयमानुष्ठान में खेद पानेवाले बाल, वृद्ध आदि भी संयमानुष्ठान में स्थिर एवं दृढ होकर संसार समुद्र को तैरते हैं... इस प्रकार एकाकी विचरने में होनेवाले दोषों को देखकर एवं गच्छ में रहनेवाले के गुणों की प्राप्ति को देखकर उचित कारणों के अभाव में व्यक्त-गीतार्थ साधु भी एकचर्या स्वरूप एकाकी विहार न करे... और अव्यक्त साधु को तो उचित कारण होने पर भी एकाकी विहार कभी भी नहि करना चाहिये...

प्रश्न- एकाकी विहार की संभावना हो तब निषेध करना युक्तियुक्त है; किंतु एकाकी विहार की संभावना हि नहि है, तो फिर यहां एकाकी विहार के निषेध का कथन क्यों करते हो ? और कौन ऐसा मूर्ख होगा ? कि- जो सहयोगीओं को (सहायों को) छोडकर

समस्त उपद्रवों के कारण ऐसे एकाकी विहार को आचरे ?

उत्तर- कर्मों के विपाक में कुछ भी असंभवित नहि है... जैसे कि- स्वच्छंदता स्वरूप रोग के औषध समान, सभी उपद्रवों के प्रवाह को पार पाने में सेतु (पुलीयां) के समान, सकल कल्याणों के मंदिर (निवास स्थान) समान तथा शुभ आचरण के आधार ऐसे स्थविरकल्प-गच्छ में रहे हुए साधु को भी क्वचित् (कहिं) प्रमाद के कारण से स्वखलना (भूल-गलती) हो, तब गुरुजी की हितशिक्षा की अवगणना करके तथा सदुपदेश (हितशिक्षा) का चिंतन न करने के कारण से तथा शुभधर्म के स्वरूप का विचार न करने से तथा कषायों के विपाक की कटुता का विचार न करने के कारण से तथा कुलपुत्रत्व के भाव को परमार्थ से पीठ करनेवाले, कटुवचन सुनने मात्र से हि कोपायमान होनेवाले, विषय भोगोपभोग के अभिलाषी तथा आपत्तिओं का विचार नहि करनेवाले जो अगीतार्थ साधु मोहमूढता से जब कभी गच्छ से बाहर निकलते हैं; तब वे इस जन्म में और जन्मांतर में अनेक दुःखों को पाते हैं...

अन्यत्र भी कहा है कि- जिस प्रकार जो जो मच्छलीयां समुद्र के खलभलाट (क्षोभ) को सहन न करने के कारण से समुद्र से बाहर निकलते हैं, वे समुद्र से बाहर निकलने मात्र से हि विनष्ट होती हैं... इसी प्रकार जो कोई साधुजन गच्छ-समुद्र में सारण-वारणादि हितशिक्षा स्वरूप तरंगों से उद्वेग पाकर गच्छ से बाहर निकलते हैं, वे सुख पाने के बजाय निर्जल-मच्छलीयों की तरह विनाश को पाते हैं।

तथा पिंजरे में रहे हुए सुरक्षित पक्षी (पोपट-मेना वगैरह) बाहर निकलने के बाद जिस प्रकार दुःख पाते हैं, वैसा हि गच्छ में रहे हुए साधु-पुरुष सारण-वारणादि प्रकार से हितशिक्षा प्राप्त होने पर जब गच्छ का त्याग करते हैं; तब वे संयम विराधना एवं आत्मविराधना स्वरूप अनेक कष्टों को प्राप्त करते हैं।

तथा जिस प्रकार पांखें परिपक्व होने से पहले हि चिडीयां जब अपने माले से बाहर निकलती हैं, तब कौवे आदि से कष्ट पाकर मर जाती हैं; वैसे हि हितशिक्षा को दुःख मानकर अपरिपक्व स्थिति में जो अगीतार्थ साधु गच्छ से बाहर निकलता है, तब वह कुतीर्थिक स्वरूप कौवों से परिताप पाकर विनष्ट होता है

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में अकेले विचरने वाले साधु के जीवन का विश्लेषण किया गया है। इस में बताया गया है कि- जो साधु विना कारण हि गुरु की आज्ञा के विना अकेला विचरता है; उसे अनेक दोष लगने की संभावना है। पहिले तो लोगों के मन में अनेक तरह की शंकाएं

पैदा होती हैं कि- यह अकेला क्यों घूमता है ? फिर उसके सम्बन्ध में झूठी-सच्ची अनेक बातें होती हैं और एकाकी होने के कारण अनेक परीषह उपस्थित हो सकता हैं, इन परिस्थितियों में दृढ़ता न रहने के कारण वह साधु कभी संयम पथ से च्युत भी हो सकता है। इसी दृष्टि को सामने रख कर आगम में अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का आदेश नहीं दिया है।

उत्सर्ग-माग से अगीतार्थ-साधु को एकाकी विहार करना उचित नहि है... परन्तु यदि विशेष परिस्थिति में या किसी विशेष कारण से एकाकी विहार करना पड़े तब गुरु की आज्ञा से गीतार्थ मुनि एकाकी विहार करते हैं... यहां शास्त्र की आज्ञा स्वरूप गुरु का निर्देश होने से कोई दोष नहि है। क्योंकि- वह साधु परिस्थिति वश जा रहा है तथा गुरु की आज्ञा से जा रहा है और वह साधु गीतार्थ होने से आगम मर्यादा से भी भली-भांति परिचित है और शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार ही विचरण करता है, इसलिए उसको संयम विराधना की संभावना नहीं रहती।

अव्यक्त-अगीतार्थ साधु की श्रुत और वय की अपेक्षा से चतुर्भंगी होती है।

- १- श्रुत और वय से अव्यक्त-श्रुत में आचार-प्रकल्पगम का अर्थ से अनुशीलन नहीं करने वाला एवं १६ वर्ष की आयु वाला साधु श्रुत एवं वय से अव्यक्त कहलाता है।
- २- श्रुत से अव्यक्त और वय से व्यक्त-आचार के अर्थ ज्ञान से रहित, परन्तु सोलह वर्ष से अधिक आयु वाला साधु।
- ३- श्रुत से व्यक्त, वय से अव्यक्त-आचार के ज्ञान से युक्त किन्तु १६ वर्ष से न्यून आयुष्यवाला साधु।
- ४- श्रुत और वय दोनों से व्यक्त-आचार के ज्ञान से युक्त और सोलह वर्ष से अधिक आयुष्यवाला अर्थात् परिपक्व अवस्था वाला साधु।

चतुर्थ भंग वाला साधु कारण विशेष से गुरु आज्ञा से अकेला भी विचर सकता है। क्योंकि- वय से परिपक्व एवं श्रुतज्ञान से सम्पन्न होने के कारण परीषह उपस्थित होने पर भी वह पंचाचार स्वरूप संयम-साधना के मार्ग में अवस्थित रह सकता है... परन्तु, अगीतार्थ मुनि ज्ञान की अपरिपक्वता के कारण परीषहों के उपस्थित होने पर असंयम के मार्ग पर भी चल सकता है। इसलिए अगीतार्थ साधु को अकेले विचरने का निषेध किया गया है।

एक बात यह भी है कि- अव्यक्त अवस्था में अकेला रहने से उसका ज्ञान अधूरा रह जाता है। जैसे पूर्वकाल में माता पिता अपने बच्चे को गुरुकुल में रखकर पढ़ाते थे, आज भी कई जगह ऐसा किया जाता है। क्योंकि- गुरुकुल में शिक्षक के अनुशासन में बालक ज्ञान

को पूरा कर लेता है। उसी तरह गुरु के अनुशासन में रहकर शिष्य ज्ञान सम्पन्न बन जाता है। अतः श्रुत एवं ज्ञान साधना के लिए अगीतार्थ मुनि को गुरु की सेवा में रहना चाहिए और उनकी आज्ञा के बिना अकेले नहीं विचरना चाहिए।

क्रोधादि के वश अकेले विचरने वाले मुनि की कैसी विषम स्थिति होती है? इसका वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्मस्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १७० ॥ १-५-४-२

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उण्णयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे भज्जो भुज्जो दुरइक्कम्मा अजाणओ अपासओ, एयं भे मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तदिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे, जयं विहारी चित्तनिवाइ पंथनिज्जाइ पलिबाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्जा ॥ १७० ॥

II संस्कृत-छाया :

वचसाऽपि एके उक्ताः कुप्यन्ति मानवाः, उन्नतमानः च नरः महता मोहेन मुह्यति। सम्बाधाः बहवः भूयो भूयः दुरतिक्रमाः अजानानस्य अपश्यतः, एतत् तव मा भवतु। एतत् कुशलस्य दर्शनम्। तद्-दृष्ट्या, तन्मुक्त्या तत्पुरस्कारे तत्सज्जी तन्निवेशनः यतनया विहारी चित्तनिपाती पथनिर्ध्यायी परिबाह्वान् दृष्ट्वा प्राणिनः गच्छेत् ॥ १७० ॥

III सूत्रार्थ :

जो मनुष्य गुरुजनों की हित शिक्षा से क्रोधित होते हैं; अहंकार के वश में होकर तथा महामोह के उदय से अज्ञानता में मूर्छित होकर गुरुजनों से पृथक् होकर विचरने लग जाते हैं, ऐसा करने से उन्हें उपसर्गादि जनित अनेक प्रकार की दुरतिक्रम बाधाएँ उपस्थित होती हैं। सम्यक् सहन करने के उपाय से अज्ञात और कर्म विपाक को न देखने के कारण उन परीषदादि बाधाओं से अत्यन्त दुःखी होकर वे चारित्र्य मार्ग से गिर जाते हैं। अतः गुरु अनुग्रहबुद्धि से कहते हैं कि- हे शिष्य ! श्रमण भगवान महावीर स्वामी का यह दर्शन है कि- तुम्हारी यह उपरोक्त विषम दशा न हो, गुरु की दृष्टि से, सर्व प्रकार की निर्ममत्ववृत्ति से, प्रत्येक कार्य में गुरुजनों की आज्ञा को सन्मुख रखने से, गुरुओं के पास रहने से, और यत्नपूर्वक विचरने से, गुरुओं के चित्त की आराधना करनी चाहिए, एवं गुरुओं के मार्ग का अवलोकन करना चाहिए, गुरुओं की आज्ञा में रहना चाहिए, यदि गुरु कहीं पर भेजे तब मार्ग में प्राणियों की रक्षा करते हुए चलना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

कभी कोई समय तपश्चर्या एवं संयमानुष्ठान आदि में खेद होने पर... अथवा प्रमाद

से स्वखलना (अपराध) होने पर गुरुजनों के द्वारा धर्म के वचनों से हितशिक्षा दी जाय तब धर्म की पुष्टि के अभाव में एवं परमार्थ को न जानने के कारण से कितने ही साधुलोग गुरुजनों के प्रति कोप करते हैं... वे सोचते हैं कि- इतने सारे साधुओं के बीच गुरुजी ने क्यों मेरा तिरस्कार (ठपका दिया) किया ? मैंने ऐसा तो कौनसा अपराध किया है ? अथवा ऐसा भी विचारे कि- अन्य साधुलोग भी ऐसा ही आचरण करते हैं, तो फिर मुझे हि क्यों उपालंभ (ठपका) दिया ? अतः मेरे जीवन को धिक्कार हो ! इस प्रकार सोचकर महामोह के उदय से क्रोधांधकार से निमिलित दृष्टिवाले, तथा समुचित आचार को छोड़कर श्रुत एवं उग्र दोनों प्रकार से अव्यक्त अथवा कोइ भी एक प्रकार से अव्यक्त अगीतार्थ साधु गच्छ स्वरूप समुद्र में से मच्छली की तरह निकलकर विनाश को पाते हैं...

अथवा लुंचित केशवाले, मल से मलीन अंगोपांग-देहवाले ये कौन है ? कि- जिस का मुह सुबह सुबह में हमको देखने में आता है ? इस प्रकार सामान्य जनता से वाणी-वचन के द्वारा कहे जाने पर कितनेक साधुजन क्रोधांध होकर कोप करते हैं... और कोपायमान ऐसे वे अगीतार्थ साधु-लोग अधिकरण याने हिंसादि कार्य करते हैं... इत्यादि अनेक दोष अगीतार्थ साधु को एकचर्या (एकाकी विहार) में गुरुजनों की नियामकता (सुरक्षा) के अभाव में उत्पन्न होते हैं।

गुरुजनों के सान्निध्य में रहने से साधु को उचित हितशिक्षा प्राप्त होती है जैसे कि- आक्रोश-तर्जनादि होने पर बुद्धिवाला साधु तत्त्वान्वेषण में अपनी बुद्धि को जोड़े... और चिंतन करे कि- यदि यह आक्रोश सही (सत्य) है, तो फिर मैं कोप क्यों करूँ ? और यदि आक्रोश के कोइ कारण न होने पर भी कोइ आक्रोश करता है, तब सोचे कि- अज्ञानी एवं कर्मों से पीडित ऐसे आक्रोश करनेवाले इन लोगों के उपर कोप करने से क्या फायदा ?

तथा अपकार करनेवाले के उपर जब कोप होता है, तब साधु यह चिंतन करे कि- हे आत्मन ! अपकारी ऐसे कोप के उपर हि तुझे कोप क्यों नहि होता ? क्योंकि- कोप हि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थ में सब से बड़ा दुश्मन है...

तथा वचन मात्र से ही तिरस्कृत कीये गये साधुलोग, ऐसा कौन सा कारण है ? कि- इस जन्म में एवं जन्मांतर में दुःख देनेवाले एवं स्व-पर को नुकसान पहुंचानेवाले क्रोध को अपने जीवन में अवकाश (स्थान) देते हैं ? तब कहते हैं कि- जिस साधु को अतिशय मान (अभिमान) है, अपने आपको सब से बड़ा माननेवाला साधु प्रबल मोहनीय कर्म के उदय से अथवा प्रबल अज्ञान के कारण से कार्य एवं अकार्य की समझ से रहित होने से वह विवेकशून्य होता है... ऐसे महामोह से मूढ़ साधु-मनुष्य को जब कभी गुरुजन हितशिक्षा स्वरूप कुछ करते हैं, अथवा कोइक मिथ्यादृष्टि मनुष्य वचन के द्वारा तिरस्कार करता है; तब जाति,

कुल, बल, रूप, तपश्चर्या, लाभ, ऐश्वर्य एवं श्रुतज्ञान-स्वरूप मद के स्थानों में से कोईभी एक के सद्भाव में अभिमान स्वरूप मेरु पर्वत उपर चढ़ा हुआ वह साधु कोप करता है...

वह सोचता है कि- “यह एक सामान्य मनुष्य मेरा तिरस्कार करता है” अतः मेरे विज्ञान, जाति एवं पुरुषार्थ को धिक्कार हो ! इस प्रकार अभिमान स्वरूप ग्रह से ग्रस्त वह साधु अगीतार्थ-गच्छ से बाहर निकल जाता है, अथवा गच्छ से निकला हुआ वह साधु अपने हि आत्मा को अधिकरण याने हिंसादि पापचरण से विडंबित करता है

अथवा कोइक विदग्ध याने खुसामतखोर आदमी प्रशंसा करे कि- अहो ! आप तो महान् कुल के हो, कितना सुंदर शरीर है ? आपकी प्रज्ञा की क्या तारीफ करूं ? आपकी वाणी कितनी प्रौढ है ? एवं आप समस्त शास्त्रों के ज्ञाता हो ! सौभाग्य एवं सरलता आप में बेसुमार है... इत्यादि प्रकार की सच्ची या जुठी वाणी-वचन से प्रशंसा होने पर गर्व-अभिमान प्रगट होने से चारित्र मोहनीय कर्म के उदय में वह साधु मूढमतिवाला होता है, अथवा संसार के मोह में मग्न होता है...

अच्छे सत्कार एवं सन्मान प्राप्त होने पर साधु महामोह के उदय में मूढ होता है, मूढ होने के कारण से गुरुजनों के हितशिक्षा वचन मात्र से हि कोप करता है; और कोप होने के कारण से गच्छ से बाहर निकालकर एकाकी हि ग्रामानुग्राम विहार करनेवाले साधु को अव्यक्त अर्थात् अगीतार्थता के कारण से बहोत सारी बाधाएं अर्थात् उपसर्ग से होनेवाली पीडा एवं विविध प्रकार के आतंक (रोग) की पीडा स्वरूप परीषह की पीडा बार बार बहोत होती है... यह पीडा एकाकी एवं अव्यक्त साधु को निरवद्यविधि से भी दुरतिलंघनीय होती है, क्योंकि- विविध प्रकार के पापाचरण से उत्पन्न हुई इन पीडाओं को सहन करने का उपाय वह जानता हि नहि है...

अतः आतंक (रोग) की पीडाओं से व्याकुल बने हुए साधुलोग एषणासमिति का भी उल्लंघन करते हैं तथा प्राणीओं के वध में अनुमोदन करते हैं तथा वाणी (हितशिक्षा) स्वरूप कंटक से प्रेरणा होने पर प्रज्वलित (क्रोधायमान) होते हैं... किंतु वे साधुजन यह नहि विचारते कि- यह पीडा मेरे कीये हुए कर्मों के फल स्वरूप हि है, अन्य जीव तो मात्र निमित्त हि होते हैं... कहा भी है कि- आत्मद्रोह, अमर्यादा, मूढता, सन्मार्ग का त्याग इत्यादि नरकामि के इंधन स्वरूप है और ऐसे जीव अनुकंपा के पात्र हैं... इत्यादि भावना आगम से अपरिक्र्मित मतिवालों को नहि होती है...

यह कहकर परमात्मा यह सूचन करते हैं कि- एकचर्या को स्वीकारनेवाले अगीतार्थ साधुलोग हमारे उपदेशवर्ती नहि है... किंतु आगमानुसार जो साधुलोग गच्छ में रहते हैं; वे

हि हमारे उपदेशवर्ती हैं...

अब पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी कहते हैं कि- यह पूर्वोक्त अभिप्राय = विचार श्री वर्धमानस्वामीजी के हैं... जैसे कि- अव्यक्त (अगीतार्थ) ऐसे एकचर्यावालों को एकांत दोष हि है, तथा सतत गच्छ में आचार्य के समीप जो रहते हैं; वे साधु गुण के पात्र होते हैं...

गच्छ में आचार्य के पास रहनेवाले साधुजन सदा आचार्यजी की दृष्टि अनुसार हि हेय एवं उपादेय में वर्तन करें... अथवा संयम में दृष्टि रखें, अथवा आगम में दृष्टि रखकर सभी कार्यों का व्यवहार करें तथा आगमसूत्र में कही गइ सर्वसंगों की मुक्ति के लिये सदा प्रयत्न करें... एवं सभी कार्यों में आचार्यजी को हि आगे करें, अर्थात् आचार्यजी के संकेत अनुसार हि सभी संयमानुष्ठान करें... अपनी मनोमति से कल्पित कोइ भी आचरण न करें...

तथा गुरुकुल में रहनेवाले साधुजन सदा यतना से विहार प्रतिलेखन आदि संयमानुष्ठान करें... तथा आचार्यजी के चित्त अनुसार संयमानुष्ठानमें प्रवर्तन करें... तथा आचार्यजी जब वसति से बाहर बहिर्भूमी आदि गये हों; तब उनके आगमन के मार्ग का अवलोकन करें... तथा शयन (निद्रा) की इच्छावाले आचार्यजी को संथारा बिछा दे एवं क्षुधा की पीडा में आहार आदि की गवेषणा द्वारा गुरुजी की सदा सेवा-भक्ति करनेवाले हो... तथा विशेष कार्य न हो तब गुरुजी के अवग्रह से बाहर रहें... तथा कभी कोइ कार्य के लिये गुरुजी ने बाहर भेजा हो तब युगमात्र भूमी को ईर्यासमिति से देखकर प्राणीओं का वध न हो, इस प्रकार गमनागमन करें...

V सूत्रसार :

अव्यक्त अवस्था में-श्रुतज्ञान से सम्पन्न न होने के कारण, साधक अपने अन्दर स्थित कषायों का शमन नहीं कर सकता। कभी परिस्थिति वश उसका क्रोध प्रज्वलित हो उठता है और वह उस स्थिति में अपनी साधुता को भी भूल जाता है। कषायों के प्रवाह में उसे अपने हिताहित का भी ख्याल नहीं रहता। इसलिए वह कर्तव्य मार्ग से च्युत होकर पतन के गर्त में गिरने लगता है। आवेश के नशे में उसका भाषा पर भी अंकुश नहीं रहता। गुरु के सामने भी वह असंबद्ध बोलने लगता है और अपने आंतरिक दोषों को न देख कर गुरु के दोष निकालने का प्रयत्न करता है। और अपने दोषों पर पर्दा डालने के लिए वह दूसरे साधुओं के दोषों को सामने रख कर अपने आपको निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करता है।

वह अगीतार्थ साधु यह समझता है कि- गुरु मुझे हित शिक्षा नहीं दे रहे हैं, किंतु सबके सामने मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। इसलिए वह आवेश के वश गुरु के वचनों का अनादर

कारके तथा-उन्हें भला-बुरा कहकर अकेला विचरने लगता है। परन्तु वय एवं श्रुत से अव्यक्त होने के कारण वह संयम मार्ग पर स्थिर नहीं रह सकता। रोग आदि कष्ट उपस्थित होने पर वह धबरा जाता है। उन परीषहों को सह नहीं पाता। और परिणाम स्वरूप अनेक दोषों का सेवन करने लगता है। इस तरह आवेश के वश गच्छ से पृथक् होकर विचरने वाला साधु चारित्र्य से गिर जाता है। अतः अव्यक्त साधु को गुरु की सेवा में रहते हुए क्रोध आदि कषायों के वश में नहीं होना चाहिए।

गुरु की सेवा में रहकर संयम का परिपालन करना चाहिए और सावधानी एवं विवेक के साथ संयम संबंधित सभी क्रियाएँ करनी चाहिए। और कभी भूल हो जावे तब उसका संशोधन करके उस दोष को निष्फल करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १७१ ॥ १-५-४-३

से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विनिवट्टमाणे संपलिज्जमाणे, एगथा गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचिण्णा एगतिया पाणा उद्दयंति, इहलोगवेयणविज्जावडियं, जं आउट्टिकयं कम्मं तं परिण्णाय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाणेण विवेगं किट्टइ वेयवी ॥ १७१ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः अभिक्रामन् प्रतिक्रामन् सङ्कुञ्चन् प्रसारयन् विनिवर्त्तमानः संपरिमृजन्, एकदा गुणसमितस्य रीयमाणस्य कायसंस्पर्शं समनुचीर्णाः एके प्राणिनः अपद्रावयन्ति । इहलोकवेदनवेद्यापतितं यत् आकुटीकृतं कर्म, तत् परिज्ञाय विवेकं एति । एवं तस्य अप्रमादेन विवेकं कीर्त्तयति वेदवित् ॥ १७१ ॥

III सूत्रार्थ :

समस्त अशुभ व्यापार भिक्षु चलते हुए, पीछे हटते हुए, हस्त पादादि अंगों को संकोचते हुए और फैलाते हुए, भली प्रकार से रजोहरणादि के द्वारा शरीर के अङ्गोपाङ्ग तथा भूमि आदि का प्रमार्जन करता हुआ गुरुजनों के समीप निवास करे। इस प्रकार अप्रमत्त भाव से सम्पूर्ण क्रियानुष्ठान करते हुए गुण युक्त मुनि से यदि किसी समय चलते-फिरते हुए काय-शरीर के स्पर्श से किसी प्राणी-संपात्तिमादि जीव की मृत्यु हो जावे तो वह भिक्षु उस कर्म के फल को तप अनुष्ठान के द्वारा क्षय कर देवे, यह कर्म क्षय करने का विधान तीर्थंकरों ने कहा है।

IV टीका-अनुवाद :

गुरुजी के आदेश को करनेवाले साधु (भिक्षु) इस प्रकार के आचरणवाले होते हैं... जैसे कि- यतना से अभिक्रामन् याने जाते हुए... प्रतिक्रामन् याने वापस लौटते हुए... संकुचन् याने हाथ, पैर आदि का संकोच करते हुए... प्रसारयन् याने हाथ पैर आदि अवयवों को फैलाते हुए... तथा सभी अशुभ आचरण से निवृत्त होते हुए... पाद (पैर) आदि अवयव एवं वस्त्रादि उपकरण का निक्षेप करने के वख्त रजोहरण आदि से भूमी का प्रमार्जन करते हुए गुरुकुलवास में रहें...

तथा गुरुजी के पास विनय-मुद्रा से बैठें... और यदि इस प्रकार निश्चल न बैठ सकें तब भूमी का प्रमार्जन करके कुक्कुटी विजृम्भित-दृष्टांत से अवयवों का यतना से संकोचन एवं प्रसारण करें... तथा सोते समय मयूर (मोर) की तरह शयन करके निद्रा लें... तथा अन्य जीवों के वध के भय से एक पार्श्व (पडखे) सचेतन होकर सोएं... तथा निरीक्षण-प्रमार्जन करके पडखों का परिवर्तन करें... इत्यादि परिमार्जन-प्रमार्जना के द्वारा सभी आवश्यक क्रियाएं करें... इस प्रकार अप्रमत्त-भाव से पूर्वोक्त संयमाचरण-अनुष्ठान करनेवाले अप्रमत्त साधु को कभी कोई समय गमन, आगमन, संकुचन, प्रसारण, विनिवर्तन एवं प्रमार्जन करते करते कभी कोई अवस्था में शरीर के संग (स्पर्श) में आये हुए संपातिम आदि प्राणी (क्षुद्र जंतु) ओं में कोईक परिताप पाते हैं; कितनेक ग्लानि (खेद) पाते हैं, कितनेक के अवयवों का विनाश होता है... तथा कितनेक प्राणी प्राणों से वियुक्त याने मरण प्राप्त करते हैं... तब यहां कर्मबंध होने में विभिन्नता (विचित्रता) होती है...

जैसे कि- शैलेशी अवस्था में केवलज्ञानी को मच्छर आदि का शरीर-स्पर्श होने पर यदि मरण हो तब भी कर्मबंध के कारणों के अभाव से कर्मबंध नहि होता... तथा उपशांतमोह, क्षीणमोह एवं सयोगी केवलज्ञानीओं को कर्मबंध में स्थिति के कारणभूत कषायों के अभाव से मात्र एक समय का हि सातावेदनीय कर्मबंध होता है... तथा अप्रमत्त साधु को जघन्य से अंतर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट से अंतःकोडाकोडी सागरोपम... प्रमाण कर्मबंध होता है... तथा अनाभोग एवं उपयोग के बिना प्रवृत्ति करनेवाले प्रमत्त साधु को हाथ-पैर आदि अवयवों से प्राणीओं को पीडा होने पर जघन्य से अंतर्मुहूर्त एवं उत्कृष्ट से अंतः कोडाकोडी सागरोपम... किंतु अप्रमत्त से प्रमत्त की स्थिति कुछ विशेष अधिक होती है...

प्रमत्त साधु को अनजान से हुए काया के संघट्टन से मात्र इस जन्म-भव संबंधित कर्मबंध होता है, कि- जो इस जन्म में क्षय हो सकता है... तथा जो प्रमत्त साधु जान बुझकर हिंसा करे, आगमोक्त कारण के सिवा यदि प्राणीओं का वध हो तब विवेक याने दशविध प्रायश्चित्त में से कोई भी एक प्रकार का प्रायश्चित्त लगता है, कि- जिस प्रायश्चित्त से कर्म का विनाश होता है... तथा वेदवित् याने तीर्थंकर परमात्मा, गणधर एवं चौदह पूर्वधर कहते हैं कि- अप्रमाद

याने दशविध प्रायश्चित के कोइ एक भेद के सम्यग् अनुष्ठान के द्वारा विवेक (सांपरायिक कर्मों का विनाश) होता है...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में प्रमाद और अप्रमाद का सुन्दर शब्दों में विश्लेषण किया गया है। प्रमाद हि आरम्भ-समारम्भ एवं सभी पापों का मूल है। प्रमाद पूर्वक कार्य करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, पाप कर्म का बन्ध होता है। इसलिए साधु के लिए आगम में प्रमत्त भाव का त्याग करने का आदेश दिया गया है। दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि- अविवेक पूर्वक चलने वाला, खड़े रहने वाला, बैठनेवाला, शयन करने वाला, भोजन करने वाला, एवं बोलने वाला पापकर्म का बन्ध करता है। अविवेक पूर्वक की जाने वाली प्रत्येक क्रिया पाप बन्ध का कारण है और विवेक पूर्वक की जाने वाली उपरोक्त सभी क्रियाओं में पाप कर्म का बन्ध नहीं होता।

इससे स्पष्ट होता है कि- अविवेक एवं प्रमाद से पाप कर्म का बन्ध होता है, अतः साधु को अप्रमत्त भाव से विवेक पूर्वक कार्य करना चाहिए। विवेक पूर्वक क्रिया करते हुए भी कभी भूल से किसी प्राणी की हिंसा हो जाए तो ईर्यापथिक (ईरियावही०) क्रिया के द्वारा उक्त पाप का क्षय कर दे और यदि परिस्थिति वश या विशेष कारण से पृथ्वीकायादि की हिंसा हुई हो तब उस पाप से निवृत्त होने के लिए संभवित तप अनुष्ठान या प्रायश्चित स्वीकार करे इस तरह भूल से या हिंसा आदि दोषों का क्षय करने के लिए प्रायश्चितादि क्रियाओं का विधान किया गया है। अतः इस तरह प्रायश्चित एवं तप के द्वारा मुनि पाप कर्म का क्षय कर देता है। इसलिए साधु को अविवेक एवं प्रमाद का त्याग करके सावधानी के साथ संयम में संलग्न रहना चाहिए।

अप्रमत्त व्यक्ति का जीवन कैसा होता है, इसको बताते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १७२ ॥ १-५-४-४

से पभूयदंसी पभूयपरिण्णाणे उवसंते समिह सहिए संया जए, दट्टं विप्पडिवेइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ ? एस से परमारामो जाओ लोगंमि इत्थीओ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्महिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उइदं ठाणं ठाइज्जा अवि गामाणुगामं दुइज्जिज्जा अवि आहारं वुच्छिज्जा अवि चए इत्थीसु मणं, पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्जा अणासेवणाए तिबेमि। से नो काहिए नो

पासणिए, नो मामए, नो कयकिरिए वइगुते अज्जप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोणं समणुवासिज्जासि तिबेमि ॥ १७२ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञानः उपशान्तः समितः सहितः सदा यतः, दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानं किमेषः जनः करिष्यति ? एषः सः परमारामः जातः लोके स्त्रियः, मुनिना खु एतत् प्रवेदितम् उद्बाध्यमानः ग्रामधर्मैः अपि निर्बलाशकः अपि अवमौदर्यं कुर्यात् अपि ऊर्ध्वं स्थानं स्थापयेत्, अपि ग्रामानुग्रामं विहरेत्, अपि आहारं व्यवच्छिन्द्यात्, अपि त्यजेत् स्त्रीषु मनः । पूर्वं दण्डाः पश्चात् स्पर्शाः, पूर्वं स्पर्शाः पश्चात् दण्डाः, इत्येते कलहासङ्गकराः भवन्ति । प्रत्युपेक्षया ज्ञात्वा आज्ञापयेत् अनासेवनया इति ब्रवीमि । सः नो कथयेत्, न पश्येत्, न ममत्वं कुर्यात्, न कृतक्रियः, वाग् गुप्तः अध्यात्मसंवृत्तः परिवर्जयेत् सदा पापम् । एतद् मौनं समनुवासयेः इति ब्रवीमि ॥ १७२ ॥

III सूत्रार्थ :

वह भिक्षु, बहोत देखने वाला, बहोत ज्ञान वाला उपशान्त, समितियों से समित, ज्ञानयुक्त, सदा यत्नशील स्त्रीजन को देखकर अपने आत्मा को शिक्षित करे कि- हे आत्मन् ! यह स्त्रीजन तुम्हारा क्या हित करेगा ! यह स्त्रीजन समस्त लोक में परमाराम रूप है, ऐसा कामीजन मानते हैं, किंतु श्री वर्धमान स्वामीजी ने कहा है कि- विचारशील भिक्षु यदि ग्रामधर्म-अर्थात् विषय से पीड़ित हो जावे तो उसे नीरस आहार करना चाहिए, उनीदरी तप करना चाहिए, ऊंचे स्थान पर खड़ा होकर कायोत्सर्ग द्वारा आतापना लेनी चाहिए, ग्रामानुग्राम विचरना चाहिए, आहार का परित्याग करना चाहिए (यहां तक कि पर्वत से गिर कर प्राण त्याग कर देने चाहिए), परन्तु स्त्रीजन में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए कारण कि- स्त्रीसंग से पहिले दंड (धनादि उपार्जन के लिए महाकष्ट) होता है, बाद में नरकादि जनित दुःखों का स्पर्श होता है तथा पहिले स्त्री के अङ्ग प्रत्यंग का स्पर्श और बाद में नरकादि यातनाओं का दंड भोगना पडता है, ये स्त्रियें कलह और संग्रामादि का कारण है और भयंकर राग द्वेष को उत्पन्न करनेवाली हैं। इस प्रकार बुद्धि से विचार करके एवं कर्म के विपाक को सन्मुख रखकर विचारशील भिक्षु, अपने आत्मा को शिक्षित करे। इस प्रकार मैं (सुधर्मस्वामी) कहता हूं।

अतः त्यागी भिक्षु स्त्री की कथा न करे, स्त्री के अंग प्रत्यंग का अवलोकन न करे, स्त्री के साथ एकान्त में किसी प्रकार की पर्यालोचना न करे, स्त्री पर ममत्व न करे, स्त्री की वैयावृत्य न करे और स्त्रीके साथ रहस्यमय वार्तालाप न करे, तथा मन में स्त्री संबंधित संकल्प भी न करे, पापकर्म का सदैव त्याग करे, गुरु कहते हैं कि- हे शिष्य ! तू इस मुनि-भाव का सम्यग् रूप से पालन कर, इस प्रकार मैं (सुधर्मस्वामी) हे जबू ! तुम्हें कहता हूं।

IV टीका-अनुवाद :

भूतकाल, भविष्यत्काल एवं वर्तमानकाल के प्रमाद आदि के फल स्वरूप कर्म के विपाक को देखनेवाला अर्थात् मात्र वर्तमानकाल को ही देखकर मन-चाहा आचरण न करनेवाला साधु प्राणीओं के रक्षण में उपाय स्वरूप तत्त्वज्ञान को पाया हुआ अथवा संसार एवं मोक्ष के कारणों को अच्छी तरह से जाननेवाला अर्थात् संसार के वास्तविक स्वरूप को जाननेवाला साधु, तथा उपशांत याने कषायों के उदय का अभाव अथवा इंद्रिय एवं मन के विकारों का उपशमन, तथा पांच समितियों से समित, अथवा अच्छी तरह से मोक्षमार्ग को पाया हुआ साधु, तथा ज्ञानादि गुणों से सहित, अथवा हितकारी कार्यों से युक्त तथा सदा याने हमेशा यतनावाला साधु अप्रमत्त होकर गुरुजी के पास रहकर प्रमाद से उत्पन्न हुए कर्मों का विनाश करता है...

जब स्त्री आदि का अनुकूल उपसर्ग हो; तब वह साधु ऐसा सोचे कि- यह स्त्रीजन उपसर्ग करने के लिये आये हैं, किंतु मैं तो सम्यग्दृष्टि हूँ, महाव्रतों की प्रतिज्ञा मैंने देव-गुरु के समक्ष ग्रहण की है, तथा शरद पूर्णिमा के चंद्र के समान निर्मल कुल में मेरा जन्म हुआ है... इत्यादि अनुकूल उपसर्ग में साधु-श्रमण चिंतन करें... तथा उन स्त्रीलोग संबंधित भी विचारें कि- यह स्त्रीजन जीवित की भी आशा नहि रखनेवाले तथा इस जन्म के विषयभोग की अभिलाषाओं के त्यागी ऐसे मुझ पे उपसर्गादि क्यों करते हैं ? अथवा तो यह स्त्रीजन दुःख के प्रतिकार स्वरूप विषयभोग के सिवा और कोई वास्तविक सुख क्या मुझे देंगे ? अथवा पुत्र-पत्नी आदि स्वजनलोग भी क्या मरण के मुख में प्रवेश होने के समय मेरी रक्षा करेंगे ? अथवा व्याधि याने रोगों के उत्पन्न होने पर क्या मुझे रोगों की पीडासे बचाएंगे ? अथवा तो परमाराम स्वरूप स्त्रीजनो का स्वभाव हि ऐसा है कि- तत्त्वज्ञानवाले साधु को भी हास्य विलास अंग-उपांगों के दर्शन आदि तथा कटाक्षों के द्वारा मोहित करते हैं... अतः इस विश्वमें जो कोई स्त्रीजन हैं; वे मोह के कारण हैं, ऐसा जानकर साधु उनका त्याग करते हैं अर्थात् स्त्रीजन यदि साधु को न तर्जें, तो साधु खुद अंतरात्मभाव में स्थिर होकर उन स्त्रीजनों का त्याग करें...

यह बात केवलज्ञानी तीर्थंकर परमात्मा श्री वर्धमानस्वामीजी ने भव्य जीवों के हित के लिये कही है... ऐसा उल्लेख सूत्र से दिखाते हैं... जैसे कि- “इस लोक में स्त्रीजन भावबंधन स्वरूप है”

तथा अपने अपने विषय में प्रवृत्त इंद्रियों से बाधा याने पीडा पानेवाले गच्छ में रहे हुए साधु को गुरुजन हितशिक्षा देते हैं कि- हे श्रमण ! आप निःसार एवं अंत प्रांत (तुच्छ-सादा) आहार ग्रहण करो ! ऐसा करने से इंद्रियां उपशम (शांत) होती है... आहार के अभाव

में या अल्प-असार आहार से इंद्रियां निर्बल होती है... अतः उणोदरी तप करना चाहिये... यदि अंत-प्रांत असार आहार ग्रहण करने से भी इंद्रियां शांत न हो, अर्थात् मोह का उपशम न हो तब बाल-चने आदि का बत्तीस (३२) कवल प्रमाण रूक्ष आहार ग्रहण करें... ऐसा करने पर भी यदि मोह का उपशम न हो तब कार्योत्सर्ग (काउस्सग) आदि से काया को कष्ट दें... अर्थात् खडे खडे काउस्सग करके चित्त को धर्मध्यान में स्थिर करें... तथा शीतकाल एवं उष्णकाल में काउसग के द्वारा शीत (ठंडी) एवं ताप (गरमी) से काया को कष्ट दें... यदि ऐसा करने से भी मोह का उपशम न हो; तब ग्रामनुग्राम विहार करें...

सामान्य से निष्कारण विहार का निषेध है तो भी मोह के उपशम के लिये ग्रामानुग्राम विहार करें... अधिक क्या कहें ? यहां सारांश यह है कि- जिस जिस उपाय से मोह का उपशम हो, विषय भोग की इच्छा निवृत्त हो; उन उन उपायों का आदर करें... अंत में आहार का सर्वथा त्याग (अनशन) करके शरीर का विनाश करें किंतु स्त्रीजनों में कभी भी मन (इच्छा) न करें... अर्थात् स्त्रीजन में प्रवृत्त मन का निवारण करें... ऐसा करने से दो प्रकार के काम (इच्छा) का दूरसे हि त्याग हो जाता है... कहा भी है कि- हे काम ! मैंने तुझे पहचान लिया है... तूं निश्चित हि संकल्प-विकल्पों से हि उत्पन्न होता है... अतः मैं संकल्प-विकल्प हि नहीं करूंगा... अतः तूं उत्पन्न हि नहि हो सकेगा...

स्त्रीजन में मन (इच्छा) न करने का कारण यह है कि- परमार्थ दृष्टि के अभाव में स्त्रीजन का संग करनेवालोंको सर्व प्रथम यह चिंता रहती है कि- इनका संग प्राप्त हो और सदा बना रहे... किंतु स्त्रीजन का संग सदा बनाये रखने के लिये पुरुष को धन उपार्जन करना होता है, और धन प्राप्ति के लिये कृषि या व्यापार-व्यवसाय करनेवाले पुरुषों को क्षुधा-तृषा-ठंडी-गरमी (ताप) आदि अनेक प्रकार के परीषह - कष्ट आदि के दुःख स्वरूप दंड यहां उठाना होता है... इतने कष्ट स्त्री की प्राप्ति के पूर्व याने स्त्री संभोग के पूर्व हि सहन करने होते हैं, और स्त्रीजन के संग (संभोग) होने के बाद विषय भोगों के उपभोग से होनेवाले कर्मबंध, और उन कर्मों के उदय में नरक आदि गति में उत्पन्न होने पर छेदन-भेदन आदि अनेक दुःख स्वरूप कठोर स्पर्श (देह-पीडा) होते हैं...

अथवा स्त्रीजन के संभोग-भोग में प्रवृत्त होनेवाले पुरुष को प्रथम दंड याने कृषि-व्यापार आदि कष्ट और बाद में नरकादिगति में हाथ-पैर आदि अंगोपांग के छेदन-भेदनादि दुःख सहन करने होते हैं... अथवा प्रथम स्पर्शभोग और बाद में नरकादि गति में दंड... अथवा प्रथम दंड याने ताडन-तर्जनादि कष्ट और बाद में संबाधन, आलिंगन, चुंबन आदि स्पर्श... वह इस प्रकार- जैसे कि- राजकुमारी के स्पर्श भोग को चाहनेवाले वणिक् पुत्र इंद्रदत्त को प्रथम ताडन-तर्जन आदि दंड प्राप्त हुआ और बाद में स्पर्श भोग प्राप्त हुआ... और ललितांग को प्रथम स्पर्श भोग एवं बाद में विभिन्न परिताप-संताप आदि के दंड...

तथा यह स्त्रीजनों का संबंध हि कलह याने रण-संग्राम (युद्ध) के हेतु कारण होते हैं... अथवा कलह याने क्रोध तथा आसंग याने राग अर्थात् राग-द्वेष के कारण होते हैं... अतः इस जन्म में एवं जन्मांतर में दुःखों की प्राप्ति का कारण स्त्रीजनों का संग हि है, ऐसा जानकर अपने आपकी आत्मा को स्त्रीजनों के संग का त्याग करने का आदेश करें... यह बात तीर्थंकर परमात्मा के उपदेश अनुसार हे जंबू ! मैं (सुधर्मस्वामी) तुम्हें कहता हूँ...

तथा जो मुमुक्षु पुरुष स्त्रीसंग का त्यागी है, वह स्त्रीजनों के वस्त्र एवं अलंकार आदि की कथा-वार्ता न करें तथा शृंगारकथा भी न करें... इस प्रकार से हि स्त्रीजनों का त्याग हो सकता है... तथा नरकगति के मार्ग समान एवं स्वर्ग तथा अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग में अर्गला (भुंगल) समान स्त्रीजनों के अंग एवं उपांगो को भी न देखें... क्योंकि- स्त्रीजनों के अंगोपांगों को देखने से पुरुष को महान् अनर्थ (कष्ट) होता है...

कहा भी है कि- पुरुष तब तक हि सन्मार्गमें रहता है, इंद्रियों को संयम में रखता है, लज्जा एवं मर्यादा धारण करता है, और गुरुजनों का विनय भी तब तक हि करता है, कि- जब तक स्त्रीजनों के दृष्टि-बाण पुरुष के हृदय के उपर नहि पडतें... अर्थात् स्त्रीजनों के दृष्टि-बाण लगने से पुरुष सन्मार्ग आदि पवित्र मर्यादाओं को धारण नहि कर सकते... तथा नरक के हेतु स्वरूप स्त्रीजनों के साथ एकांत याने निर्जन स्थान में वार्तालाप-विचार परामर्श भी साधु न करें... और यहां तक कहतें हैं कि- अपनी भगिनी (बहन) आदिके साथ भी एकांत में वार्तालाप न करें... क्योंकि- मोहनीय कर्म दुर्जय है, और इंद्रियां दुर्दम हैं... अन्यत्र भी कहा है कि- माता, बहन, पुत्री आदि के साथ भी एक आसन पर न बैठें... क्योंकि- इंद्रियां बलवान् हैं, पंडित याने विद्वान् पुरुष भी इस परिस्थिति में इंद्रियों के विकार में मतिमूढ होता है... तो फिर अज्ञ के लिये तो क्या कहना ? इत्यादि...

तथा पापाचरण में परायण ऐसे स्त्रीजनों में ममत्व भी न रखें... तथा शृंगार-अलंकारादि मंडन क्रिया भी न करें... तथा स्त्रीजनों की सेवा (वैयावृत्य) भी न करें... अर्थात् स्त्रीजनों की बाबत में पुरुष अपने काययोग का संपूर्णतया संवर करें- यह यहां सारांश है...

तथा शुभ अनुष्ठान को लुंटेवाली स्त्रीयों के साथ वार्तालाप (बातचीत) भी न करें... अर्थात् स्त्रीजनों के साथ वाणी का भी संपूर्णतया संयम रखें... तथा आत्मा में रहे हुए मन (अंतःकरण) को संयम में रखें अर्थात् स्त्रीओं के अंगोपांग, हावभाव एवं विषय=भोग का मन से भी चिंतन (विचार) न करें... इस प्रकार मनोयोग का भी सूत्रार्थ के परिशीलन के द्वारा संवर करें...

अर्थात् सदा पाप एवं पाप के कारणभूत कर्मों का त्याग करें... और मौन याने मुनिभाव

अथवा पंचाचार स्वरूप संयमानुष्ठान से अपनी आत्मा को सुवासित करें... ऐसा हे जंबू ! मैं (सुधर्मस्वामी) तुम्हें कहता हूँ...

V सूत्रसार :

विवेकशील साधु दीर्घदर्शी एवं ज्ञान सम्पन्न होता है। वह अतीत, अनागत एवं वर्तमान को तथा कर्म फल को भलि-भांती देखने वाला है। उसे संयम को सुरक्षित रखने एवं संयम के द्वारा समस्त कर्म बन्धनों को तोड़कर मुक्त होने के रास्ते का भी परिज्ञान है। वह उपशान्त प्रकृति वाला है; एवं समिति-गुप्ति से युक्त है; इसलिए वह संयम-निष्ठ मुनि कभी अनुकूल या प्रतिकूल परीषह उत्पन्न होने पर भी संयम से विचलित नहीं होता। उसे कोई भी स्त्री एवं भोगोपभोग के साधन अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते। क्योंकि- उसने आत्मा के अनन्त सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य को जान लिया है, अतः आत्मा के हैश्वर्य एवं सौंदर्य के सामने दुनियां के सभी पदार्थों का सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य निस्तेज फीका-सा प्रतीत होता है।

स्त्री एवं भोग-विलास के साधनों के उपस्थित होने पर गीतार्थ-साधु सोचता है कि- मैंने बड़ी कठिनता से सम्यक्त्व को एवं संयम-साधना को प्राप्त किया है। इन विषय-भोगों को तो मैं अनेक बार भोग चुका हूँ, फिर भी इससे आत्मा को तृप्ति नहीं हुई। इनके कारण मैं बार-बार संसार में परिभ्रमण करता रहा हूँ। इस संसार बन्धन से छूटने का यह साधुजीवन का अवसर मुझे कर्मों के क्षयोपशम से मिला है- अतः अब संसार में भटकाने वाले विषय-भोग मुझे आकर्षित नहीं कर सकता। संसार का रूप-सौन्दर्य मुझे पथ भ्रष्ट नहीं कर सकता।

ये स्त्रियें एवं भोगोपभोग के साधन बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं को भी मोह मुग्ध बनाते हैं, उनके मोहजाल में आबद्ध साधु पहिले तो संयम से भ्रष्ट होता है और बाद में वह उनका दास होकर जीवन व्यतीत करता है। इसलिए सब से अच्छा यह हि है कि- मैं इन विषय-विकारों एवं भोगों का स्वीकार ही न करूँ। इस प्रकार सोच-विचारकर प्रबुद्ध पुरुष भोगेच्छा का त्याग कर देता है, अतः भोगों की ओर आकर्षित ही नहीं होता।

तीर्थकरों ने स्त्री-काम-भोगों को भाव बन्धन कहा है। मोह कर्म के उदय से मनुष्य वासना के प्रवाह में बहता है, अतः साधु को गुरु के अनुशासन में रहकर मोह कर्म का क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए और वासना एवं विकृति को रोकने के लिए कामोत्तेजक आहार एवं ऐसे अन्य साधनों का त्याग करना चाहिए। विषयों से विरक्त रहने के लिए साधु को नीरस भोजन करना चाहिए। एक गांव में अधिक समय तक रहें, किंतु ग्रामनुग्राम विचरना चाहिए, आतापना लेनी चाहिए, एकान्त स्थान में या पर्वत के शिखर पर कायोत्सर्ग करना चाहिए तथा विविध तपश्चर्या करते रहना चाहिए।

इसके साथ साधु को सोचना चाहिए कि- संसार में स्त्री के कारण से हि कलह-कदाग्रह होते रहते हैं। इतिहास में भी इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त स्त्री संसर्ग से शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है। व्यभिचारी व्यक्ति का दुनियां में तिरस्कार होता है। इस तरह सोच कर विषय-वासना का त्यागी साधु विषय-विकार की ओर आकर्षित न हो, साधु स्त्री कथा, एवं स्त्री परिचर्या न करे एवं स्त्री जन के साथ रहस्यपूर्ण बात-चीत भी करे। स्त्रीसंग-कामराग के निवारण के लिए आगम शास्त्र में मन, वचन और शरीर को सुरक्षित रखने का ब्रह्मचर्य की नव बाड-मर्यादा का विधान किया गया है।

इस तरह साधु को विवेक के साथ संयम का परिपालन करना चाहिए। अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों को पराभूत करके पंचाचार की आचरण के द्वारा संयम में स्थिर रहना चाहिए।

॥ इति पञ्चमाध्ययने चतुर्थः उद्देशकः समाप्तः ॥

५ ५ ५

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्ग्रेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरेश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५ राजेन्द्र सं. ९६. ५ विक्रम सं. २०५८.

५ ५ ५

श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - ५

❀ हृदोपम : ❀

चौथा उद्देशक कहा, अब पांचवे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... यहां परस्पर यह संबंध है कि- चौथे उद्देशक में अव्यक्त याने अगीतार्थ को एकचर्या (एकाकी विहार) में होनेवाले अपाय याने उपद्रव कहे, अब उन उपद्रवों से बचने के लिये साधु सदा आचार्य की सेवा (वैयावच्च) करे, तथा आचार्य भी हृद याने सरोवर की उपमावाले हो, और शिष्यगण भी तपश्चर्या संयम एवं गुप्तिओं को धारण करके निःसंग होकर विहार करें... इस संबंध से आये हुए इस पांचवे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १७३ ॥ १-५-५-१

से बेमि तं जहा- अवि हरए पडिपुण्णे समंसि भोमे चिद्धइ, उवसंतरए सारक्खमाणे से चिद्धइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पण्णाणमंता पबुद्धा आरंभोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिक्खयंति त्तिबेमि ॥ १७३ ॥

II संस्कृत-छाया :

सोऽहं ब्रवीमि तद्यथा-अपि हृदः प्रतिपूर्णः समे भूभागे तिष्ठति, उपशान्तरजाः सारक्षन् सः तिष्ठति श्रोतोमध्यगतः सः पश्य सर्वतः गुप्तः, पश्य लोके महर्षयः ये च प्रज्ञानवन्तः प्रबुद्धाः आरंभोपरताः सम्यक् एतत् इति पश्यत, कालस्य काङ्क्षया परिव्रजन्ति इति ब्रवीमि ॥ १७३ ॥

III सूत्रार्थ :

तीर्थंकर भगवान ने आचार्य के गुणों का जैसा वर्णन किया है, वैसा ही मैं (सुधर्मस्वामी) हे जंबू ! तुम्हें कहता हूँ। जैसे कि- एक जल से परिपूर्ण उपशान्त रजवाला जलाशय समभूमि में ठहरा हुआ, जलचर जीवों का संरक्षण करता हुआ स्थित है। इसी प्रकार आचार्य भी सद्गुणों से युक्त, उपशान्त एवं गुप्तेन्द्रिय हैं। वे श्रुत का अनुशीलन-परिशीलन करते हैं; एवं अन्य साधुओं को भी श्रुत का बोध कराते हैं। हे शिष्य ! तू लोक में उनको देख जो महर्षि हैं, आगमवेत्ता, तत्त्वज्ञ एवं आरंभ -समारंभ से निवृत्त हैं। हे शिष्य ! तू मध्यस्थ भाव से उनके जीवन का अवलोकन कर, वे महापुरुष जलाशय के समान हैं, अंतः मुमुक्षु

पुरूष को समाधि मरण की आकांक्षा करते हुए पंचाचार स्वरूप संयमाचरण में संलग्न रहना चाहिए, ऐसा मैं तुम्हें कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

तीर्थकर परमात्मा के उपदेश अनुसार आचार्य के संभवित गुणो को मैं कहता हूँ...
“अपि” शब्द यहां चतुर्भंगी का सूचक है... वह इस प्रकार-

१. हृद = जलाशय - परिगलत् श्रोतवाला है और पर्यागलत् श्रोतवाला है...
२. हृद = जलाशय - परिगलत् श्रोतवाला है; किंतु पर्यागलत् श्रोतवाला नहि है...
३. हृद = जलाशय - परिगलत् श्रोतवाला नहि किंतु पर्यागलत् श्रोतवाला है...
४. हृद = जलाशय - परिगलत् श्रोतवाला नहि और पर्यागलत् श्रोतवाला नहि है...

इस चतुर्भंगी में प्रथम भंग का स्वरूप कहते हैं कि- आचार्यजी को एक द्रह याने जलाशय का रूपक देकर यह कहना चाहते हैं कि- द्रह याने जलाशय चार प्रकार के होते हैं... उनमें से प्रथम प्रकार का द्रह वह है कि- जिस में जल का प्रवाह आता भी है, और निकलता भी है; जैसे कि- सीता एवं सीतोदा नदी के प्रवाह में रहे हुए कुरुक्षेत्र के पांच द्रह... तथा द्वितीय प्रकार का द्रह वह है कि- जिस में जल का प्रवाह आता नहि है, किंतु जल का प्रवाह अवश्य निकलता रहता है... जैसे कि- पद्म-द्रह... तथा तृतीय प्रकार का जलाशय-लवण समुद्र जैसा है कि- जिस में जल का प्रवाह आता है, किंतु निकलता नहि है... तथा चौथा प्रकार का द्रह जलाशय-समुद्र वह है कि- जो मनुष्य लोकके बहार रहे हुए हैं, वे पुष्कर समुद्र आदि... क्योंकि- इन समुद्रों में न तो कोई जल प्रवाह आता है, और न तो कोई जलप्रवाह निकलता है...

इन चार प्रकार में से जिस आचार्य महाराज की आत्मा में श्रुतज्ञान का प्रवाह आता है और जो आचार्य म. शिष्यों को श्रुतज्ञान का दान करते भी हैं... इस प्रकार श्रुतज्ञान का दान एवं ग्रहण जहां हो रहा है, अर्थात् ऐसे आचार्यजी का इस प्रथम भंग में समावेश होता है... तथा द्वितीय भंग कि- जहां सांपरायिक (सकषाय) कर्मों के अभाव में अर्थात् कषायों के उदय का अभाव होने से अप्रमत्त मुनि को श्रुतज्ञान का ग्रहण नहि है; किंतु तपश्चर्या एवं कायोत्सर्ग आदि से सत्ता में रहे हुए कर्मों का क्षय अवश्य करते हैं... तथा आलोचना के विषय में तृतीय भंग इस प्रकार होता है कि- आलोचना अप्रतिश्रावी होती है अर्थात् अन्य कीसी को भी कही नहि जाती, किंतु आलोचना का श्रवण अवश्य करते हैं... तथा चौथे विकल्प = भंग का स्वरूप इस प्रकार है कि- आचार्यजी कुमार्ग में प्रवेश नहि करते हैं, और यदि कुमार्ग में प्रवेश नहि है, तो फिर कुमार्ग से निकलने की बात तो रही हि नहि...

अथवा धर्मीजनों के भेद से चतुर्भंगी की योजना इस प्रकार की गई है... जैसे कि- प्रथम भंग में स्थविरकल्पवाले आचार्य हैं... तथा द्वितीय भंग में तीर्थंकर परमात्मा हैं... तृतीय भंग में यथालंदिक साधु... अर्थ की समाप्ति न हो तब तक उपदेश नहीं देते... यथालंद का स्वरूप इस प्रकार है... बरसात के जल से आर्द्र (भीगे) हाथ जितने समय में शुष्क हो; वह जघन्य 'लंद' और हाथ जल से आर्द्र होने के बाद पांच रात-दिन (पांच दिवस) पर्यंत वैसे ही स्थिर रहना... यह उत्कृष्ट "लंद" (कल्प) है... अतः यहां उत्कृष्ट लंद का ग्रहण किया गया है... इस "लंद" (कल्प) को यथाविधि आचरण करते हैं; वे यथालंदिक हैं... इस कल्प (लंद) को पांच साधु का समूह एक साथ स्वीकार करते हैं... तथा जिनकल्पिक साधु की तरह मासकल्प-क्षेत्र में गृह (घर) की पंक्ति-श्रेणीवाली छह वीथी याने मार्ग का विभाग करके इस "लंद" कल्प का पालन करते हैं... तथा प्रत्येकबुद्ध साधु चौथे भंग में जानीयेगा... क्योंकि- उनको न तो किसी का उपदेश है और न तो अन्य किसी को उपदेश देते हैं...

यहां इस आचारांग सूत्र में प्रथम भंग में श्रुतज्ञान को ग्रहण करनेवाले एवं शिष्यगण को श्रुतज्ञान देनेवाले आचार्यजी का अधिकार है... अतः कहते हैं कि- द्रह (सरोवर) के समान आचार्य हैं... वह द्रह निर्मल जल से भरा हुआ है तथा सर्व ऋतुओं के कमलों से सुशोभित है तथा सम भूमीतल में होने के कारण से जल का प्रवेश एवं निर्गमन सदा होता ही है... तथा ऐसा द्रह कभी भी शुष्क नहीं होता और सुगमता से ही प्रवेश एवं निर्गमन वाला है... उपशांत याने रजः (धूली) न होने के कारण से जल में कलुषित (मलीनता) नहीं है... तथा विविध प्रकार के जलचर जंतुओं का रक्षण करता है अथवा जलचर जंतुओं से अपने आपको सुरक्षित रखता है... अब उपनय की घटना करते हुए कहते हैं कि- जिस प्रकार वह सरोवर (द्रह), उसी ही प्रकार आचार्यजी जानीयेगा...

प्रथम भंग के स्वरूपवाले वह आचार्य पांच प्रकार के आचार (पंचाचार) से युक्त होते हैं तथा आचार्य की आठ प्रकार की संपदाओं से युक्त होते हैं... वह आचार संपदा इस प्रकार हैं १. आचार, २. श्रुतज्ञान, ३. शरीर, ४. वचन, ५. वाचना, ६. मति (बुद्धी), ७. मतिप्रयोग, ८. संग्रहपरिज्ञा... तथा छत्तीस (३६) गुणों के समूह का आधार (पात्र) आचार्य म. द्रह (सरोवर) के समान निर्मल ज्ञानगुण से प्रतिपूर्ण हैं... सम-भूमी याने संसक्त आदि दोष रहित, सुख विहारवाले क्षेत्र में अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य स्वरूप मोक्षमार्ग में रहे हुए हैं... तथा उपशांतरज याने उपशांत मोहवाले हैं... तथा स्वयं छह जीवनिकायों का रक्षण करते हैं तथा अन्य जीवों को धर्मोपदेश के द्वारा नरक आदि दुर्गति से बचाते हैं... तथा श्रोतोमध्यगत याने श्रुत के अर्थ का दान एवं ग्रहण करते हैं... ऐसे स्थविर-आचार्य प्रथम भंग में जानीयेगा...

-इस प्रकार आचार्य अक्षोभ्य हृद के समान हैं तथा सर्व प्रकार से इंद्रिय एवं नोइंद्रिय (मन) स्वरूप गुप्ति से गुप्त ऐसे इन आचार्यजी को हे शिष्य ! आप देखीयेगा...

इस मनुष्य लोक में इन आचार्यों के सिवा अन्य मुनिजन साधु महर्षि भी प्रथम भंग के दिखाये गये गुणवाले हृद के समान होते हैं... अतः उन्हें भी देखीयेगा... वे साधुलोग स्व-परके स्वरूप को प्रगट करनेवाले आगम-शास्त्र को जानने स्वरूप प्रज्ञानवाले हैं... तथा वे प्रबुद्ध भी हैं... क्योंकि- आगम शास्त्र को जाननेवालों को भी कभी कभी मोहनीयकर्म के उदय से वस्तु-पदार्थ के गुण एवं पर्यायों को समझने में हेतु एवं उदाहरण न मीलने पर तथा ज्ञेय पदार्थों के स्वरूप की गहनता के कारण से संशय होना संभवित है और संशय का निराकरण न हो; तब अश्रद्धा भी हो सकती है... इसलिये कहते हैं कि- वे साधुलोग, तीर्थंकर परमात्मा ने वस्तु पदार्थ का स्वरूप जिस प्रकार कहा है, वैसा ही जाननेवाले होते हैं अतः प्रबुद्ध है...

तथा प्रबुद्ध होने पर भी कर्मों की गुरुता के कारण से सावद्य कार्य = अनुष्ठानों का त्याग न भी हो; अतः कहते हैं कि- वे साधुलोग सावद्य (पापाचार) कार्यों से विरत हैं... यहां यह जो कुछ कहा वह मेरे कहने मात्र से ही आप स्वीकार न करें; किंतु आप स्वयं ही कुशाग्र बुद्धी से मेरी कही गइ बातों का मध्यस्थ दृष्टि से विचार (चिंतन) करके देखो और बाद में मानो-स्वीकारो ! तथा यह भी देखो कि- समाधि मरण के काल (समय) की अभिकांक्षा के साथ मोक्षमार्ग स्वरूप संयमानुष्ठान में साधुलोग चारों ओर से उद्यम करते हैं... “इति” पद अधिकार की समाप्ति का सूचक है... तथा “ब्रवीमि” पद का अर्थ पूर्ववत् जानीयेगा...

अब आचार्य की वक्तव्यता को पूर्णकर के विनेय याने शिष्यगण की वक्तव्यता को सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहेंगे।

V सूत्रसार :

चतुर्थ उद्देशक में अव्यक्त-अगीतार्थ मुनि के एकाकी विचरने का निषेध किया गया है। अब प्रस्तुत उद्देशक में आचार्य की सेवा में रहकर रत्नत्रय की आराधना-साधना करने वाले मुनि के विषय में विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि- संघ की व्यवस्था के लिए, साधु-साध्वीयों में अनुशासन बनाए रखने के लिए शास्ता का होना जरूरी है। आगम की परिभाषा में शास्ता को आचार्य कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र में गुणों एवं उनकी श्रुत संपदा को जलाशय की उपमा देकर वर्णन किया गया है।

जलाशय की विशेषता का उल्लेख करते हुए चार बातें बताई गई हैं-१-जलाशय समभूमि पर होता है, २-जल से परिपूर्ण होता है, ३-उपशान्त रज वाला होता है, और ४-जलचर जीवों का संरक्षक या आश्रयभूत होता है। सरोवर का महत्त्व इन्हीं चार विशेषताओं

से ही है। यदि सरोवर समतल भूमि पर नहीं है, तो प्रत्येक प्राणी सुगमता से उसके पानी का लाभ नहीं उठा सकता। तथा जल से रहित सरोवर का कोई मूल्य नहीं है। क्योंकि- उससे किसी भी प्राणी को लाभ नहीं पहुंचता। तथा सरोवर का उपशान्तरजोमय होना उसकी स्वच्छता का प्रतीक है और स्वच्छ जल प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभप्रद हो सकता है और जलचर जीवों के संरक्षक के रूप में उसकी परोपकारिता परिचित होती है। वह जैसे मत्स्य आदि जीवों को आश्रय देता है, उसी प्रकार सर्प-सिंह आदि हिंसक जन्तुओं की भी प्यास बुझाता है। इस गुण से उसकी समभाव वृत्ति का भी बोध होता है। इन चार बातों से ही जलाशय सरोवर का महत्त्व एवं श्रेष्ठता बताई गई है।

आचार्य का जीवन भी सरोवर के समान होता है। उनके जीवन में कहीं भी विषमता परिलक्षित नहीं होती। और वह श्रुतज्ञान के जल से परिपूर्ण रहता है। ज्ञान सम्पन्न होने पर भी उनके जीवन में अभिमान का उदय नहीं होता। उनके कषाय सदा उपशान्त रहते हैं। और वे चतुर्विध संघ में स्थित साधुओं के संरक्षण में सदा तत्पर रहते हैं। वे समभाव से प्रत्येक साधु की उन्नति के लिए प्रयत्न करते हैं। छोटे-बड़े का, विद्वान-मूर्ख का उनके मन में भेद नहीं रहता। सब के साथ समुचित व्यवहार करते हैं।

प्रबुद्ध शब्द से सम्यग्दर्शन, प्रज्ञावंत शब्द से सम्यक् ज्ञान और आरम्भ से निवृत्त शब्द से सम्यक् चारित्र्य का बोध होता है। आचार्य एवं साधु दोनों रत्नत्रय के आराधक हैं। अतः श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु को जलाशय के समान श्रेष्ठ बताया गया है।

इस तरह श्रुत सम्पन्न आचार्य एवं साधु के आदर्श जीवन का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि- तुम स्वयं मध्यस्थ-निष्पक्ष भाव से अनुभव करो देखो ! इस कथन से अन्धश्रद्धा का उच्छेद किया गया है। साधु को अपनी निष्पक्ष बुद्धि से गुणों को समझने का अवसर दिया गया है। इस कथन से स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहन मिलता है। इस तरह साधु को श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में समाधि मरण की आकांक्षा रखते हुए रत्नत्रय के विकास में संलग्न रहना चाहिए। जीवन में मृत्यु का आना निश्चत है। अतः साधु को मृत्यु से डरना नहीं चाहिए, बल्कि समभाव पूर्वक समाधि मरण की आकांक्षा रखनी चाहिए। क्योंकि- समाधि मरण से साधक अशुभ कर्मों की निर्जरा करता हुआ, एक दिन इसी समाधि मरण से निर्वाण पद को पा लेता है। अतः साधु को समाधि मरण की आकांक्षा रखने का आदेश दिया गया है।

श्रुत सम्पन्न आचार्य के अनुशासन में रहकर अपनी साधना को तेजस्वी बनाने वाले शिष्य की कैसी वृत्ति हो, इसका उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १७४ ॥ १-५-५-२

वित्तिगच्छ-समावर्णेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं, सिया वेगे अणुगच्छंति, असिता वेगे अणुगच्छंति, अणुगच्छमाणोहिं अणुगच्छमाणे कहं न निव्विज्जे ? ॥ १७४ ॥

II संस्कृत-छाया :

विचिकित्सा-समापन्नेन आत्मना न लभते समाधिम् । सिता वा एके अनुगच्छन्ति, असिता वा एके अनुगच्छन्ति, अनुगच्छद्भिः अननुगच्छन् कथं न निर्विद्येत ? ॥ १७४ ॥

III सूत्रार्थ :

सन्देह युक्त आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं कर सकता, कोई २ गृहस्थ आचार्य की आज्ञा का पालन करते हैं, तथा कोई २ साधु आचार्य की आज्ञानुसार चलते हैं। अर्थात् आचार्य के वचनानुसार चलने से समाधि की प्राप्ति करते हैं। तो फिर जो आचार्य की आज्ञा का पालन नहीं करता वह संशययुक्त आत्मा खेद को प्राप्त क्यों न होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।

IV टीका-अनुवाद :

विचिकित्सा याने चित्तविभ्रम... जैसे कि- “यह भी है” ऐसे स्वरूपवाली युक्ति से समुपपन्न याने प्राप्त सूत्र अर्थ में भी मोह के उदय से साधु को मतिविभ्रम होता है... वह इस प्रकार-सिकता याने रेत के कणों के कवल के जैसे स्वाद रहित इतनी बड़ी तपश्चर्या की सफलता होगी कि नहि ? क्योंकि- कृषि आदि क्रियाओं में सफलता एवं निष्फलता दोनों का दर्शन होता है...

यह ऐसी मति दो कारण से होती है... (१) मिथ्यात्व मोह के उदय से... (२) ज्ञेय पदार्थों की गहनता से... जैसे कि- श्रोताओं के लिये सूत्र के अर्थ की प्राप्ति का तीन (३) प्रकार हैं... १. सुखाधिगम = सुख से जाना जाय... (२) दुरधिगम = दुःख (कष्ट) से जाना जाय... (३) अनधिगम = कष्ट याने श्रम करने पर भी समझ में न आवे...

उनमें (१) “सुखाधिगम” इस प्रकार है... जैसे कि- रूप याने वस्तु-पदार्थ के वर्ण (रंग) की जानकारी अच्छी आंखोवाले एवं चित्रकला में निपुण पुरुष को सुख से = आसानी से होती है... (२) “दुरधिगम” आंखे हो किंतु चित्रकला में निपुणता न हो; तब चित्र के स्वरूप का बोध दुर्लभ होता है... तथा (३) “अनधिगम” अंधा मनुष्य चित्रकला को देख

हि नहि शकता है... इन तीनों में अनधिगम तो अवस्तु स्वरूप हि है... तथा सुखाधिगम में कभी भी विचिकित्सा होती हि नहि है... क्योंकि- देश, काल एवं स्वभाव का दूर होना हि विचिकित्सा का विषय है... अतः दुरधिगम ऐसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय एवं आकाशास्तिकायादि में हि विचिकित्सा हो सकती है...

अथवा विचिकित्सा याने विद्वानों की जुगुप्सा याने निंदा (अवर्णवाद) तथा विद्वान् याने संसार के स्वभाव को जानकर समस्त संग का त्याग करनेवाले साधुलोग... उन साधुलोगों की निंदा... जैसे कि- यह साधुलोग जल से स्नान नहि करते, अतः पसीने के जल-बिंदुओं से क्लिन्न याने आर्द्र (भीगे) मलवाले होने से दुर्गंध युक्त शरीरवाले हैं- इत्यादि... और ऐसा भी कहते हैं कि- अचित्त जल से स्नान (अंगशुद्धि) करे तो क्या दोष है ?... इत्यादि प्रकार से जुगुप्सा याने निंदा करनेवाले प्राणी चित्तकी स्वस्थता स्वरूप समाधि पा नहि शकते... अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य स्वरूप समाधि को पा नहि शकते... अर्थात् विचिकित्सा याने निंदा से कलुषित (मलीन) अंतःकरणवाला मनुष्य आचार्य के उपदेश से सम्यक्त्व स्वरूप बोधि को प्राप्त नहि कर सकता...

तथा सित याने पुत्र-पत्नी आदि से संबद्ध गृहस्थ भी यदि लघुकर्मवाले हो तब आचार्य के उपदेश से सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं... और असित याने गृहवास का त्याग करनेवाले एवं निंदा नहि करने वाले कितनेक साधुलोग भी आचार्यजी के मार्ग का अनुसरण करते हैं... यदि कोईक जीव बहुल कर्मी हो, वह भी मोक्षमार्ग में चलनेवाले अनेक गृहस्थ एवं साधुलोगों को देखकर कर्मग्रंथि का भेद-छेद करके सम्यक्त्व को प्राप्त करता है,

यह बात सूत्र के पदों से हि दिखाते हैं... वह इस प्रकार- आचार्य के उपदेश अनुसार सम्यक्त्व के अभिमुख रहा हुआ तथा साधुलोग एवं श्रावक गृहस्थों के साथ निवास करनेवाला एवं उनके द्वारा बार बार प्रेरणा पानेवाला जीव यद्यपि अभी सम्यक्त्व नहि पाया हुआ है तो भी क्या वह मनुष्य निर्वेद याने संसार से छुटनेके भावको नहि पाता ? अर्थात् निर्वेद-भाव अवश्य पाता है... अर्थात् शुभ अनुष्ठान की मिथ्यात्वादि रूप विचिकित्सा याने संशय एवं निंदा आदि का त्याग करके आचार्य से कहे गये सम्यक्त्व को अवश्य पाता है...

अथवा आचार्य के द्वारा कहे गये सम्यक्त्व (मोक्षमार्ग) का अनुसरण करनेवाले साधुलोग के साथ रहनेवाला अज्ञ जीव यदि अज्ञान के कारण से मति की जडता होने पर आचार्यादि के उपदेश को समझ न पाए तो भी क्या वह संसार से निर्वेद नहि पाता ? अर्थात् निर्वेद पाता हि है...

तथा वह साधु तपश्चर्या एवं संयमानुष्ठान में उद्वेग न करे... और कभी उद्वेगं हो,

तब ऐसा चिंतन करे कि- “मैं भव्य (योग्य) नहि हूं, और मुझे संयमभाव भी नहि है... क्योंकि- आचार्यजी आगमशास्त्र का अर्थ स्पष्ट एवं विस्तार से कहते हैं; तो भी मैं समझ नहि पाता...” इस प्रकार उद्वेग पानेवाले साधु को आचार्यजी समाधि देते हुए कहते हैं कि- हे साधुजी ! खेद मत करो ! आप भव्य (योग्य) हैं, क्योंकि- आपने सम्यक्त्व पाया है, और वह सम्यक्त्व ग्रंथिभेद के सिवा नहि होता... तथा मोह की ग्रंथि का भेद भव्यत्व के सिवा नहि हो सकता... और अभव्य-जीव को भव्य एवं अभव्य की शंका हि नहि होती... जब कि- वह शंका आपको हुइ है, अतः आप भव्य हि हैं...

तथा यह विरति का परिणाम बारह कषायों के क्षय-क्षयोपशम या उपशम में से कोइ भी एक के सद्भाव में हि होता है... और वह विरति-परिणाम आपने प्राप्त किया है... इस प्रकार आपके दर्शनमोहनीय एवं चारित्र मोहनीय कर्मों का क्षयोपशम हुआ है... क्योंकि- मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के सिवा यह विरति-परिणाम हो हि नहि सकता... तथा स्पष्ट एवं विस्तार से धर्मोपदेश कहने पर भी आपको जो समस्त पदार्थों का बोध नहि होता है, तो वहां ज्ञानावरणीय कर्म का उदय हि कारण है...

अब यहां श्रद्धान स्वरूप सम्यक्त्व का आलंबन लेना चाहिये... यह बात सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

आगम में आत्म विकास की १४ गुण-श्रेणियां मानी गई हैं। जिन्हें आगमिक भाषा में गुणस्थान कहते हैं। चतुर्थ गुणस्थान से आत्मा विकास की ओर सन्मुख होता है और १४ वें गुणस्थान में पहुंचकर वह अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। इस तरह सम्यक् श्रद्धा से आत्मा विकास के पथ पर अग्रसर होता है और अयोगि अवस्था में पहुंचकर पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इस विकास क्रम में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्यक् श्रद्धा के बल पर ही साधक साध्य को सिद्ध कर पाता है। इसलिए आगम में श्रद्धा को अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है। क्योंकि- श्रद्धा पूर्वक पढ़ा गया श्रुत सम्यग्श्रुत कहलाता है और श्रद्धा पूर्वक स्वीकार किया गया आचरण ही सम्यक् चारित्र के नाम से जाना-पहचाना जाता है; श्रद्धा या सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान एवं चारित्र दोनों सम्यग् नहीं रह पाते।

सम्यक्श्रद्धा के अभाव में चारित्र भी सम्यग् नहीं रहता है। श्रद्धा विहीन साधक के चित्त में तत्त्व के प्रति निःसंशयता एवं चारित्र के परिणामों में स्थिरता नहीं रहती है और इस कारण उसके चित्त में समाधि भी नहीं रहती। क्योंकि- समाधि-शान्त चित्त की स्थिरता पर आधारित है और चित्त की स्थिरता शुद्ध श्रद्धा पर अवलम्बित है। अतः साधक को आचार्य एवं तीर्थकरों के वचनों पर तथा श्रुत सिद्धांत में विश्वास रखना चाहिए। जो साधु श्रुत पर

विश्वास रखता है और उसके अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसके मन में चंचलता एवं अस्थिरता नहीं होती है। इससे वह शांति को, पूर्ण सुख को प्राप्त कर लेता है। परन्तु रात-दिन संशय में पड़ा हुआ व्यक्ति शांति को नहीं पा सकता। कहा भी है “संशयात्मा विनश्यति” अर्थात् संशय में निमग्न व्यक्ति अपना विनाश करता है।

इसलिए साधु को संशय का त्याग कर निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। अपनी श्रद्धा को तेजस्वी बनाने के लिए साधक को क्या चिन्तन करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १७५ ॥ १-५-५-३

तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं ॥ १७५ ॥

II संस्कृत-छाया :

तदेव सत्यं निःशङ्कं यत् जिनैः प्रवेदितम् ॥ १७५ ॥

III सूत्रार्थ :

वह हि सत्य एवं निःशंक है कि- जो जिनेश्वरो ने कहा है ॥ १७५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

जहां कहीं स्वसमय याने आगमशास्त्र एवं परसमय याने अन्य मत के शास्त्रों के जाननेवाले आचार्य के अभाव में सूक्ष्म, व्यवहित याने बिच में क्षेत्र या काल का अंतर हो... अथवा दिवार (भीत) हो, और अतीन्द्रिय याने इंद्रियां जिन्हे ग्रहण नहि कर पाते... ऐसे पदार्थों में दृष्टांत एवं सम्यग् हेतुओं के अभाव से तथा ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से मैं भी शंका एवं विचिकित्सा आदि से रहित होकर मुमुक्षु-साधु ऐसा चिंतन करें कि- वह हि एक सत्य याने अविचिंत्य है जो परमात्माने कहा है...

तथा निःशंक याने परमात्मा ने कहे हुए किंतु मात्र आगम शास्त्रों से हि ग्राह्य, अतीन्द्रिय, एवं अत्यंत सूक्ष्म पदार्थों में “यह ऐसा है कि- अन्य प्रकार से है” इत्यादि स्वरूपवाली शंका जिस साधु को नहि है, वह निःशंक...

अर्थात् “राग एवं द्वेष को जीतनेवाले सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा ने धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं पुद्गल-परमाणु आदि जो कुछ भी कहा है वह तथ्य अर्थात् सत्य हि है” ऐसे स्वरूपवाली दृढ-श्रद्धा (पदार्थ के स्वरूप की सूक्ष्म समझ न हो तो भी) करें... किंतु विचिकित्सा याने संदेह अथवा निंदा (अवर्णवाद) न करें...

प्रश्न- क्या साधु को भी ऐसी विचिकित्सा हो सकती है ? कि- जो आप ऐसा कहते हो ?

उत्तर- मोह के उदय से प्राणीओं को ऐसा क्या है कि- जो न हो ?

तथा आगमसूत्र में भी कहा है कि-

प्रश्न- हे भगवन् ! निर्ग्रथ श्रमण भी कांक्षा-मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं ? ऐसा क्या हो सकता है ?

उत्तर- हे गौतम ! हां, ऐसा होता है...

प्रश्न- हे भगवन् ! निर्ग्रथ श्रमण भी कांक्षा-मोहनीय कर्म का वेदन क्यों करते हैं ?

उत्तर- हे गौतम ! विभिन्न ज्ञानांतरो में, चारित्रांतरो में शंकावाले कांक्षावाले, श्रमण साधु विचिकित्सा पाये हुए, भेद प्राप्त कीये हुए एवं कलुषितता को पाये हुए होते हैं... इस प्रकार हे गौतम ! श्रमण-निर्ग्रथ कांक्षा मोहनीय कर्म का वेदन करते हैं...

यहां श्रद्धा का आलंबन यह है कि- “वह हि सत्य एवं निःशंक है, कि- जो जिनेश्वरो ने कहा है”

प्रश्न- हे भगवन् ! निश्चित हि ऐसे निःशंक मन को धारण करनेवाला क्या आज्ञा का आराधक हो सकता है ?

उत्तर- हे गौतम ! हां, इस प्रकार के निःशंक मन को धारण करनेवाला श्रमण आज्ञा का आराधक होता है...

तथा वीतराग सर्वज्ञ प्रभु कभी भी जुठ नहि बोलते और वीतराग होने के कारण से हि उनका वचन सत्य है, और भूतार्थ याने वस्तु के स्वरूप का दर्शन करवाते है... इत्यादि...

यह विचिकित्सा याने संशय आगम-शास्त्र को नहि सुन पाने के कारण से अपरिकर्मित मतिवाले प्रब्रज्या के इच्छुक मुमुक्षु को भी होती है... अतः यहां भी पूर्व कही गइ बातों का विचार करें...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- यदि ज्ञानावरण कर्म के उदय से श्रुतज्ञान अधिक न हो; तब भी साधक को जिस प्रवचन पर श्रद्धा रखनी चाहिए। उसे वीतराग द्वारा प्ररूपित वचनों में शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि- सर्वज्ञ प्रभु ने धर्म, अधर्म, आकाश, काल पुद्गल और जीव आदि पदार्थों का अर्थात् जीवाजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर निर्जरा-बन्ध एवं मोक्ष आदि तत्त्वों का जो वर्णन किया है, वह अपने निर्मल केवल ज्ञान में देखकर किया है। उनके ज्ञान में दुनियां का कोई भी पदार्थ अज्ञात नहीं रह सकता है। अतः उनके प्रवचन में पूर्णतः

यथार्थता है। इस कारण उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए। इस तरह जिन-वचनों पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके आत्म विकास की ओर उन्मुख होता है।

संशय का कारण मोह कर्म है और मोह कर्म का उदय साधु एवं श्रावक को भी हो सकता है। अतः साधु के मन में भी श्रुतज्ञान-आगमों के पदार्थों में संशय हो सकता है और संशय से आत्मा का पतन होता है। अतः संशय उत्पन्न होने पर साधु को यह सोच-विचार कर अपने संशय को नष्ट कर देना चाहिए कि- जिनेश्वर भगवान ने जो कुछ कहा है, वह सत्य एवं संशय रहित है, मेरे ज्ञान की न्यूनता के कारण मैं तत्त्व-पदार्थ को समझ नहीं पा रहा हूँ। परन्तु इन वचनों में असत्यता नहीं है। इस तरह साधु को संशय रहित होकर संयम का परिपालन करना चाहिए। अन्यत्र भी कहा है-“वीतराग भगवान सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी होते हैं, वे कभी भी मिथ्या भाषण नहीं करते।” अतः उनका प्रवचन सर्वथा सत्य एवं सत्यार्थ का प्रतिपादन करने वाला होता है।

“वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित्।

यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थदर्शनम्।”

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १७६ ॥ १-५-५-४

सद्विस्स णं समणुण्णस्स संपव्वयमाणस्स समियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ १, समियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ २, असमियंति मण्णमाणस्स एगया समिया होइ ३, असमियंति मण्णमाणस्स एगया असमिया होइ ४, समियंति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा समिया होइ उवेहाइ ५, असमियंति मण्णमाणस्स समिया वा असमिया वा असमिया होइ उवेहाए ६, उवेहमाणो अणुवेहमाणं बूया - उवेहाहि समियाए, इच्चेवं तत्थ संधी झोसिओ भवइ, से अद्विस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्थ वि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिज्जा ॥ १७६ ॥

II संस्कृत-छाया :

श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजतः सम्यग् इति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् एव भवति १, सम्यग् इति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् एव भवति २, असम्यग् इति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् एव भवति ३, असम्यग् इति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् एव भवति ४, सम्यग् इति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा, सम्यग् एव भवति

उत्प्रेक्षया ५, असम्यग् इति मन्यमानस्य सम्यग् वा असम्यग् वा, असम्यग् एव भवति उत्प्रेक्षया ६, उत्प्रेक्षमाणः अनुत्प्रेक्षमाणं एवं ब्रूयात् - उत्प्रेक्षस्व सम्यग्, इत्येवं तत्र सन्धिः झोषितः भवति, तस्य उत्थितस्य स्थितस्य गतिं समनुपश्यत, अत्र अपि बालभावे आत्मानं न उपदर्शयेत् ॥ १७६ ॥

III सूत्रार्थ :

श्रद्धालु या वैराग्य युक्त मुनि तथा दीक्षा लेते हुए मुमुक्षु-मनुष्य कि-जो १-जिनेन्द्र भगवान के वचनों को सम्यग् मान रहा है-उसका भाव उत्तर काल में भी सम्यग् होते हैं, २-सम्यग् मानते हुए एकदा-किसी समय असम्यग् होते हैं, ३-असम्यग् मानते हुए किसी समय सम्यग् होते हैं, ४-असम्यग् मानते हुए भी एकदा असम्यग् होते हैं, ५-सम्यग् मानते हुए भी सम्यग् या असम्यग्-तथा सम्यग् विचारणा से सम्यग् भाव होते हैं, ६-और असम्यग् मानते हुए भी सम्यग् या असम्यग् तथा असम्यग् विचारणा से असम्यग् होते हैं। इस प्रकार आगमानुसार विचार करता हुआ साधु अन्य साधर्मिक साधु के प्रति कहे कि- हे पुरुष ! तुम सम्यक् प्रकार से विचार करो ! इस प्रकार संयम में अवस्थित होने से कर्मों की सन्तति का क्षय होता है, जो साधु संयम मार्ग में यत्नशील और गुरुजनों की आज्ञा में स्थित हैं; उनकी सद्गति को देखो ! साधु पुरुष यहां अपने आत्मा को विवेकी बनाए रखे...

IV टीका-अनुवाद :

श्रद्धा याने धर्म की इच्छावाले श्रद्धालु, एवं संविज्ञ विहारवालों से भावित, अथवा संविग्न आदि गुणों से प्रव्रज्या के योग्य तथा ठीक प्रकार से प्रव्रज्या को स्वीकारनेवाले मुमुक्षु को मान लो कि- कभी विचिकित्सा हो, तब जीव एवं अजीव आदि पदार्थों को समझने में असमर्थ ऐसे उस मुमुक्षु को गुरुजी ऐसा कहें कि- “वह हि सत्य एवं निःशंक है कि- जो जिनेश्वरों ने कहा है” इत्यादि

इस प्रकार प्रव्रज्या के समय “वह हि सत्य एवं निःशंक है कि- जो जिनेश्वरों ने कहा है” इत्यादि प्रकार से उपदेश अनुसार, संयमानुष्ठान का प्रवर्धमान भाव से आचरण करनेवाले श्रमण को, बाद में उससे भी अधिक श्रद्धा हो, अथवा इतनी हि रहे, अथवा श्रद्धा में न्यूनता हो, अथवा श्रद्धा का अभाव हो, इत्यादि प्रकार के विचित्र परिणाम होते हैं, अतः उन परिणामों की विभिन्नता को यहां कहते हैं...

१. श्रद्धालु समनुज्ञ संप्रव्रजित एवं “वह हि सत्य है; निःशंक है, कि- जो जिनेश्वरों ने कहा है” इत्यादि अच्छी तरह से माननेवाले श्रमण को बाद में (उत्तरकालमें) भी शंका कांक्षा विचिकित्सा आदि से रहित होने के कारण से वह श्रद्धा सम्यग् हि होती है, अर्थात्

तीर्थकरो के वचनों में शंका आदि नहि होतें... ॥१॥

२. तथा कोइके मुमुक्षु प्रब्रज्या के समय श्रद्धालुता के कारण से प्रब्रज्या को सम्यक् याने सत्य मानता है, किंतु प्रब्रज्या ग्रहण के बाद श्रुतज्ञान की अनुपेक्षा करने में हेतु एवं दृष्टांत ठीक ढंग से ग्रहण न होने के कारण से या अस्पष्टता के कारण से और ज्ञेय पदार्थों की गहनता के कारण से व्याकुल-मति होने पर जब मिथ्यात्व मोहनीय के अंश का उदय होता है; तब वह प्रब्रज्या असम्यग् होती है...

वह इस प्रकार- सभी नयसमूह के अभिप्राय से अनंत धर्मवाले पदार्थ-वस्तु की सिद्धि करने में जब मिथ्यात्वमोह का उदय होता है; तब एक नय के अभिप्राय से वस्तु के एक अंश को सिद्ध करने के प्रयत्न करता है... जैसे कि- वस्तु नित्य हो तो अनित्य कैसे ? और यदि अनित्य है; तब नित्य कैसे ? क्योंकि- यह नित्य एवं अनित्य एक दुसरे के परिहार के सिवा एक वस्तु में कैसे रह सकेंगे ? नित्य वह है कि- जो वस्तु अविनाशी हो, अनुत्पन्न हो और स्थिर एक स्वभाववाली हो... तथा अनित्य तो इससे बिलकुल विपरीत याने प्रतिक्षण विनाश होनेवाली हो... इत्यादि विचारणा से वह मिथ्याभाव में उलझ जाता है...

किंतु गुरुजी के पास जाकर ऐसी विचारणा नहि करता है कि- अनंत धर्मवाली वस्तु है, और दर्शन सभी नयसमूहवाला अतिशय गहन है, अतः मंदमतिवालों को मात्र श्रद्धा से हि गम्य होता है... हेतु एवं दृष्टांत न मीलने पर क्षोभ नहि करना चाहिये इत्यादि... कहा भी है कि- निश्चित स्वरूपवाले नैगम संग्रह आदि सभी नयों से तथा अनेक प्रकार के गम एवं पर्ययों से सिद्ध ऐसे आगम वचन मात्र श्रद्धा से हि गम्य है... हेतु एवं तर्क यहां नहि होतें... और अन्य मत कोइ एक नय को लेकर चलतें हैं और अन्य नय का विरोध करतें हैं; अतः वे सभी कुमत हैं... इत्यादि... क्योंकि- कोइ भी एक हेतु एक नय के अभिप्राय को लेकर हि चलता है... और वस्तु के एक धर्म को सिद्ध करता है... सभी धर्मों को सिद्ध करनेवाला कोइ हेतु इस विश्व में है हि नहि...

३. तथा और भी विचित्र प्रकार की भावना इस प्रकार है... मिथ्यात्व के उदयवाले कीसी मनुष्य को ऐसा विचार आता है कि- शब्द पौद्गलिक कैसे ? इस प्रकार मिथ्याभाव की मान्यतावाले मुमुक्षु को जब गुरुजी के उपदेश से मिथ्यात्व के अंश का उपशम हो, तब शंका एवं विचिकित्सा आदि के अभाव में प्रब्रज्या सम्यग् होती है... जैसे कि- यदि शब्द पौद्गलिक न हो और आकाश की तरह अमूर्त हो, इस स्थिति में शब्द से होनेवाला अनुग्रह और उपघात श्रोत्रेंद्रिय को न हो... किंतु होता तो है... इस प्रकार सम्यग् परिणाम प्राप्त होता है...

४. आगम से अपरिक्र्मित मतिवाले कोइ मुमुक्षु को ऐसा विचार आता है कि- एक समय में हि परमाणु का लोक के अग्रभाग पर्यंत गमन कैसे हो ? इत्यादि मिथ्याभाव की मान्यता में कुहेतु के वितर्क प्रगट होने से प्रव्रज्या अतिशय मिथ्या (असम्यग्) हि होती है... वह इस प्रकार- चौदह राजलोक प्रमाण लोक (विश्व) के आदि और अंतिम प्रदेश में समय के भेद के सिवा एक हि साथ स्पर्श होने में परमाणु भी उतना हि बडा होना चाहिये अथवा लोक के आदि और अंत भाग के प्रदेश में ऐक्य (एकत्व) होना चाहिये... किंतु यह सब कुछ ठीक नहि है...

इस प्रकार अपने कदाग्रह से मूढ वह मुमुक्षु ऐसा तो सोचता हि नहि है कि- विषसा परिणाम से परमाणु की शीघ्र गति होने से एक हि समय में असंख्य प्रदेश का उल्लंघन शक्य है... जैसे कि- अंगुलि- द्रव्य एक हि समय में असंख्य आकाश प्रदेशों का उल्लंघन करता है... ऐसा भी कैसे हो ? ऐसा यदि प्रश्न है, तब कहते हैं कि- ऐसा तो प्रत्यक्ष दिखता हि है... तथा सभी प्रमाणों में मुख्य ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण से हि सिद्ध है; तो फिर अनुमान प्रमाण को क्यों लेना ? वह इस प्रकार- यदि अनेक प्रदेशों में अतिक्रमण एक समय में न हो, तब अंगुलमात्र क्षेत्र को अतिक्रमण करने में असंख्य समय लगने चाहिये... और ऐसा कहने से दृष्टि एवं इष्ट को बाधा पहुंचती है... इत्यादि...

५. अब इन भंग (विकल्पों) का उपसंहार के द्वारा परमार्थ को प्रगट करते हुए कहते हैं कि- आगम में कही गइ बातों को सम्यग् (सत्य) माननेवाले एवं शंका, विचिकित्सा आदि से रहित मुमुक्षु को वह वस्तु-पदार्थ प्रयत्न से तथारूप सोचने से सम्यग् हो या असम्यग् हो, तो भी उसको वहां उत्प्रेक्षा = पर्यालोचन से सम्यग् हि हो शकता है... जैसे कि- ईर्यासमिति में उपयोगवाले साधुको यदि प्राणी-वध हो; तो भी वह सम्यग् याने आराधक हि होता है...

६. अब इससे विपरीत बात कहते हैं कि- किसी वस्तु को असम्यग् (मिथ्या) माननेवाले मुमुक्षु को शंका हो, तब बाह्यदृष्टिवाले छद्मस्थ को वह वस्तु सम्यग् हो, या असम्यग् (मिथ्या) किंतु उसको तो असम्यग् (मिथ्या) उत्प्रेक्षा अर्थात् पर्यालोचन से अशुद्ध अध्यवसाय होने के कारण से वह शंका वैसे हि मिथ्या (असम्यग्) हि रहती है...

अथवा “समियं ति मन्नमाणस्स” इत्यादि पदों की अन्य प्रकार से व्याख्या करते हैं... शमी का जो भाव वह शमिता उस शमिता को माननेवाले शुभ अध्यवसायवाले मुमुक्षु साधु को प्रव्रज्या के बाद में भी शमिता याने उपशमवालापना होता है और अशमिता को माननेवाले अन्य मुमुक्षु को कषायों के उदय में अशमिता उत्पन्न होती है... इस दिग्दर्शनानुसार अन्य भंग (विकल्पों) में भी सम्यग् योजना स्वयं करें...

इस प्रकार सम्यग् एवं असम्यग् इत्यादि का पर्यालोचन करनेवाला मुमुक्षु अन्य जीवों

को भी उपदेश देने के किये समर्थ होता है... कहा भी है कि- आगम से परिकर्मित- मतिवाला होने से यथाव्यवस्थित पदार्थ के स्वभाव को देखने में निपुण वह मुमुक्षु साधु सम्यग् एवं असम्यग् की उत्प्रेक्षा याने पर्यालोचन करता हुआ, प्रसंग आने पर उत्प्रेक्षा नहि करनेवाले और गङ्गारिका यूथप्रवाह में प्रवृत्त, तथा गतानुगतिकन्याय को अनुसरनेवाले एवं शंका के कारण से प्रव्रज्या का त्याग करनेवाले अन्य मुमुक्षु-साधु को कहता है कि- आप उत्प्रेक्षा करो ! चिंतन करो ! अच्छे (सम्यग्) भाव से माध्यस्थ्य भाव का अवलंबन लेकर आंखे बंध करके सोचो कि- अरिहंत परमात्माने कहे हुए जीवादि तत्त्व युक्तियुक्त घटित होते हैं या नहि...

अथवा संयम को उत्कृष्ट भाव से देखनेवाले एवं संयम में उद्यम करनेवाले मुमुक्षु, उत्प्रेक्षा नहि करनेवाले अन्य मुमुक्षु को कहे कि- सम्यग् भाव को प्राप्त करके संयम में उद्यम करो ! यदि आप संयम में सम्यग् भाव से उद्यम करोगे तो कर्मों की संतति स्वरूप संधि का आप क्षय कर पाओगे... अन्यथा नहि... इसलिये जो मुमुक्षु सम्यग् प्रकार से संयम में उद्यमशील है, निःशंक है, श्रद्धालु है, एवं गुरुकुल या गुरु की आज्ञा में रहा हुआ है, उनकी जो शुभ-गति होती है, जो उत्तम-पदवी होती है, उसको आप सम्यग् देखो ! जैसे कि- सकल लोगों से प्रशंसा, ज्ञान एवं दर्शन में स्थिरता, चारित्र में अचलता और श्रुतज्ञान की धारणा... अथवा स्वर्ग एवं अपवर्ग (मोक्ष) इत्यादि गति होती है, उसे देखो !

अथवा उत्थित याने संयम में उद्यम करने के बाद अशुभ कर्मों के उदय में संयमशीलता के अभाववाले पासत्था आदि की गति (परिस्थिति) को देखो ! कि- सफल लोग उनका उपहास करते हैं... तथा जन्मांतर में होनेवाली नरक या तिर्यच (अधोगति) गति को देखो !

इस प्रकार संयम में उद्यमशील एवं अनुद्यमशील की गति को देखकर मुमुक्षु को चाहिये कि- पंचविधाचार (पंचाचार) में हि उद्यम करें...

यदि वह मुमुक्षु संयम में उद्यमशील न हो तब उसकी विरूप याने कष्टवाली गति अर्थात् दुर्गति होती है... अतः उन्हें अनुग्रहबुद्धि से सूत्रकार कहते हैं कि- अज्ञानभाववाले एवं सामान्य (मुग्ध) लोगों से आचरण कीये जानेवाले असंयम में हे मुमुक्षु ! आप सकल कल्याणों के पात्र ऐसी अपनी आत्मा को न जोड़ें... अर्थात् अज्ञानाचरणवाला मत होवें...

शाक्य एवं कपिल आदि मतवाले बाल अर्थात् अज्ञानी हैं, अतः उनसे भावित मनुष्य बालभाव का आचरण करते हैं... और कहते हैं कि- आत्मा नित्य है और अमूर्त है, अतः आकाश की तरह आत्मा का वध हो हि नहि शकता... क्योंकि- वृक्ष आदि के छेदन में या जलने में आकाश का न तो छेद होता है, और न तो जलना होता है... इस प्रकार शरीर के छेदन, भेदन आदि विकारों में भी आत्मा तो अविकारी हि रहता है...

वे-कुमतवाले कहते हैं कि- आत्मा का न तो कभी जन्म होता है और न तो कभी मरण होता है, और न तो एक जन्म से अन्य जन्म में उत्पन्न होता है, तथा आत्मा का न तो कोई शस्त्र से छेदन होता है और न तो अग्नि से जलता है... तथा न तो जल से भीगता है और न तो पवन से सुकता है... इस प्रकार यह आत्मा अछेद्य अभेद्य और अविकारी है, तथा नित्य शाश्वत स्थिर अचल एवं सनातन है...

इत्यादि कल्पित विचारों से जीव के वध आदि में प्रवृत्त होनेवाले कुमतवालों को निषेध करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहेंगे...

V सूत्रसार :

जब आत्मा अनन्तानुबन्धीकषाय और दर्शनमोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों- मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का क्षय या क्षयोपशम करता है, तब साधक के जीवन में श्रद्धा की, सम्यक्त्व की ज्योति जगती है। उसे यथार्थ तत्त्वों पर श्रद्धा-विश्वास होता है। किंतु जब तक अनन्तानुबन्धी कषाय एवं दर्शनमोह का उदय रहता है, तब तक सम्यक्श्रद्धा आवृत्त रहती है। जैसे आंखों पर मोतिया बिन्दु आवरण आ जाने से दृष्टि मन्द पड़ जाती है। उसी तरह दर्शनमोह कर्म के उदय से आत्मा के स्वर्णों पर पर्दा-सा पड़ जाता है और उस कर्म आवरण के कारण आत्मा पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता।

इससे स्पष्ट हो गया कि- दुनियां में दो तरह की दृष्टि हैं, एक दर्शनमोह के आवरण से अनावृत्त और दूसरी है; आवृत्त। इन्हें आगम में सम्यग् एवं मिथ्या दर्शन या दृष्टि कहते हैं। संसार की चारों गतियों में दोनों दृष्टि के जीव पाए जाते हैं। परन्तु आत्मा का विकास एवं अभ्युदय सम्यग्दृष्टि से ही होता है। इसलिए जीव में सम्यक्त्व को अधिक महत्त्व दिया है। सम्यक्त्व भी क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक के भेद से तीन तरह का होता है। क्षायिक सम्यक्त्व जीवन में आने के बाद सदा बना रहता है, परन्तु शेष दो तरह का सम्यक्त्व सदा एक-सा नहीं रहता है। इसी बात को प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है।

कुछ मुमुक्षु-व्यक्ति जिस निष्ठा के साथ दीक्षा लेते हैं, वही श्रद्धा-निष्ठा उनकी अन्त तक बनी रहती है। निष्ठा में तेजस्विता आती रहती है, तथा कुछ व्यक्ति दीक्षा समय निर्मल सम्यक्त्व वाले होते हैं, परन्तु दीक्षित होने के बाद दर्शन मोह के उदय से श्रद्धा से गिर जाते हैं। कुछ साधक दीक्षित होते समय संशय शील होते हैं, परन्तु बाद में उनका सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है। और कुछ साधक दीक्षा ग्रहण करते समय एवं बाद में संशयशील या सम्यक्त्व रहित बने रहते हैं। इसी तरह अन्य भंगों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

जीवों के कार्यों के भेद इन्हीं दो दृष्टियों के आधार पर किए गए हैं। मिथ्यादृष्टि की क्रिया मिथ्या कहलाती है, तो सम्यग्दृष्टि की क्रिया सम्यक् कहलाती है और इसी सम्यक् क्रिया से आत्मा का विकास होता है; सम्यक् भाव से अन्वेषण करने पर पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को देखा एवं जाना जा सकता है। अतः साधक को जीवन में श्रद्धा एवं निष्ठा को बनाए रखना चाहिए और प्रत्येक पदार्थ को सम्यग् दृष्टि से देखना चाहिए।

इसके अतिरिक्त साधक को सम्यक्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि के अन्तर को समझकर अपनी श्रद्धा-निष्ठा को शुद्ध बनाए रखना चाहिए। श्रद्धानिष्ठ व्यक्ति के ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में स्थिरता रहती है और पूर्व बन्धे हुए पाप कर्म का क्षय होता है। अभिनव पाप कर्म का बन्ध नहीं होता, परन्तु श्रद्धाहीन व्यक्ति रात-दिन पाप कर्म का बन्ध करता है। अतः साधक को मिथ्यादृष्टि एवं संशय का त्याग करके जिनवचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखनी चाहिए।

यह नितान्त सत्य है; कि- कर्म का बन्ध आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसाय के अनुसार होता है। श्रद्धाहीन व्यक्ति के अध्यवसाय सदा आरंभ-समारंभ में लगे रहते हैं, अतः वह सदा हिंसा आदि दोषों में संलग्न रहता है। अतः अशुभ-अध्यवसायों से वह पाप कर्म का बन्ध करता है; इसी बात को बताते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १७७ ॥ १-५-५-५

तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वंति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वंति मन्नसि, एवं जं परिधित्तव्वंति मन्नसि, जं उह्वेयव्वंति मन्नसि, अंजु चेय पडिबुद्धजीवी तम्हा न हंता नवि घायए, अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए ॥ १७७ ॥

II संस्कृत-छाया :

त्वमसि नाम सः एव यं हन्तव्यमिति मन्यसे, त्वमसि नाम सः एव यं आज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, एवं जं परितापयितव्यमिति मन्यसे, एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे यं अपद्रावयितव्यमिति मन्यसे, ऋजुः च अयं प्रतिबुद्धजीवी, तस्मात् न हन्ता, नाऽपि घातयेत्, अनुसंवेदनं आत्मना यत् हन्तव्यं नाऽभिप्रार्थयेत् ॥ १७७ ॥

III सूत्रार्थ :

जिसको तू मारना चाहता है, वह तू ही है ! जिसको तू आदेश देना चाहता है, वह तू ही है, जिसको तू परितापना देना चाहता है, वह तू ही है, जिसको तू पकड़ना चाहता

है, वह तू ही है, जिसको तू प्राणों से वियुक्त करना चाहता है, वह तू ही है। अतः ऋजुप्राज्ञ साधु प्रतिबुद्ध जीवन व्यतीत करनेवाला, अर्थात् ज्ञानयुक्त जीवन व्यतीत करनेवाला होता है। इसलिए किसी भी जीव को न मारे, और न मारने की प्रेरणा करे, तथा मारनेवाले की इस सावद्य क्रिया का अनुमोदन भी न करे, किन्तु इस प्रकार के भाव रखे कि- यदि मुझ से किसी प्रकार की हिंसा हो गई तो उसके कटु फल का अनुभव मुझे अवश्य करना पड़ेगा। अतः किसी भी जीव को मारने की प्रार्थना न करे, अर्थात् न मारे।

IV टीका-अनुवाद :

हे मानव ! तुमने जो यह प्राणी वध के लिये सोचा है वह तुम हि हो, जैसे कि- आप को मस्तक, हाथ, पैर, पङ्खे, पीठ, उरु, उदर (पेट) है, वैसा हि इस जीव को भी है; कि- जिसका आपने वध करना चाहा है... तथा जिस प्रकार आपको कोइ मारने के लिये उद्यम करे तब उसको देखकर आपको दुःख होता है, वैसा हि अन्य प्राणी को भी दुःख होता है... और उसको दुःख देने से आपको पाप का बंध होता है... यहां सारांश यह है कि- आकाश तुल्य अरूपी शुद्ध आत्मा-जीव का वध होता हि नहि है किन्तु शरीरस्थ-शरीरात्मा याने बहिरात्मा को मारने में अवश्य हिंसा का दोष लगता है... अर्थात् जहां कहीं भी संसारी आत्मा के आधार स्वरूप उस प्यारे शरीर का वियोग करने में अवश्य हिंसा हैं... कहा भी है कि- संज्ञी पंचेंद्रिय जीव को पांच इंद्रियां, तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य यह दश द्रव्य प्राण होते हैं, ऐसा जिनेश्वरों ने कहा है, और उन का जीव से वियोग करने में हिंसा मानी गइ है...

तथा संसार में रहे हुए जीव सर्वथा अमूर्त्त नहि है, कि- आकाश की तरह पीडा न हो, अतः हितोपदेश देते हुए कहते हैं कि- प्राणीओं के वध की जब भी इच्छा हो, तब वे प्राणी हमारे आत्म-तुल्य हि हैं, ऐसी भावना करें... यह बात यहां सूत्र के पदों से हि कहते हैं कि- वह तुम हि हो, कि- जिसको कार्य के लिये आज्ञा देना चाहते हो, तथा वह तुम हि हो कि- जिसको आप परिताप (पीडा) देना चाहते हो, इसी प्रकार जिसको सेवक बनाना चाहते हो, और जिसको सर्वथा मार डालना चाहते हो, वह तुम हि हो... जैसे कि- आपको कोइ अनिष्ट करे तब आपको दुःख होता है, वैसे हि इन प्राणीओं को भी दुःख होता है...

अथवा जिस पृथ्वीकायादि का वध करना चाहते हो, उस पृथ्वीकायादि में अपने भी अनेक बार जन्म लिया है, अतः वह पृथ्वीकायादि आप हि हो इत्यादि... इसी प्रकार मृषावाद आदि में भी योजना करें...

अब कहते हैं कि- जब वध करने योग्य और वध करनेवाला एक हि है, अतः मुमुक्षु साधु ऋजु याने सरल होकर एवं प्रतिबोध पाकर करुणालु होता है; और तत्त्व के परिज्ञान से

हि संयम जीवन बीताता है... क्योंकि- खुद की आत्मा की तरह अन्य जीवों को भी वध में दुःख उत्पन्न होता है, अतः आत्म तुल्य भावना से अन्य जीवों का वध न करें तथा अन्यो के द्वारा जीवों का वध न करवायें... और जीवों का वध करनेवालों को अच्छा न मानें...

तथा अपनी आत्मा में ऐसा संवेदन (चितन) करें कि- मोह के उदय से यदि कोई मनुष्य अन्य जीवों को वध आदि के द्वारा दुःख देते हैं तो बाद में अपने आप को हि, वह दुःख भुगतना पड़ेगा... ऐसा सोचकर जब कभी भी अन्य जीवों को वध करने का विचार आये तब विवेक का आलंबन लेकर हिंसादि-पापाचरण कभी भी न करें...

अब कहते हैं कि- आपने जो कहा कि- आत्मा-भाव से अन्य जीवों के दुःखों का संवेदन करें... किंतु वह संवेदन तो साता एवं असाता स्वरूप है और वह दुःख का संवेदन नैयायिक एवं वैशेषिकों के मतानुसार आत्मा से भिन्न किंतु समवाय संबंध से रहे हुए गुणभूत ज्ञान से हि होता है, तो क्या आपके जिनमत में भी इसी प्रकार हि संवेदन होता है कि- आत्मा से अभिन्न ऐसे ज्ञानगुण से संवेदन होता है ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

यह हम देख चुके हैं कि- सम्यग् एवं मिथ्यादृष्टि की क्रिया में अन्तर रहता है। जिस साधक के जीवन में सम्यक्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रत्येक कार्य विवेक एवं उपयोग पूर्वक करता है। क्योंकि- वह प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि में विवेक का अभाव होता है। उसके जीवन में भौतिक भोगोपभोग ही सर्वोपरिता होती है, अतः वह दूसरे के दुःख-सुख को नहीं देखता। इसलिए प्रस्तुत सूत्र में बताया गया है कि- दूसरे प्राणी की हिंसा करना निश्चित हि वह अपनी हिंसा करना है। क्योंकि- जिसे तू मारना चाहता है, अपने अधीन रखना चाता है, परिताप देना चाहता है; वह तू ही है।

इसका तात्पर्य यह है कि- सभी प्राणियों की आत्मा आत्मद्रव्य की अपेक्षा से समान हैं। सभीको सुख-दुःख का समान संवेदन होता है। और प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, दुःख से बचना चाहता है। अतः इस सिद्धांत को जानने वाला साधक किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करेगा। क्योंकि- वह जानता है कि- किसी प्राणी का वध करते समय अध्यवसायो-परिणामों में क्रूरता रहती है और भावों की मलिनता के फल स्वरूप पाप कर्म का बन्ध होता है और आत्मा पतन के महागर्त में जा गिरती है। आत्मा का पतन होना भी एक प्रकार से मृत्यु ही है। मृत्यु के समय दुःखानुभूति होती है और हिंसक प्रवृत्ति से भी दुःख परम्परा में अभिवृद्धि होती है। इससे जन्म-मरण का प्रवाह बढ़ता है। इस प्रकार मरने वाले प्राणी के अहित के साथ मारने वाले प्राणी का भी अहित होता है। वह पापकर्म से बोझिल होकर

संसार में परिभ्रमण करता है। अतः यही उसकी मृत्यु है। इसलिए साधक को यह समझकर कि-जिसे मैं मार रहा हूँ, वह मैं ही हूँ, यह उस प्राणी की नहीं मेरी अपनी ही हिंसा है, ऐसा समझकर हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।

साधु को अपने आत्मज्ञान से सभी प्राणियों के स्वरूप को समझकर हिंसा से निवृत्त होना चाहिए। क्योंकि- जो आत्मा है; वह हि विज्ञाता है, अन्य नहीं। यहां कुमतवाले लोग आत्मा को ज्ञान से भिन्न मानते हैं। उन्हें संशय है कि- आत्मा और ज्ञान एक कैसे हो सकते हैं ? इसी संशय का निवारण कहते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ १७८ ॥ १-५-५-६

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया, जेण वियाणइ से आया तं पडुच्च पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए त्तिबेमि ॥ १७८ ॥

II संस्कृत-छाया :

यः आत्मा सः विज्ञाता, यः विज्ञाता सः आत्मा, येन विजानाति सः आत्मा, तं प्रतीत्य प्रतिसङ्ख्यायते, एषः आत्मावादी शमितया पर्यायः व्याख्यातः इति ब्रवीमि ॥ १७८ ॥

III सूत्रार्थ :

जो आत्मा है; वह विज्ञाता है, जो विज्ञाता है वह आत्मा है, जो जानता है; वह आत्मा है, अतः ज्ञान पर्याय की अपेक्षा से आत्मा को आत्मा कहा जाता है, इस प्रकार वह आत्मवादी कहा गया है, और उसका सम्यक् प्रकार से संयम पर्याय कहा गया है। इस प्रकार मैं कहता हूँ।

IV टीका-अनुवाद :

उपयोग लक्षणवाला एवं नित्य जो आत्मा है, वह हि विज्ञाता (जाननेवाला) है... आत्मा से सर्वथा भिन्न ऐसा और कोई ज्ञान नामका गुण या पदार्थ विश्व में नहि है... तथा जो पदार्थों को जानता है; एवं उपयोगवाला है, वह हि आत्मा है... क्योंकि- जीव का लक्षण उपयोग है, एवं उपयोग ज्ञान स्वरूप हि है...

“ज्ञान एवं आत्मा का अभेद कहने से बौद्धमत को मान्य ऐसा ज्ञान हि एक रहेगा” ऐसा यदि आप कहोगे तो हम कहते हैं कि- ऐसा नहि है... क्योंकि- यहां भेद का अभाव मात्र अपेक्षा से हि है। अतः ज्ञान एवं आत्मा दोनों अपेक्षा से एक नहि है...

भेद के अभाव मात्र से हि यदि आप दोनों में ऐक्य मानोगे तो वह भी आप की बात केवल बात हि कही जायेगी... जैसे कि... वस्त्र एवं उस में रही हुई उज्ज्वलता के भेद का अभाव मात्र कहने से हि दोनों में ऐक्य नहि होता है,

यहां भी उज्ज्वलता से भिन्न और कोइ वस्त्र नहि है, ऐसा यदि आप कहोगे तो यह भी अशिक्षित के हि प्रलाप है... क्योंकि- उज्ज्वल गुण के विनाश में सर्वथा वस्त्र का अभाव हि होगा... अर्थात् वस्त्र स्वयं हि विनष्ट हुआ हि... ऐसा यदि आप कहोगे ? तो भले ! ऐसा हि कहो... हमे क्या नुकसान है ? क्योंकि- वस्तु अनंतधर्मवाली है, अतः अन्य मृदु आदि धर्मों के सद्भाव में उस उज्ज्वल धर्म के विनाश में भी वह वस्त्र तो अविनष्ट हि है... बस, इसी हि प्रकार प्रत्युत्पन्न ज्ञान के विनाश में भी अन्य अमूर्त आदि गुण एवं असंख्य प्रदेश तथा अगुरुलघु आदि धर्मों के सद्भाव से आत्मा का सर्वथा विनाश नहि है... इत्यादि इस बात का अब यहां अधिक विस्तार नहि करेंगे...

प्रश्न- “जो आत्मा है; वह विज्ञाता है” ऐसा जो आपने कहा तो यहां तो कर्ता के अर्थ में “तृ” प्रत्यय है, अतः आत्मा हि कर्ता है... अतः जो आत्मा है; वह हि विज्ञाता है... ऐसा कहने में यहां विप्रतिपत्ति का अभाव है अर्थात् जानता है; इतनी हि बात है, किंतु जिस से जानता है; वह आत्मा से भिन्न भी हो सकती है... जैसे कि- उसे करण याने साधन या क्रिया कहेंगे कि- जो भिन्न हो.. गेहुं के पौधे को काटने में दात्र (दातरडुं) करण (साधन) है और क्रिया या तो कर्ता में रहेगी या कर्म (गेहुं) में रहेगी... इस प्रकार भेद की स्पष्ट संभावना होते हुए भी ऐक्य कैसे ?

उत्तर- करण स्वरूप या क्रिया स्वरूप मति आदि ज्ञान से आत्मा वस्तु को सामान्य प्रकार से या विशेष प्रकार से जानता है, ऐसा होने में ज्ञान आत्मा से सर्वथा भिन्न है, ऐसा मानने की कोइ आवश्यकता नहि है... क्योंकि- करण याने साधन होने के कारण से भेद होना जरूरी नहि है... एक वस्तु में हि कर्ता, कर्म एवं करण अभेद रूप से रह सकते हैं... जैसे कि- देवदत्त अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा को जानता है.. और क्रिया के विषय में आपने भी विकल्प से अभेद माना हि है...

तथा जिन्हों का होना हि क्रिया है और वह हि कारक कहा जाता है... इत्यादि से एकत्व हि मानीयेगा जैसे कि- भवति, तिष्ठति इत्यादि...

अब ज्ञान एवं आत्मा का एकत्व मानने में जो कुछ घटित होता है, वह दिखलाते हैं कि- उस ज्ञानपरिणाम को लेकर हि उस आत्मा को आत्मा कहा जाता है... जैसे कि- इंद्र के विषय में जो उपयुक्त याने सावधान है, उसे इंद्र कहा जाता है... अथवा तो मतिज्ञान में उपयोगवाले आत्मा को मतिज्ञानी कहा जाता है... इसी हि प्रकार श्रुतज्ञानी अवधिज्ञानी

मनःपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी कहे जाते हैं...

जो मुमुक्षु-साधु ज्ञान एवं आत्मा में एकत्व का स्वीकार करता है, वह यथास्थितार्थवादी है और उसका हि संयमानुष्ठान स्वरूप पर्याय सम्यग् कहा गया है.. "इति" शब्द अधिकार की समाप्ति का सूचक है, एवं "ब्रवीमि" पद का अर्थ पूर्ववत् जानीयेगा...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में आत्मा और ज्ञान की एक रूपता बताई गई है। आगम में आत्मा का लक्षण उपयोग-ज्ञान और दर्शन माना गया है। इससे स्पष्ट है कि- ज्ञान के बिना आत्मा का अस्तित्व नहीं रह सकता। जहां ज्ञान परिलक्षित होता है, वहां आत्मा की प्रतीति होती है और जहां चेतना का आभास होता है, वहां ज्ञान की ज्योति अवश्य रहती है। जैसे सूर्य की किरणों और प्रकाश एक-दूसरे के अभाव में नहीं रह सकते। जहां किरणें होंगी वहां प्रकाश भी अवश्य होगा और जहां सूर्य का प्रकाश होगा वहां किरणों का अस्तित्व भी निश्चित रूप से होगा। उसी प्रकार आत्मा ज्ञान के बिना नहीं रह सकती। जिस पदार्थ में ज्ञान का अभाव है; वहां आत्मचेतना की प्रतीति भी नहीं होती, जैसे स्तम्भ आदि जड़ पदार्थ।

यह सत्य है कि- ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है। इस दृष्टि से ज्ञान और आत्मा दो भिन्न पदार्थ हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि- गुण सदा गुणी में रहता है। गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र गुण का कहीं अस्तित्व नहीं पाया जाता अतः उस गुणयुक्त गुणी आत्मा ही है। अतः इस दृष्टि से वह आत्मा से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। क्योंकि सदा-सर्वदा आत्मा में ही स्थित रहता है। इसी अभिन्नता को बताने के लिए प्रस्तुत सूत्र में कहा गया कि- जो आत्मा है; वही विज्ञाता-जानने वाला है और जो विज्ञाता है; वही आत्मा है। इससे आत्मा और विज्ञाता में एकरूपता परिलक्षित होती है।

प्रश्न हो सकता है कि- आगम में आत्मा को कर्ता एवं ज्ञान को करण माना गया है और कर्ता और करण दोनों भिन्न होते हैं, और यहां दोनों की अभिन्नता बताई गई है, अतः दोनों विचारों में एकरूपता कैसे होगी ?

इसका समाधान यह है कि- जैन दर्शन प्रत्येक पदार्थ पर स्यादवाद-अनेकान्त की दृष्टि से सोचता-विचारता है। अतः उसके चिन्तन में विरोध को पनपने का अवकाश ही नहीं मिलता। वह आत्मा और ज्ञान को न तो एकान्त रूप से भिन्न ही मानता है और न अभिन्न ही। गुण और गुणी की अपेक्षा से आत्मा और ज्ञान अभिन्न प्रतीत होते हैं, तो कर्ता एवं करण की अपेक्षा से भिन्न भी परिलक्षित होते हैं। इनका भेद करण के बाह्य और आभ्यन्तर भेद पर आधारित है। जैसे देवदत्त आत्मा का आत्मा से निश्चय करता है, इसमें देवदत्त-आत्मा

एवं निश्चिज्ञान की एक रूपता दिखाई देती है। और देवदत्त कलम से पत्र लिखता है, इसमें देवदत्त एवं कलम में भिन्नता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस प्रकार ज्ञान आत्मा से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। प्रस्तुत सूत्र में उसका गुण-गुणी की दृष्टि से उल्लेख किया गया है, अतः यहां उसकी अभिन्नता ही दिखाई गई है।

निष्कर्ष यह निकला कि- आत्मा ज्ञानवान है। उसमें सत्ता रूप से अनन्त ज्ञान स्थित है। परन्तु, ज्ञानावरणीय कर्म के आवरण से उसकी शक्ति प्रच्छन्न रहती है। ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षय एवं क्षयोपशम होता रहता है, उतना ही आत्मा में ज्ञान का प्रकाश फैलता रहता है। जब ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय कर दिया जाता है, तब आत्मा में पूर्ण ज्ञान की ज्योति जगमगा उठती है। ज्ञान के इस विकास को पांच प्रकार का माना गया है- १-मति ज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३-अवधि ज्ञान, ४-मनः पर्यव ज्ञान और ५-केवल ज्ञान। जिस व्यक्ति के जीवन में दर्शन मोहनीय कर्म का उदय रहता है, उसमें भी ज्ञान का सद्भाव होता है। परन्तु, मोह कर्म के उदय से वह ज्ञान सम्यक् नहीं, किंतु मिथ्या ज्ञान कहलाता है। उसके तीन भेद किए गए हैं- १-मति अज्ञान, २-श्रुत अज्ञान, और ३-विभंग ज्ञान। इस ज्ञान के द्वारा ही आत्मा पदार्थों को जानता है और वह ज्ञान सदा-सर्वदा आत्मा के साथ संबद्ध रहता है। इसलिए विज्ञाता को आत्मा कहा है।

आत्म विकास में सम्यग् ज्ञान ही कारणभूत है। उसी के द्वारा साधक पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानकर संयम को स्वीकार करता है और रत्नत्रय की शुद्ध आराधना करके निर्वाण पद को प्राप्त करता है। अतः साधु को आत्मा में स्थित अनन्त ज्ञान पर पड़े हुए आवरण को क्षय करके निरावरण ज्ञान प्राप्त करने के लिए सदा पंचाचार स्वरूप संयम-साधना में संलग्न रहना चाहिए।

‘त्तिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ इति पञ्चमाध्ययने पञ्चमः उद्देशकः समाप्तः ॥

❧ ❧ ❧

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सांनिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरिश्वरजी

म. के शिष्यरत्न विद्वद्रोष्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभवविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. क्र राजेन्द्र सं. ९६. क्र विक्रम सं. २०५८.



श्रुतस्कंध - १

अध्ययन - ५ उद्देशक - ६

❧ कुमार्गत्यागः ❧

पांचवा उद्देशक कहा, अब छठे उद्देशक का प्रारंभ करते हैं... और इनका परस्पर यह अभिसंबंध है... जैसे कि- पांचवे उद्देशक में कहा था कि- आचार्यजी हृद (सरोवर) के समान हैं... अब ऐसे स्वरूपवाले आचार्यजी के संपर्क से कुमार्ग का परित्याग और राग-द्वेष की हानि अवश्य हो; अतः इस बात के संबंध से आये हुए इस छठे उद्देशक का यह प्रथम सूत्र है...

I सूत्र ॥ १ ॥ ॥ १७९ ॥ १-५-६-१

अणाणाए एगे सोबद्धाणा आणाए एगे निरुवद्धाणा, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्धिट्ठीए तन्मुत्तीए तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तण्णिवेसणे ॥ १७९ ॥

II संस्कृत-छाया :

अनाज्ञया एके सोपस्थानाः आज्ञायां एके निरुपस्थानाः, एतत् तव मा भवतु, एतत् कुशलस्य दर्शनम्, तद्दृष्ट्या तन्मुक्त्या, तत्पुरस्कारः तत्सज्जी तन्निवेशनः-॥ १७९ ॥

III सूत्रार्थ :

कुछ लोग भगवान की आज्ञा के विपरीत कुमार्ग पर चलते हैं। कुछ साधक भगवान की आज्ञा का परिपालन करने में आलस्य करते हैं। परन्तु जिनेश्वर भगवान का आदेश है कि- साधु के जीवन में ये दोनों दोष अर्थात् कुमार्ग में पुरुषार्थ एवं सन्मार्ग में आलस्य न होना चाहिए। विनीत शिष्य को इन दोषों का त्याग करके गुरु की दृष्टि-आज्ञा से निर्लोभवृत्ति के द्वारा पंचाचारात्मक संयम का पालन करना चाहिए। आचार्य एवं गुरु की निश्रा में सदा ज्ञान साधना में संलग्न रहना चाहिए। और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा से करना चाहिए। शिष्य को सदा आचार्य एवं गुरु के सान्निध्य में रहना चाहिए।

IV टीका-अनुवाद :

इस विश्व में जो मनुष्य तीर्थंकर या गणधर आदि के उपदेश को स्वीकारता है; उसे विनेय (शिष्य) कहते हैं... अथवा सभी प्राणी में सभी भावों की संभावना हो सकती है; अतः कोई भी मनुष्य के लिये यह सामान्य संकेत है...

अनाज्ञा याने अनुपदेश अर्थात् अपने मन से हि कीया हुआ जो आचरण वह अनाचार है... उस अनाज्ञा से या उस अनाज्ञा में रहे हुए स्वाभिमान स्वरूप ग्रह से ग्रस्त कितनेक मुमुक्षु साधु इंद्रियों के विकारों में भ्रांत होकर दुर्गति में जाने का उपस्थान याने धर्म के आचरण का मात्र आभास (दिखावा) करते हैं... वे कहते हैं कि- “हम भी प्रव्रजित है” इत्यादि... किंतु वे सद् एवं असद् धर्म के विशेष विवेक से विकल (रहित) होने के कारण से सावद्य = पापाचरण के आरंभो में प्रवृत्त होते हैं...

तथा कितनेक मुमुक्षु कुमार्ग से वासित अंतःकरणवाले नहि है, किंतु आलस, निंदा एवं अभिमान आदि से कुंठित बुद्धीवाले, वे अज्ञ-साधु आज्ञा याने तीर्थंकरों के उपदेशानुसार सदाचार में उद्यम नहिं करते... वे निरुपस्थान याने सर्वज्ञ प्रणीत सदाचार स्वरूप अनुष्ठान से विकल हैं... इस प्रकार कुमार्ग के आचरणवाले एवं सन्मार्ग में खेद पानेवाले यह दोनों भी प्रकार- हे विनेय ! हे शिष्य ! गुरुजी के विनय में तत्पर ऐसे तुम्हारे लिये दुर्गति के हेतु न बनो ! ऐसा कहकर पंचम गणधर श्री सुधर्मस्वामीजी कहते हैं कि- यह सब कुछ मैं मेरे मन-कल्पना मात्र से हि नहि कह रहा हूं किंतु कुशल तीर्थंकरों का यह अभिप्राय याने उपदेश है... अर्थात् यह जो मैं कहता हूं, वह कुशल ऐसे तीर्थंकरों का दर्शन याने मत है... प्रभुजी कहते हैं कि- कुमार्ग का त्याग करके हमेशा आचार्यजी के अंतेवासी याने शिष्य बनकर रहें, तथा उन आचार्यजी की दृष्टि याने मार्गदर्शानुसार आचरण करें... क्योंकि- वह दृष्टि सर्वज्ञ तीर्थंकरों से कहे गये आगम की दृष्टि है... तथा उन आचार्य या तीर्थंकरों से प्रदर्शित जो मुक्ति, उस मुक्ति के अनुसार अनुष्ठान करें... तथा सभी कार्यो में आचार्यजी को हि आगे करें अर्थात् उनकी अनुमती से हि क्रियानुष्ठान करें... तथा उनके ज्ञान में उपयुक्त रहें और सदा गुरुकुल में हि निवास करें...

ऐसे गुरुकुलवासी मुमुक्षु को प्राप्त होनेवाले गुणों का कथन करते हुए सूत्रकार महर्षि आगे का सूत्र कहते हैं...

V सूत्रसार :

आगम में विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय के अभाव में जीवन में धर्म का उदय नहीं हो सकता और विनय की आराधना आज्ञा में है। इसलिए आगम में कहा गया है कि-आज्ञा को पालन करने में धर्म है। यही बात प्रस्तुत सूत्र में बताई गई है कि- जो व्यक्ति आगम एवं आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करता है। वह आत्मा का विकास करते हुए एक दिन अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है। और जो व्यक्ति वीतराग प्रभु की आज्ञा के विपरीत मार्ग पर चलता है, या आज्ञा के अनुसार आचरण करने में आलस्य करता है, वह व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है। अतः विनीत शिष्य को उक्त दोनों दोषों का

त्याग करके सदा तीर्थंकर भगवान् एवं उनके शासन के संचालक आचार्य की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिए। साधु को सदा ज्ञान साधना एवं संयम पालन में संलग्न करना चाहिए और प्रत्येक कार्य आचार्य की आज्ञा लेकर ही करना चाहिए।

इस तरह के आचरण से साधक के जीवन में किस गुण का विकास होता है, इस सम्बन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ २ ॥ ॥ १८० ॥ १-५-६-२

अभिभूय अदक्खू अनभिभूय पभू, निरालंबणयाए जे महं अबहिमणे पवाएण पवायं जाणिजा, सह संमइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सुच्चा ॥ १८० ॥

II संस्कृत-छाया :

अभिभूय अद्राक्षीत्, अनभिभूतः प्रभुः निरालम्बनतायाः यः महान् अबहिर्मनाः प्रवादेन प्रवादं जानीयात्, सह सन्मत्या परव्याकरणेन अन्येषां वा अन्तिके श्रुत्वा ॥ १८० ॥

III सूत्रार्थ :

जो साधक परीषहों पर विजय प्राप्त करके तत्त्व का दृष्टा होता है और माता-पिता एवं परिजनों के शुभाशीर्वाद से संयम पालन में समर्थ होता है, वह भगवान् की आज्ञा में सदा-सर्वदा सावधान होता है... आचार्य परंपरा से सर्वज्ञ के सिद्धान्त को जानकर और सर्वज्ञ के उपदेश से अन्य मत की परीक्षा करके, सन्मति-शुद्ध एवं निष्पक्ष बुद्धि से, तीर्थंकरों के उपदेश से या आचार्य के सान्निध्य से पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं।

IV टीका-अनुवाद :

परीषह एवं उपसर्गों को जितकर अथवा चार घातिकर्मों को जितकर तत्त्व को देखें... क्योंकि- जो मुमुक्षु अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों से अथवा परतीर्थिक याने कुमतवादीओं से अभिभूत नहि है; वह हि प्रभु याने समर्थ है... “इस संसार में तीर्थंकर परमात्मा के वचन के सिवा और कोई माता-पिता-पत्नी आदि नरकादि में जाते हुए आत्मा को आलंबन नहि होते हैं” ऐसी भावना से वह मुमुक्षु-साधु परीषह एवं उपसर्गों को जितने में समर्थ होता है और किसी अन्य कुमतवादीओं से भी पराभूत नहि होता है... यह बात तीर्थंकर परमात्मा और सुधर्मस्वामी आदि आचार्य अपने अंतेवासीओं (शिष्यों) को कहते हैं... तथा और भी यह कहते हैं कि- मोक्ष को हि लक्ष्य में रखनेवाला वह महान् पुरुष लघुकर्मी है और मुझे लगता है कि- वह बहिरात्मभाववाला नहि है; किंतु सर्वज्ञ प्रभुजी के उपदेश अनुसार

अंतरात्मभाववाला एवं सदाचारी हि है... तथा स्थविर आचार्यों की परंपरा से आये हुए उपदेश स्वरूप प्रवाह से सर्वज्ञ प्रभुजी की आज्ञा को अच्छी तरह से जानता है...

अथवा अणिमादि आठ प्रकार के ऐश्वर्य को देखने पर भी तीर्थंकर परमात्मा के वचनों से बाहर मन को नहि होने देते... किंतु कुतीर्थिकों को इंद्रजाल के समान मानकर उनके अनुष्ठान एवं उनके वचनों का पर्यालोचन करते हैं... अर्थात् जिनेश्वरों के वचनों के द्वारा कुतीर्थिकों के वचनों की परीक्षा करते हैं... वह इस प्रकार-

वैशेषिक मतवाले कहते हैं कि- ईश्वर के सिवा अन्य कोई भी जंतु अपने सुख एवं दुःख को करने में समर्थ नहि हैं, किंतु ईश्वर की प्रेरणा से हि जीव-जंतु स्वर्ग में या नरक में जाते हैं... इत्यादि बातों को मुमुक्षु-साधु जिनमत के वचनों से विचारें... जैसे कि- बादल (मेघ) इंद्रधनुष आदि विमलसा परिणाम से हि अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं- यहां ईश्वर कर्ता है; ऐसी परिकल्पना करना व्यर्थ हि है... असत्य हि है... तथा घट की उत्पत्ति में भी दंड, चक्र, जल एवं कुंभार और वस्त्र की उत्पत्ति में तुरी, वेम, शलाका और कुविंद (वणकर) आदि के व्यापार (क्रिया) हि कारण है... जब कि- ईश्वर ऐसे व्यापार (क्रिया) वाले नहि हैं; तो भी घट एवं पट आदि की उत्पत्ति में ईश्वर को कारण मानने की कल्पना यदि करते हैं; तब रासभ (गधे) आदि में भी वह कारणता क्यों न हो ? अर्थात् माननी हि चाहिये... किंतु वैसा तो कोई मानता नहि है...

तथा शरीर एवं इंद्रियों की विचित्रता में कर्म के सिवा और कोई कारण नहि है... यदि यहां कर्म को कारण नहि मानते तब समान वातावरण एवं समान मात-पितादि कारण होते हुए भी दो पुत्रों के बीच जो जो विचित्र अंतर पाया जाता है वहां कुछ न कुछ निमित्त (कारण) तो होना हि चाहिये... अब ईश्वर को कर्ता मानने के बाद भी आपको अदृष्ट (भाग्य) को तो मानना हि पड़ेगा... क्योंकि- अदृष्ट के सिवा, एक को सुख एवं अन्य को दुःख तथा सुभग एवं दुर्भग आदि जगत् की विचित्रता में और कौन कारण हो सकता हैं ? इत्यादि...

तथा सांख्य मतवाले ऐसा कहते हैं कि- सत्त्व, रजस् एवं तमस की साम्य अवस्था हि प्रकृति है... तथा प्रकृति से महान् और महान् से अहंकार... और अहंकार से ग्यारह इंद्रियां पांच तन्मात्रा और उन तन्मात्रा से पांच भूत तथा बुद्धि से अध्यवसित अर्थ ऐसा पुरुष... किंतु वह पुरुष अकर्ता और निर्गुण है... जब कि- प्रकृति कार्य करती है, पुरुष उपयोग करता है और उसके बाद पुरुष की कैवल्य अवस्था में "मैं प्रसन्न हूँ" ऐसा कहकर प्रकृति निवृत्त होती (लौटती) है... इत्यादि सांख्यों के वचन युक्ति से सर्वथा विकल हैं... वह इस प्रकार- प्रकृति तो अचेतन है; अतः आत्मा के उपकार के लिये क्रिया में प्रवृत्त कैसे हो ? अथवा क्या कहिं देखा है कि- आत्मोपकार के लिये प्रकृति ने प्रवृत्ति की हो ? यदि प्रकृति अचेतना है; अतः

ऐसे कर्तृत्व के विकल्प का संभव हि नहि है और नित्यता के कारण से भी प्रकृति में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों का हि अभाव होता है...

तथा पुरुष भी अकर्ता है; अतः संसार से उद्वेग पाना, तथा मोक्ष की उत्सुकता होना और मोक्ष सुख के भोक्ता होना इत्यादि का भी अभाव हि होगा... कहा भी है कि- निष्क्रिय स्वरूपवाला पुरुष (आत्मा) न तो विरक्त है, और न तो निर्विण्ण है, तथा भव के बंधन से भयभीत भी नहि है... और मोक्ष सुख का आकांक्षी भी नहि है... तथा क्षेत्र का भोक्ता निष्क्रिय होने से सांख्य मत में कौन प्रव्रजित हो ? तथा पुरुष निष्क्रिय होने से क्षेत्र का भोक्ता है; ऐसा भी कैसे मानेंगे ? इत्यादि...

तथा बौद्धमतवाले कहते हैं कि- जो कुछ सत् है; वह सब क्षणिक हि हैं इत्यादि... अब उनसे पुछेंगे कि- यदि वस्तु का निरन्वय नाश होता है, तो फिर किसी भी वस्तु का कोइ प्रतिनियत कार्य-कारण भाव होगा हि नहि... यदि आप ऐसा कहोगे कि- एक हि संतान अंतर्गतत्व के कारण से हि ऐसा होता है, तब हम कहेंगे कि- यह तो अशिक्षित के प्रलाप हैं... वह इस प्रकार- जैसे कि- संतानवाले के सिवा और किसी को संतान हो हि नहि शकता... और यदि ऐसा होने पर आप कहोगे कि- पूर्व के लक्षण का अवस्थायित्व हि यहां कारण है... तब तो ऐसा होगा कि- सब कुछ सबका कारण होगा, क्योंकि- सभी वस्तु पूर्वकालक्षणावस्थायी तो होती हि है... इत्यादि... तथा- जो घडा उत्पन्न होते हि तत्काल विनष्ट होता है; तो फिर वह घडा कौन खरीदेगा... और उत्पन्न होने के बाद तत्काल तुटनेवाले घडे में जल भी तो कैसे रहेगा ? इसी हि प्रकार उत्पन्न होने के बाद तत्काल विनष्ट होनेवाले आत्मा में धर्म एवं अधर्म की क्रिया कैसे संभवित होगी ? और क्रिया के अभाव में बंध कैसे हो ? और बंध के अभाव में मोक्ष भी किसका हो ? इत्यादि...

अब बृहस्पति मतवाले (चार्वाक) ऐसा कहते हैं कि- पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश यह पांच भूतों के संयोगसे चेतना उत्पन्न होती है, इत्यादि तथा आत्मा, पुन्य पाप और परलोक का अभाव कहनेवाले चार्वाक-मतवालों को कोइ मर्यादा का बंधन न होने से जनता के लोकव्यवहार-मार्ग का भी उल्लंघन करनेवाले उन चार्वाक मतवालों की उपेक्षा करना यह हि श्रेष्ठतर है... अर्थात् उपेक्षा मात्र से वे निरस्त हो जाएंगे...

अब्रह्म में हि राजी (खुशी) होनेवाले तथा परस्त्री के भोगोपभोग में रक्त ऐसे चार्वाक मतवालों ने माया-इंद्रजाल की तरह असत् याने अनुचित क्या क्या प्रवर्तन नहि किया है ? अर्थात् सब कुछ अनुचित हि किया है... तथा और भी कहा है कि- मिथ्या दृष्टि संसार के दुःखों को उत्पन्न करती है तथा मिथ्यामति विवेकशून्य भी होती है; इस स्थिति में अधम पुरुषों ने इसी मिथ्यामति को हि धर्म के लिये उपयुक्त मान लिया है; अतः उनके लिये इस

विश्व में और कौन अधर्म हो सकता है ?

इस प्रकार सभी कुतीर्थिकों के वाद-विवाद का सर्वज्ञवाद से निराकरण करना चाहिये... यह सारांश है...

कुमत के निराकरण स्वरूप सर्वज्ञप्रवाह को एवं कुमतवालों के प्रवाह को तीन प्रकार से जानना चाहिये...

१. सन्मति के द्वारा २. पर-व्याकरण ३. अन्य से सुनकर...

१. सन्मति = मतिज्ञान... ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से तत्काल उत्पन्न होनेवाली मति याने प्रतिभा... तथा अवधिज्ञान आदि के द्वारा वस्तुस्थिति का सच्चा निर्णय करें... अर्थात् मिथ्यात्वादि कलंक से रहित अच्छी याने शुभ मति से = मतिज्ञान से वस्तु स्थिति का सही सही निर्णय करें... क्योंकि- मतिज्ञान याने बुद्धि-प्रतिभा स्व एवं पर का अवभासक है...

२. पर-व्याकरण = पर याने तीर्थंकर परमात्मा... और व्याकरण याने प्रश्नोत्तर अर्थात् परमात्मा के आगम-शास्त्र... क्योंकि- आगम-शास्त्र यथावस्थित वस्तु का बोधक है... अतः आगम-शास्त्र से वस्तु-स्थिति का सच्चा निर्णय करें...

३. अन्य से सुनकर = कभी दुर्गम आगम सूत्र से सच्चा निर्णय न हो शके तब अन्य याने स्थविर आचार्य आदि के पास वस्तु-स्थिति का सही सही स्वरूप सुनकर निर्णय करें...

वस्तु-स्थिति का सच्चा निर्णय करके क्या करना चाहिये ? यह बात अब सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में आध्यात्मिक विकास का मार्ग बताते हुए कहा गया है कि- जो व्यक्ति अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषहों से घबराता नहीं है, वही आत्म अभ्युदय के पथ पर बढ़ सकता है। परीषहों पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस, शक्ति एवं श्रद्धा-निष्ठा का होना अनिवार्य है। जिस व्यक्ति को तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है; एवं उन पर पूर्ण विश्वास है, वही व्यक्ति कठिनाई के समय भी अपने संयम मार्ग से विचलित नहीं होता और माता-पिता एवं अन्य परिजनों के आलम्बन की भी आंकांक्षा नहीं रखता। क्योंकि- वह जानता है कि- उनका जीवन आरंभमय है। अतः उनके आश्रय में जाने का अर्थ है- आरंभ-समारंभ को बढ़ावा देना। और इस आरंभ-समारंभ की प्रवृत्ति से पाप कर्म का बन्ध होता है तथा संसार परिभ्रमण बढ़ता

है। इस बात को जानने वाला एवं उस पर श्रद्धा-निष्ठा रखने वाला व्यक्ति सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा का परिपालन कर सकता है। क्योंकि- सर्वज्ञ के वचनों में परस्पर विरोध नहीं होता और वे जिनवचन प्राणी-जगत के हित को लेकर कहे गए हैं। इस लिए मुमुक्षु-साधु को सर्वज्ञ के अतिरिक्त किसी के वचनों पर श्रद्धा नहीं होती। साधु जिनवचनों के आधार पर अन्य मत की परीक्षा करता है और हेय-उपादेय की पहचान करके हेय का त्याग करता है और उपादेय को स्वीकार करता है।

जैसे कि- जैनागमों में शब्द पौद्गलिक माना है किंतु नैयायिक-वैशेषिक आदि शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। परन्तु, यह बात सत्य नहीं है। क्योंकि- शब्द रूपवान है और आकाश रूप रहित है। रूप रहित का गुण रूप युक्त पदार्थ हो नहीं सकता। इसलिए शब्द भी रूपवान होने के कारण आकाश का गुण नहीं हो सकता। और आज वैज्ञानिक आविष्कारों ने शब्द की पौद्गलिकता को स्पष्ट कर दिया है। इससे स्पष्ट है कि- सर्वज्ञ के वचनों में असत्यता नहीं होती।

इस प्रकार मुमुक्षु-साधु पदार्थों का यथार्थ ज्ञान करके सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा के अनुरूप संयम का पालन करते हैं। पदार्थों का ज्ञान तीन प्रकार से होता है- १-सन्मति से- ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय एवं क्षयोपशम से सन्मति प्रस्फुटित होती है और उससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होता है। २-तीर्थंकर के उपदेश से और ३-आचार्य-स्थविर आदि के उपदेश से भी पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है।

पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाने के पश्चात् साधु को क्या करना चाहिए; इस संबन्ध में सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ३ ॥ ॥ १८१ ॥ १-५-६-३

निर्देसं नाइवट्टेज्जा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा सम्मं समभिण्णाय
इह आरामो परिव्वए निट्ठियट्ठी वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जासि त्तिबेमि ॥ १८१ ॥

II संस्कृत-छाया :

निर्देशं नाऽतिवर्तेत, मेधावी सुप्रत्युपेक्ष्य सर्वतः सर्वात्मना सम्यग् समभिज्ञाय इह
आरामः परिव्रजेत् निष्ठितार्थी वीरः आगमेन सदा पराक्रमेथाः इति ब्रवीमि ॥ १८१ ॥

III सूत्रार्थ :

बुद्धिमान साधु भगवदुपदेश का उल्लंघन न करे, एवं सम्यक् तथा सर्व प्रकार से सामान्य और विशेष रूप से पदार्थों के स्वरूप को जानकर परवाद-मिथ्यावाद का निराकरण

करे, और इस मनुष्यलोक में, आराम-संयम को स्वीकार करके जितेन्द्रिय होकर विचरे, तथा मोक्षार्थी कर्म विदारण में समर्थ सदा सर्वज्ञ-प्रणीत आचार द्वारा मोक्षमार्ग में पराक्रम करे।

IV टीका-अनुवाद :

निर्देश याने तीर्थंकर प्रभु का उपदेश... मेधावी साधु उन उपदेश का अतिक्रम न करें अर्थात् उपदेश की मर्यादा में हि रहें... तथा कुमत्वालों के वचन एवं सर्वज्ञ प्रभु के वचन का अच्छी तरह से याने द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव स्वरूप से सभी प्रकार से हेय-ज्ञेय एवं उपादेय के विभाग से पूर्वोक्त सन्मति, परव्याकरण एवं अन्य से सुनकर... इत्यादि तीनों प्रकार से पर्यालोचन करके आचार्य के निर्देश में रहनेवाला मुमुक्षु-साधु सदा-सर्वदा कुतीर्थिकों के प्रवाद का निराकरण करें... अर्थात् स्वमत एवं परमत को अच्छी प्रकार से जान-समझकर स्वमत में स्थिर होकर परमत का निराकरण करें...

तथा इस मनुष्यलोक में परमार्थ दृष्टि से आत्यंतिक एवं ऐकान्तिक आराम = रमण याने रति स्वरूप संयम को आसेवन परिज्ञा से जानकर मुमुक्षु-साधु सदा-सर्वदा संयत एवं गुप्त होकर संयमानुष्ठान में विचरण करें... वह साधु निष्ठितार्थी याने मोक्षार्थी है... वीर याने कर्म को विनाश करने में समर्थ है... अतः वह साधु सर्वज्ञ प्रभु के कहे गये आगम के द्वारा निर्दिष्ट पंचाचार-आचार आदि के द्वारा सदा कर्मशत्रुओं के प्रति पराक्रम करें... अर्थात् मोक्षमार्ग में आगे हि आगे बढ़ता रहे... “इति” शब्द यहां अधिकार की समाप्ति का सूचक है तथा “ब्रवीमि” पूर्ववत्...

अब कहते हैं कि- हे गुरुजी ! आप यह उपदेश क्यों बार बार देते हो ? इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

हम यह देख चुके हैं कि- आत्म विकास का मूल सम्यक्त्व-श्रद्धा है। जब साधु को सर्वज्ञ प्रणीत आगम पर श्रद्धा-निष्ठा होती है, तब वह उस उपदेश को जीवन में स्वीकार कर सकता है। वह साधु किसी भी स्थिति में आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता और श्रुतज्ञान के द्वारा हेय-उपादेय के स्वरूप को जानकर हेय पदार्थों का त्याग करके उपादेय को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह आरम्भ-समारम्भ से मुक्त होकर संयम-साधना में संलीन रहता है।

संयम-साधना में वही संलग्न होता है, जिसके मन में कर्मों से सर्वथा मुक्त होने की अभिलाषा है। मोक्षार्थी व्यक्ति इस बात को भली-भांति जानता है कि- आरम्भ-समारम्भ, विषय-भोग में आसक्ति आदि संसार परिभ्रमण के कारण है और इनमें संलग्न व्यक्ति का मन सदा अशान्त रहता है। इसलिए पूर्ण समाधि एवं शान्ति का इच्छुक व्यक्ति ही पंचाचारात्मक

संयम का परिपालन कर सकता है।

इस उपदेश की पुनः पुनः आवश्यकता का वर्णन करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ४ ॥ ॥ १८२ ॥ १-५-६-४

उद्धं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया ।
ए सोया विअक्खाया, जेहिं संगंति पासह ॥ १८२ ॥

II संस्कृत-छाया :

ऊर्ध्वं श्रोतांसि, अधः श्रोतांसि, तिर्यक् श्रोतांसि व्याहितानि एतानि श्रोतांसि
व्याख्यातानि, यैः सङ्गं इति पश्यत ॥ १८२ ॥

III सूत्रार्थ :

ऊंची दिशा में, नीची दिशा में और तिर्यक् दिशा में कर्मस्रोत-विषयवासना रूप कहे गए हैं। इन वर्णन किये गए कर्मस्रोतों को- हे शिष्यो ! तुम देखो ! इन कर्मस्रोतों के संग से प्राणी पापकर्मों में प्रवृत्त हो रहे हैं।

IV टीका-अनुवाद :

स्रोत याने कर्मों के आश्रवों के द्वार... जन्म जन्मांतर के अभ्यास से विषय भोग के अनुबंधवाले वे आश्रव द्वार... ऊर्ध्व स्रोत याने वैमानिक देवलोक एवं देवीओं के विषय सुखोपभोग की अभिलाषा अथवा वैमानिक देव-सुख का नियाणा करना... अधः स्रोत याने भवनपतिदेवों के भोगोपभोगों की अभिलाषा... तथा तिर्यक् स्रोत याने व्यंतरदेव, मनुष्य एवं तिर्यचों के विषय भोग की इच्छा... अथवा प्रज्ञापक की अपेक्षा से ऊर्ध्व स्रोत याने पर्वत के शिखर से नीचे तलहटी में जल के प्रवाह का गिरना... इत्यादि... तथा अधः स्रोत याने नरक भूमी में नदी के किनारे की गुफाएं, निवासस्थान... इत्यादि तथा तिर्यग्-स्रोत याने आराम सभा, मकान-घर, इत्यादि कि- जो मनुष्यों के विविध प्रकार के विषयोपभोग के स्थान कहे हैं... वे सभी विषयोपभोग के स्थान प्रयोग एवं विद्वसा के द्वारा बने हुए हैं अथवा अपने कर्म परिणामों से बने हुए हैं...

इन तीन प्रकार के तथा अन्य भी जो कोई प्रकार से उत्पन्न होनेवाले पापाचरण के हेतुभूत आश्रव द्वारों से प्राणीओं को होनेवाले संग याने आसक्ति अथवा कर्मबंध को देखीयेगा... कर्मबंध के कारणभूत ऐसे इन आश्रवद्वारों को जान-समझकर उन आश्रव-द्वारों से बचने के

लिये सदा आगम-शास्त्र के निर्देश अनुसार पराक्रम = पुरुषार्थ करें...

तथा... इस विषय में और भी अनेक बातें सूत्रकार महर्षि आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

संयम का विशुद्ध पालन करने के लिए साधक को आस्रव द्वार-कर्म आगमन के स्रोत से भली-भांति परिचित होना चाहिए। कर्मबन्ध के कारण को जानने वाला साधु उनसे बच सकता है। परन्तु; जो उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है, वह कर्मबन्ध के प्रवाह में बह जाता है। अतः उससे बचने के लिए साधक को सब से पहिले आस्रव द्वार को रोकना चाहिए।

आगम में आठ प्रकार के कर्म बताए गए हैं। परन्तु, इन सब में मोहनीय कर्म की प्रधानता है। यह मोहनीय कर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है और सम्यग्दर्शन एवं चारित्र को आवृत्त रखता है। इसके उदय से जीव विषय-वासना में संलग्न रहता है और परिणाम स्वरूप पापकर्म का बन्ध करके संसार में परिभ्रमण करता रहता है। इसी कारण मोहनीय कर्म को कर्म का स्रोत कहा है। यह ऊर्ध्व; अधो एवं मध्य लोक में सर्वत्र फैला हुआ है। तीनों लोक में स्थित जीव इसी कर्म के उदय से विषय-वासना एवं आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होते हैं। और उससे पापकर्म का बन्ध करके संसार में भटकते फिरते हैं। अतः संयमनिष्ठ साधु को बार-बार विषय-वासना से निवृत्त होकर साधना में संलग्न रहने का उपदेश दिया जाता है।

इस विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से विशेष बात कहेंगे।

I सूत्र ॥ ५ ॥ ॥ १८३ ॥ १-५-६-५

आवर्तं तु पेहाए इत्थ विरमिज्ज वेयवी, विणइत्तु सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्मा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ, इह आगइं गइं परिण्णाय ॥ १८३ ॥

II संस्कृत-छाया :

आवर्तं तु उत्प्रेक्ष्य अत्र विरमेत् वेदवित्, विनेतुं स्रोतः, निष्क्रम्य एषः अहं अकर्मा जानाति पश्यति प्रत्युपेक्ष्य नाऽऽकाङ्क्षति, इह आगतिं गतिं परिज्ञाय ॥ १८३ ॥

III सूत्रार्थ :

वेदवित्-ज्ञानवान् पुरुष, संसार के कारणभूत भावस्रोत का विचार कर उसे छोड़ देता

है। भावस्रोत को दूर करने के लिए ही दीक्षा ग्रहण करता है अर्थात् प्रव्रज्या के द्वारा भाव स्रोत का निरोध करता है। यह महापुरुष चार प्रकार के घातिकर्मों का क्षय करके सांसारिक पदार्थों को जानता और देखता है अर्थात् विशेष रूप से जानता और सामान्य रूप से देखता है। इस लोकवर्ति जीवों के गमनागमन को देखकर और उनके मूल कारणों को जानकर, उनका निराकरण करता है।

IV टीका-अनुवाद :

राग, द्वेष, कषाय एवं विषयों का आवर्त, अथवा कर्मबंध के आवर्त तथा भाव-आवर्त को देखकर के वेद याने आगम सूत्र को जाननेवाला साधु विषय-कषाय स्वरूप भावावर्त से विरमण करें, अर्थात् आश्रवों के द्वारों का रुंधन (निरोध) करें... पाठांतर... वेद याने आगमसूत्रों को जाननेवाला साधु आश्रवों के द्वार के निरोध से कर्मों का विवेक याने अभाव करें...

तथा आश्रवों के द्वार को दूर करने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करके प्रवृत्त हुआ यह साधु महापुरुष अकर्मा होता है... अर्थात् घातिकर्मों के अभाव से केवलज्ञानी होकर सभी पदार्थों के सभी भावों को जानते एवं देखते हैं... तथा केवलज्ञानी को सभी लब्धियां भी उत्पन्न होती हैं... केवलज्ञानी प्रथम जानते हैं, एवं बाद में देखते हैं... इसी क्रम से ही उनका उपयोग प्रकट होता है...

अब कहते हैं कि- उत्पन्न दिव्य ज्ञानवाले, तथा त्रैलोक्य ललाय चूडामणि, सुरासुरनेन्द्रों से पूजित, तथा संसार समुद्र के पार रहे हुए एवं जगत के सभी ज्ञेय पदार्थों को सर्व प्रकार से जाननेवाले वे केवलज्ञानी परमात्मा सुर असुर एवं मनुष्यों के द्वारा की हुई पूजा को प्राप्त करके तथा वह पूजा उपाधिवाली, कुत्रिम, अनित्य और असार है; ऐसा पर्यालोचन करके तथा इंद्रियों के विकारों पे विजय पाने से प्राप्त सहज सुख के अनुभव से अब उन्हें विषय भोग की स्पृहा न होनेसे वे सोपाधिक पूजा की आकांक्षा नहि रखते...

तथा इस मनुष्यलोक में रहा हुआ वह केवलज्ञानी प्राणीओं की आगति और गति तथा संसार में भ्रमण और उसका कारण ज्ञ परिज्ञा से जानकर एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन कारणों का निराकरण (त्याग) करते हैं...

संसार में परिभ्रमण के कारणों का निराकरण करने से आत्मा को जो जो गुण प्राप्त होते हैं; वह सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे के सूत्र से कहेंगे...

V सूत्रसार :

आत्मा में स्थित अनन्त चतुष्टय-१-अनन्त ज्ञान, २-अनन्त दर्शन, ३-अनन्त चारित्र

और ४-अनन्त वीर्य-सुख को प्राप्त करने के लिए पहिले कर्म स्रोतों को रोकना आवश्यक है। अभिनव कर्मों के आगमन को रोके बिना ज्ञानादि का विकास नहीं हो सकता। इसके लिए साधक संयम-दीक्षा को स्वीकार करता है। संयम के द्वारा कर्मों के आगमन को रोकता है और निर्जरा के द्वारा पूर्व आबद्ध कर्मों का क्षय करता है। इस तरह चार घातिकर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय कर्म का क्षय करके सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी बनता है। इस तरह संयम-साधना से राग-द्वेष का क्षय करके वीतराग अवस्था को प्राप्त होता है। फिर उसकी आत्मा में किसी तरह की आकांक्षा नहीं रह जाती है। वह समस्त इच्छा-आकांक्षाओं से रहित होकर अपने आत्म स्वरूप में रमण करता है। उसके ज्ञान में सब कुछ स्पष्ट रहता है। संसार का कोई भी पदार्थ उससे प्रच्छन्न नहीं रहता। ऐसे महापुरुष को प्रस्तुत सूत्र में वेदवित् एवं अकर्मा कहा गया है।

इस तरह संसार परिभ्रमण के कारणों का उन्मूलन करने से उसे किस फल की प्राप्ति होती है, इस विषय का उल्लेख करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ६ ॥ ॥ १८४ ॥ १-५-६-६

अच्चेइ जाईमरणस्स वट्टमगं विक्खायरए, सव्वे सरा नियट्ठंति, तक्का जत्थ न विज्जइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे, से न दीहे, न हस्से, न वट्ठे, न तंसे, न चउरंसे, न परिमंडले, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्वे, न सुक्किल्ले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कडुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्खडे, न मउए, न गरुए, न लहुए, न उण्हे, न निद्धे, न लुक्खे, न काऊ, न रुहे, न संगे, न इत्थी, न पुरिसे, न अण्णहा परिण्णे सण्णे उवमा न विज्जइ, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि ॥ १८४ ॥

II संस्कृत-छाया :

अत्येति जाति-मरणस्य मार्गं, व्याख्यातरतः, सर्वे स्वराः निवर्त्तन्ते, तर्कः यत्र न विद्यते, मतिः तत्र न ग्राहिका, ओजः, अप्रतिष्ठानस्य खेदज्ञः, सः न दीर्घः, न हुस्वः, न वृत्तः, न त्र्यस्रः, न चतुरस्रः, न परिमण्डलः, न कृष्णः, न नीलः, न लोहितः, न हारिद्रः, न शुक्लः, न सुरभिगन्धः, न दुरभिगन्धः, न तित्तः, न कटुकः, न कषायः, न अम्लः, न मधुरः, न कर्कशः, न मृदुः, न गुरुः, न लघुः, न शीतः, न उष्णः, न स्निग्धः, न रुक्षः, न कायवान्, न रुहः, न सङ्गाः, न स्त्रीः, न पुरुषः, न अन्यथा, परिज्ञः, सज्ज्ञः, उपमा न विद्यते, अरूपिणी सत्ता, अपदस्य पदं नाऽस्ति ॥ १८४ ॥

III सूत्रार्थ :

वह जन्म मरण के मार्ग को अतिक्रम करनेवाला है, मोक्ष में रत है। मोक्ष वा मोक्ष के सुख का शब्दों के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, तर्क उसमें काम नहीं करती, मति का वहां प्रयोजन नहीं अर्थात् मति के द्वारा वहां विकल्प उत्पन्न नहीं किया जा सकता, ऐसा केवल शुद्ध चैतन्य और ज्ञान, दर्शन तथा अक्षय सुख एवं अनन्त शक्तिमय सिद्ध भगवान है ! जो कि- अप्रतिष्ठान का ज्ञाता और परमपद का अध्यासी है तथा संस्थान की अपेक्षा से वह-सिद्ध भगवान्-न दीर्घ है; न ह्रस्व न वृत्ताकार है; न त्रिकोण, एवं न चतुष्कोण है; न परिमंडल के आकार-चूड़ी के आकारवाला। वर्ण की अपेक्षा से न कृष्ण है न नीला, न लाल है न पीला और न ही श्वेत है, गन्ध की अपेक्षा से न सुगन्ध युक्त है और न ही दुर्गन्धवाला है, रस की अपेक्षा न तिक्त है न कटुक, न कषाय न खट्टा और न मधुर है; एवं स्पर्श की अपेक्षा से वह न तो कर्कश है न कोमल, तथा न लघु है न गुरु, न उष्ण है न शीत और न स्निग्ध है न रुक्ष, तथा न वह कायवाला है या न लेश्यावाला है, इसी तरह न तो उसको कर्म रूपबीज है और न उसको किसी का संग है, वह न तो स्त्री है और न ही पुरुष और न ही नपुंसक है, वह सामान्य और विशेष ज्ञानवाला, अवस्था विशेष से रहित अनुपम केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप अरूपी सत्ता वाला, अक्षय सुख की राशि अनन्त शक्तियों का भंडार और ज्ञान दर्शन के उपयोग से युक्त हुआ विराजमान है।

IV टीका-अनुवाद :

वह केवलज्ञानी साधु जन्म एवं मरण के मार्ग एवं उसके कारणभूत कर्मों का अतिक्रमण करते हैं, अर्थात् सभी कर्मों का क्षय करते हैं, और सकल कर्मों के क्षय से प्रधान पुरुषार्थ स्वरूप एवं शास्त्रानुसार तपश्चर्या एवं संयमानुष्ठान के फल स्वरूप मोक्ष याने सिद्धशिला के उपर स्थिर होते हैं और वहां वह आत्मा आत्यंतिक एवं ऐकांतिक ऐसा जो अनाबाध सुख तथा क्षायिक ज्ञान और दर्शन गुण संपदाओं से युक्त हुआ अनंतकाल पर्यंत रहते हैं...

मोक्ष में आत्मा की ऐसी अलौकिक स्वरूप-स्थिति होती है कि- उसे हम लोग शब्दों से कह नहि सकते... अर्थात् सभी शब्द-ध्वनि वचन वहां से निवृत्त होते हैं... क्योंकि- शब्द वाच्य-वाचक भाव के संबंध से हि प्रवृत्त होते हैं... वह इस प्रकार- प्रवृत्त होनेवाले शब्द वस्तु के रूप या रस या गंध या स्पर्श के कोई भी एक विशेष धर्म को संकेत करके प्रवृत्त होते हैं, और मोक्षावस्था वाले आत्मा में रूप-रस-गंध-स्पर्श आदि होते हि नहि हैं, इसलिये मोक्षावस्था शब्दों से कथन योग्य नहि है... तथा उत्प्रेक्षा भी नहि की जा सकती... क्योंकि- उत्प्रेक्षा याने तर्क-कल्पना... वह विद्यमान पदार्थों के संभवित धर्म विशेष स्वरूप है; किंतु मोक्षावस्था में तो जगत के कोई भी पदार्थ की कल्पना नहि की जा सकती, इसलिये वहां

शब्द की प्रवृत्ति संभवित नहि है...

मोक्षावस्था सकल विकल्पों से रहित है; औत्पत्तिक्यादि चार प्रकार की मति याने बुद्धि मोक्षावस्था को ग्रहण नहि कर सकती... तथा जीव कर्म सहित मोक्ष में जाता हि नहि है, अर्थात् कर्मों से मुक्त होकर हि आत्मा मोक्ष में जाती है... यह बात अब कहतें हैं...

ओज याने एक अर्थात् सभी प्रकार के कर्मों के कलंक से रहित अकेला आत्मा, तथा जहां रहने के लिये औदारिकादि कोइ शरीर अथवा कर्म का होना नहि है, ऐसे मोक्ष के स्वरूप को जाननेवाला साधु... अथवा अप्रतिष्ठान याने सातवी नरक भूमी की स्थिति आदि के परिज्ञान से निपुण, अर्थात् लौकनाडि के पर्यंत भाग तक के स्वरूप का ज्ञान (जानकारी) होने से संपूर्ण लोक के स्वरूप का ज्ञाता है; ऐसा यहां कथन किया है...

यहां जो कहा गया था कि- मोक्षावस्था सभी प्रकार के स्वर-ध्वनि से कही नहि जाती... वह इस प्रकार... लोक के अग्रभाग स्थित सिद्धशिला के उपर की और कोश (गाउ) के छट्टे भाग प्रमाण क्षेत्र में रहे हुए एवं अनंतज्ञान एवं अनंतदर्शनसे युक्त ऐसे वे सिद्धात्माएं संस्थान की दृष्टि से न तो दीर्घ याने लंबे है और न तो ह्रस्व याने टुंके हैं तथा वृत्त याने गोल नहि है, त्रिकोन भी नहि है और चौरस भी नहि है, तथा परिमंडल (चूडी) के आकार के भी नहि है... तथा वर्ण की दृष्टि से वे न तो काले है, न तो नीले है, न तो लाल हैं, न तो पीले हैं और न तो उज्ज्वल हैं... तथा गंध की दृष्टि से न तो सुगंधी है और न तो दुर्गंधी है... तथा रस की दृष्टि से न तो तिक्त याने तिक्खे है, न तो कडुवे है, न तो कषायरसवाले है, न तो खट्टे है और न तो मीठे है... तथा स्पर्श की दृष्टि से न तो कर्कश और न तो सुकोमल, न तो हलवे और न तो भारे, न तो ठंडे और न तो गरम, एवं न तो स्निग्ध (चीकने) और न तो रुक्ष (लुक्खे) तथा वे लेश्या रहित है... अथवा औदारिकादि काया = शरीर से रहित हैं;

जैसे कि- वेदांतवादी कहतें हैं कि- मुक्तात्मा एक हि है और उसके शरीर में अन्य क्षीणक्लेशवाले जीव प्रवेश करतें हैं; जैसे कि- सूर्य की किरणे सूर्य में प्रवेश करती हैं... किंतु मुक्तात्मा को शरीर हि नहि है, अतः यह बात कल्पना-मात्र हि है...

तथा वह मुक्तात्मा कर्मबीज के अभाव में अरूह याने अजन्मा है... “शाक्य-मत के अनुसार मुक्तात्मा पुनः जन्म धारण करतें हैं” किंतु जिनमतमें ऐसा नहि है...

कहा भी है कि- हे जिनेश्वर ! इस विश्व में जो जो मतवाले आपके शासन से प्रतिकूल चलतें हैं; वे मोह के राज्य में हि निवास करतें हैं... वे कहतें हैं कि- परमात्मा संसार का विच्छेद करके निर्वाण पद प्राप्त करतें हैं, और बादमें वे अपने शासन को माननेवालों को

कष्ट आने पर उनकी सुरक्षा के लिये पुनः जन्म धारण करते हैं इत्यादि...

तथा वह सिद्धात्मा अपूर्ण होने के कारण से असंग हैं... तथा वह सिद्धात्मा न तो स्त्री है, न तो पुरुष है, और न तो नपुंसक है... तथा परिज्ञान याने सभी आत्म-प्रदेशों से संपूर्ण विश्व को विशेष प्रकार से जानते हैं तथा संज्ञान याने सामान्य प्रकार से संपूर्ण विश्व को देखते हैं... अर्थात् वे केवलज्ञान एवं केवल दर्शन युक्त हैं...

प्रश्न- मान लो कि- सिद्धात्मा (मुक्तात्मा) स्वरूप से भले हि प्रत्यक्ष न दिखे किंतु उपमा के द्वारा सूर्य की गति की तरह तो जान सकते हैं न ?

उत्तर- उपमा से भी नहि जान सकते, क्योंकि- मुक्तात्माओं के स्वरूप की तुल्यता हो शके ऐसा कोई पदार्थ इस विश्व में नहि है कि- जिन्हों के साथ मुक्तात्मा के ज्ञान एवं सुख की तुलना कर शकें... क्योंकि- मुक्तात्मा का स्वरूप वास्तव में लोकातीत है, अर्थात् इंद्रिय-गम्य नहि है...

मुक्तात्माओं की सत्ता तो है, किंतु वर्णादि से रहित अरूपिणी सत्ता है... अर्थात् पूर्वोक्त दीर्घ, ह्रस्व, इत्यादि से रहित है... तथा पद याने अवस्था विशेष से भी रहित है; वे अपद, तथा जिस से अर्थ याने वस्तु को जान-समझ शकें वह पद अर्थात् सांकेतिक नाम... किंतु मुक्तात्मा का स्वरूप वाच्य-वाचकभाव से रहित है, अतः अपद है... जो वस्तु वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शब्द में से कोई भी एक प्रकार के विशेषण से कही जाय वह वस्तु पद स्वरूप है... किंतु मुक्तात्मा को वर्णादि नहि हैं; अतः वे अपद हैं...

यहां पूर्व के सूत्र से “दीर्घ” इत्यादि विशेष स्वरूप का निराकरण किया, अब सामान्य प्रकार से निराकरण करते हैं...

V सूत्रसार :

पूर्व सूत्र में बताया गया है कि- आस्रव का निरोध करके एवं निर्जरा के द्वारा चार घातिकर्मों का क्षय करके आत्मा सर्वज्ञ बनती है। और सर्वज्ञ अवस्था में आयु कर्म के क्षय के साथ शेष तीन-वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म का सर्वथा क्षय करके आत्मा निर्वाण पद को प्राप्त करती है। प्रस्तुत सूत्र में इसी मोक्ष एवं मुक्तात्मा के विषय का विवेचन किया गया है।

मोक्ष उस स्थिति का नाम है; जहां साधक समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय कर देता है। अब उसके लिए कुछ भी करना अवशेष नहीं रह जाता है। अतः आत्मा सभी प्रकार की बाधा-पीड़ाओं एवं कर्म तथा कर्म जन्य उपाधि से रहित हो जाता है; निरावरण ज्ञान एवं अनन्त आत्मसुख में रमण करता हुआ सदा-सर्वदा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थित रहता

है। यह अक्षय सुख वाला है, समस्त कर्मों से रहित है, अनन्त ज्ञान, दर्शन एवं शक्ति संपन्न है।

उसके स्वरूप का वर्णन करने की शक्ति किसी शब्द में नहीं है। उसके वर्णन करने में समस्त स्वर अपना सामर्थ्य खो देते हैं। क्योंकि- शब्दों के द्वारा उसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है, जिसका कोई रूप हो, रंग हो या उसमें अन्य भौतिक आकार-प्रकार हो। परन्तु शुद्ध आत्मा इन सभी पौद्गालिक गुणों से रहित है। सिद्धात्मा में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि का सर्वथा अभाव है। वहां आत्मा के साथ किसी पौद्गालिक पदार्थ का संबन्ध नहीं है। अतः शब्दों के द्वारा मोक्ष के स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। वेदों में 'नेति नेति' शब्द द्वारा इसी बात को व्यक्त किया गया है कि- परमात्मा के स्वरूप का शब्दों से विवेचन नहीं किया जा सकता। आत्मा-परमात्मा को मानने वाले प्रायः सभी भारतीय दर्शन इस बात में एकमत हैं।

शब्द की अपेक्षा तर्क एवं बुद्धि का स्थान महत्त्वपूर्ण माना गया है और यह मुक्तात्मा उससे भी सूक्ष्म है। कवि एवं तार्किक तर्क एवं बुद्धि की कल्पना से बहुत ऊंची उड़ाने भरने में सफल होते हैं। परन्तु मुक्त आत्मा के स्वरूप का वर्णन करने में तर्क एवं बुद्धि भी असमर्थ है। क्योंकि- मनन-चिन्तन एवं तर्क-वितर्क आदि पदार्थों के आधार पर होता है और मुक्ति समस्त मानसिक विकल्पों से रहित है; अतः वहां तर्क एवं बुद्धि की भी पहुंच नहीं है।

वैदिक ग्रन्थों में भी ब्रह्म या परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि- जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, तथा रस हीन, नित्य और गंध रहित है; जो अनादिअनन्त; हैं। यह तत्त्व से भी पर और ध्रुव (निश्चल) है, उस तत्त्व को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि- मुक्तात्मा अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि रहित, अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यय है, उसे विवेकी पुरुष देखते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि-जहां वचन की गति नहीं है और मन से भी अप्राप्य है, ऐसे आनन्द स्वरूप ब्रह्म की शब्दों के द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी तरह बृहदारण्यक में भी, ब्रह्म को अस्थूल, असूक्ष्म, अदीर्घ, अह्रस्व आदि माना है। निर्वाण के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में भी ऐसे ही विचार मिलते हैं। इस तरह इस त्रिषय में प्रायः सभी मत-मतांतरों के विचारों में एकरूपता है।

मोक्ष में आत्मा सर्व कर्म मल से रहित, विशुद्ध एवं एक है। उसके साथ न कर्म है और न कर्म जन्य उपाधि है। वह सभी दोषों से रहित है और दुनियां के समस्त पदार्थों का ज्ञाता एवं दृष्टा है। निष्कर्ष यह निकला कि- मोक्ष में स्थित आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमंडल संस्थान वाला है, न कृष्ण, नील, पीत, रक्त एवं श्वेत वर्ण वाला है। न दुर्गन्ध; एवं सुगन्ध वाला है, न तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा,

मीठा एवं अम्ल रसवाला है, न गुरु, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत, एवं उष्ण स्पर्श वाला है, न स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक वेद वाला है अर्थात् शब्द, रूप रस, गंध, स्पर्श आदि विशेषणों से रहित है। इसलिए मोक्ष या मुक्तात्मा को अपद कहा गया है। पद अभिधेय को कहते हैं, अतः इसका यह अर्थ हुआ कि- मोक्ष का कोई भी अभिधेय नहीं है। क्योंकि- वहां वाच्य विशेष का अभाव है।

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए सूत्रकार महर्षि सुधर्म स्वामी आगे का सूत्र कहते हैं...

I सूत्र ॥ ७ ॥ ॥ १८५ ॥ १-५-६-७

से न सहे, न रूवे, न गंधे, न रसे, न फासे इच्चेव त्तिबेमि ॥ १८५ ॥

II संस्कृत-छाया :

सः न शब्दः, न रूपः, न गन्धः, न रसः, न स्पर्शः, इति एव इति ब्रवीमि ॥ १८५ ॥

III सूत्रार्थ :

वह मुक्तात्मा न तो शब्द स्वरूप है, न तो रूप स्वरूप है, न गंध स्वरूप है, न रस स्वरूप है और न तो स्पर्श स्वरूप है... इत्यादि मैं तुम्हें कहता हूँ... ॥ १८५ ॥

IV टीका-अनुवाद :

वह मुक्तात्मा न तो शब्द स्वरूप है और न तो रूप स्वरूप है, न गंध स्वरूप है और न तो रस स्वरूप है और न हि स्पर्श स्वरूप है, अर्थात् इतने प्रकार के प्रतिषेध के द्वारा यह निश्चित हुआ कि- जगत् की दृष्टि से मुक्तात्मा वर्णादि-पदों से पर हैं अर्थात् अपद हैं; अतः उनको कोई भी प्रकार से कह नहि शकते, वचन के विषय नहि हो शकते... यहां इति शब्द अधिकार की समाप्ति का सूचक है और ब्रवीमि का अर्थ पूर्ववत् जानीयेगा... अर्थात् पंचमगणधर श्री सुधर्मस्वामीजी अपने अंतेवासी शिष्य जंबूस्वामीजी को कहते हैं कि- चरमतीर्थपति श्री वर्धमानस्वामीजी के मुखारविंद से मैंने जो पंचाचार की बातें सुनी है वह सभी बातें हे जंबू ! तुम्हें अनुग्रहबुद्धि से क्रमशः कहता हूँ...

इस प्रकार यहां सूत्रानुगम पूर्ण हुआ, और सूत्रानुगम के पूर्ण होने पर अपवर्ग को प्राप्त नामक उद्देशक पूर्ण हुआ और अपवर्गावाप्त होने पर नयवक्तव्यता भी अतिदेश से पूर्ण हुई... इस प्रकार “लोकसार” नाम का पांचवा अध्ययन पूर्ण हुआ...

V - सूत्रसार :

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र में विस्तार से कही गई बात को संक्षेप में कहा है। और यह बताया है कि- वस्तु के इतने ही भेद होते हैं। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श के अतिरिक्त वस्तु का कोई भेद नहीं होता। अतः इनके आधार पर वस्तु का वर्णन किया जाता है और मुक्तात्मा में इन सभी का अभाव है; अतः उसका शब्दादि के द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञ पुरुष को मुक्तात्मा प्रत्यक्ष ही हैं; परन्तु उस आत्मानुभव को पूर्णतया व्यक्त करना शक्य नहीं है, क्योंकि- अभिव्यक्ति का साधन शब्द है और शब्द में मोक्षका विवेचन करने की शक्ति नहीं है। अतः मोक्षका अनुभव निरावरण स्थिति को प्राप्त करके ही किया जा सकता है।

‘त्त्रिबेमि’ का अर्थ पूर्ववत् समझें।

॥ इति पञ्चमाध्ययने षष्ठः उद्देशकः समाप्तः ॥

॥ इति लोकसाराभिधं पञ्चममध्ययनं समाप्तम् ॥

क्र क्र क्र

राजेन्द्र सुबोधनी “आहोरी” हिन्दी-टीकायाः लेखन-कर्ता ज्योतिषाचार्य
श्री जयप्रभविजयजित् “श्रमण”

: प्रशस्ति :

सुधर्मस्वामिनः पट्टे भोः ! षट्षष्टितमे शुभे । सुधर्मस्वामी
श्रीमद् विजयराजेन्द्र - सूरीश्वरः समभवत् ॥ १ ॥ राजेन्द्रसूरि

विद्वद्भयोंऽस्ति तच्छिष्यः श्रीयतीन्द्रसूरीश्वरः । “श्रमण”
“श्रमण” इत्युपनाम्नाऽस्ति तच्छिष्यश्च जयप्रभः ॥ २ ॥ जयप्रभः

“दादावाडी”ति सुस्थाने जावरा-नगरेऽन्यदा । दादावाडी
स्फुरितं चेतसि श्रेयस्करं आगमचिन्तनम् ॥ ३ ॥ जावरा. म.प्र.

“हिन्दी”ति राष्ट्रभाषायां सटीकश्चेत् जिनागमः । राष्ट्रभाषा
लभ्यते क्रियते वा चेत् तदा स्यादुपकारकः ॥ ४ ॥ “हिन्दी”

साम्प्रतकालीनाः जीवाः दुःषमारानुभावतः ।
मन्दमेधाविनः सन्ति तथाऽपि मुक्तिकाङ्क्षिणः ॥ ५ ॥

अतस्तदुपकाराय देवगुरुप्रसादतः । मोहनखेडा-तीर्थ
मोहनखेटके तीर्थे विजया-दशमी-दिने ॥ ६ ॥ आसो सुद-१०

स्त्रिं	रस-बाण-शून्य-नेत्रतमेऽब्दके	वि.सं. २०५६
प्रारब्धोऽयमनुवादः	स्वपरहितकाम्यया ॥ ७ ॥	युग्मम्
अविष्मे च तत्रैव	गुरुसप्तमी-पर्वणि	पोष सुद-७
सप्तविंशतिमासाऽन्ते	परिपूर्णोऽभवत् शुभः ॥ ८ ॥	वि.सं. २०५८
आहोर-ग्राम-वास्तव्यैः	श्राद्धैः श्रद्धालुभिः जनैः	
सम्पील्य दत्तद्रव्येण	ग्रन्थः प्रकाश्यते महान् ॥ ९ ॥	
ते “आहोरी”ति सञ्ज्ञा	टीकायाः दीयते मुदा	“आहोरी”
श्रूयतां पठ्यतां भव्यैः	गम्यतां मुक्ति-धाम च ॥ १० ॥	
सम्पादितश्च ग्रन्थोऽयं	“हरिया” गोत्रजन्मना	“हरिया”
विदुष्या साधनादेव्या	प्रदत्तसहयोगतः ॥ ११ ॥	रमेशचन्द्र
सात्मजेन निमेषेण	ऋषभेणाऽभयेन च	
विज्ञ-रमेशचन्द्रेण	लीलाधरात्मजेन भोः ! ॥ १२ ॥	युग्मम्
ग्रन्थप्रकाशने चाऽत्र	वक्तावरमलात्मजः	“मुथा”
आहोर-ग्राम-वास्तव्यः	“मुथा” श्री शान्तिलालजित् ॥ १३ ॥	शान्तिलालजी
मन्त्री च योऽस्ति	भूपेन्द्र-सूरि साहित्य-मण्डले	
आर्थिकव्यवस्था तेन	कृता सद्गुरुसेविना ॥ १४ ॥	युग्मम्
ग्रन्थमुद्रणकार्यं च	“दीप-ओफ्सेट” स्वामिना	
नीलेश-सहयोगेन	हितेशेन कृतं मुदा ॥ १५ ॥	पाठण
अक्षराणां विनिवेशः	देवनागरी-लिपिषु	उ. गुजरात
“मून-कम्प्यूटर”	स्वामि-मनोजेन कृतः हृदा ॥ १६ ॥	युग्मम्
आचाराङ्गाऽभिधे	ग्रन्थे भावानुवादकर्मणि	आचारांगसूत्र
चेत् क्षतिः स्यात् तदा	भोः ! भोः ! शुद्धीकुर्वन्तु सज्जनाः ॥ १७ ॥	
“आहोरी” नाम-टीकायाः	लेखनकार्यकुर्वता	
अर्जितं चेत् मया पुण्यं	सुखीस्युः तेन जन्तवः ॥ १८ ॥	
ग्रन्थेऽत्र यैः सहयोगः	प्रदत्तोऽस्ति सुसज्जनैः	
तान् तान् कृतज्ञभावेन	स्मराम्यहं ज य प्र भः ॥ १९ ॥	

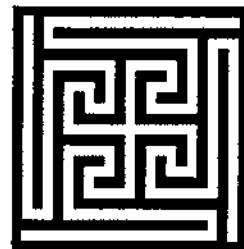
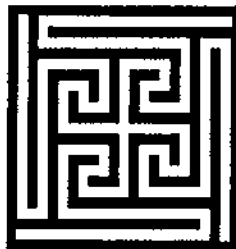
ज य ल वर्धमानाद्याः अर्हन्तः परमेश्वराः ।
 ज य न्तु गुरु-राजेन्द्र-सूरीश्वराः भट्टारकाः ॥ २० ॥
 ज य न्तु गुरुदेवाः हे ! श्रीयतीन्द्रसूरीश्वराः ! ।
 जयन्तु साधवः ! साध्व्यः ! श्रावकाः ! श्राविकाश्च भोः ! ॥२१ ॥
 सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
 सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवेत् ॥ २२ ॥

५१ ५१ ५१

: प्रशस्ति :

मालव (मध्य प्रदेश) प्रांतके सिद्धाचल तीर्थ तुल्य शत्रुंजयावतार श्री मोहनखेडा तीर्थमंडन श्री ऋषभदेव जिनेश्वर के सानिध्यमें एवं श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी, श्रीमद् यतीन्द्रसूरिजी, एवं श्री विद्याचंद्रसूरिजी के समाधि मंदिर की शीतल छत्र छायामें शासननायक चौबीसवे तीर्थकर परमात्मा श्री वर्धमान स्वामीजी की पाट-परंपरामें सौधर्म बृहत् तपागच्छ संस्थापक अभिधान राजेन्द्र कोष निर्माता भट्टारकाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न विद्वद्गुरुरेण्य व्याख्यान वाचस्पति अभिधान राजेन्द्रकोषके संपादक श्रीमद् विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी म. के शिष्यरत्न, दिव्यकृपादृष्टिपात्र, मालवरत्न, आगम मर्मज्ञ, श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम प्रकाशन के लिये राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका के लेखक मुनिप्रवर ज्योतिषाचार्य श्री जयप्रभविजयजी म. “श्रमण” के द्वारा लिखित एवं पंडितवर्य लीलाधरात्मज रमेशचंद्र हरिया के द्वारा संपादित सटीक आचारांग सूत्र के भावानुवाद स्वरूप श्री राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिंदी टीका-ग्रंथ के अध्ययनसे विश्वके सभी जीव पंचाचारकी दिव्य सुवासको प्राप्त करके परमपदकी पात्रता को प्राप्त करें... यही मंगल भावना के साथ... “शिवमस्तु सर्वजगतः”

वीर निर्वाण सं. २५२८. ५१ राजेन्द्र सं. १६. ५१ विक्रम सं. २०५८.



श्री आचाराङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धस्य निर्युक्तिः

१६३ (अध्ययन-२)

सयणे य अदढत्तं बीयगंमि माणो अ अत्थसारो अ ।
भोगेसु लोगनिस्साइ लोगे अममिज्जया चेव ॥

१६४

लोगस्य य विजयस्स य गुणस्स मूलस्स तह य ठाणस्स ।
नियस्खेवो कायव्वो जंमूलागं च संसारो ॥

१६५

लोगोत्ति य विजअत्ति य अज्झयणे लक्खणं तु निप्फणं ।
गुणमूलं ठाणंति य सुत्तालावे य निप्फणं ॥

१६६

लोगस्स य नियस्खेवो अद्दविहो छव्विहो उ विजयस्स ।
भावे कसायलोगो अहिगारो तस्स विजएणं ॥

१६७

लोगो भणिओ दव्वं खित्तं कालो अ भावविजओ अ ।
भव लोगो भावविजओ पणयं जह बज्झई लोगो ॥

१६८

विजिओ कसायलोगो सेयं खु तओ नियत्तिउं होइ ।
कामनियत्तमई खलु संसारा मुष्पई खिप्पं ॥

१६९

दव्वे खित्ते काले फल पज्जव गणण करण अब्भासे ।
गुणगुणे अगुणगुणे भव सीलगुणे य भावगुणे ॥

१७०

दव्वगुणो दव्वं चिय गुणाण जं तंमि संभवो होइ ।
सप्पिते अप्पिते मीसंमि य होइ दव्वंमि ॥

१७१

संकुचियवियसियत्तं एसो जीवस्स होइ जीवगुणो ।
पूरेइ हंदि लोगं बहुप्पएसत्तणगुणेणं ॥

१७२

देवकुरु सुसमसुसमा सिद्धी निब्भयण दुगादिया चेव ।
कला भोअणुज्जु वंके जीवमजीवे य भावमि ॥

१७३

मूले छक्कं दवे ओदइउवएसआइमूलं च ।
खित्ते काले मूलं भावे मूलं भवे तिविहं ॥

१७४

ओदइयं उवदिह्वा आइ तिगं भाव मूलं ओदइअं ।
आयरिओ उवदिह्वा विणयकसायादिओ आई ॥

१७५

नामंठवणादविए खित्तन्ना उइठ उवरई वसही ।
संजम पग्गह जोहे अयल गणण संधणा भावे ॥

१७६

पंचसु कामंगुणेषु य सदप्परिसरसरुवगंधेषुं ।
जस्स कसाया वट्ठंति मूलहाणं तु संसारे ॥

१७७

जह सव्वपायवाणं भूमीए पइड्डियाइं मूलाइं ।
इय कम्मपायवाणं संसारपइड्डिया मूला ॥

१७८

अट्ठविहकम्मरुक्खा सव्वे ते मोहणिज्जमूलागा ।
कामगुणमूलगं वा तम्मूलागं च संसारे ॥

१७९

दुविहो अ होइ मोहो दंसणमोहो चरित्तमोहो अ ।
कामा चरित्तमोहो तेणहिगारो इहं सुते ॥

१८०

संसारस्स उ मूलं कम्मं तस्सवि हुंति य कसाया ।
ते सयणपेसअत्थाइएसु अज्झत्थओ अ ठिआ ॥

१८१

नामंठवणादविए उप्पत्ती पच्चए य आएसो ।
रसभावकसाया जे ते पुण कोहाइया चउरो ॥

१८२

द्ववे खिते काले भवसंसारे अ भावसंसारे ।
पंचविहो संसारो जत्थेते संसरंति जिआ ॥

१८३

नामंठवणाकम्मं दव्वकम्मं पओगकम्मं च ।
समुदानिरियावहियं आहाकम्मं तवोकम्मं ॥

१८४

किइकम्म भावकम्मं दसविह कम्म समासओ होइ ।
अद्वविहेण उ कम्मेण एत्थ होइ अहिगारो ॥

१८५

संसारं छेत्तुमणो कम्मं उन्मूलए तदद्वाए ।
उम्मूलिज्ज कसाया तमहा उ चइज्ज सयणाई ॥

१८६

माया मे पिया मेत्ति भगिणी भाया य पुत्तदारा मे ।
अत्थंमि चेव गिन्ना जम्मणमरणाणि पावंति ॥

१८७

बिइउदेसे अदढो उ संजमे कोइ हुज्ज अरईए ।
अन्नाणकम्मलोभाइएहिं अज्झत्थदोसेहिं ॥

१८८

(अध्ययन-३)

पढमे सुत्ता अस्संजयति १ बिइए दुहं अनुहवंति २ ।
तइए न हु दुक्खेणं अकरणयाए व समणुत्ति ३ ॥

१८९

उदेसंमि चउत्थे अहिगारो उ वमणं कसायाणं ।
पावविरईओ विउणो उ संजमो इत्थ मुक्खुत्ति ४ ॥

१९०

नामं ठवणा सीयं दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
एमेव य उण्हस्सवि चउव्विहो होइ निक्खेवो ॥

१९१

दव्वे सीयलदव्वं दव्वुण्हं चेव उण्हदव्वं तु ।
भावे उ पुग्गलगुणो जीवस्स गुणो अणेगविहो ॥

१९२

सीयं परीसहपमायुवसमविरई सुहं चउण्हं तु ।
परीसहतवुज्जमकसाय सोगाहिवेयारई दुक्खं ॥ दारं ॥

१९३

इत्थी सक्कारपरीसहो य दो भावसीयला एए ।
सेसा वीसं उण्हा परीसहां हुंति नायव्वा ॥

१९४

जे तिव्वप्परिणामा परीसहा ते भवंति उण्हा उ ।
जे मंदप्परिणामा परीसहा ते भवे सीया ॥ दारं ॥

१९५

धम्मंमि जो पमायइ अत्थे वा सीअलुत्ति तं बिंति ।
उज्जुत्तं पुण अन्नं ततो उण्हंति णं बिंति ॥ दारं ॥

१९६

सीईभूओ परिनिव्वुओ य संतो तहेव पण्हाणो (ल्हाओ) ।
होउवसंतकसाओ तेणुवसंतो भवे जीवो ॥ दारं ॥

१९७

अभयकरो जीवाणं सीयघरो संजमो भवइ सीओ ।
अस्संजमो य उण्हो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ ॥ दारं ॥

१९८

निव्वाणसुहं सायं सीईभूयं पयं अनाबाहं ।
इहमवि जं किंचि सुहं तं सीयं दुक्खमवि उण्हं ॥

१९९

डङ्गइ तिव्वकसाओ सोगभिभूओ उइन्नवेओ य ।
उण्हयरो होइ तवो कसायमाई वि जं डहइ ॥

२००

सीउण्हफाससुहदुहपरीसहकसायवेयसोयसहो ।
हुज्ज समणो सया उज्जुओ य तवसंजमोवसमे ॥

२०१

सीयाणि य उण्हाणि य भिक्खूणं हुंति विसहियव्वाइं ।
कामा न सेदियव्वा सीओसणिज्जस्स निज्जुत्ती ॥

२०२

सुत्ता अमुणिओ सया मुणिओ सुत्तावि जागरा हुंति ।
धम्मं पडुच्च एवं निदासुतेण भइयव्वं ॥

२०३

जह सुत्त मत्त मुच्छिय असाहीणो पावए बहं दुक्खं ।
तिव्वं अपडियारपि वट्टमाणो तहा लोगो ॥

२०४

एसेव य उवएसो पदित्त पलायणं पंधमाईसुं ।
अनुहवइ जह सचेओ सुहाइं समणोऽवि तह चेव ॥

२०५

(अध्ययन-४)

पढमे सम्मावाओ बीए धम्मप्पवाइयपरिवखा ।
तइए अणवज्जतवो न हु बालतवेण मुक्खुत्ति ॥

२०६

उदेसंमि चउत्थे समासवयणेण नियमनं भणियं ।
तम्हा च नाणदंसणतवचरणे होइ जइयव्वं ॥

२०७

नामंठवणासम्मं दव्वसम्म च भावसम्मं च ।
एसो खलु सम्मस्स निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥

२०८

अह दव्वसम्म इच्छानुलोमियं तेसु तेसु दव्वेसुं ।
कयसंखयसंजुत्तो पउत्त जढ भिन्न छिन्नं वा ॥

२०९

तिविहं तुं भावसम्मं दंसणं नाणे तहा चरित्ते य ।
दंसणचरणे तिविहं नाणे दुविहं तु नायव्वं ॥

२१०

कुणमाणोऽवि य किरियं परिच्चयंतोऽवि सयणधनभोए ।
दिंतोऽवि दुहस्स उरं न जिणइ अंधो पराणीयं ॥

२११

कुणमाणोऽवि निवितिं परिच्चयंतोऽवि सयणधणभोए ।
दिंतोऽवि दुहस्स उरं मिच्छदिट्ठी न सिज्झइ उ ॥

२१२

तम्हा कम्माणीयं जेउमणो दंसणंमि पयइज्जा ।
दंसणवओ हि सफलाणि हुंति तवनाणचरणाइं ॥

२१३

सम्मत्तुप्पत्ती सावए य विरए अनंतकम्मसे ।
दंसणमोहयखवए उवसामन्ते य उवसंते ॥

२१४

खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा ।
तत्त्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए ॥

२१५

आहारउवहिपूआ इइढीसु य गारवेसु कइतवियं ।
एमेव बारसविहे तवंमि न हु कइतवे समणो ॥

२१६

जे जिनवरा अईया जे संपई जे अनागए काले ।
सव्वेवि ते अहिंसं वदिंसु वदिहिंति विवदिंति य ॥

२१७

छप्पिय जीवनि काए नोवि हणे नोऽवि अ हणाविज्जा ।
नोऽवि अ अणुमन्निज्जा सम्मतस्सेस निज्जुत्ती ॥

२१८

खुड्ढग पायसमासं धम्मकहंपि य अजंपमाणेणं ।
छन्नेण अन्नलिंगी परिच्छिया रोहगुत्तेणं ॥

२१९

भिवस्वं पविट्ठेण मएऽज्ज दिट्ठं, पमयामुहं कमलविसालनेतं ।
वक्खित्तचित्तेण न सुड्ढ नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥

२२०

फलोदएणं मि गिहं पविट्ठो, तत्थासणत्था पमया मि दिट्ठा ।
वक्खित्तचित्तेण न सुड्ढ नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥

२२१

मालाविहारंमि मएऽज्ज दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी ।
वक्खित्तचित्तेण न सुड्ढ नायं, संकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥

२२२

खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स, अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स ।
किं मज्झा एएण विचित्तएणं ? सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥

२२३

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।
दोवि आवडिया कुड्ढे, जो उल्लो तत्थ लग्गइ ॥

२२४

एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥

२२५

जह खलु झुसिरं कड्डं सुचिरं सुक्कं लहं डहइ अग्गी ।
तह खलु खवंति कम्मं सम्मच्चरणे ठिया साहू ॥

२२६

(अध्ययन-५)

हिंसगविसयारंभग एगचरुति न मुणी पढमगंमि ।
विरओ मुनिति बिइए अविरयवाई परिग्गहिओ ॥

२२७

तइए एसो अपरिग्गहो य निव्विन्नकामभोगो य ।
अव्वतस्सेगचरस्स पच्चवाया चउत्थंमि ॥

२२८

हरओवमो य तवसंयमगुत्ती निस्संगया य पंचमए ।
उम्मगगवज्जणां छट्ठगंमि तह रागदोसे य ॥

२२९

आयाणपएणावंति गोण्णनामेण लोगसारुति ।
लोगस्स य सारस्स य चउक्कओ होइ निक्खेवो ॥

२३०

सव्वस्स थूलं गुरुए मज्झे देसप्पहाण सरीराई ।
धण एरंडे वइरे खइरंब जिनाइ उरालाई ॥

२३१

भावे फलसाहणया फलओ सिन्धी सुहुत्तमवरिद्धा ।
साहणय नाणदंसणसंजमतवसा तहिं पगयं ॥

२३२

लोगंमि कुसमएसु य कामपरिग्गहकुमग्गलग्गोसुं ।
सारो ह्नु नाणदंसणतवचरणगुणा हियद्दाए ॥

२३३

चइऊणं संकपयं सारपयमिणं दढेण थित्तवं ।
अत्थि जिओ परमपयं जयणा जा रागदोसेहिं ॥

२३४

लोगस्स उ को सारो ? तस्स य सारस्स को हवइ सारो ? ।
तस्स य सारो सारं जइ जाणसि पुच्छिओ साह ॥

२३५

लोगस्स सार धम्मो धम्मंपि य नाणसारियं बिंति ।
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥

२३६

चारो चरिया भरणं एगहं वंजणं तहिं छक्कं ।
द्व्वं तु दारुसंकम जलथलचाराइयं बहुहा ॥

२३७

खित्तं तु जंमि खित्ते कालो काले जहिं भवे चारो ।
भावमंमि नाणदंसणचरणं तु पसत्थमपसत्थं ॥

२३८

लोगे चउव्विहंमि समणस्स चउव्विहो कहं चारो ? ।
होई धिई अहिगारो विसेसओ खित्तकालेसुं ॥

२३९

पावोवरए अपरिग्गहे अ गुरुकुलनिसेवए जुत्ते ।
उम्मग्गवज्जए रागदोसविरए य से विहरे ॥

॥ इति आचाराङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे अध्ययन २-३-४-५ निर्युक्तयः ॥



श्री आचाराङ्ग सूत्रम् श्री राजेन्द्र सुबोधनी "आहोरी" हिन्दी टीका



द्वितीय वाचना :- उडीसा, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के ३०० वर्ष पश्चात्



तृतीय वाचना :- मथुरा, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के ८२७ वर्ष पश्चात्



प्रथम वाचना :- पाटलीपुत्र, श्रमण भगवान् महावीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात्



चतुर्थ वाचना :- वल्लभीपुर में तृतीय वाचना के समकालीन



पंचम वाचना :- वल्लभीपुर में भगवान् महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद

:- प्रकाशक :-

श्री राजेन्द्र यतीन्द्र जैनागम हिन्दी प्रकाशन
राजेन्द्र सुबोधनी आहोरी हिन्दी टीका, श्रीभूपेन्द्रसूरि साहित्य समिति
मंत्री शान्तिलाल वक्तावरमलजी मुथा
मु. पो. आहोर, वाया जवाईबाँध, जालोर (राज.)